पानी में मीन पियासी

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय का पुष्प २६४वाँ

पानी में मीन पियासी

☐ लेखक
उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी

☐ प्रथम बार
वि० सं० २०४६ कार्तिक
नवम्बर १९८९

☐ प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय,
शास्त्री सर्कल
उदयपुर (राज०) पिन ३१३००१

☐ मुद्रक एवं प्रकाशक
संजय सुराना के लिए
कामधेनु प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स
ए-७ अवागढ़ हाउस, एम. जी. रोड
आगरा-२८२००१

☐ मूल्य
पैंतालीस रुपया सिर्फ ४५/-

समर्पण-सुमन

ज्योति के स्पर्श से दीपक प्रज्वलित हो उठता है,
गुरु के सम्पर्क से शिष्य का अन्तर लोक
आलोक से जगमगा उठता है,

ऐसे परम श्रद्धास्पद गुरुदेव

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म०

के

८०वीं जन्म जयन्ती के मंगल प्रसंग पर

सविनय समर्पित

—उपाचार्य देवेन्द्र मुनि

प्रकाशक के बोल

अपने प्रबुद्ध पाठकों को 'पानी में मीन पियासी' ग्रन्थ रत्न समर्पित करते हुए हृदय में अपार प्रसन्नता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी ने अपने सारगर्भित निबन्धों में यह बताने का प्रयास किया है कि आत्मा ही परमात्मा है। पर मोह-मूढ़ आत्माएँ अपने स्वरूप को नहीं पहचानती हैं। और वे परमात्म तत्त्व को पाने हेतु इधर से उधर भटकती हैं। उन आत्माओं की यह स्थिति है जैसे पानी में मछली रह करके भी पियासी रहे, जिसके चारों ओर पानी ही पानी है। वैसे ही प्रत्येक आत्मा में परमात्म तत्त्व रहा हुआ है। जो कर्म से बद्ध है वह आत्मा है और जो कर्म से मुक्त हो गया वह परमात्मा है।

उपाचार्य श्री की इस सम्बन्ध में एक कृति अप्पा सो परमप्पा प्रकाशित हो चुकी है। उसी विषय को और अधिक स्पष्ट किया गया है प्रस्तुत ग्रन्थ में।

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय के अभिनव-प्रकाशन अत्यधिक लोकप्रिय होते जा रहे हैं। दानी महानुभावों के उदार सहयोग से हम इन प्रकाशनों को लागत मूल्य से भी कम मूल्य में दे रहे हैं। कागज, छपाई दिन प्रतिदिन अत्यधिक मँहगे होते जा रहे हैं तथापि हमारा यह प्रयास है कि कम से कम मूल्य में श्रेष्ठ साहित्य प्रबुद्ध पाठकों के कर कमलों में पहुँचे, जिससे स्वाध्याय कर जन-जन का जीवन सरसब्ज बने।

मन्त्री
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय उदयपुर

स्वकीय

संसार के जितने भी दर्शन हैं, उनको दो श्रेणियों में रखा जा सकता है—एक आस्तिक दर्शन, दूसरे नास्तिक दर्शन। दूसरे शब्दों में एक आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म और कर्मफल के सिद्धान्त में विश्वास करने वाले तथा दूसरे उनमें आस्था नहीं रखने वाले।

आस्तिक दर्शनों में भी चिन्तन की भिन्नता है, विश्वास की भिन्नता है। कुछ दर्शन आत्मा को सर्वतन्त्र स्वतन्त्र कर्ता मानकर पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, कर्मफल, लोक व्यवस्था आदि की व्याख्या करते हैं और कुछ दर्शन परमात्मा या ईश्वर को ही केन्द्र मानकर; आत्मा आदि को उसी के हाथ की कठपुतली, या ईश्वरीय इच्छानुसार समूची लोक व्यवस्था का संचालन होने का विश्वास रखते हैं।

यूँ तो दर्शन तर्क का भी विषय है, और श्रद्धा/आस्था का भी, और सभी दर्शन, तर्क, युक्ति व आस्था के आधार पर अपनी-अपनी धारणा को प्रस्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु विश्व के समस्त दर्शनों में जैन-दर्शन अपनी एक स्वतन्त्र, विशिष्ट धारणा रखता है, और वह है, आत्मा को स्वतन्त्र कर्ता मानना। जैन दर्शन की यह सुनिश्चित मान्यता है कि—

अप्पा कत्ता विकत्ता या दुहाण य सुहाण य।

आत्मा स्वयं ही सुख-दुख का कर्ता है। स्वय ही उनके फल को भोगता है।

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा—एक अनन्त शक्तिसम्पन्न सत्ता है, जिसमें अनंतज्ञान-चेतना विद्यमान है, अनन्त आनन्द का स्रोत प्रवहमान है और अनन्त-अनन्त शक्तियों का रहस्य भी उसी में निहित है।

इस प्रकार आत्मा ज्ञान, आनन्द और शक्ति का अक्षय अनन्त कोष है। यह शक्तियाँ आत्मा में सुप्त हैं। उस पर मोह का, अज्ञान का आवरण पड़ा है जिस कारण आत्मा स्वयं ही अपने स्वरूप का जानने, पहचानने में असमर्थ हो रहा है। अपनी शक्ति से स्वयं ही अपरिचित

वही परमात्मा है। जीभ से हजार बार उच्चारण करने पर भी मन इस बात पर स्थिर नहीं हो पाता कि मैं ही ईश्वर हूँ। 'सोऽहं' का उच्चारण करते-करते हमारा जन्म-जन्म का मोह, **दासोऽहं** की रट लगाने लग जाता है और यह अनुभव करता है कि मैं आत्मा अन्य हूँ और परमात्मा कोई अन्य है। मैं दीन-हीन दरिद्र हूँ। अनन्त शक्तिमान परमात्मा मेरी सहायता करेंगे और मुझे कष्टों से उबारेंगे।

वैदिक दर्शन में विश्वास रखने वाला व्यक्ति आत्मा और परमात्मा को भिन्न-भिन्न माने तो बात समझ में आती है कि उसे ये संस्कार जन्मघूंटी में मिले हैं। उसे प्रारम्भ से ही यही विश्वास मिला है कि तू दास है, प्रभु तेरे स्वामी हैं। तू दीन है, प्रभु दीनदयाल हैं। किन्तु मुझे आश्चर्य तो तब होता है कि जिनमतानुयायी जिनको प्रारम्भ से ही **अप्पा सो परमप्पा** का मन्त्र सुनाया जाता है। वे भी उसी अज्ञान और मोह की जकड़ में हैं। वे भी आत्मा से भिन्न परमात्मा की रम्य परिकल्पना में रमते रहते हैं। उनके मन में भी आत्मा और परमात्मा—दो अलग-अलग किनारे हैं। यह आत्मा कभी परमात्मा के किनारे पर नहीं पहुँच सकता।

मैंने अपनी पिछली पुस्तक **अप्पा सो परमप्पा** में जैनदर्शन के इसी शाश्वत सार्वभौम सिद्धान्त पर भिन्न-भिन्न दृष्टियों, दृष्टान्तों व शैलियों से प्रकाश डाला है कि आत्मा में ही 'परमात्मा' बसा है। तुम अपने इस भीतर में सुप्त 'परमात्मा' को जगाओ, और स्वयं परमात्मा बनो!

अब उसी शैली पर उसी भावना पर आधारित कुछ अन्य निबन्धों का संकलन है यह दूसरी पुस्तक—**पानी में मीन पियासी**। जो कथ्य तथ्य उस प्रथम पुस्तक में अवशिष्ट रह गया था वह इस पुस्तक में पूरा किया है। फिर भी पहली पुस्तक से एक बड़ी भिन्नता इसमें है। प्रथम पुस्तक में जहाँ मैंने आत्मा को ही स्वरूप प्राप्ति के रूप में 'परमात्मा' तक पहुँचने की प्रेरणा व संकल्प जगाया है, वहाँ इस पुस्तक में भक्तिप्रधान, भावना-प्रधान शैली में आत्मा और परमात्मा के बीच की दूरी समाप्त करने के अनेक उपायों पर भी चर्चा की है। जिसे हम 'परमात्मा' स्वरूप समझते हैं, उसे अपने ही भीतर जगाने के लिए प्रार्थना, स्तुति, एकान्तवास, मौन, ध्यान, जप, एकाग्रता, इन्द्रिय-संयम, भेदविज्ञान, समत्वभाव, निर्विकल्प-दशा आदि विभिन्न मार्गों का अनुसरण करने की विधि व भावना पर भी विस्तारपूर्वक चर्चा की है। वास्तव में भक्तिवादी मानस जिसे परमात्मा

कहता है। उसे प्राप्त करने के लिए कहीं अन्यत्र भटकने या जाने की आवश्यकता नहीं, किंतु इन्हीं साधनों से, उपायों व विधियों से उस स्वरूप को यहीं पर बैठे-बैठे प्रकट किया जा सकता है। भक्त जिसे उपलब्धि कहता है, ज्ञानी उसे ही 'अभिव्यक्ति' कहता है। अपने ही भीतर छिपे स्वरूप को, अपने ही साधनों से अपने ही जीवन में प्रकट करने की सरल, सहज और अनुभवगम्य विधियों पर मैंने इन निबन्धों में चर्चा की है— अपने अनुभव के आधार पर, अपनी साधना के आधार पर, अपने अधीत ग्रन्थों के आधार पर। मुझे दृढ़ विश्वास है कि पाठक इन विषयों पर गम्भीरतापूर्वक चिन्तन मनन करेंगे और प्रायोगिक रूप में इन साधनों पर अपने जीवन को ढालेंगे तो वे भी पिण्ड में छिपे ब्रह्माण्ड का दर्शन कर सकेंगे। आत्मा के भीतर सुप्त परमात्मा के स्वरूप को प्रकट कर सकेंगे।

मेरे इस आलेख में श्रद्धा केन्द्र पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज का मार्गदर्शन तो प्राप्त हुआ ही है। साथ ही मेरे स्नेही, सहयोगी विद्वान मुनिश्री नेमिचन्दजी म० का आत्मीय सहकार भी मिला है। मैं उनके सहयोग के प्रति कृतज्ञ हूँ।

सेवाभावी श्री रमेश मुनिजी, राजेन्द्र मुनि, दिनेश मुनि आदि का सेवा सहकार्य भी लेखन में सहयोगी बना है। मैं उनके सेवाभाव का स्मरण करता हूँ। और पुनः पाठकों से आग्रह करता हूँ कि वे इन निबन्धों को उपन्यास की तरह जल्दी-जल्दी न पढ़ें, किन्तु धीरे-धीरे चिन्तन-मननपूर्वक पढ़ें, और विषय को हृदयंगम करने का प्रयास करें तो उन्हें आनन्द आयेगा। चॉकलेट को चबाने से रस नहीं आता, चूसने से स्वाद और रस मिलता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक ग्रन्थों का मनन करने से ही आनन्द का रसास्वाद मिलता है।

धन तेरस —देवेन्द्र मुनि
जन्म-दिवस

□□

प्राक्कथन

विद्यावारिधि डॉ० महेन्द्रसागर प्रचंडिया
एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट.
(निदेशक : जैन शोध अकादमी, आगरा रोड, अलीगढ़)

मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है—श्रम। श्रम के द्वारा उसका उपयोग पक्ष बर्द्धमान होता है। अशुभ से शुभ की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा श्रम-साधना की उत्कृष्ट अवस्था है। शुभ से उत्तरोत्तर उन्नत होता हुआ श्रमिक/साधक शुद्ध उपयोग को जगाता है। शुद्धोपयोग जगते ही प्राणी का जन्म-मरण विषयक दारुण दर्द समाप्त हो जाता है।

शरीर के साथ किया गया श्रम मजूरी/मजदूरी को जन्म देता है। मस्तिष्क के साथ किया गया श्रम कारीगरी को जन्मता है। और जब यही श्रम हृदय के साथ किया जाता है तो कला का प्रवर्तन होता है। कलात्मक जीवन जीना वस्तुतः मनुष्य का उत्तम पुरुषार्थ फल कहलाता है।

मनुष्य की स्वयंभू शक्ति है—अभिव्यक्ति। आरम्भ में यह अभिव्यक्ति मौखिक होती थी और इसका रूप होता था काव्यात्मक। जब लिपि विज्ञान का प्रवर्तन हुआ अभिव्यक्ति लिपिबद्ध हो उठी! काव्य के साथ-साथ गद्य ने अभिव्यक्ति का रूप धारण किया। मनुष्य की अभिव्यक्ति का निकष यदि काव्य है तो काव्याभिव्यक्ति का निकष है—निबन्ध। निबन्ध में हृदय और मस्तिष्क का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रहा है।

निबन्ध का मौलिक अर्थ है रोकना या फिर नीम का वृक्ष और

हैं, जिनमें सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक, समीक्षात्मक, विचार-प्रधान, भाव-प्रधान, वर्णन-प्रधान, आत्मचरित तथा स्वप्न-कथात्मक आदि उल्लेखनीय हैं। निबन्ध विकास ने कालान्तर में अन्य अनेक रूपों को भी स्वीकार किया जिनमें प्रतीकात्मक, संस्मरणात्मक तथा यात्राप्रधान उल्लेखनीय हैं।

'पानी में मीन पियासी' नामक कृति में हिन्दी निबन्ध का अभिनव रूप उत्थित है। उसमें आध्यात्मिकता है, दार्शनिकता है और है प्रतीकात्मकता। हिन्दी के अनेक रूपों का प्रस्तुत कृति में समावेश हुआ है और तब जो नया रूप स्थिर हुआ है उसका मूलाधार है सम्यक्ज्ञान।

जीव और जगत की जब और जहाँ चर्चा की जाती है तब वहाँ दर्शन का जन्म होता है। और जब दर्शन आत्ममुखी होता है तब जन्म होता है अध्यात्म का। 'पानी में मीन पियासी' का विषय वैभव आध्यात्मिक है। यहाँ आत्मा/जीव एक अविनाशी द्रव्य/तत्त्व है, उसकी कर्म के चंक्रमण के साथ सूक्ष्म चर्चा की गई है। मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के संसर्ग से आत्मा क्रमशः बहिरात्मा, अन्तरात्मा और अन्ततः परमात्मा बनती जाती है। बहिरात्मा सदा संसार का चंक्रमण लगाती रहती है। यही उसका अशुभ उपयोग कहलाता है। पर और स्व पर्याय को पृथक स्वीकारने पर शुभ गपयोग का प्रारम्भ होता है, इसी के साथ आत्मा की अन्तरात्मा अवस्था प्रारम्भ होती जाती है। राग से विराग की ओर उन्मुख होना और अन्ततोगत्वा वीतरागमुखी होना आत्मा की परमात्मा अवस्था होती है। इस अवस्था तक आते-आते मनुष्य/साधक का शुद्ध उपयोग महक उठता है।

विद्वान चिन्तक श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री स्थानकवासी साधु परम्परा के उपाचार्य हैं और हैं हिन्दी के ख्याति प्राप्त लेखक। आप ने इसी सार और सारांश पर आधृत अनेक दृष्टियों को लेकर मूल्यवान एवं कल्याणकारी चिन्तन प्रस्तुत किया है, प्रस्तुत निबन्धों में।

'प्रार्थना' पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर उसे परमात्म-प्राप्ति की सरल सरस साधना कहा है। इसी प्रकार 'एकान्तवास' और उससे परमात्म गुणों की प्राप्ति, 'अकेलेपन' से परमात्मा का सान्निध्य सुलभ, एकाग्रता से परमात्म-पद रुप लक्ष्य-बेध, परमात्म-स्वर-श्रवण का श्रेष्ठ साधन : मौन, तितिक्षा, परमात्म-भाव की दीक्षा, आत्म-शुद्धि से परमात्म पद-प्राप्ति, आदि अनेक शीर्षकों पर विद्वान, लेखक ने सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत संग्रह के सभी निबंधों के विषय लाक्षणिक और पारिभाषिक

हैं जिनका समाधान श्रमण संस्कृति से अनुप्राणित इस प्रकार उपन्यस्त किया गया है कि उसके पाठकों अथवा श्रोताओं को सत्य-सार समझने में किसी प्रकार का बोझ प्रतीत नहीं हो पाता। वास्तविकता यह है कि पढ़ते-पढ़ते आध्यात्मिक ओज का उदय हो उठता है। यह सुधी लेखक की विलक्षण शैली का सुपरिणाम है। इन निबन्धों की भाषा यद्यपि प्राञ्जल और परिष्कृत है तथापि शब्दों के उपयुक्त प्रयोगों से उसमें सरसता और और सरलता का अद्भुत सामञ्जस्य उत्पन्न हो उठा है।

काव्यशास्त्रीय निकष पर यह कहा जा सकता है कि 'पानी में मीन पियासी' के सभी निबंध विषयप्रधान भी हैं और व्यक्तिप्रधान भी। प्रत्येक निबंध में लेखक के स्वाध्यायशील व्यक्तित्व की अमिट छाप परिलक्षित है।

आत्म-परमात्म विषयक कठिन कथ्य को महामनीषी उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री ने भोगे हुए यथार्थ/सत्य की नाईं जीवंत शैली में इस प्रकार शब्दायित किया है कि किसी भी पाठक को उन्मार्ग से हटकर सन्मार्गमुखी होने के लिए अनिवार्य रूप से इसके पढ़ने की हार्दिक संस्तुति की जा सकती है।

●●

क्या?...कहाँ?...

१ प्रार्थना : परमात्म-प्राप्ति की सरल सरस साधना १
२ एकान्तवास से परमात्मगुणों की उपलब्धि २५
३ अकेलेपन से परमात्मा का सान्निध्य सुलभ ५३
४ एकाग्रता से परमात्मपद रूप लक्ष्य का वेध ७७
५ परमात्म-स्वर-श्रवण का श्रेष्ठ साधन : मौन ९९
६ तितिक्षा : परमात्मभाव की दीक्षा १२०
७ आत्मशुद्धि से परमात्म-पद-प्राप्ति १८७
८ उपलब्धियाँ-सिद्धियाँ : परमात्मप्राप्ति में साधक-बाधक १८०
९ अविजित आत्मा : परमात्म भाव में बाधक २००
१० समभाव का सम्बल : परमात्मभाव की मंजिल २०२
११ निर्विकल्प दशा से परमात्म तत्त्व में लीनता २५२
१२ परमात्म-भक्ति से परमात्मपद-प्राप्ति २७४
१३ परमात्म-ध्यान से परमात्मा की अखण्ड स्मृति २९७
१४ आत्मसाधना से परमात्म-भाव की सिद्धि ३२१
१५ परमात्म-भाव का बीज : भेदविज्ञान ३४६
१६ कर्मों से भिन्न ही परमात्म-भाव से अभिन्न ३७२
१७ आत्म-स्व-भावनिष्ठ ही परमात्मभावनिष्ठ ४०१
१८ आत्म-स्वभाव की चतुर्मुखी गति ४२३
१९ आत्मशक्ति का जागरण : परमात्म शक्ति तक ४५२
२० परमात्मा बनने का उपादान और निमित्त का योग ४७९

पानी में मीन पियासी

१

प्रार्थना : परमात्म–प्राप्ति की सरल सरस साधना

प्रार्थना : परमात्मा के समक्ष आत्म-निवेदन

प्रार्थना आत्मा का सहज संगीत है। वह अन्तरात्मा से प्रादुर्भूत हुई मानव की अद्भुत पुकार है, अपने इष्टदेव—परमदेवाधिदेव परमात्मा के समक्ष आत्म-निवेदन करना ही वास्तविक प्रार्थना है। जैसे एक बालक अपनी कठिनाइयाँ अपने पिता के समक्ष निवेदन करता है और उन कठिनाइयों को दूर करने के लिए पिता से सहायता की, वास्तविक मार्गदर्शन की, तथा पिता की तरह अपनी योग्यता और क्षमता को बढ़ाने की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार सामान्य प्रमादी आत्मा अपने इष्ट देव के समक्ष अपनी कठिनाइयाँ, समस्याएँ, उलझनें तथा पेचीदा सवाल प्रार्थना के माध्यम से प्रस्तुत करता है, साथ ही वह अपनी भूलों, त्रुटियों, दोषों और अपराधों को भी अपने विश्ववत्सल परमपितामह परमात्मा के समक्ष निवेदन करके अपने आपको मन-वचन-काया से खुल्ला कर देता है। और उनसे अपनी समस्याओं, कठिनाइयों या उलझनों को हल करने का मार्गदर्शन चाहता है, वह परमपितामह परमात्मा की तरह अपनी योग्यता और क्षपता बढ़ाने की अपेक्षा रखता है। और अपनी त्रुटियों, भूलों, दोषों और अपराधों के लिए वह क्षमा भी चाहता हैं तथा उनका परिमार्जन करने के लिए आलोचना, निन्दना (आत्म-पश्चात्ताप), गर्हणा एवं भावनापूर्वक शुद्ध अन्तःकरण से प्रायश्चित्त एवं क्षतिपूर्ति करना भी चाहता है।

प्रार्थना का वास्तविक उद्देश्य

परमात्मा के दरबार में सरल, सरस, निर्दोष, निश्छल हृदय लेकर पहुँचना और अपनी कठिनाइयों को निवेदन करने के साथ-साथ उनका

सही एवं सात्त्विक हल ढूंढ़ना ही, प्रार्थना का वास्तविक प्रयोजन है। यह एक प्रकार से सुषुप्त आत्मा को जगाना है।

वास्तव में परमात्मा के समक्ष अपनी लघुता को प्रभुता में, तुच्छता को महानता में तथा अपूर्णताओं को पूर्णता में परिवर्तित करने की उत्कण्ठा का नाम ही प्रार्थना है। प्रार्थना नर से नारायण बनने, भक्त से भगवान् बनने के लिए तथा अशुद्ध और अपूर्ण आत्मा से परम शुद्ध और पूर्ण परमात्मा बनने की शक्ति प्राप्त करने तथा तदनुसार संकल्प करके उत्तरोत्तर योग्यता एवं क्षमता बढ़ाते रहना ही प्रार्थना का उद्देश्य है। प्रार्थना के माध्यम से मनुष्य विश्वव्यापी महानता एवं पूर्णता के आदर्श तथा समता एवं वीतरागता के सर्वोच्च शिखर के साथ अपना घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करता है। वह आदर्शों को परमात्मा में अभिव्यक्ति और परिपुष्टि के रूप में प्रार्थना के माध्यम से अनुभव करता है, और परमात्मतत्त्व के साथ अभिन्नता, आत्मीयता और तदात्मता से जुड़ जाने की भावविभोरता अथवा तन्मयता को सजग कर पाता है।

प्रार्थना क्यों और किसलिए ?

सामान्यतया मनुष्य की तमसाच्छन्न मनोभूमि में प्रमाद, अज्ञान, मिथ्यात्व, मोह, भ्रान्ति, आत्म-विस्मृति आदि ने जड़ जमा रखी है। मिथ्यात्व और अज्ञान ने तो उसे आत्मा और परमात्मा के वास्तविक स्वरूप से ही विमुख कर रखा है। आत्म-विस्मृति के कारण ही मनुष्य अपने स्वरूप, स्तर, क्षमता और शक्तियों से बिल्कुल बेसुध हो रहा है। जीवन में व्याप्त इस कुण्ठा, आवरण और कुत्सा का निराकरण करने तथा प्रसुप्त आत्मा को जगाने के लिए प्रार्थना प्रबल अलार्म घड़ी है, घण्टानाद है। परमात्मा के अनन्त गुणों को अपनी आत्मा में ढूंढ़ने के लिए प्रेरित होना ही प्रार्थना का उद्देश्य है। परमात्मा अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शन के प्रकाश से पूर्ण प्रकाशमान है, मुक्ति और वीतरागता के परम आत्मिक आनन्द से परिपूर्ण है तथा अनन्त आत्मिक शक्तियों से सम्पन्न है, उनके समक्ष शुद्ध हृदय से यही प्रार्थना की जाती है कि वह ज्ञान-दर्शन का प्रकाश जो कि अभी आवृत है, सुषुप्त है, अप्रकट है, वह अनावृत, जागृत और अभिव्यक्त हो जाये। उसे जागृत, अनावृत और अभिव्यक्त करने की शक्ति हम में आ जाये तथा उन विकारों और आवरणों से जूझने और उन्हें भगाने की क्षमता प्राप्त हो जाये। आप (परमात्मा) ने जिस प्रकार अपनी

आत्मा पर छाये हुए विकारों, आवरणों और दोषों को दूर किया, वह मार्ग हमें भी प्राप्त हो, ऐसी अन्तःस्फुरणा हृदय में जागृत हो कि हम उन विकारों और आवरणों को खदेड़ सकें और आत्मा को विशुद्ध बनाकर परमात्मभाव से ओतप्रोत कर सकें।

आत्म-जागरण प्रार्थना का विशुद्ध प्रयोजन

वास्तव में प्रार्थना का सही उद्देश्य अपनी शुद्ध आत्मा को ही परमात्मा का प्रतीक मान कर स्वयं (अपनी आत्मा) को ही समझाना है कि वह इस प्रकार की योग्यता और क्षमता प्राप्त कर सके, जिसके अनुरूप उसे आवश्यक उपलब्धियाँ अनायास ही प्राप्त हो सकें। अतः प्रार्थना प्रकारान्तर से अपनी आत्मा को ही मनाना, रिझाना और प्रसन्न करना है, अपनी आत्मा पर जमे हुए कषायों और विषय-वासनाओं के कूड़े-कर्कट को झाड़-बुहार कर साफ करना है और आत्मा को शुद्ध परमात्मस्वरूप बनाना है। इस दृष्टि से प्रार्थना आत्म-जागरण की एक प्रक्रिया है। परमात्म-प्रार्थना के माध्यम से निश्चयदृष्टि से अपनी शुद्ध-निर्विकार आत्मा से कहा जाता है—"हे अनन्तज्ञान-दर्शन-शक्ति-आनन्द-सम्पन्न आत्मन्! तू जागृत होकर, अप्रमत्त बनकर अपने आप पर लगे हुए आवरणों को हटाने का पुरुषार्थ क्यों नहीं करता? तेरे में अनन्त शक्तियाँ दबी, छिपी, सोई हुई पड़ी हैं, उन्हें प्रकट कर—तप, त्याग, संयम, परीषहजय, कषायविजय आदि से। अगर तू निर्मल, शुद्ध, संवर-निर्जरा से युक्त बन जाए तो अनन्त शक्तियाँ, अनन्तज्ञान-दर्शन का सामर्थ्य एवं अनन्त आनन्द प्राप्ति की क्षमता तेरी ओर खिंचती चली आ सकती है। फिर तुझे दीन, हीन, अभावग्रस्त, आत्मश्री से दरिद्र, और भिखारियों की पंक्ति में बैठने की आवश्यकता नहीं रहेगी। फिर विषय-सुखशील एवं दिव्य वैक्रियशक्तिसम्पन्न देवों से भी कई गुना ऊँचा जो तेरा स्थान है, वह बरकरार रहेगा।"

प्रार्थना : एक सत्प्रेरणा, एक प्रकाश

वास्तव में प्रार्थना आत्म-परिष्कार की सच्ची प्रेरणा है। अपनी पूर्वोक्त शक्तियों, सामर्थ्यों, योग्यताओं और क्षमताओं का विकास करना और प्राप्त उपलब्धियों का सदुपयोग करना ही प्रार्थना का प्रेरणा स्रोत है। सचमुच प्रार्थना एक पद्धति नहीं, प्रेरणा है, प्रकाश है। पद्धति का महत्व भी तभी है, जब वह प्रेरणा और प्रकाश दे सकने में समर्थ हो।

जहाँ प्रार्थना हमारी वास्तविक प्रेरणास्रोत और दिव्य आलोक नहीं बनती वहाँ कोई भी पद्धति लाभदायक नहीं होती।

यह सर्वव्यापी परमात्म-चेतना है, जो प्रतिक्षण प्रार्थना करने वाले के हृदय में विशुद्धता एवं श्रेष्ठता की प्रेरणा देती रहती है। उसकी बुद्धि में उत्कृष्ट जीवन एवं आदर्श क्रिया-कलापों का भाव और बोध भरती रहती है।

प्रार्थना के द्वारा आत्मा परमात्मा के साथ अपने सम्बन्धों को गहराई और स्पष्टता के साथ हृदयंगम कर सके, अपने उस परमात्मभाव के स्रोत को स्मरण रख सके, यही प्रार्थना का वास्तविक प्रयोजन है। सामान्यतया लोग अपनी दैनिक व्यस्तता के बीच परमविशुद्ध चेतनसत्ता (परमात्मा) को भुलाये रहते हैं। अतः प्रार्थना जीवन के वास्तविक आधार—परमात्मा के स्मरण का अभ्यास क्रम है।

प्रार्थना के माध्यम से परमात्मा रूपी महानल से यदि एक ही चिनगारी मिल जाए तो उसके प्रकाश में व्यक्ति अपने अज्ञान, मोह, मिथ्यात्व आदि विकारों को जलाकर सम्यग्ज्ञानादि को देख सकता है, उनमें वृद्धि कर सकता है, उनकी साधना में आने वाले उपसर्गों, विघ्न-बाधाओं और परीषहों पर विजय प्राप्त कर सकता है।

अतः अपने उच्च आत्म-स्वर से परमात्मा से ऐसी प्रार्थना करनी चाहिए कि वह अनुग्रह करे और प्रकाश की ऐसी किरण प्रदान करे, जिससे सर्वत्र दृश्यमान अज्ञानादि—अन्धकार दिव्य प्रकाश के रूप में परिणत हो सके।

प्रार्थना : जीवन का अमृत

महात्मा गाँधी प्रार्थना के सबसे बड़े हिमायती थे। उन्होंने प्रार्थना को जीवन का अमृत बताते हुए कहा था—

मुझे रोटी न मिले तो मैं व्याकुल नहीं होता, पर प्रार्थना के बिना मैं पागल हो जाऊँगा। प्रार्थना भोजन की अपेक्षा करोड़-गुनी ज्यादा उपयोगी चीज है। खाना भले ही छूट जाए, लेकिन प्रार्थना कभी न छूटनी चाहिए। प्रार्थना तो आत्मा का भोजन है। यदि हम पूरे दिन ईश्वर का चिन्तन किया करें तो बहुत अच्छा, पर चूँकि यह सबके लिए सम्भव नहीं, इसीलिए कम से कम कुछ घण्टों के लिए ईश्वर-स्मरण करना ही चाहिए।

प्रार्थना करने का उद्देश्य ईश्वर से सम्भाषण करना एवं अन्तरात्मा की शुद्धि के लिए प्रकाश प्राप्त करना है ताकि ईश्वर की सहायता से हम अपनी कमजोरियों पर विजय प्राप्त कर सकें। प्रार्थना मन से न हो तो सब व्यर्थ है। प्रार्थना में जो कुछ बोला जाता है, उसका मनन कर अपने जीवन को वैसा ही बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। तभी उसका पूर्ण लाभ है।

परलोक की बात तो जाने दीजिए, इस लोक के लिए भी प्रार्थना सुख-शान्ति देने वाला साधन है। अतएव यदि हमें मनुष्य (सच्चे माने में) बनना है तो हमें चाहिए कि हम जीवन को प्रार्थना द्वारा रसमय और सार्थक बना डालें। इसलिए मैं आपको सलाह दूंगा कि आप प्रार्थना से भूत की तरह लिपटे रहें।

मेरे सामने आने वाले राष्ट्रीय, सामाजिक अथवा राजनैतिक विकट प्रश्नों की गुत्थी का सुलझाव मुझे अपनी बुद्धि की अपेक्षा अधिक स्पष्टता और शीघ्रता से प्रार्थना द्वारा विशुद्ध अन्तःकरण से मिल जाता है।[1]

प्रार्थना से परमात्ममय बन सकता है

प्रार्थना इस आत्मिक दैन्य के निवारण के लिए तथा परमपिता परमात्मा से निकट सम्पर्क एवं सान्निध्य स्थापित करने के लिए की जानी चाहिए। परमात्मा से तादात्म्य स्थापित करने से वह भी उसी के समान समर्थ और अनन्तगुण-सम्पन्न बन सकता है। यही भावोर्मियाँ भक्त कवि सूरदासजी ने पूर्वोक्त प्रार्थना में अभिव्यक्त की हैं। छोटे-छोटे नाले-नदियों में मिलकर स्वयं भी नदी रूप हो जाते हैं। अग्नि में पड़कर ईंधन भी अग्निरूप हो जाता है। छोटी-छोटी सरिताएँ समुद्र में मिलकर स्वयं भी समुद्ररूप हो जाती हैं। नालों का नदियों से संयोग, ईंधन का अग्नि में प्रवेश तथा नदियों का समुद्र में मिलन, उन्हें उसी रूप में परिणत कर देता है। ठीक उसी प्रकार प्रार्थना भी मनुष्य की आत्मा को परमात्मा से मिला देती है, लक्ष्य प्राप्त कराने में सहायक होती है।

प्रार्थना के माध्यम से वीतराग परमात्मा की स्तुति, स्तोत्र पाठ, स्तवन, भजन या गुणोत्कीर्तन करने वाला व्यक्ति उत्कृष्ट, अध्यवसाय एवं

---

1 'Writings and Teaching of Mahatma Gandhi' से उद्धृत

भावना से मोक्षपद—परमात्मपद प्राप्त कर लेता है, अथवा उच्चकोटि का देव बन जाता है। इस तथ्य की साक्षी भगवान् महावीर के द्वारा प्ररूपित उत्तराध्ययन सूत्र का यह प्रश्नोत्तर है—

(प्र०) थव-थुई-मंगलेणं भंते जीवे किं जणयइ ?[1]

(उ०) थव-थुई-मंगलेणं नाण-दंसण-चरित्त-बोहिलाभं जणयइ। नाण-दंसण-चरित्त-बोहिलाभ-संपन्ने य णं जीवे अंतकिरियं कप्प-विमाणोववत्तियं आराहणं आराहेइ।

अर्थात्—(प्र०) भंते ! स्तव और स्तुति-रूप मंगल (प्रार्थना) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

(उ०) स्तव और स्तुतिरूप मंगल से वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र की बोधि का लाभ प्राप्त करता है, और ज्ञान-दर्शन-चारित्र की बोधि-लाभ से सम्पन्न व्यक्ति मोक्ष-प्राप्ति (परमात्म-पद-प्राप्ति) अथवा वैमानिक देवों में उत्पन्न होने योग्य आराधना करता है।

स्तव और स्तुति इन दोनों का सामान्यतया अर्थ होता है—भक्ति और बहुमानपूर्वक श्रद्धांजलि अर्पित करना। यह एक प्रकार की प्रार्थना ही है।

पर्युपासना : समर्पणयुक्त प्रार्थना का अंग

इसीलिए जैनधर्म शास्त्रों में प्रार्थना के बदले उपासना या पर्युपासना शब्द का बार-बार प्रयोग किया गया है। इसमें भी प्रभु के समक्ष आत्म-समर्पण ध्वनित होता है। 'अप्पाणं वोसिरामि'[2] भगवन् ! मैं अपने माने जाने वाले मन, वचन और देह का आपके समक्ष व्युत्सर्ग करता हूँ। जब सर्वस्व व्युत्सर्ग कर दिया, तब अपना कुछ भी नहीं रहा। इसलिए प्रार्थना करने वाला भक्त जो कुछ भी प्रवृत्ति करता है वह प्रभु की साक्षी से, प्रभु को हृदय में विराजमान करके उनके करणों के समर्पण करता है। आचार्य हेमचन्द्र ने ठीक ही कहा है—

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ. २९ सू. १५

२ सामायिक लेने के पाठ में।

तव सपर्यास्तवाज्ञा—परिपालनम् ।[1]

हे भगवन् ! आपकी सेवा-पूजा आपकी आज्ञाओं (Commandments) का परिपालन है।

उपासना-रूप प्रार्थना से भक्त भगवान बनता है

इस प्रकार की उपासना-रूप प्रार्थना से भक्त में प्रभुमय बनने की शक्ति बढ़ती है। सचमुच इस प्रकार की प्रार्थना से व्यक्ति भगवान् का अंश ही नहीं, स्वयं भक्त से भगवान् बन जाता है। भक्तामर स्तोत्र में भगवद्-भक्ति के इसी चमत्कार को व्यक्त किया गया है—

नात्यद्भुतं भुवनभूषण भूतनाथ !
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥[2]

हे त्रिलोकभूषण ! प्राणिनाथ ! इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि प्रभूत गुणों से आपकी स्तुति करने वाले भक्त आपके ही तुल्य हो जाते हैं। इस संसार में विभुतिमान के आश्रित व्यक्ति को जो अपने समान नहीं बना देता, उसकी सेवा से क्या लाभ है ?

हम लौकिक व्यवहार में देखते हैं कि एक धनिक की सेवा करने वाला व्यक्ति अपने अध्यवसाय एवं पुरुषार्थ के बल पर एक दिन स्वयं धनिक एवं उद्योगपति बन जाता है, तब भला परमात्मा की सच्चे मन से सेवा-भक्ति करने वाला सेवक एक दिन स्वयं स्वामी—परमात्मा बन जाए तो कोई आश्चर्य नहीं। और यह सब होता है—स्तुतिमूलक प्रार्थना से।

स्तुतिमूलक प्रार्थना से परमात्म-प्राप्ति

स्तुतिमूलक प्रार्थना में वन्दना, नमस्कार तथा परमात्मा का गुणोत्कीर्त्तन होता है। इस प्रार्थना के माध्यम से जब वीतराग परमात्मा का गुणोत्कीर्त्तन या स्तवन किया जाता है, तो उनके प्रति आदर बुद्धि होती है। उनके उच्च गुणों का समर्थन करने से व्यक्ति में उनके गुणों का अनु-

---

१ वीतराग स्तोत्र

२ भक्तामर स्तोत्र श्लो. १०

सरण करने की भावना जागृत होती है। धीरे-धीरे उन्हीं गुणों के परमाणु उस व्यक्ति के अन्तर्मन में संस्कार रूप में जम जाते हैं और वह व्यक्ति भी उन गुणों का धारक हो जाता है। स्तुतिमूलक प्रार्थना के माध्यम से परमात्मा के प्रति व्यक्ति की श्रद्धा, निष्ठा, भक्ति प्रगाढ़ होती जाती है। उसके मनश्चक्षुओं के समक्ष सदैव परमात्मा का आदर्श बना रहेगा। वह फिर उन्हीं के पदचिह्नों पर चलने का प्रयत्न करेगा, उन्हीं के जैसा आचार-विचार और व्यवहार करेगा। इस प्रक्रिया से उसे एक दिन अवश्य ही परमात्मप्राप्ति हो सकेगी।

अर्जुन मालाकार ने जब वीतराग परमात्मा महावीर की उपासना की, उनके प्रति उसकी श्रद्धा-भक्ति प्रगाढ़ हो गई, तब उसने अपने पूर्वकृत पाप कर्मों के लिए पश्चात्ताप (आलोचना-निन्दना-गर्हणा) किया और भविष्य के लिए समस्त पाप कर्मों का परित्याग कर दिया। वह शान्त, दान्त, निरारम्भी, अपरिग्रही, महाव्रती साधु बन गया। साधु बन जाने के बाद भी प्रभु महावीर के मार्गदर्शन से अर्जुन मुनि ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की, तथा क्षमा, समता और तितिक्षा (परीषहजय) की उत्कृष्ट साधना की, इसके फलस्वरूप वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बन गया।

अर्जुन मुनि को परोक्ष रूप से सहायता थी, भगवान महावीर की। प्रार्थना और साथ में तदनुरूप गति—पराक्रम एवं पुरुषार्थ अर्जुन मुनि का था। इससे फलित होता है कि विराट् से क्षुद्र का, भक्त का भगवान से संयोग प्रार्थना के अनुरूप गति करने से होता है। यदि गति ही न करे, केवल प्रार्थना ही करता रहे, तो उसका विराट् से मिलन कैसे हो सकता है? तलहटी में खड़ा हुआ मनुष्य केवल प्रार्थना ही करता रहे कि—हे भगवान्! मुझे हिमालय पर्वत के शिखर पर पहुँचा दे, स्वयं आगे गति ही न करे, ठिठक कर वहीं बैठ जाये तो वह कदापि हिमालय की चोटी पर नहीं पहुँच सकता।

अतः प्रार्थना के साथ-साथ गति होने पर ही अदृश्य रूप से परमात्मा की सहायता मिलती है। जो लोग केवल प्रार्थना ही करते रहते हैं, स्वयं कुछ भी करना-धरना नहीं चाहते, अथवा जो मन के लूले-लँगड़े हैं, किसी भी सत्कार्य को न करने के सौ बहाने बनाते हैं, अनेक शंकाओं से ग्रस्त रहते हैं, आगे बढ़ने का नाम नहीं लेते, उन्हें परमात्मा की अव्यक्त सहायता नहीं मिलती।

आंग्ल भाषा के साहित्य में, एक प्रसिद्ध कहावत है—

God helps those, who help themselves.

परमात्मा उन्हीं की सहायता करते हैं, जो अपनी सहायता आप करते हैं।

'हिम्मते मर्दा मददे खुदा', यह कहावत भी इसी तथ्य की ओर इंगित करती है।

आशय यह है कि जो साधक अपनी आत्मा को चरम विकास की ओर ले जाना चाहता है, अनन्त ज्ञानादिचतुष्टय की प्राप्ति के लिए विघ्न-बाधाओं, उपसर्गों, परिषहों और कष्टों की परवाह न करते हुए साहस-पूर्वक आगे बढ़ना चाहता है, उन्हें प्रभु प्रार्थना से प्रभु की अव्यक्त सहायता मिलती है। उनकी गतियुक्त प्रार्थना ही सफल प्रार्थना है। वही पुरुषार्थ-शील साधक को क्षुद्र से विराट् अणु से महान् तथा सामान्य आत्मा से पर-मात्मा की ओर ले जाती है। गतियुक्त प्रार्थना ही यथार्थ प्रार्थना है। वैदिक ऋषि की यह प्रार्थना इसी तथ्य को अभिव्यक्त करती है—

"ॐ असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय।"

हे परमात्मन्! मुझे असत् से सत् की ओर ले चल, अन्धकार (अज्ञानादि) से प्रकाश (ज्ञानादि) की ओर ले चल, मृत्यु (जन्म-मरण रूप संसार) से अमृत (मोक्ष) की ओर ले चल।

इस प्रार्थना का भी फलितार्थ यही है कि साधक स्वयं असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमृत की ओर गति करना चाहता है, उसकी शक्ति कुछ कम पड़ती है, मार्ग की विघ्न-बाधाओं का सामना करते हुए कभी-कभी किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता, तभी प्रार्थना से पूर्वोक्त तीनों लक्ष्यों की ओर गति कराने में सहायता की प्रार्थना-पुकार करता है—उस अभीष्ट दिशा में गति कराने में प्रभु की शक्ति मार्गदर्शन, प्रेरणा के रूप में सहायता की।

प्रभु-प्रार्थना से मिलती है, परोक्ष सहायता

श्रमण संस्कृति स्व-पुरुषार्थ में विश्वास करती है। व्यक्ति अपने पुरुषार्थ के बल पर ऊँचा उठे, विकास करे, इसमें वीतराग प्रभु केवल परोक्ष रूप से सहायक बन सकते हैं, मार्गदर्शक और प्रेरक बन सकते हैं। परमात्मा जगत्कर्ता न होने पर भी किस प्रकार सहायक हो सकता है? इसे समझना चाहिए।

एक बालक किसी पुस्तक के अक्षर देखकर अक्षर भी वैसे ही बनाने का प्रयत्न कर रहा है। प्रतिदिन अभ्यास करते-करते जब वह कुशल हो जाता है, तब स्वयं अक्षरों का कर्त्ता बन जाता है। यद्यपि पुस्तक के अक्षर निर्जीव हैं, वे अपने स्थान पर हैं, उन्होंने पुस्तक से उठकर उस बालक की सहायता नहीं की है, तथापि बालक पुस्तक में अंकित अक्षरों के सहारे से, अपने प्रयत्न से वैसे ही अक्षर बनाने लगा। इस अपेक्षा से वे अक्षर बालक के सहायक हैं। जब जड़ अक्षर भी बिना राग भाव धारण किये तथा बिना कुछ किये अक्षर लिखने में बालक के सहायक हो सकते हैं, तब सच्चिदानन्दमय वीतराग परमात्मा अकर्त्ता होते हुए भी प्रार्थना द्वारा आत्मा के विकारों को दूर करने में प्रेरक एवं परोक्ष सहायक क्यों नहीं बन सकते ?

इसलिए परमात्मा कर्त्ता न होते हुए भी परोक्ष सहायक है। जब भक्त विपत्ति से और विकारों से ग्रस्त होने पर प्रार्थना के माध्यम से, सच्चे हृदय से नम्रतापूर्वक पुकार करता है—"प्रभो! मुझ पर वासनाएँ, तृष्णाएँ तथा कषायवृत्तियाँ हावी हो रही हैं। आप मुझे इनसे मुक्त होने की शक्ति दीजिए, मुझे सहायता दीजिए।"

इसी प्रकार मन दुर्बल हो रहा हो—मनोविकार बढ़ रहे हों और लगता हो, पैर अब फिसला, तब फिसला, तब सच्चे मन से प्रार्थना करने से अवश्य ही प्रभु अन्तःस्फुरणा उत्पन्न करके सहायता करते हैं।

अन्तःकरण की सच्ची पुकार ही प्रार्थना

प्रार्थना से परमात्मा के सामीप्य के लिए अन्तःकरण ही सबसे निकटवर्ती स्थान है, सच्चे माने में वही प्रभु के निवास का मन्दिर है, प्रार्थनागृह है। अन्तःकरण की सच्ची पुकार ही प्रार्थना के शब्द हैं, क्योंकि अन्तर् से निर्गत होने के कारण मंत्र पाठ के समान काम करते हैं। यह आवश्यक नहीं कि वे शब्द शास्त्रीय ही हों या गुरुओं द्वारा बताये गए हों। आत्मा जब परमात्मा के निकट खरे अन्तःकरण से निर्गत प्रार्थना के माध्यम से पहुँचती है तो भाषा की परिधि टूट जाती है, और मिलन की अनुभूति अन्तःस्फुरित हो जाती है। अतः अन्तःकरण से प्रादुर्भूत प्रार्थना से बढ़कर परमात्म-साक्षात्कार का और कोई अचूक उपाय नहीं है। सच्ची प्रार्थना लौकिक कामनाओं को भावना में बदल देती है। प्रभु से पाने की अपेक्षा देने की आतुरता बढ़े तो समझना चाहिए, प्रभु का अनुग्रह साकार हो रहा है।

प्रार्थना के साथ मूल्य चुकाना आवश्यक

प्रभु से उनके स्तर के अनुरूप प्रार्थना के माध्यम से याचना भी की जाए, परन्तु उसका मूल्य चुकाना आवश्यक है। हाथ में पैसे रखकर बस-टिकिट मांगी जाए, वह तो ठीक है; किन्तु मुफ्त में ही बस-टिकिट की मांग (याचना) करें तो उसकी पूर्ति होना कठिन है। ऐसे तो सरकारी बस व्यवस्था ही ठप्प हो जाएगी। मुफ्तखोरों को उदारतापूर्वक टिकिटें बाँटने लगें तो बसें चलाने में सरकार को जो खर्चा पड़ता है, वह कहाँ से आएगा? परमात्मा से प्रार्थना करते ही, उसका मूल्य चुकाए बिना ही मनोकामनाएँ पूरी हो जातीं तो इतनी सस्ती पूजा-प्रार्थना से अधिक अच्छा उद्योग इस संसार में कोई भी नहीं होता। फिर तो प्रत्येक समझदार व्यक्ति अन्य सब काम छोड़कर अभीष्ट प्रयोजनों के लिए अमुक विधि से अमुक इष्टदेव की पूजा-प्रार्थना करने में ही अपना समय, शक्ति और धन खर्च कर देते। ऐसी स्थिति से प्रार्थना के साथ व्यक्ति को तदनुरूप पुरुषार्थ, पराक्रम, सतर्कता, विवेक, यतना, क्षमता, योग्यता तथा प्रामाणिकतापूर्वक व्रत, नियम, त्याग-प्रत्याख्यानादि का आचरण आदि की कोई आवश्यकता ही न रहती। मानव की आत्मा को परिष्कृत एवं शुद्ध करने में जो तथ्य आधारभूत कारण रहे हैं, वे लुप्त हो जाते। परन्तु प्रार्थना के साथ परमात्मा के स्तर के अनुरूप याचना करने के साथ-साथ उसका मूल्य चुकाना आवश्यक है। प्रार्थना के साथ परमात्मा की आज्ञाओं, अनुशासन, मर्यादा तथा परमात्मीय नियमों का पालन करना आवश्यक है। एक ओर जुआ, चोरी, मांसाहार, मद्यपान, व्यभिचार, हत्या, दंगा, शिकार आदि कुव्यसनों का धड़ल्ले से सेवन किया जाए, दूसरी ओर परमात्मा का परमभक्त बनने का दिखावा किया जाय, आतंक और युद्ध के उन्माद में निर्दोष मनुष्यों का संहार किया जाए, और फिर प्रार्थना की जाए तो यह परमात्मा की शक्ति को विस्मृत करना है। इससे मनोकामना-पूर्ति तो सम्भव नहीं, प्रत्युत अपना ही अनिष्ट पतन एवं परमात्मा की आशातना के कारण पाप-कर्म का बन्ध होता है।

प्रभु से उनके स्तर के अनुरूप ही सहयोग याचना उचित

प्रभु से याचना का जहाँ तक सवाल है, वह वीतराग परमात्मा के स्तर के अनुरूप हो, वहाँ तक ठीक है। किसी महान् और प्रतिष्ठित व्यक्ति से उसकी गरिमा के अनुरूप ही सहयोग पाने की आशा की जाती है। उसके सामने वैसा ही प्रार्थना-प्रस्ताव लेकर प्रस्तुत हुआ जाता है।

इसीलिए 'इंजील' में कहा गया है—"तुम जो मांगते हो, उसे पाते नहीं, क्योंकि तुम गलत मांगते हो।"

डाकखाने में जाकर पेड़ा, बर्फी मांगने लगें तथा हलवाई की दूकान पर जाकर किताबें मांगने लगें तो वह मांग पूरी होनी असम्भव है। इसी प्रकार अनन्त ज्ञानादि-सम्पन्न परमात्मा से तुच्छ लौकिक एवं भौतिक वस्तुएँ मांगने लगें, यह अनुचित है।

झूठे मन से प्रार्थना न करें

प्रार्थना के समय अधिकांश तुच्छ स्वार्थी लोग प्रभु की स्तुति, प्रार्थना करते हैं कि प्रभो! मैं तेरी शरण में आया हूँ, तेरा ही हूँ, तेरे चरणों में पड़ा हुआ हूँ, मेरा तो एकमात्र तू ही है। तेरे सिवा मेरा है ही कौन? इत्यादि बोले गए वाक्यों का न तो वे अर्थ समझते हैं, और न भावार्थ या फलितार्थ ही। प्रार्थना के समय ऐसे लोगों द्वारा तन, मन, धन सब कुछ भगवान के चरणों में समर्पित करने की लच्छेदार भाषा का उपयोग करना और जब वैसा कुछ करने का अवसर आए, तब पल्ला झाड़कर अलग हो जाना, झूठे मन की प्रार्थना है, आत्मवंचना है। जिस प्रकार एक दुराचारी किसी भोली लड़की को फुसलाने के लिए लम्बे-चौड़े सब्ज बाग दिखता है, बड़े-बड़े आश्वासन देता है, विश्वास दिलाता है, कसमें खाता है; क्योंकि वह जानता है कि मुझे ये वादे पूरे करने नहीं है। इसी तरह झूठे मन से की गई प्रार्थना भी परमात्मा को बहकाने, ठगने एवं फुसलाने के लिए होती है।

अनैतिक कामनाओं की पूर्ति के लिए भी प्रार्थना अनुचित

परमात्मा अनन्त शक्ति सम्पन्न है। साथ ही वह अनन्तज्ञान, दर्शन तथा आत्मिक सुख (आनन्द) से सम्पन्न है। सामान्य अविवेकी मानव उस सच्चिदानन्दरूप अनन्त शक्तिमान् परमात्मा से इसलिए सम्पर्क-सम्बन्ध जोड़ना चाहता है कि उससे अपने तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति करने का लाभ उठा सके।

ऐसे लोग समझते हैं कि प्रार्थना के द्वारा परमात्मा से पुत्र, कलत्र, धन-वैभव, यश, प्रतिष्ठा, सत्ता, पद-प्राप्ति आदि मांगे जा सकते हैं। यह विपर्यय प्रार्थना का सही अर्थ न समझने के कारण होता है।

इसी प्रकार परमात्मा से अनैतिक कामनाओं की पूर्ति करना भी प्रार्थना को न समझना और परमात्मा की गरिमा को घटाना है। परमात्मा से जर्मन शासनकर्त्ता यह प्रार्थना करें कि हे ईश्वर! तू इंग्लैण्ड को हरा दे

और इंग्लैण्ड के शासनकर्ता यह प्रार्थना करें कि हे ईश्वर ! तू जर्मन को हरा दे। भला, परमात्मा पक्षपाती है, अन्यायी है, या नीति-धर्म की उपेक्षा करने वाला है ? राग-द्वेषादि विषमताएँ फैलाने वाली बातें ईश्वर से मांगना उनकी वीतरागता और समता को चुनौती देना है। अपने समान उनको भी भ्रष्टाचारी, पक्षपाती, राग-द्वेषी बनाना परमात्मा के स्वरूप से अनभिज्ञ रहना है। ऐसे स्वार्थी लोग बहुधा, परमात्मा की द्रव्य-पूजा करते हैं, मन्दिरों में तिलक छापे लगाकर, माला फेरकर आरती उतारते हैं, प्रभु से ऐसी तुच्छ बेतुकी प्रार्थना करते है। विश्व में विषमता एवं अव्यवस्था फैलाने वाली तथा धर्म एवं अध्यात्म को चौपट करने वाली ऐसी संकीर्ण स्वार्थमूलक अनीतिपरक प्रार्थनाओं से परमात्मा का अनुग्रह प्राप्त होना तो दूर, अप्रसन्नता ही प्राप्त हो सकती है। प्रार्थना से यदि अनैतिक कामनाएँ पूरी होने लगें, भगवान की छवि के आगे पूजा-पत्री घंटानाद, आरती, भोग, अर्घ्य, चढ़ावा प्रार्थना आदि की रिश्वत देने से ही अनैतिक दुष्कृत्यों में सफलता मिलने लगे तो परमात्मा को समदर्शी, वीतराग, अनन्त शक्तिमान आदि कौन कहेगा ? एक व्यक्ति अनीति-अन्याय कर रहा है, फिर भी मुकदमे में जीत जाने की प्रार्थना करे, दूसरे चाहे जितना पुरुषार्थ और परिश्रम करें, मेरे से सदा पीछे ही रहें, आगे न बढ़ सकें, मैं आलस्य, प्रमाद, दुर्व्यसन में लिपटा रहकर भी प्रभो ! आपकी कृपा से सबसे आगे रहूँ, सदैव सफलता प्राप्त करूँ; ऐसी प्रार्थनाएँ यदि कोई तथाकथित ईश्वर स्वीकार करले तो उसे क्या कहा जाएगा ? स्पष्ट है कि ऐसे किसी वास्तविक परमात्मा की कोई कल्पना या सम्भावना भी नहीं है कि वह पक्षपात, राग-द्वेष, तुच्छ स्वार्थपूर्ति या अन्याय-अनीति का समर्थन करता रहे। वह तो अपने ही ओछेपन तथा खोटेपन या अपने ही ऐब से मनगढ़न्त काल्पनिक परमात्मा हो सकता है, वास्तविक परमात्मा नहीं। चोर, डकैत, सटोरिए, जुआरी, या दुर्व्यसनी भी किसी देवी, देव, शिव, विष्णु, हनुमान आदि के रूप में भगवान या भगवती मानकर पूजा, मनौती, प्रार्थना आदि करते हैं और चोरी, डकैती में सफलता, झूठे मुकदमे में निर्दोष छूट जाना, सट्टे जुए में बिना परिश्रम का धन मिल जाना आदि प्रायः आए दिन देखे जाते हैं, इस तरह का अनुचित लाभ पाने वाले भी प्रायः प्रभु का या अपने इष्टदेव का अनुग्रह मानते हैं, किन्तु यह प्रभु कृपा का फल नहीं, भ्रष्ट व्यवस्था में सफल हो सकने वाली कुटिलता, धूर्तता, जालसाजी एवं तिकड़मबाजी का फल है। पूर्वकृत पुण्यकर्म के फलस्वरूप कदाचित ऐसे अनुचित लाभ मिल सकते हैं, परन्तु

ऐसे लोगों को नये पाप कर्म का बन्ध होता रहता है, जिसका कटु फल उन्हें देर-सबेर भोगना पड़ता है। ईश्वर कर्तृत्ववादियों के मतानुसार उन्हें उसका ईश्वरीय दण्ड भुगतना ही पड़ता है। यदि बिना ही अध्ययन एवं अभ्यास किये धूपबत्ती जलाकर प्रसाद चढ़ाने और हाथ जोड़कर प्रार्थना करने से प्रभु या इष्ट देव प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर दे तो फिर पुरुषार्थ और अध्यवसाय को क्या आवश्यकता रह जाएगी ? यदि इतनी आसानी से मनोकामनाएँ पूरी होने लगें तब तो कर्म-फल का सिद्धान्त पूर्णतया निष्फल और निरर्थक हो जाएगा।

क्या दशरथ जी को प्रार्थना करनी नहीं आती थी कि प्रभो ! मेरी मृत्यु पुत्रशोक से न हो। यह कर्मफल ही था, जो उन्हें भोगना ही था। राम भी अपने पिता को कर्मफल भोगने की अनिवार्यता से छुटकारा नहीं दिला सके। अर्जुन-पुत्र अभिमन्यु श्रीकृष्ण जी की बहिन-सुभद्रा का पुत्र था। उसकी मृत्यु के विधान और कृतकर्म के फलभोग को क्या किसी ईश्वर की या इष्टदेव की प्रार्थना टाल सकती थी ? कदापि नहीं।

प्रार्थना से विषाद नहीं, आनन्द प्राप्त होना चाहिए

क्या यह प्रार्थना है, जो मामूली कष्ट की निवृत्ति तथा संकीर्ण तुच्छ स्वार्थ सिद्धि एवं अनैतिक कामनाओं की पूर्ति का उद्देश्य रखकर की जाये ? कष्ट निवृत्ति और तुच्छ स्वार्थ सिद्धि न होने पर प्रभु-प्रार्थना से लोग विरत हो जाते हैं, उन्हें प्रार्थना के बदले खीज उत्पन्न होती है। इससे लगता है कि वह प्रार्थना का आधार ही गलत था। सच्ची प्रार्थना तो मनुष्य की अपूर्णता का घट क्रमशः भरती ही जाती है।

सच्ची प्रार्थना हमें ऊँचा उठाती है और जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र के शिखर पर पहुँचे हुए हैं, उनसे मिलाती है। हमारा उपास्य परमात्मा तो वीतराग, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी और अनन्त शक्तिमान् है, जिसके समीप पहुँचकर रोना भूलकर मुस्कराना सीखा जाता है। प्रार्थना से विषमता से समता में, अशान्ति से शान्ति में, अप्रसन्नता से प्रसन्नता में, रागद्वेष आदि के जंजाल से वीतरागता में पहुँचने वाले व्यक्ति को अन्तर्व्यथा और अतृप्ति की पीड़ा तो होनी ही नहीं चाहिए। उपासनामूलक प्रार्थना में निराशा, खीज, असन्तोष एवं अतृप्ति होनी ही नहीं चाहिए। सत्-चित्-आनन्द से भरी सत्ता के निकट प्रार्थना द्वारा पहुँचने से तो आनन्द, स्फूर्ति, उत्साह, क्षमता

और तन्मयता बढ़नी चाहिए। यदि सच्चे माने में प्रार्थना करें तो हम प्रभु के प्रति तन्मय, एकाग्र होकर आनन्द, उल्लास, आत्मतृप्ति को अपना सकते हैं।

परमात्मा प्रचण्ड शक्ति है, सावधान !

बिजली, नदी-प्रवाह, अग्नि आदि का सदुपयोग इन प्राकृतिक देवों से वरदान दिलाता है तथा मनुष्यों के क्रिया-कलापों में इनसे अत्यन्त सहायता मिलती है। परन्तु जहाँ इनका दुरुपयोग या अविधिपूर्वक उपयोग प्रारम्भ हुआ, वहीं ये सब निर्दयता पर उतारू हो जाते हैं और मर्यादा-उल्लंघन की धृष्टता के लिए उसे असह्य दण्ड देते हैं। उदाहरणार्थ—तैरना जाने बिना नदी की प्रचण्ड धारा में जो कूदेगा, लोहे की नौका बना कर अथवा छिद्र वाली नौका में बैठकर नदी पार करना चाहेगा, वह बीच में ही डूब जाएगा। बिजली उपयोगी है, उसके सदुपयोग से अनेक प्रकार के लाभ उठाये जा सकते हैं, परन्तु उसी विद्युत की छेड़छाड़ करे, खुले तार को छूए तो प्राणनाश का खतरा है! जरा-सी चूक भी इन्हें सहन नहीं होती। जितनी बड़ी शक्ति, उतनी ही कठोर उसकी व्यवस्था। प्रचण्ड विद्युत शक्ति के समान परमात्मा में भी प्रचण्डशक्ति है। प्रचण्ड विद्युत धारा बह रही हो, वहाँ एक सैकिण्ड के स्पर्श से प्राणदण्ड मिल जाता है। यह एक प्रकार से बिजली की अवहेलना है। इसी प्रकार ईश्वर की प्रचण्ड शक्ति को भूलकर उसकी या उसकी आज्ञा की अवज्ञा, निन्दा, आशातना या अवहेलना करने लगे तो उसे भी घोर पाप कर्म का बन्ध होता है, जिसके फलस्वरूप आगामी जन्मों में बोधिलाभ, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं आत्मिक सुख प्राप्त नहीं होता। वह नाना योनियों एवं दुर्गतियों में परिभ्रमण करता रहता है। मनुष्य जीवन में भी ऐसे लोग भयंकर विपत्ति में फँसते हैं, और दुःख भोगते हैं। उन्हें परमात्मा के नियमों का भान नहीं रहता, उनकी स्थूल बुद्धि एवं असम्यक् दृष्टि बार-बार उक्त अदृश्य परमात्मा की अवज्ञा का दुःसाहस करती रहती है।

प्रार्थना शक्ति बने, याचना नहीं

भगवान् से प्रार्थना के माध्यम से क्या निवेदन करना चाहिए ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि वीतराग परमात्मा के स्तर के अनुरूप वस्तु पाने का ही निवेदन करना चाहिए। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इस

पर सुन्दर प्रकाश डाला है। उन्होंने प्रभु से प्रार्थना करते हुए पुकार की—प्रभो ! मेरी केवल एक ही कामना है कि मैं संकटों से डरकर भागूं नहीं, उनका सामना करूँ। इसलिए मेरी यह प्रार्थना नहीं है कि संकट के समय तुम मेरी रक्षा करो, बल्कि मैं तो इतना ही चाहता हूँ कि तुम उनसे जूझने का बल दो। मैं यह भी नहीं चाहता कि जब मेरा चित्त दुःख-सन्ताप से व्यथित हो जाए, तब तुम मुझे सान्त्वना दो। मैं अंजलि के भाव सुमन तुम्हारे चरणों में अर्पित करते हुए इतना ही मांगता हूँ कि तुम मुझे मेरे दुःखों पर विजय प्राप्त करने की शक्ति दो।

जब किसी कष्टप्रद और संकट की घड़ी में मुझे कहीं से कोई सहायता न मिले तो मैं हिम्मत न हारूँ। किसी और स्रोत से सहायता की याचना न करूँ, न उन घड़ियों में मेरा मनोबल क्षीण होने पाए। हे प्रभो ! मुझे ऐसी दृढ़ता और शक्ति देना, जिससे मैं कठिन से कठिन घड़ियों में, संकटों और समस्याओं के सामने भी दृढ़ रह सकूँ और तुम्हें घर घड़ी अपने साथ देखते हुए उन्हें खेल समझकर अपने चित्त को हल्का रखूँ। बस, मैं यही चाहता हूँ।

चाहे जैसी प्रतिकूलतायें हों, व्यवहार में मुझे कितनी ही हानि क्यों न उठानी पड़े, उनकी मुझे जरा भी परवाह नहीं है। लेकिन प्रभु ! मुझे इतना कमजोर मत होने देना कि मैं आसन्न संकटों को देखकर हिम्मत हार बैठूं और यह रोने बैठ जाऊँ कि अब क्या करूँ, मेरा सर्वस्व छिन गया।

प्रभु ! तुम्हारा और केवल तुम्हारा विश्वास ग्रहण कर लोगों ने अकिंचन अवस्था में रहते हुए भी इतिहास की श्रेष्ठ उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं। मैं इतना ही चाहता हूँ कि तुम्हारा विश्वास, मेरे लिए शक्ति बने, याचना नहीं, सम्बल बने, क्षीणता नहीं। बस, इतनी-सी कृपा करना।

अतः परमात्मा से श्रद्धा, साहस, श्रम-निष्ठा, सच्चरित्रता, तितिक्षा, सहिष्णुता, समता, पवित्रता, क्षमा, दया आदि गुणों को सुरक्षित रखने की शक्ति की प्रार्थना करनी चाहिए, जिससे विपन्नता को सम्पन्नता में, अभाव को सन्तुष्टि भाव में बदला जा सके।

प्रार्थना : सर्वतोभावेन समर्पण

प्रार्थना के दौरान भगवान को आत्मसमर्पण करने की स्थिति में जीव कहता है—'तस्यैवाऽहम्'—मैं उसी का हूँ, 'तवैवाऽहम्'—मैं तो तेरा

ही हूँ; यह कहने पर उसी में इतना घुल-मिल जाये, तन्मय हो जाये कि अपने आपको ही विस्मृत हो जाये, 'अप्पाणं वोसिरामि' कहकर स्वयं को विसर्जन कर दे, **'अप्पा सो परमप्पा'** इस सूत्र के अनुसार अपने को परमात्म-स्वरूप समझने लगे, तब समझना चाहिए प्रार्थना पूर्ण आत्मसमर्पण करने की भूमिका तक आ पहुँची है। परमात्मा को अपने में और अपने को परमात्मा में समाने की अनुभूति जब इतनी प्रबल हो जाये, कि उसे कार्य-रूप में परिणत किये बिना रहा ही नहीं जा सके, तब समझना चाहिए कि समर्पणभाव सजग हो उठा है। ऐसी अर्पणतायुक्त प्रार्थना व्यक्ति को द्रुत-गति से देवत्व अथवा परमात्मत्व की ओर ले जाती है। प्रार्थना की यह गतिशीलता इतनी प्रभावशाली होती है कि भक्त सर्वतोभावेन समर्पित हो जाता है।

कहना होगा कि प्रार्थना याचना नहीं हो सकती। उसमें समर्पण ही समर्पण भरा रहता है। अधिकांश लोग पाने का लाभ देखते हैं, परन्तु देने का आनन्द नहीं समझते। प्रभु को अपना आपा सौंपने से व्यक्ति को सर्वो-परि आत्मदान (जीवनदान) का गौरव प्राप्त होता है। उसकी तुलना तुच्छ लौकिक या भौतिक लाभ या स्वार्थ के साथ नहीं हो सकती। ऐसे आत्मदान (आत्मसमर्पण) करने वाले व्यक्ति को समता, सन्तोष, कष्ट-सहिष्णुता, परीषह विजय, तपस्या आदि महान विभूतियों की उपलब्धि होती है। प्रभु को समर्पण करने का अर्थ ही है—अपने अहं का, अपने कामना-परिकर का समापन, विसर्जन। कायोत्सर्ग और व्युत्सर्ग तप इसी अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। वैदिक दर्शन के अनुसार प्रभु की इच्छाओं को ही अपनी इच्छाएँ मानना आत्मसमर्पण है।

गुलाम भी आजीवन मालिक की इच्छानुसार चलता है

अरबस्तान में उन दिनों गुलामों की खरीद-बिक्री के बाजार लगते थे, धनिक लोग गुलामों की बोली लगाकर खरीद लेते थे, और उनसे मनमाना काम लेते थे। एक जगह एक धनिक को एक गुलाम खरीदते हुए एक फकीर ने देखा। गुलाम के बिक जाने पर फकीर ने उससे पूछा—"तुम बिक गये ? अब क्या काम करोगे ?"

गुलाम बोला—"हाँ, मैं बिक गया। अब जो मालिक कहेगा, वही करूँगा।"

फकीर—"कहाँ रहोगे ?"

गुलाम—"जहाँ, मालिक रखेगा।"

फकीर—"क्या खाओगे-पीओगे ?"

गुलाम—"जो मालिक देगा, वही खाऊँगा, पीऊँगा।"

फकीर—"कहाँ जाओगे ?"

गुलाम—"जहाँ मालिक ले जायेगा।"

फकीर—"क्या जिन्दगी के विषय में तुम्हारी कोई इच्छा होगी ?"

गुलाम—"जो मालिक की इच्छा होगी, वही मेरी इच्छा होगी। मेरी जिन्दगी मालिक को समर्पित है।"

यह सुनकर वह फकीर रो पड़ा। एक गुलाम अपने पेट की समस्या हल करने के लिए मालिक की इच्छा को ही अपनी इच्छा मानता है। उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं है। वह अपने मालिक के प्रति कितना समर्पित है, और मैं अभी तक अपने मालिक—परमात्मा के प्रति इतना समर्पित नहीं हो सका, परमात्मा की इच्छा को अपनी इच्छा नहीं मान सका, इसी का खेद है। इस गुलाम के मन में दूसरा कोई विकल्प नहीं है,जबकि मेरे में अपने कई विकल्प हैं। अपनी असमर्थता के प्रति फकीर को ग्लानि हुई। वास्तव में जब अपनी आकांक्षा और इच्छा हटने लगे और प्रभु की इच्छा (जैन दृष्टि से आज्ञा) उस स्थान को ग्रहण करने लगे, तब समझना चाहिए, इसी अनुपात में प्रार्थना सफल हो रही है। प्रभु के दर्शन (तत्त्वदृष्टि से) इसी रूप में होते हैं कि वे अन्तःकरण की कुरूपता को समेट लेते हैं और उस स्थान पर व्यक्ति में आत्मसौन्दर्य की स्फुरणा जगा देते हैं। स्पष्ट शब्दों में कहूँ तो—कष्टनिवृत्ति और स्वार्थसिद्धि जैसे तुच्छ मनोरथों के स्थान पर उत्कृष्ट आदर्श अन्तर् में जगमगाने लगते हैं। ऐसा सम्यग्दृष्टि सम्पन्न साधक सांसारिक एवं भौतिक तुच्छ पदार्थों एवं स्वार्थों के बदले उच्च आदर्शों की प्रार्थना करने लगता है—

"आरुग्ग-बोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु।
सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।"

अर्थात्—"वीतराग प्रभु ! मुझे स्वस्थ बोधिलाभ और उत्तम समाधि प्रदान करें। सिद्ध भगवन्त ! मुझे सिद्धि-मुक्ति प्रदान करें। अर्थात्—मुक्ति का मार्ग दिखायें।"

दूसरे पहलू से सोचें तो भी परमात्मा वीतराग हैं, निर्लेप हैं, वे किसी को कुछ लेते-देते नहीं, फिर उन्होंने तो समस्त भौतिक वस्तुओं का

परित्याग कर दिया, वस्त्र तक भी उनके छूट गये, वे अकिंचन और निष्परिग्रही हो गये, तब फिर किसी को धन, पुत्र, आदि कैसे दे देंगे तथा निःस्पृह, निर्लेप एवं वीतरागी होने के कारण वे किसी को यश-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान, सत्ता, वैभव आदि भी कैसे दे सकते हैं ? क्योंकि इन चीजों तथा क्रोधादि विकारों तक को छोड़ चुके हैं फिर वे दूसरों को कैसे बांटेंगे ?

आत्म-समर्पण और आत्म-परिवर्तन की आस्था प्रार्थना की फल श्रुति

परामनोविज्ञानवेत्ता डॉ० एमेली केडी ने लिखा है—प्रार्थना मात्र ईश्वर को धन्यवाद देने या उससे कुछ याचना करने की प्रक्रिया का नाम नहीं है, वरन् वह ऐसी मनःस्थिति है, जिसमें व्यक्ति शंका और सन्देहों के जंजाल से निकलकर श्रद्धा की भूमिका में प्रवेश करता है। अपने अहंकार को खोकर समर्पण की नम्रता स्वीकार करना और उद्धत मनोविकारों को ठुकराकर परमेश्वर का नेतृत्व स्वीकार करना ही प्रार्थना है। इसमें यह संकल्प भी जुड़ा रहता है कि भावी जीवन परमेश्वर के निर्देशों के अनुसार पवित्र और परमार्थी बनाकर जिया जायेगा। ऐसी गहन अन्तःस्तल से निकली हुई प्रार्थना, जिसमें आत्म-परिवर्तन की आस्था जुड़ी हुई हो, भगवान् का आसन हिला देती है। भक्ति कवि सूरदास जी जब प्रभु भक्ति में भाव विभोर होकर तन्मयतापूर्वक प्रार्थना-गीत गाते थे, तब मानो प्रभु के साथ निकट सान्निध्य प्राप्त कर लिया हो, इस प्रकार की अनुभूति हो जाती थी। सूरदासजी का यह पद कितना हृदयद्रावक और प्रभु के आसन को हिला देने वाला है ?

प्रभु ! मोरे अवगुण चित्त न धरो ।
समदर्शी है नाम तिहारो, चाहो तो पार करो ॥ध्रुव॥
इक नदिया इक नार कहावत, मैलो ही नीर भरो ।
जब मिलकर इक वर्ण भई तब, सुरसरी नाम परो ॥प्रभु०॥१॥
इक लोहा पूजा में राख्यो, इक घर वधिक परो।
पारस गुण-अवगुण नहिं चितवे, कंचन करत खरो ॥प्रभु०॥२॥
यह माया भ्रम जाल कहावे, सूर-दास सगरो ।
अब की बेर मोहि पार उतारो, नहिं प्रण जात टरो ॥प्रभु०॥३॥

कितनी सुन्दर आत्म-समर्पण-युक्त प्रार्थना है ! वास्तव में सच्ची प्रार्थना प्रभु के समक्ष आत्म-समर्पण करना और उनमें तन्मय हो जाना व भक्ति,भाव विभोर हो जाना है।

सामूहिक प्रार्थना की विशिष्ट शक्ति

यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त है कि अलग-अलग रहकर दस आदमी अलग-अलग प्रयत्नों से जितना काम कर सकते हैं, उसकी बनिस्पत उन्हीं दस व्यक्तियों के संयुक्त—सामूहिक प्रयत्न का कहीं अधिक अभीष्ट परिणाम देख जाता है। एकाकी प्रयत्न से होने वाली सफलता और सामूहिक प्रयत्न से होने वाली सफलता में काफी अन्तर रहता है, शीघ्र अभीष्ट परिणाम एवं अल्पपरिश्रम साध्यता का। अलग-अलग पड़ी हुई सींकें उतनी सफाई नहीं कर सकती, जितनी एक साथ मिलाई हुई सींकों की बुहारी से संभव होती है। ठीक, इसी प्रकार अलग-अलग अपने-अपने कमरे में की जाने वाली प्रार्थना व्यक्ति एवं वातावरण को परिष्कृत एवं उल्लसित करने में जितनी उपयोगी सिद्ध होती है, उसकी तुलना में एक संकल्प में आबद्ध एवं समूहबद्ध होकर की जाने वाली प्रार्थना का सामर्थ्य, प्रभाव और वातावरण-परिवर्तन कहीं अधिक होता है।

सामूहिक प्रार्थना वातावरण बदलने में सहायक

एक साथ, एक लगन, एक उद्देश्य, एवं एक संकल्प से की हुई संयुक्त शब्द शक्ति का प्रभाव आश्चर्यजनक होता है। जब किसी भारी वजन को उठाने या आगे धकेलने के लिए श्रमिक लोग एकसरीखे नारे लगाते हैं, एक साथ अपनी समस्त शक्ति को केन्द्रित कर लेते हैं, तब उसका सुपरिणाम देखते ही बनता है। ठीक इसी प्रकार सामूहिक प्रार्थना में भी यही विशेषता रहती है। संयुक्त संकल्प, संयुक्त भाव-प्रवाह एवं सामूहिकरूप से की हुई प्रार्थना के शब्दों की शक्ति उच्चारणकर्ताओं के अन्तर्मन को तो जागृत एवं लाभान्वित करती ही है, साथ ही अन्य असंख्य लोगों के वातावरण को बदलने में विशेष रूप से सहायक होती है।

सामूहिक शब्दशक्ति का चमत्कार

आजकल वैज्ञानिक शब्दशक्ति के सन्दर्भ में सामूहिक उच्चारण की प्रतिक्रिया की शोध में संलग्न हैं। सामूहिक उच्चारण से होने वाली प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में कुछ नवीन तथ्य प्रकट हुए हैं। एक तथ्य यह सामने आया है कि यदि संसार के ५० प्रतिशत व्यक्ति एक साथ, एक उद्देश्य को लेकर सामूहिक रूप से उच्चारण करने में सक्रिय हों तो वे शब्दों और ध्वनियों द्वारा तीन घंटे में छह हजार खरब वॉल्ट विद्युत्-

शक्ति पैदा कर सकते हैं; जो भारत में पैदा की जाने वाली कुल ऊर्जा से आठ गुनी अधिक है। इस प्राप्त ऊर्जा से समग्र विश्व को कई घंटों तक प्रकाश मिल सकता है। सामूहिक प्रार्थना में एक साथ एक लय से प्रार्थना के शब्दों का सामूहिकरूप से उच्चारण कर शक्तिशाली प्रचुर विद्युत्-शक्ति/ऊर्जाशक्ति प्राप्त की जा सकती है।

शब्द के साथ संलग्न विद्युत्-प्रवाह कितना प्रचण्ड होता है और उससे कितने काम लिये जा सकते है। यह विज्ञानवेत्ता मानते हैं और इसी थ्योरी के आधार पर वे रेडियो, टेलीविजन, राडार आदि यंत्रों का निर्माण करते हैं। शरीर की विभिन्न गहन पर्तों में छिपी हुई बीमारियों का निदान भी इसी शब्द शक्ति के आधार से किया जाता है। इको-एनसेफेलोग्राफ नामक यंत्र द्वारा प्रतिध्वनि उपलब्ध करके मस्तिष्क-सम्बन्धी बीमारियों का पता लगाया जा सकता है। इसी प्रकार इको-कार्डियोग्राफ द्वारा हृदयरोगों का भी पता लगा लिया जाता है। मुख से निकलने वाली आवाज केवल हवा ही नहीं, अपितु एक शक्तिशाली ऊर्जा (एनर्जी) के समान है। हमारे अध्यात्मतत्त्वविदों ने सामूहिक शब्द शक्ति को जान लिया था, और उसी आधार पर उन्होंने मंत्र विद्या का आविष्कार किया है।

यह तो साधारण व्यक्ति भी जानता है कि किसी के प्रति अपमान-जनक शब्द कहते ही सामने वाले व्यक्ति को क्रोध आ जाता है, प्रायः आँखें लाल हो जाती हैं, चेहरा तमतमा उठता है, फलस्वरूप अनर्थ, कलह और वैमनस्य बढ़ता जाता है। इसका उदाहरण है—द्रौपदी के वे शब्द जो उसने दुर्योधन को कहे थे और ये कड़वे शब्द सुनकर दुर्योधन का पारा बहुत ऊँचा हो गया था। महाभारत द्रौपदी के इन्हीं शब्दों का परिणाम है। अतः शब्दों की भावोत्तेजक क्षमता असंदिग्ध है। प्रशंसासूचक शब्दों को सुनकर मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी भी यहाँ तक कि पेड़-पौधे आदि वनस्पति जगत् के सदस्य भी फूल जाते है। दुःखद, क्षोभजनक तथा शोक-संतापजन्य घटना सुनकर मनुष्य विलाप करने, बड़बड़ाने, रोने और आंसू बहाने लगता है। संगीत के मधुर और कोमल स्वर मनुष्य की भावनाओं को तरंगित करने और उभारने में अतीव सहायक हैं। रणक्षेत्र में भाटों और चारणों की शौर्यगाथा सुनकर योद्धाओं की भुजाएँ फड़क उठती थीं, उनमें वीररस जागृत हो जाता था। वर्तमान मनोवैज्ञानिकों के अनुसार

उच्चारित शब्दों का प्रभाव मन-मस्तिष्क पर दो तरह से पड़ता है। पहला —मुख से शब्द निकलने से पूर्व वक्ता के मस्तिष्क से कुछ इसी प्रकार की विद्युत्-चुम्बकीय लहरें निकलती हैं, जिन्हें श्रोता का मस्तिष्क बरबस ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। दूसरा—उच्चारित शब्द वायुकम्पनों के माध्यम से विद्युत्-संचार के रूप में कर्णरन्ध्रों से होते हुए मस्तिष्क तक पहुँच कर विविध आवेग उत्पन्न करते हैं। यही कारण है कि उच्चारित शब्द वक्ता पर ही नहीं, श्रोतृवर्ग पर भी अद्भुत प्रभाव डालते हैं।

सबसे पहले उच्चारित शब्द कान एवं त्वचा पर सीधा प्रभाव डालते हैं। कान एक प्रकार का माइक्रोफोन है, जिसमें ०२ से २००० आवृत्तियों का प्रवेश होते ही एक धारा प्रवाहित होने लगती है। वह सीधे मस्तिष्क तक पहुँचकर शरीर के सभी भागों एवं ग्रन्थियों को क्रियाशील बना देती है। मंत्र शक्ति का परिणाम प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मांत्रिक शब्दों की जब हजारों लाखों आवृत्तियाँ एकाग्रचित्त से की जाती हैं, तो उससे मंत्र-पाठकर्ता की ऊर्जाशक्ति प्रबल हो जाती है, और वह फिर अपनी ऊर्जा शक्ति के प्रभाव से दूसरों की विविध समस्याओं का हल कर देता है। अथवा उस संचित प्रचण्ड ऊर्जा शक्ति का सामूहिक रूप से दुष्प्रयोग करने पर उससे विनाशकारी दृश्य भी उपस्थित हो सकता है और सुप्रयोग करने पर सुपरिणामजनक दृश्य भी।

प्राचीनकाल में जब वर्षा नहीं होती थी, तब गांवों के लोग ग्राम से बाहर एक जगह एकत्रित होकर सामूहिक प्रार्थना करते थे और उसके प्रभाव से वर्षा हो जाती थी। उस प्रार्थना को वैदिक ऋषि 'कारीरीयज्ञ' कहते थे।

इसी प्रकार महामारी, विपत्ति, संकटापन्न परिस्थिति के निवारण के लिए भी वैदिक मन्त्रात्मक सामूहिक प्रार्थना साधारण जनता किया करती थी। उसका परिणाम भी प्रायः अनुकूल होता था।

इसी शब्दशक्ति का सामूहिक प्रयोग पिछले कुछ वर्षों पूर्व सोवियत रूस ने कनाडा पर किया था, जिससे कनाडा के उत्तरी भाग में हजारों वर्ग मील के क्षेत्र में रोगवर्धक किरणें फैला दी गई थीं। वहाँ के निवासियों में प्रायः चिड़चिड़ापन, मानसिक तनाव, डिप्रेशन तथा आत्महत्या की वृत्ति अत्यधिक मात्रा में पाई गई। सर्वेक्षण करने पर मालूम हुआ कि किसी स्थान विशेष से सामूहिकरूप से शाब्दिक तरंगें (Sound Vibrations)

छोड़ी जा रही हैं, जो किन्हीं निश्चित आवृत्तियों (Repetations) में होने पर मानसिक क्षमताओं को प्रभावित कर रही हैं। इस प्रकार शब्द-शक्ति का जब सामूहिक रूप से दुरुपयोग Sound war (शाब्दिक युद्ध) के रूप में हो सकता है तो कोई कारण नहीं कि शब्दशक्ति का सामूहिक रूप से सदुपयोग न हो सके और मनुष्यों की विचारधाराओं, भावनाओं एवं वृत्ति-प्रवृत्तियों को सन्मार्ग की ओर, परमात्मशक्ति की ओर न मोड़ सके।

पाश्चात्य देशों के लोग शब्दशक्ति के माहात्म्य को जानकर सम्मोहन (हिप्नोटिज्म) और आत्म-परामर्श (ऑटो सजेशन) के रूप में करने लगे हैं। प्रसिद्ध रूसी मनोवैज्ञानिक आई० पी० पावलोव ने शब्दशक्ति के विशद प्रयोग किये हैं और उनमें उसने सफलता प्राप्त की है। उसका कहना है कि शब्द अत्यन्त शक्तिशाली परिवर्त्त (उत्तेजक) है, बल्कि वे 'कण्डीशन्ड रिप्लेक्स' भी हैं। शब्दशक्ति के ये सब प्रयोग या उपयोग भौतिक एवं लौकिक दृष्टि से किये गये हैं, किन्तु शब्द शक्ति के प्रभाव को जानकर यदि अलौकिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से प्रयोग और उपयोग किये जाएँ तो इनसे प्रखर आध्यात्मिक उपलब्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। यह शब्द शक्ति तब और भी अधिक प्रखर हो सकती है, जब उसके भावनात्मक तारतम्य एवं उच्चारण सामूहिकता को अपना ले। अर्थात्—सामूहिक प्रार्थना से शब्दशक्ति का अद्भुत चमत्कार देखा जा सकता है।

सितार के तारों पर उँगलियों को क्रमबद्ध रखने से विभिन्न प्रकार की स्वरलहरियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार प्रार्थना के शब्दों का उच्चारण भी सामूहिक रूप से लयबद्ध, तालबद्ध और क्रमबद्ध होने से विशेष प्रकार के, विशिष्ट शक्ति सम्पन्न कम्पन पैदा होते हैं। जब वे कम्पन बाहर निकलते हैं तो वातावरण को प्रभावित करते हैं। ये ही कम्पन सूक्ष्म जगत् में अभीष्ट परिस्थितियों का सृजन करते हैं। व्यक्ति विशेष को भी ये प्रभावित करते हैं।

इससे समझा जा सकता है कि व्यक्तिगत प्रार्थना की अपेक्षा सामूहिक प्रार्थना में कितनी अधिक शक्ति एवं ऊर्जा उत्पन्न हो सकती है।

अमेरिका में प्रार्थना संघ द्वारा सफलता

अमेरिका में कन्सास सिटी में प्रार्थना-संघ बना हुआ है, जिसके

संस्थापक फिलमोर महाशय थे। वहाँ एक विशाल हॉल बना हुआ है, जिसमें लोग श्रद्धापूर्वक सामूहिक रूप से प्रार्थना करते हैं, और उनकी प्रार्थना सफल भी होती है। वहाँ दूर-दूर से लोगों की लिखित अर्जियाँ आती हैं जिनमें से किसी में लिखा रहता है हम निर्धनता के दुःख से पीड़ित हैं, हमारे लिए प्रभु से प्रार्थना करें। इसी प्रकार दुःसाध्य रोग से पीड़ित, सन्तानाभाव से खिन्न, गृहकलह, किसी पद या कार्य के लिए प्रार्थना करने की भी अर्जियाँ आती हैं, और वहाँ के सेवाभावी कार्यकर्ता अर्जियों के लिखे हुए नाम तथा प्रयोजन के अनुसार सामूहिक प्रार्थना करते हैं। यद्यपि ये प्रार्थनाएँ लौकिक प्रयोजनों के लिए होती हैं, परन्तु अगर आध्यात्मिक प्रयोजन के लिए प्रभु से सामूहिक प्रार्थना की जाए, श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रभु से निवेदन किया जाए तो वे प्रार्थनाएँ उचित भी होंगी और सफल भी।

अतः वैयक्तिक और सामूहिक प्रार्थना के हार्द एवं फलितार्थ को समझकर प्रभु-प्रार्थना की जाये तो क्रमशः परमात्मप्राप्ति आसानी से हो सकती है।

२

एकान्तवास से परमात्मगुणों की उपलब्धि

अपरिपक्व साधक के लिए एकान्तवास आवश्यक

कच्चे आम को पकाने और उसके खट्टेपन को मधुर और स्वादिष्ट रस में बदलने के लिए कुछ दिन उसे पराल (चावल के घास) में ढककर एकान्त स्थान में रख देना पड़ता है, जब तक वह आम पक नहीं जाता, तब तक उसे छेड़ा नहीं जाता, न ही उसे टोकरी से निकाला जाता है।

इसी तरह मिट्टी के कच्चे घड़े को पकाने के लिए कुछ समय तक आँवे में रखना पड़ता है। जब तक घड़ा पक नहीं जाता तब तक वह आँवे में ही रखा जाता है, उसे छेड़ा नहीं जाता।

यही बात अपरिपक्व—कच्चे साधक के लिए है, जब तक वह साधना में परिपक्व नहीं हो जाता अथवा गृहत्यागी साधु को भी जब तक आत्म-ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता, वह पूर्णरूप से आत्मा के हिताहित, कल्याण-अकल्याण, श्रेय-प्रेय का भलीभांति बोध प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक प्रारम्भ के कुछ वर्षों तक उसे भीड़भाड़ से, जनसम्पर्क से, तथा अन्यान्य लोकोपकारी प्रवृत्तियों से दूर रहकर एकान्तवास में—व्यक्तिगत साधना में रत रहना आवश्यक है।

अपरिपक्व साधक क्या करता है ?

जब तक साधक अपरिपक्व रहता है, तब तक संसार के बाह्य आकर्षणों का प्रभाव उसके मन पर पड़ता रहता है, वह अपनी प्रसिद्धि, प्रशंसा,

सिद्धि, बाह्य प्रवृत्तियों की सफलता आदि के मोहक जाल में फंसकर अपनी आत्मसाधना से दूर चला जाता है। उसकी मनःस्थिति उस घोड़ागाड़ी जैसी हो जाती है जिसकी गाड़ी आगे हो और घोड़ा उसके पीछे जुता हुआ हो। अर्थात् वैसा अपरिपक्व साधक भी सफलता की मृगतृष्णा में अपनी आत्मसाधना की आनन्दानुभूति न करके जनाकर्षणयोग्य प्रवृत्तियों की गाड़ी को आगे कर देता है, और आत्मसाधना योग्य कार्यरूप अश्व को पीछे लगा देता है। फलतः वह साधक अन्त तक अपरिपक्व रह जाता है। कदाचित् वह प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, कायोत्सर्ग, ध्यान आदि क्रियाओं में थोड़ा-सा एकान्तवास स्वीकार करता है, परन्तु उनमें भी उसका मन तो बाह्य अमुक-अमुक प्रवृत्तियों में खिंचा रहता है। बीच-बीच में वह इन क्रियाओं को करते समय बोलता भी रहता है। किसी से मिलना हो और कार्य करना हो तो वह इन क्रियाओं को टाल भी देता है। फलतः आत्म-साधना में पूर्णता प्राप्त करने के जिस उद्देश्य से ये क्रियाएँ की जाती हैं, उनमें वह सफलता प्राप्त नहीं कर पाता, क्योंकि इन क्रियाओं को करते समय उसका उपयोग दूसरी ओर चला जाता है। ये क्रियाएँ उपयोगपूर्वक भाव से नहीं हो पातीं। इसका मूल कारण अगर खोजा जाए तो वह है—एकान्तवास से अनभ्यस्त होने से साधक की अपरिपक्व अवस्था।

भगवान् महावीर का शिष्य जमालि अभी साधना की दृष्टि से अपरिपक्व था। अभी वह ग्रहण-शिक्षा और आसेवन-शिक्षा पाकर निष्णात नहीं हुआ था। फिर भी भूतपूर्व राज-पुत्र होने से तथा साथ में ५०० शिष्यों के दीक्षित होने से उसे मोह और अहंकार ने घेर लिया था। भगवान् महा-वीर से उसकी यह मनःस्थिति छिपी नहीं थी। जब वह अपरिपक्व साधक की भूमिका में ही अधिकाधिक जन-सम्पर्क करने, धर्मोपदेश देने और इसके लिए स्वतन्त्र विचरण करने हेतु भगवान् से आज्ञा माँगने आया तो वे मौन रहे[1] उन्होंने स्वतन्त्र विचरण करने की आज्ञा नहीं दी। अतः आवेश में आकर जामालि अपने शिष्यों सहित चल पड़ा। नतीजा यह हुआ कि जामालि सत्यसिद्धान्तविरुद्ध मनःकल्पित प्ररूपण और आचरण करने लगा। यह था अपरिपक्व साधक के द्वारा एकान्त के अनभ्यास का कुपरिणाम।

एकान्तसेवन : एकान्तसुखरूप मोक्ष की प्राप्ति में अन्यतम सहायक

उत्तराध्ययन सूत्र में एकान्तिक एवं आत्यन्तिक सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति के लिए एकान्तवास को आवश्यक बताते हुए कहा गया है—

---

१ भगवती सूत्र से

'नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएण, एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं॥
तस्सेस मग्गो गुरुविद्ध-सेवा, विवज्जणा बालजणस्स दूरा।
सज्झाय-एगंतनिसेवणा य सुत्तत्थ-संचितणयाधिई य॥[1]

सम्पूर्ण ज्ञान (केवलज्ञान) के प्रकाश से अज्ञान और मोह से रहित हो जाने से, तथा राग और द्वेष से होने वाले भावकर्म (घातिकर्म) का क्षय हो जाने से आत्मा एकान्तसुखरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, किन्तु उस मोक्ष (अर्थात्--अज्ञान, मोह, राग-द्वेष आदि से मुक्ति) को प्राप्त करने का साधनामार्ग यह है—आत्मज्ञानी गुरु और स्थविर की सेवा, अज्ञानीजनों की संगति से दूर रहना, स्वाध्याय करना, एकान्त-सेवन करना, सूत्र और अर्थ का सम्यक् चिन्तन करना और (फल के विषय में निराकांक्ष-निस्पृह होकर) धैर्यपूर्वक आत्म-साधना करना।

एकान्तवास के अभाव में साधक अज्ञान और मोह के घेरे में

मोक्ष-प्राप्ति के मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट है—अज्ञान और मोह। साधक दीक्षा ग्रहण करते ही अगर आत्मज्ञानी गुरुजनों के सान्निध्य में न रहकर स्वतन्त्र विचरण करने लगता है, स्वाध्याय, ध्यान, धारणा एवं शास्त्रचिन्तन को छोड़कर शासन-प्रभावना के मोहक नाम की ओट में जन-समूह आकर्षित हो, ऐसी भजन, कीर्तन, भक्तिगीत, प्रवचन, व्याख्यानादि प्रवृत्तियों में अपने समय और शक्ति का व्यय करने लगता है, तब व्यक्तिगत आत्म-साधना धरी रह जाती है। स्वाध्याय और आत्म-चिन्तन के अभाव में उसे अज्ञान और मोह घेर लेते हैं। गुरुजनों का अनुशासन और मार्ग-दर्शन न मिलने से वह ग्रहण-शिक्षा और आसेवन-शिक्षा से वंचित रह जाता है।

साधक की अधिकांश चर्या जन-सम्पर्क से दूर रहकर होती थी

संयमी साधक के लिए दिवस के तीसरे प्रहर और रात्रि के दूसरे और तीसरे प्रहर के सिवाय लगभग सारा समय स्वाध्याय, ध्यान एवं

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ. ३२ गा. २-३.

आत्म-चिन्तन में व्यतीत करने का शास्त्रों में विधान है। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है—

> पढमं पोरिसि सज्झायं, बीयं झाणं झियायई।
> तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीइ सज्झायं॥
> पढमं पोरिसि सज्झायं, बीयं झाणं झियायई।
> तइयाए निद्दमोक्खं तु, चउत्थीए भुज्जो वि सज्झायं॥[1]

अर्थात्—सामान्यतः दिन के प्रथम प्रहर में मुनि स्वाध्याय करे, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तीसरे प्रहर में भिक्षाचर्यादि और पुनः चतुर्थ प्रहर में स्वाध्याय करे।

इसी प्रकार रात्रि में सामान्यतया प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे प्रहर में ध्यान, तीसरे प्रहर में शयन और चतुर्थ प्रहर में पुनः यथावसर स्वाध्याय करे।

यह थी साधु-जीवन की दिवस और रात्रि की सामान्य-चर्या।

परिपक्व साधक ही जनसम्पर्क करता था

यद्यपि प्रवचन, धर्मोपदेश, मंगलपाठ श्रवण, जप आदि स्वाध्याय के अन्तर्गत आ जाते हैं, किन्तु जहाँ तक अपरिपक्व साधक का सवाल है, वह प्रायः स्वाध्याय, ध्यान और आत्मावलोकन,आत्म-शोधन आदि की साधना, परिपक्वता एवं आत्म-शक्ति के लिए जन-सम्पर्क से दूर, एकान्त स्थान में रहकर व्यक्तिगत दृष्टि से ही करता था। अपनी समग्र शक्ति और समय वह व्यक्तिगत आत्म-साधना में ही लगाता था। यही कारण है कि प्राचीन काल में साधुवर्ग नगर से बाहर उद्यान आदि में रहता था। वहीं रहकर गुरुजनों के सान्निध्य में ग्रहण-शिक्षा और आसेवन-शिक्षा प्राप्त करता था। एकान्तवास में अपनी आत्म-साधना परिपक्व करके स्वरूपजागृतिपूर्वक निःसंगभाव से प्रवृत्ति करने की जो क्षमता प्राप्त कर चुके हों, वे आत्म-ज्ञानी आचार्य और श्रुत-स्थविर आदि ही समाज के निकट सम्पर्क में आते थे। अपनी आत्म-जागृति के बल से वे समाज के अशुद्ध वायुमण्डल के प्रभाव से अलिप्त रह सकते थे और अपने सम्पर्क में आने वाले जिज्ञासु व्यक्ति को सही मार्गदर्शन देते तथा समाज में आध्यात्मिक जागृति का शंखनाद करके समाज में नैतिक—आध्यात्मिक विकास के प्राण फूंक देते थे।

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ. २६ गा. १२, १८

वर्तमान साधक की प्रणाली अत्यधिक जन-सम्पर्क की

वर्तमान में इस प्रणाली को प्रायः विस्मृत कर दिया गया है। मुनि जीवन अंगीकार करने के बाद गुरु के सान्निध्य में रहकर ग्रहण-शिक्षा और और आसेवन-शिक्षा में प्रवीण होने के लिए जन-सम्पर्क से पृथक् रहकर आत्म-साधना की गहराई में उतरने के बदले दीक्षित होने के बाद शीघ्र ही अत्यधिक लोक-सम्पर्क के कारण अन्तर् में प्रसुप्त लोकैषणादि वृत्तियाँ उभर जाती हैं। जबकि साधक को लोकैषणा से सदैव दूर रहने का आदेश शास्त्र में दिया गया है।[1] परन्तु इसे नजरअंदाज करके साधक जाने-अजाने आत्म-साधना की अपेक्षा सामाजिक प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि और प्रशंसा प्राप्त करने में उपयोगी प्रवृत्तियों में अत्यधिक ग्रस्त हो जाता है। वह एक के बाद एक प्रवृत्ति के जाल में ऐसा फँस जाता है कि फिर उसमें से बाहर निकलने की बात ही भूल जाता है।

अतः त्यागी साधक को अपनी साधना में परिपक्वता न आए, तब तक आत्म-साधना में विक्षेपकारक एवं बाधक जन-सम्पर्क से बचकर सदैव अन्तर्मुख होकर अजागृत मन में जन्म-जन्मान्तर से जमी हुई वृत्तियों के शोधन में अपनी सर्वस्व शक्ति लगा देनी चाहिए। मुनि-जीवन का अंगीकार करने मात्र से कोई साधु 'गुरु' नहीं बन जाता। सच्चे माने में गुरु तभी बना जा सकता है, जब स्वयं को आत्मज्ञान प्राप्त हो जाए। उससे पूर्व 'गुरु' बनने वाले के हाथ से स्व-पर का अहित होने की पूर्ण सम्भावना है। अतः 'ज्ञानसार' के अनुसार जब तक स्वयं को आत्म-तत्त्व का प्रकाश प्राप्त न हो, तब तक गुरु बनने की उतावली न करके गुरु के चरणों में रहकर आत्मसाधना में ओत-प्रोत होना अधिक हितावह है।[2]

किन्तु आज तो शास्त्रों के उस हार्द को ठुकराकर अधिकांश साधु-वर्ग शासन प्रभावना या लोकोपकार की मोहक ओट लेकर, आहार-विहार

---

१. (क) 'णो लोगस्सेसणं चरे।' —आचारांग श्रु. १ अ. ४, उ. २
(ख) 'वंता लोगस्स संजोगं, जंति वीरा महाजाणं।'
—आचारांग श्रु. १, अ. ३, उ. ४

२. गुरुत्वं स्वस्य नो वेति, शिक्षा-सात्म्येन यावता।
आत्म-तत्त्व-प्रकाशेन, तावत्सेव्यो गुरुत्तमः॥
—ज्ञानसार, त्यागाष्टक श्लोक ५

निद्रा, प्रतिक्रमण-प्रतिलेखन आदि क्रियाओं के सिवाय बाकी का लगभग सारा समय एकान्त में बैठकर स्वाध्याय, ध्यान, आत्म-चिन्तन आदि करने के बदले लोकसम्पर्क (लोकरंजन ?) में व्यतीत करता है। विरले ही जागृत साधक इसमें से स्वाध्याय, ध्यान, आत्मचिन्तन या आत्मावलोकन के अवसर प्राप्त करते हैं।

साधुवर्ग के एकान्तवास से समाज को कितना लाभ ?

यहाँ प्रश्न होता है—साधुवर्ग के लिए लोकोपकार और शासन-प्रभावना की प्रवृत्तियों से बिलकुल अलग-थलग रहकर एकान्त में केवल आत्मसाधना में डूबे रहना, क्या कर्तव्य-विमुखता नहीं है ? माना कि साधु-वर्ग भिक्षाजीवी है, परन्तु भिक्षा तो समाज से ही प्राप्त करनी पड़ती है और समाज की श्रद्धा-भक्ति, सेवा-शुश्रूषा से युक्त सहयोग से उसकी संयम यात्रा निर्विघ्नतया चलती है। ऐसी स्थिति में उसे समाज को कुछ न कुछ देना अनिवार्य नहीं है ?

प्रथम दृष्टि में, यह तर्क आकर्षक प्रतीत होता है, किन्तु गहराई से विचार करने पर भली-भाँति समझ में आ जायेगा, कि यह तर्क भ्रामक है। बात यह है कि साधक एकान्त शान्त स्थान में रहकर जो एकत्व का अभ्यास करता है, और साथ ही अपनी आत्मशक्तियों में वृद्धि करता है, आत्मस्वभाव में—निश्चयरत्नत्रय में रमण करने की साधना में सुदृढ़ता लाता है। परीषहों, उपसर्गों और कष्टों तथा प्रतिकूल परिस्थितियों तथा इष्टवियोग-अनिष्टसंयोगों में समभावपूर्वक दृढ़ रहने और तितिक्षा और सहिष्णुता की साधना में वृद्धि करता है, उसका लाभ साधक को तो मिलता ही है, किन्तु क्या समाज और समष्टि को उसके मधुर फलों का लाभ नहीं मिलता है ?

कुटुम्ब से वर्षों तक दूर रहकर चिकित्साशास्त्र का अध्ययन करके डॉक्टर बनने वाला युवक क्या अपने सिवाय, अपने परिवार-समाज और समष्टि के लिए उपकारक नहीं बनता ? अपने घर से दूर किसी महानगर के हॉस्टल में रहकर किसी कॉलेज या यूनीवर्सिटी में अध्ययन करने वाला विद्यार्थी, अध्ययनकाल में तो समाज को कुछ नहीं देता। अध्ययनकाल के दौरान विद्यार्थी और शोधकार्य में मग्न रहता हुआ वैज्ञानिक उस समय तो समाज को कुछ नहीं देते, प्रत्युत समाज से लेते ही हैं। परन्तु बाद में समाज उनके कार्य एवं सेवाओं से लाभान्वित होता ही है। इसी प्रकार

साधनाकाल के दौरान परिपक्व होने तक एकान्तवास में एकत्वभाव से ओत-प्रोत होकर आत्मसाधना में रत साधक से समाज को कुछ भी मिलता नहीं दिखाई देता, परन्तु अन्त में तो समाज उसकी साधना की परिपक्वता से लाभान्वित एवं समृद्ध होता ही है।

अपने कार्य में बाहर का कोई विक्षेप, हस्तक्षेप या गड़बड़ न हो, इसके लिए विद्यार्थी, वैज्ञानिक, कवि, लेखक, कलाकार अथवा शिल्पी, शान्त, नीरव, एकान्त, जन-सम्पर्क से रहित स्थान पसन्द करता है, इसी प्रकार आध्यात्मिक साधना में परिपक्वता लाने हेतु कोई साधक सघन साधनाकाल में बाह्य विक्षेपों, हस्तक्षेपों एवं कोलाहलों से दूर रहकर आत्म-शक्तियों को अधिकाधिक जगाने हेतु एकान्त, शान्त, नीरव एवं जन-सम्पर्क रहित स्थान की अपेक्षा रखे तो इसमें क्या बुरा है? उक्त साधक को समाज के बीच रहकर अपनी आत्मसाधना करनी चाहिए, इस प्रकार का आग्रह रखना, अथवा उसके एकान्तवास को पलायन-वृत्ति कहकर उस पर आक्षेप करना, बौद्धिक प्रौढ़ता नहीं, किन्तु पूर्वाग्रहग्रस्तता प्रतीत होती है। यह ठीक है कि एकान्तवास में साधक के द्वारा प्राप्त की गई उपलब्धि की कसौटी तो समाज के बीच आकर रहने पर ही होती है। जिस प्रकार एक ड्राइवर को लोगों की भीड़ और ट्राफिक के आवागमन वाले मार्ग पर मोटरगाड़ी दौड़ानी पड़ती है, फिर भी जब तक स्टियरिंग व्हील पर काबू न हो जाए, तब तक मोटर ड्राइविंग का प्रारम्भिक अभ्यासी दुर्घटना से बचने के लिए जनसमूह के यातायात से रहित मार्ग या निर्जन मैदान पसन्द करता है, उसी प्रकार जन-सम्पर्क के कारण साधना में आने वाले विक्षेपों और विघ्नों को टालने के लिए सघन साधना के अभ्यास काल में जन-सम्पर्क से शून्य एकान्त शान्त स्थान में निवास और एकत्वभाव का अभ्यास अभिनन्दनीय है।

एकान्तवास के समय का परिमाण

एकान्तवास के समय का परिमाण प्रत्येक साधक की योग्यता, भूमिका और क्षमता के अनुसार पृथक्-पृथक् हो सकता है। यह तो साधक के संस्कार, पूर्व तैयारी, साधना की उत्कण्ठा तथा अभ्यास की तीव्रता आदि पर निर्भर है। किसी के लिए दो सप्ताह का एकान्तवास ही पर्याप्त होता है, किसी को बारह सप्ताह तक धूनी रमानी पड़ती है, और किसी के लिए बारह वर्ष भी परिपक्व होने में कम पड़ते हैं।

एकान्तवास में परिपक्व साधक समाज के लिए वरदान रूप

जिस प्रकार सामाजिक जीवन के प्रवाहों में सीधे तौर पर कोई भाग न लेकर वर्षों तक अपने प्रयोगों में मग्न रहता हुआ वैज्ञानिक कोई नया आविष्कार समाज के चरणों में समर्पित कर देता है, उसी प्रकार अपनी साधना परिपक्व होने पर आध्यात्मिक साधक भी जब समाज के बीच में आता है, तब एकान्तवास में उसने जो कुछ शक्ति या क्षमता प्राप्त की थी, उसकी प्रभावना वह समाज में करता है।

एकान्तवास में उसने जो आत्मसाधना परिपक्व बनाई, समता, विरक्ति और अन्तर्मुखता का अभ्यास दृढ़ किया, और परमात्मभाव का जीता-जागता संस्पर्श पाया; वह निर्भय, निर्वैर और निर्ममत्व सन्त जब समाज के बीच आयेगा, तो उसका सहवास समाज के लिए व्यक्त या अव्यक्त रूप से अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होगा। वह उपदेश की झड़ियाँ नहीं बरसायेगा तो भी उसके पवित्र नेत्र सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति में धर्मभावना की प्रेरणा जगायेगी। उसकी दृष्टि सम्पर्क में आने वाले के अन्तस्तल को स्पर्श करके उसे आत्मा की भाषा के द्वारा, विषयसुख की भ्रान्ति और संसार की असारता मौनरूप से समझा देगी। उसका एक स्पर्शभर भी सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति की जीवनदृष्टि को आमूलचूल बदल देगा। संसार के त्रिविध ताप से सतप्त दुःखी जीव घड़ी भर इसके सान्निध्य में बैठने से ही शान्ति और स्वस्थता प्राप्त कर सकेंगे। वह अपने स्वानुभव के आधार पर मुमुक्षुओं को गच्छ, पन्थ और सम्प्रदाय के विवाद से परे स्वच्छ और शुद्ध साधनामार्ग बता सकेगा, वह समाज में स्वस्थ आध्यात्मिक मूल्यों को प्रतिष्ठित करके समाज-जीवन में शुद्ध धर्म की सौरभ मौनरूप से फैला सकेगा।

जिसमें ज्योति प्रज्वलित हो उठी हो, उस छोटे-से दीपक का प्रकाश जैसे आसपास के सारे अन्धकार को नष्ट कर देता है, वैसे ही एक व्यक्ति के हृदय में प्रज्वलित आत्मज्योति दूसरे अनेक व्यक्तियों के मोहान्धकार को नष्ट करने में स्वाभाविक रूप से सहायक सिद्ध होती है। इस प्रकार एकान्तवास में परिपक्व एवं आत्मनिष्ठ बने हुए व्यक्ति के सान्निध्यमात्र से जगत् को लाभ प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में, आत्मा में प्रतिष्ठित होना और इसके लिए एकान्त स्थान में रहकर साधना में परिपक्व होना भी जगत की महान् सेवा है। अतः एकान्त शान्त जनशून्य स्थान में रहकर

समौन आत्मसाधना में अपनी सारी शक्ति केन्द्रित करने का आदेश यदि अपनी अन्तरात्मा में स्थित परमगुरु शुद्ध आत्मा (परमात्मा) से मिले तो उसे शिरोधार्य करके साधक को संसार और समाज के मोहक विषयों और आकर्षणों की ओर पीठ करके व्यक्तिगत साधना में अपने को खपा देने में पीछे नहीं हटना चाहिए। इस पवित्र आदेश का अनुसरण करने में स्व और पर अर्थात् व्यक्ति, समाज और समष्टि, सबका श्रेय है। समाज को भी ऐसे साधक के प्रयत्न को प्रोत्साहन देना चाहिए।

एकान्तवास का स्थायी लाभ दीर्घकाल तक नियमित आत्मसाधना से ही

परन्तु साधक जीवन की दयनीय स्थिति यह है कि निःसार, निरर्थक प्रवृत्तियों के लिए तो प्रचुर समय मिल सकता है, परन्तु अपने जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति के लिए समय निकालने की मांग आती है, तब कहा जाता है कि समय नहीं है। श्रेय और प्रेय दोनों में से एक को पसन्द करने में प्रायः बड़े-बड़े साधक डगमगा जाते हैं। झूठी महत्वाकांक्षाओं और प्रसिद्धि आदि की लालसाओं के प्रवाह में बहकर ऐसे प्रेयस्कामी साधक अनावश्यक जिम्मेदारियाँ सिर पर लाद लेते हैं और फिर उनमें ऐसे फंस जाते हैं कि निकलना लगभग अशक्य बन जाता है। प्रातः उठने से लेकर रात को सोने तक एक के बाद एक प्रवृत्तियों के जाल में ऐसे फंस जाते हैं कि इनसे मुक्त होना दुष्कर हो जाता है। प्रवृत्तियों का घटमाल उनके अन्तर्नेत्रों पर ऐसा आवरण डाल देता है कि साधक जीवन का वास्तविक ध्येय विस्मृत हो जाते है। एक साथ अनेक प्रवृत्तियों में जो भी गृहस्थ या गृहत्यागी साधक उलझ जाता है वह किसी भी प्रवृत्ति में अन्त तक नहीं पहुँच पाता। न उसका चित्त लक्ष्य की ओर केन्द्रित होता है। ऐसे लोग किसी की प्रेरणा से कदाचित् एक दो दिन के लिए एकान्त-शान्त स्थान में रहकर आत्मसाधना प्रारम्भ भी कर देते हैं किन्तु जरा-सी कठिनाई आते ही अथवा मन में उचाट होते ही वे उसे छोड़ कर भाग छूटते हैं। अतः जब तक अपरिपक्व अवस्था समाप्त न हो, तब तक नियमितरूप से दीर्घकाल तक एकान्तवास और आत्मसाधना करने से ही आत्मशक्तियाँ जागृत हो सकती हैं। बीच-बीच में बार-बार अभ्यास छोड़कर अनियमित रूप से एकान्तवास और साधना का अभ्यास करने वाले को एकान्तवास का स्थायी और यथेष्ट लाभ प्राप्त होने की संभावना नहीं की जा सकती।

स्वच्छ निर्मल और मधुर जल प्राप्त करने के लिए कुआ खोदने

वाला एक ही स्थल पर धैर्यपूर्वक लगातार ३०-४० मीटर खोदता है, तब जाकर उसे अभीष्ट फल प्राप्त होता है। इसके विपरीत यदि कोई एक-एक मीटर के ३०-४० गड्ढे खोद डाले तो वह धरती के अन्तराल में पड़े हुए स्वच्छ मधुर जल को प्राप्त नहीं कर पाता। इसी प्रकार कोई आत्मार्थी साधक दीर्घ काल तक नियमित रूप से एकान्त शान्त स्थान में रहकर एक ही निश्चित अध्यात्मसाधना की दिशा में निरन्तर प्रयत्न करे तो उसे आत्मशक्ति प्राप्त हुए बिना नहीं रहती। इसके विपरीत यदि वह बीच-बीच में एकान्तवास एवं आत्मसाधना छोड़कर शीघ्र फलप्राप्ति की आकांक्षा में भीड़ भरे समूह के बीच रहकर जनाकर्षण हेतु लोभवश एक साथ अनेक प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ कर दे तो वह अभीष्ट आत्मशक्ति प्राप्त नहीं कर पाता।

फलतः उसकी स्थिति इतो भ्रष्टस्ततोभ्रष्टः जैसी हो जाती है। एक साथ अनेक प्रवृत्तियों में पड़कर वह अपने ध्येय तक नहीं पहुँच पाता। उसका प्रारम्भिक उत्साह अधिक समय तक नहीं टिक पाता। धीरे-धीरे सब कुछ छूट जाता है। उसका उत्साह ठंडा पड़ जाता है। उसकी उर्जा शक्ति भी सूख जाती है।

पर्वत पर पड़ी हुई जलधारा पृथक्-पृथक् बारह रास्तों से बह जाती है, फलतः उसकी नदी नहीं बनती। वह पानी चारों ओर फैलकर सूख जाता है। यदि वह एक ही दिशा में प्रवाहित हो तो उसकी एक समृद्ध नदी बन सकती है, वह पानी विशाल समुद्र में मिल सकता है। लगभग यही स्थिति वर्तमान त्यागीवर्ग की है। उसकी शक्ति भी धुंआधार प्रचार में, दार्शनिक चर्चाओं, भाषणों, प्रवचनों तथा खण्डन-मण्डन एवं लोकरंजन की विविध प्रवृत्तियों में, वार्तालाप में, राजनेताओं के साथ मिलन में तथा विशिष्ट व्यक्तियों को आकर्षित करने में प्रवाहित हो रही है। आत्म-साधना के द्वारा मोक्ष प्राप्ति के लक्ष्य पर केन्द्रित होकर एक ही दिशा में प्रवाहित हो तो त्यागीवर्ग में अपूर्व आत्मशक्ति प्रगट हो सकती है।

अतः आत्मज्ञान या स्वरूप-जागृति सुदृढ़ न हो जाय, तब तक साधुवर्ग को जगत् की ओर तथा लोकसम्पर्क द्वारा प्रसिद्धि आदि के आकर्षणों की ओर पीठ करके कुछ अर्से तक एकान्तवास करना चाहिए। और उस दौरान आत्मज्ञान एवं स्वरूपभान सुदृढ़ करने हेतु लक्ष्य की दिशा में केन्द्रित पुरुषार्थ करना चाहिए।

संकल्प-विकल्पों के शमन का ठोस उपाय : एकान्तवास

यह निश्चित है कि लोकोपकार की प्रवृत्तियों में तथा लोक सम्पर्क (लोकरंजन ?) में अत्यधिक डूबे हुए साधु वर्ग के अन्तर में अहर्निश विविध कामनाओं—संकल्प-विकल्पों की घुड़दौड़ चलती रहेगी। आत्मसमाधि, आत्मशान्ति या आत्मशक्ति तभी प्राप्त हो सकती है, जब संकल्प-विकल्प शान्त हों। चंचल जल में कोई अपना मुँह देखना चाहे तो नहीं दिख सकता उसी प्रकार चंचल चित्त, बुद्धि, प्रवृत्ति आदि में अपना स्वरूप (आत्मस्वरूप) देखना चाहे तो वह दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। इस मार्ग के अनुभवियों ने कहा है—

उदासीनता मगन हुई, अध्यात्म-रस-कूप।
देखे नहिं कुछ और जब, तब देखे निज रूप ॥[1]

चित्त में उभरने वाले संकल्प-विकल्प शान्त हों, तभी उसमें निजात्म रूप देखा जा सकता है। संकल्प-विकल्प चलते हैं, तब कामनाओं और इच्छाओं की पूर्ति की उधेड़बुन में साधक अहर्निश विषाद और चिन्ता से घिरा रहता है। वह बाहर से कदाचित् एकान्त में अकेला बैठा दीखे, परन्तु अन्तर में कामनाओं और संकल्प-विकल्पों की भीड़ से घिरा रहता है। इसी आशय से दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है—

"कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए।
पए पए विसीयंतो संकप्पस्स वसंगओ ॥"[2]

जो व्यक्ति श्रमण बनकर कामनाओं (काम-भोगों, प्रसिद्धि, प्रशंसा आदि तथा भोग सामग्री आदि विविध वस्तुओं को पाने की इच्छाओं, लोकेषणाओं) का निवारण नहीं कर सकता, वह श्रमणत्व का पालन कैसे कर सकता है ? क्योंकि वह तो पद-पद पर संकल्पों के वशीभूत होकर विषाद पाता है।

संकल्प-विकल्पों का उपशमन करना कोई आसान बात नहीं है। चित्त की एकाग्रता और धर्म-शुक्लध्यान का नियमित अभ्यास हो तभी उनका शमन हो सकता है और चित्त की एकाग्रता एवं ध्यानाभ्यास के लिए एकान्त निर्जन, पवित्र शान्त स्थान में निवास के सिवाय और कोई ठोस उपाय नहीं है।

---

१. समताशतक दोहा ८२
२. दशवैकालिक अ० २, गा० १

बाह्य आकर्षण छोड़े बिना, एकान्तवास का आनन्द नहीं

किन्तु वर्तमान युग का सामान्य मानव ही नहीं, गृहस्थ साधक, उपासक और साधुवर्ग भी बाह्य जगत् के मोहक आकर्षण से, मनोरंजन के विविध साधनों से, व्यर्थ की राजनैतिक चर्चाओं से, पारस्परिक सामान्य स्वार्थ, सम्प्रदाय, भाषा जाति, प्रान्त आदि से सम्बन्धित संघर्ष एवं मुठभेड़ से छूटकर अपनी अन्तरंग साधना और आत्मशक्ति के लिए एकान्त शान्त स्थान में बैठकर चिन्तन करने का जरा भी अवकाश नहीं निकाल पाता। उसे रुचि ही नहीं है कि बाह्य सतह पर जीये जाने वाले जीवन से घड़ी भर हटकर निपट अकेला होकर अन्तर में झांके और आत्मार्थी जीवन जीने का अभ्यास करे।

एकान्तवास : परमात्मा से साक्षात्कार का कार्यक्रम

जिन मुनियों की इच्छा समाज के सम्पर्क से पृथक् रहकर एकान्त में आत्मसाधना करने की हो, किन्तु परिस्थिति के कारण नहीं कर पाते हों और कुछ नहीं तो उन्हें कम से कम एक महीना वर्ष में लोकसम्पर्क से पृथक् रहकर एकान्त में, मौन आत्मसाधना में बिताना चाहिए। गृहस्थ साधक भी अवकाश निकालकर ऐसा कर सकते हैं। परन्तु यह तभी हो सकता है, जब साधक सभी प्रवृत्तियों में अग्रिमता ध्यानाभ्यास, स्वरूप-स्मृति एवं आत्मभावरमण आदि आत्मिक साधना को प्रदान करे।

पूर्ण एकान्त, पूर्ण अन्धकार एवं पूर्ण जनशून्यता का लाभ अधिक समय तक न उठा सके तो भी अपनी सुविधानुसार जितने समय भी सम्भव हो, उसका लाभ उठाना चाहिए। मन को भीड़-भाड़ के विचारों से हटाकर किसी आध्यात्मिक विचार पर नियोजित करने की ध्यान-धारणा को क्रियान्वित करते रहना चाहिए। किसी महान् व्यक्ति से मुलाकात का समय निश्चित किया हो तब मनुष्य अन्य सब कार्यों को गौण करके उस साक्षात्कार के कार्यक्रम को मुख्यता प्रदान करता है, इसी प्रकार ध्यानादि साधना का समय भी परमात्मा के साथ साक्षात्कार का एपोइंटमेण्ट है, यह नहीं भूलना चाहिए।

आत्मदर्शन की तीव्रता : एकान्तवास को मुख्यता देने से हो

जिसे आत्मदर्शन या परमात्मभाव प्राप्ति की धुन लगी हो, वह साधक अपनी आत्मसाधना से सम्बन्धित समतायोग, मनोविजय, कषाय-

उपशम आदि से भिन्न प्रवृत्तियों के प्रति स्वतः उदासीन या निरपेक्ष बन जाता है। जिस प्रकार एक वैज्ञानिक अपने प्रयोग या अनुसन्धान के भिन्न, उससे असम्बद्ध अन्य किसी भी बात के प्रति ध्यान देने से इन्कार कर देता है, इसी प्रकार आत्म-साधक भी अन्य बातों पर ध्यान देने से इन्कार कर देता है।

किसी के पेट में असह्य पीड़ा उत्पन्न हुई हो, या दाढ़ में असह्य पीड़ा उठी हो अथवा अचानक हार्टएटैक हो गया हो, तब वह अन्य सब कार्यों को छोड़कर तुरन्त या तो स्वयं डॉक्टर के पास दौड़कर जायेगा, अथवा बड़ी फीस देकर एक क्षण का भी विलम्ब किये बिना डॉक्टर को घर पर बुलायेगा। उस समय इस प्रकार की भयंकर व्याधि से पीड़ित रोगी यह नहीं सोचता कि किसी दिन या दो दिन बाद डॉक्टर को बुला लूँगा या उधर से निकलूँगा तो डॉक्टर से मिल लूँगा। इसी प्रकार आत्मदर्शन या परमात्मभाव प्राप्ति का तीव्र अभीप्सा वाला साधक आत्मसाधना में विक्षेप रूप अन्य प्रवृत्तियों में दिलचस्पी नहीं लेता। वह तभी तक अन्य प्रवृत्तियों में रुचि लेता है, जब तक उसके मन में आत्मदर्शन की उत्कट अभीप्सा न जागी हो। जब आत्मदर्शन की तीव्र उत्कण्ठा जागती है, तब संसार की सभी शीतलताएँ उसे तापदायी प्रतीत होती हैं, मधुरताएँ कड़वी लगती हैं। तब आत्मबाह्य प्रवृत्तियों के प्रति उसकी उदासीनता बढ़ जाती है और आत्मसाधना के सिवाय अन्य किसी भी प्रवृति में उसे दिलचस्पी नहीं रहती। उसकी पिपासा एकमात्र आत्मा के स्वाधीन, निरुपाधिक, निरवधि आनन्द का आस्वाद लेने की होती है। उसके लिए वह जन-सम्पर्क से रहित एकान्तवास और अकेला-एकत्वभाव में रहकर अपनी तीव्र अभीप्सा के अनुसार आत्मशोधन में लग जाता है। वह किसी अन्य साथी की प्रतीक्षा नहीं करता।

एकान्तवास : किसके लिए कितना कठिन, कितना आसान ?

विनोद, मनोरंजन, चहल-पहल, भीड़-भाड़, बाह्य विषयों के आकर्षण, मनोज्ञ भोग-सामग्री पाने की लालसा और व्यस्तता में जीने वालों के लिए एकान्तवास और चित्त को एकाग्र करके एकमात्र आत्मसाधना में लगाना बहुत ही कठिन है। यही कारण है कि जो लोग आमोद-प्रमोद, मनोरंजन, शोर-शराबा, चहल-पहल आदि के अभ्यस्त हैं, वे एकान्तवास को, एकान्तवास की निःस्तब्धता नीरवता और अन्धकार को तथा अकेले-

पन को बहुत ही कष्टकर, उबाने वाला एवं मनपसन्द रुचियों में बाधक समझते हैं। वे इससे हर सम्भव बचना चाहते हैं। ऐसे लोगों के लिए एकान्तवास कष्टकारक होता है। परन्तु जिन लोगों का अभ्यास एकान्त में रहने का हो जाता है, उनके लिए एकान्तवास या उसकी निस्तब्धता, नीरवता और तमिस्रा रुचिकर, सुखकर और वरदान रूप सिद्ध होती है।

सचमुच, एकान्तवास में मनुष्य अपने आपे का गहराई से परिचय कर लेता है। जिन्हें अकेले रहने में डर लगता है, जो भीड़ में रहने के आदी हैं, वे दैनिक जीवन में भीड़ के साथ ही काम कर सकते है। रात्रि में सोने के समय भी वे अन्य लोगों को साथ रहते हैं। सो जाने के बाद भी वे अंधेरे में रह नहीं सकते। कई अपराधियों को भी जेल की काली अंधेरी कोठरी में अकेले रहने की सजा दी जाती है। ऐसे लोग एकान्त, शान्त, नीरव एवं अन्धकारयुक्त स्थान में रहकर कोई भी आध्यात्मिक उपलब्धि या शारीरिक मानसिक क्षमता प्राप्त नहीं कर सकते।

इसके विपरीत जो लोग इस प्रकार के एकान्त शान्त अन्धकारयुक्त स्थान में अकेले रहने के अभ्यासी थे, उन्होंने आन्तरिक दुर्बलताओं को हटाने तथा विशेषताओं को बढ़ाने में एवं आत्म-चिन्तन में तन्मय रहने में सफलता प्राप्त कर ली। प्रारम्भ में इस प्रकार की एकाकिता और अन्ध-निस्तब्धता से अनभ्यस्त होने के कारण उन्हें अखरी, परन्तु अल्पसमय में ही वह केवल सहन ही नहीं, वरन् उपयोगी और रुचिकर भी होने लगी।

सचमुच एकान्त सहन करने का प्राथमिक अभ्यास काफी कठिन होता है। उसमें मनोबल की आवश्यकता पड़ती है। आत्मदमन करना पड़ता है। और पुरानी भीड़पसन्द आदत को बदलने के लिए मन को समझा-बुझाकर बड़ी कठिनता से सहमत करना पड़ता है। स्पष्ट है कि इतने से अभ्यास से साधक का मनोबल बढ़ता है, और प्रतिपक्षी अभ्यासों से जूझने और उन्हें परास्त कर सकने की क्षमता में वृद्धि से आत्मविश्वास दृढ़ होता है। यह आत्मिक प्रगति की दृष्टि से अच्छी सफलता है। इसके सहारे से भविष्य में आत्म-परिष्कार के अन्य बड़े-बड़े उपाय अपनाये जा सकते हैं तथा विशिष्ट आध्यात्मिक उपलब्धियां प्राप्त की जा सकती हैं। थोड़े-थोड़े समय के लिए सिर्फ एकान्तवास की, अंधेरे में एकाकी निवास की साधना के सहारे समौन आत्मसाधना प्रारम्भ की जा सकती है, ताकि आगे चलकर अन्धतायुक्त एकान्तनिवास का अभ्यास कठिन न लगे।

सामान्यतया साधारण मनुष्यों को एकान्तवासी होकर अन्तर्मुखी होना बहुत कठिन लगता है। वे दुनिया की, राजनैतिक जगत् की तथा अलक-मलक की बातें बहुत सोच सकते हैं, कह सकते हैं तथा सांसारिक समस्याओं पर काफी ऊहापोह कर सकते हैं, किन्तु अकेले बैठकर आत्म-निरीक्षण और आत्मिक विकास की बात सोचना और उस दिशा में कुछ आगे बढ़ना, उनके लिए असम्भव-सा प्रतीत होता है। वे भीड़ के साथ रहने में, श्रोताओं के जमघट में, तथा भक्तों, अनुयायियों या अपने मातहतों के साथ गपशप करने में घण्टों गुजार सकते हैं; परन्तु अकेले थोड़ी देर भी आत्मा से बातें करने नहीं बैठ सकते। आत्मसम्पर्क उनसे सधता ही नहीं, एकान्त में उनका मन उचट जाता है। इसके कारणों की छानबीन करने पर मनोवैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जिनका अभिप्राय अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अच्छा नहीं होता, जो अपने जीवन में निराश-हताश हो चुके हैं, अथवा जिनमें आत्मविश्वास की कमी है, जिनका मनोबल दृढ़ नहीं है, या जो हीन-भावना के शिकार हैं, ऐसे ही लोगों का मन एकान्त में आत्मचिन्तन से उचटता है, उन्हें एकान्त में अकेले बैठने में बड़ा भय लगता है। फलतः वे ऐसे एकान्तप्रेमी साधक कोटि के व्यक्तियों को पिछड़े, घिनौने और संकीर्ण दिमाग के समझते हैं, उनके साथ बैठने में भी वे कतराते और लज्जित होते हैं। अतः ऐसे लोग एकान्तवास के लाभ न समझ कर अपने भ्रामक विचारों में ही डूबे रहते हैं।

चिन्तन, मनन, मन्थन आदि के लिए एकान्तवास जरूरी

वैज्ञानिक, साहित्यकार, शोधकर्ता, आविष्कारक एवं योगाभ्यासी निर्जन, नीरव, एकान्त, शान्त स्थान को ही अपने कार्य के लिए खोजते हैं। भीड़भाड़ और जनता के बार-बार आवागमन वाले स्थान में वे अपना कार्य ठीक से नहीं कर पाते। भीड़-भाड़, शोर-शराबे और अन्य प्रवृत्तियों के बीच रहने से उनका दिमाग स्वस्थ और सन्तुलित नहीं रह सकता। चिन्तन, मनन, मन्थन, अन्वेषण, शोध आदि के लिए तो विशेष रूप से एकान्त की आवश्यकता पड़ती है। आत्मानुसन्धान, आत्मशक्ति-जागरण तथा आत्म-भाव में रमण करने वाले योगाभ्यासी, तपस्वी, मुनि एवं ऋषिगण प्रायः एकान्त वन, वृक्षमूल, गिरिगुफा आदि में रहकर अपनी आध्यात्मिक साधना सफलतापूर्वक किया करते थे। आज भी वैज्ञानिक शोध-खोजों के लिए प्रयोगशालाएँ ऐसे ही शान्त, नीरव स्थान और वातावरण में बनी होती हैं, जहाँ बाह्य-विक्षेपों एवं प्रदूषणों का प्रभाव कम से कम हो।

एकान्तवास में ऊर्जा शक्ति की वृद्धि एवं निश्चिन्तता

प्राकृतिक सुषमा से युक्त, शान्त एवं एकान्त वातावरण में निवास करने से उत्तेजना में नष्ट होने वाली शक्ति की बर्बादी रुक जाती है। उस शक्ति की बचत को उपयोगी प्रयोजनों में लगाकर प्रगति का पथ प्रशस्त किया जा सकता है। रात्रि की नीरव शान्ति, प्रकृति की सुषमा और अकेलेपन से ध्यान, धारणा, समाधि, एकाग्रता, आत्मशान्ति, आत्मावलोकन, धर्मजागरण, आत्मचिन्तन आदि में बहुत ही सहजता और आसानी हो जाती है। यही कारण है कि योगाभ्यासी अथवा ऋषि, मुनि, श्रावक आदि अपने व्यक्तित्व को अधिकाधिक विकसित करने, अपनी ऊर्जाशक्ति बढ़ाने के लिए और अपने भीतर सुषुप्त शक्तियों को जगाने के लिए एकान्तवास और एकत्व-भावना का प्रयोग करते हैं। ध्यान, धारणा, योगाभ्यास, प्राणायाम, समाधि एवं आत्मचिन्तन आदि प्रयोजनों के लिए उन्हें ऐसे स्थान में निवास निर्धारित करना आवश्यक हो जाता है, जहाँ अनावश्यक कोलाहल, चीख-पुकार, हल्ला-गुल्ला या शोर-शराबे की पहुँच न हो और जहाँ दिन में सूर्य का और रात्रि में चांद-तारों का प्रकाश ही सामान्य और स्वाभाविक निर्वाह के लिए पर्याप्त हो; रात्रि के समय कृत्रिम प्रकाश न करना पड़े। इसी दृष्टि से आत्मानुसन्धान में निरत योगाभ्यासी, अध्यात्मयोगी संत, वीतरागता की साधना में रत मुनि आदि प्रायः शून्यगृह, श्मशान, एकान्त वन, पर्वत की गुफा, आदि में रहकर निश्चिन्त और विक्षेपरहित होकर अपनी आत्मसाधना एवं आत्मशक्ति का सफलतापूर्वक विकास किया करते थे।

एकान्त शान्त स्थलों में साधना करने का भगवदादेश

जैसा कि आचारांग सूत्र में साधु वर्ग के लिए अपनी साधना के समय एकान्तवास का तीर्थंकर भगवान् महावीर का निर्देश है—

"से भिक्खु परक्कमेज्ज वा, चिट्ठेज्ज वा, णिसीएज्ज वा, तुयट्टेज्ज वा सुसाणंसि वा, सुन्नागारंसि वा, गिरिगुहंसि वा, रुक्खमूलंसि वा, कुम्भकारायतणंसि वा ॥"[1]

वह भिक्षु (साधु, मुनि, श्रमण) श्मशान में शून्यगृह में, पर्वत की गुफा में, वृक्ष के मूल में अथवा कुम्भकार के आयतन (घर) में (अपनी

---

१. आचारांग सूत्र श्रु. १, अ० ८, उ० २

साधना में) पराक्रम करे, या चहलकदमी करे, खड़ा हो, बैठे, लेटे या करवट बदले, अथवा शयन करे, या रहे।

एकान्तवास : गृहस्थ वर्ग के लिए भी लाभदायक

जन-सम्पर्क से दूर एकान्त शान्त पवित्र स्थान में रहकर समभाव, एकत्व भाव, तथा ध्यान, धारणा, कायोत्सर्ग, आत्म-चिन्तन आदि की साधना केवल साधुओं के लिए ही नहीं, गृहस्थाश्रमियों के लिए भी भगवान् ने बताई है। गृहस्थ उपासक के लिए सामायिक, संवर, पौषध व्रत तथा कायोत्सर्ग, ध्यान आदि विभिन्न साधनाएँ बताने का प्रयोजन भी यही है कि वह उतने निर्धारित समय तक गार्हस्थ्य के सांसारिक जंजाल से पृथक् होकर आत्मस्वरूप का ध्यान, धर्म-जागरणा आत्म-सम्प्रेक्षण, कायोत्सर्ग एवं आत्म-चिन्तन आदि कर सके और आध्यात्मिक शक्तियाँ जगा सके। उपासक-दशांग आदि आगमों से गृहस्थ श्रावकों की दिनचर्या की स्पष्ट झाँकी मिलती है कि वे अपनी पौषधशाला में या एकान्त शान्त निराकुल स्थान में बैठकर सामायिक, पौषध व्रत, कायोत्सर्ग, ध्यान आदि का अभ्यास करते थे। कामदेव, महाशतक आदि श्रावकों ने कायोत्सर्ग का इतना दृढ़ अभ्यास कर लिया था कि चाहे जैसे कठोर देवकृत-मनुष्यकृत या तिर्यञ्चकृत उपसर्ग (संकट) के समय, तथा प्रतिकूल वातावरण में, एवं अनेक विक्षेपों में भी वे अविचल और दृढ़ रह सकते थे। कामदेव, महाशतक, सुदर्शन सेठ, नागकेतु आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। अभयारानी के चंगुल में फँसे हुए सुदर्शन सेठ, उस कामातुर सुन्दरी को विषय-भोगों के विविध प्रलोभन भरी प्रार्थनाओं, धमकियों और कामचेष्टाओं के बीच भी अर्हद्ध्यान में दृढ़तापूर्वक निमग्न होकर उस उपसर्ग पर विजय प्राप्त कर सके थे। इसलिए गृहस्थ साधकों के लिए कुछ समय जनसम्पर्क एवं गृहस्थ के जंजाल से दूर रहकर एकान्त शान्त स्थान में एकत्व भाव में स्थिर होकर सामायिक या पौषध आदि में तथा कायोत्सर्ग, ध्यान, धारणा, शुद्ध स्वरूपानुसन्धान परमात्मभाव का चिन्तन, आदि के अभ्यास में पुरुषार्थ करना हितावह है। उपदेशरहस्य में स्पष्ट बताया गया है—

'सहजं आयसरूवं भावेयव्वं जहावसरं।[1]

---

१. (क) उपदेश रहस्य गा० १९८

(ख) चतुर नर सामायिक नय धारो !

लोकप्रवाह सब छोड़कर, अपनी परिणति शुद्ध विचारो।

—उपाध्याय यशोविजयजी

गृहस्थ श्रावक को शुभ से ऊपर उठकर सहज शुद्ध आत्मस्वरूप का यथावसर ध्यान करना चाहिए।

राष्ट्रनेताओं द्वारा एकान्तवास का सदुपयोग

प्राचीन काल में एकान्तवास की निस्तब्धता, नीरवता का सदुपयोग अनेक राष्ट्रसेवकों और राष्ट्रनेताओं ने भी जेल जीवन में किया है।

राष्ट्रीय नेता लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने माण्डले की जेल (जिसे काल कोठरी कह सकते हैं) में निस्तब्धता, नीरवता और शान्त वातावरण का उपयोग भगवद्गीता पर कर्मयोगपरक व्याख्या लिखने में किया। पं० जवाहरलाल नेहरू ने जेल जीवन व्यतीत करते हुए 'विश्व इतिहास की झलक' आदि कई ग्रन्थ लिखे। योगी अरविन्द ने अलीपुर सेंट्रल जेल में 'सहज योग' पर ग्रन्थ लिखे। योग-साधना भी की। आगरा के सुप्रसिद्ध राष्ट्रनेता सेठ अचलसिंहजी ने जेल में रहते हुए 'जेल में मेरा जैनाभ्यास' ग्रन्थ लिखा। इस प्रकार कई नेताओं ने जेल में रहते हुए एकान्तवास का सदुपयोग किया।

विज्ञान, चिकित्सा एवं योग के क्षेत्र में एकान्तवास की उपलब्धियाँ

कई वैज्ञानिकों ने कोलाहल से दूर एकान्त, शान्त, निर्जन स्थान में रुचि और उत्साह के साथ रहकर कई महत्वपूर्ण आविष्कार किये, भौतिक विज्ञान की कई महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हस्तगत कीं। आयुर्वेदशास्त्र में कायाकल्प चिकित्सा का विधान है। उसमें शरीर के पुनर्गठन की नवीनीकरण विधा सम्पन्न की जाती है। कहते हैं—इससे वृद्धत्व दूर होता है और यौवन पुनः लौट आता है। इस कायाकल्प में भी लम्बे समय तक एकान्त और अन्धेरे में रहना पड़ता है। औषधि-उपचार के प्रभाव की अपेक्षा इस में एकान्त शान्त, अन्धकारपूर्ण नीरव स्थान विशेष में निवास का प्रभाव अधिक होता है। तपस्वियों को एकांत-सेवन व गुफा में निवास से विशेष लाभ न होता तो कौन व्यक्ति तपःसाधना काल में व्यावहारिक दृष्टि से असुविधाओं से पूर्ण इस स्थिति में रहने को और अकारण ही स्वयं को इस विपन्नावस्था में डालने को तैयार होता? भूमि खोदकर उस एकान्त, नीरव, अन्धकारपूर्ण जगह में समाधिस्थ होकर बैठने की योग्याभ्यसियों की साधना तो बहुत प्राचीन है। सामान्य रूप से यह कौतुहल जैसी जादुई

प्रक्रिया मालूम होती है, परन्तु शरीर को उस स्थिति में रखने का अभ्यास हो जाने से वह अन्तरिक्ष में व्याप्त भारहीनता के समकक्ष माना जाता है।

अन्तरिक्ष यात्रा के योग्य हल्का शरीर बनाने के लिए एकान्तवास

यही कारण है कि 'अमरीकी अन्तरिक्ष एजेंसी—नासा' के अन्तरिक्ष शोध कार्यक्रम के तहत 'स्टेफेनिया'[1] नाम की एक महिला अन्तरिक्ष में उड़ने वालों की यात्रा सफल बनाने के लिए जमीन के १० मीटर नीचे एक गुफा में रहकर शोध कर रही है। वैज्ञानिक इस प्रयोग के जरिये यह जानना चाहते हैं कि लम्बी अन्तरिक्ष यात्रा में इस तरह के एकान्तवास और अकेलेपन का मानसिक एवं भावात्मक क्या असर पड़ता है? तथा इससे शरीर भी अन्तरिक्ष यात्रा के योग्य भारहीन हो सकता है या नहीं? स्टेफेनिया को लगभग ५ मास तक इस गुफा में रहना पड़ेगा। गुफा के बाहर वैज्ञानिक उसकी बात कम्प्युटर के जरिये से सुन सकते हैं। गुफा में वह किताबें पढ़ती है। लकड़ी की एक प्याली में लकड़ी के चम्मच से वह खाना खाती है। नहाने के बजाय बदन पोंछकर वह काम चलाती है। प्रति सप्ताह कम्प्युटर उसका दिमागी परीक्षण करता है। सचमुच गुफा में बंद रहकर एकान्त में साधना करने का यह प्रयोग भारतीय योगियों द्वारा पहले से आविष्कृत है।

नितांत अकेलेपन के एकान्तवास से आत्मशक्तियों का जागरण

नडियाद में स्वामी मोटा ने 'हरिओम आश्रम' इसी उद्देश्य से खोला था। उसमें इसी ढंग के कमरे बनाये गए थे कि साधक मौन रह कर अकेला एकान्त शान्त वातावरण में रहे, और अपना जप ध्यान करे। उस कमरे में वह अकेला रहता था। केवल भोजन के समय एक व्यक्ति एक छोटी-सी खिड़की से भोजन की थाली रखकर चुपचाप चला जाता था। मल-मूत्र विसर्जन के लिए कमरे के अन्दर ही लेट्रिन बाथरूम बना हुआ था। पानी का एक छोटा-सा घड़ा वहाँ रख दिया जाता था। बाहर से कमरे के ताला लगा दिया जाता था ताकि साधक को किसी प्रकार का बाह्य विक्षेप न हो, इन्द्रिय विषयों का आकर्षण, भय, प्रलोभन से साधक दूर रह सके। वह अन्तर्मुखी बन जाए। इस प्रकार साधक एकान्तवास

---

१ आज (दैनिक रांची) ता० १४/३/१९८९ से

में मौनपूर्वक आत्मसाधना में परिपक्व हो जाता था। परिपक्व होकर जब साधक बाहर निकलता तो उसकी मनोवृत्तियाँ प्रायः शान्त हो जाती थीं। सचमुच एकान्तवास में आत्मशक्तियों की उपलब्धि का यह प्रयोग बहुत ही सफल रहा।

एकान्तवास से 'ब्रेन वाशिंग' और अन्य उपलब्धियाँ

जर्मनी, चीन और रूस के अधिनायक राजनैतिक विरोधियों, तथा सिद्धान्तवादी विपक्षी लोगों को अपना मत-परिवर्तन करने तथा राष्ट्राध्यक्षों के मत से सहमत होने के लिए ब्रेन वाशिंग पद्धति अजमाते हैं। ब्रेन वाशिंग का अर्थ है—मस्तिष्क की धुलाई। ब्रेन वाशिंग पद्धति में विपक्षी या विरोधी के शरीर या अंगों पर किसी प्रकार का प्रहार नहीं किया जाता, और न ही किसी प्रकार से भूखे-प्यासे आदि रखकर उन्हें सताये जाते हैं। शारीरिक और मानसिक उत्पीड़न भी दिया नहीं जाता किन्तु केवल समझाने-बुझाने से लेकर तिल-तिल कर मरने की विभीषिका तक के प्रयोग चलते हैं। अंधेरी काल कोठरी में अकेले उन्हें बन्द रखा जाता है। इसी कोठरी में रोटी-पानी, मल-मूत्र विसर्जन, शय्या-वस्त्रादि आवश्यक साधन पहुँचाये तथा बदलाये जाते हैं। इस कोठरी में बाहर की आवाज का एक शब्द भी नहीं जाने पाता और न ही रोशनी की एक किरण भी पहुँचती है। उस कोठरी में घंटी बजाने का एक बटन रहता है, बंदी द्वारा यह तभी बजाया जाता है, जब वह अपने विचार बदलने के लिए तैयार हो। प्रायः एक ही दिन में बंदी कोठरी की निस्तब्धता, नीरवता, एकाकीपन और तमिस्रा से घबराकर आत्मसमर्पण या समझौते की घंटी बजा देता है। प्रायः दस दिन से अधिक तो कोई भी उस एकान्तवास की स्थिति को सहन नहीं कर पाता। ब्रेन वाशिंग पद्धति के प्रयास से अधिकांश कट्टर भी नरम हो जाते हैं और सच्चे मन से पक्षधर बनकर यह सिद्ध करते हैं कि ब्रेन वाशिंग कठिन नहीं, सरल है ऐसे लोगों के बदल जाने पर उनकी योग्यता, कुशलता और क्षमताओं से लाभ उठाया जाता है। आस्थाओं के परिवर्तन में अन्धकारयुक्त एकान्त-सेवन का कितना प्रभाव हो सकता है, इसकी झांकी ब्रेन वाशिंग के परिणाम से मिलती है। इसका एक दूसरा उज्ज्वल पक्ष भी है कि उस स्थिति में मनः संस्थान का स्तर प्रायः वैसा ही हो जाता है, जैसा कि अन्तरिक्ष में पहुँचने पर भारहीन स्थिति में शरीर को अनुभव होता है। पृथ्वी के गुरुत्वा-

कर्षण का अतिक्रमण कर ऊपर पहुँचने के बाद इच्छा शक्ति के सहारे शरीर का जरा-सी गति देने पर किसी भी दिशा में चल पड़ना और बढ़ते जाना अनायास ही सम्भव हो जाता है।

इसी तरह ऐसे अन्ध-एकांत में मस्तिष्क अन्य दबावों से मुक्त होकर अभीष्ट चिन्तन अपनाकर मनचाही प्रगति कर सकता है। यह स्थिति आध्यात्मिक विकास की रचनात्मक प्रगति के लिए भी बहुत उपयुक्त होती है।

कनाडा के मनोवैज्ञानिकों ने भी इसी से मिलता-जुलता प्रयोग किया। उन्होंने ब्रेनवाशिंग में काम आने वाले कमरों जैसे कमरे बनवाये। उनमें भी ऐसी अन्धनिस्तब्धता एवं नीरवता की स्थिति रखी। उनमें बन्द किये गये लोगों ने अपने ही श्वास-प्रश्वास, रक्त संचार आदि शरीर में होने वाली हलचलों की ध्वनि प्रतिध्वनित होती सुनी। साथ ही उन्होंने और भी अनुभव सुनाये कि कमरे में पहुँचते ही वे गहरी नींद में सो गए। तीस-चालीस घण्टे सो लेने के पश्चात् जब वे जागे तो उनमें पहले की अपेक्षा अधिक स्फूर्ति, चेतनता और ताजगी आ गई। कई लोग बंद होने से पहले खुजली, जुकाम, सिरदर्द आदि रोगों से पीड़ित थे, वे रोग अपने आप ही मिट गए। वे स्वस्थ और सशक्त हो गए। जिनकी नशेबाजी की आदत थी, उन्होंने अन्तःप्रेरणा से ही अपनी वह आदत छोड़ दी। तम्बाकू जैसी अभ्यस्त नशीली चीजें उनके पास मौजूद रहीं, फिर भी उन्होंने स्वाभाविक अरुचि के कारण उन्हें छुआ तक नहीं। अथवा किसी ने एकाध कश लेकर उन्हें फेंक दिया।

कई व्यक्तियों की पुरानी घटनाओं की स्मृतियाँ मस्तिष्क में ऐसे उतर आईं, मानो वे अभी कल-परसों की घटनाओं की-सी हों। कई लोग अपने प्रिय विषय पर अधिकाधिक गम्भीरता और तल्लीनता के साथ सोचने लगे। हानि-लाभ पर विचार करते-करते वे अच्छे नतीजों पर पहुँचने और विवेक करने में सफल हो गए।

अतः ब्रेन वाशिंग सांसारिक मोहक आकर्षणों तथा विषय-भोगों से सुख प्राप्ति की व्यक्ति की मान्यताओं को बदल कर उसमें आत्मिक सुखों तथा आत्मिक आनन्द की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक जीवन जीने की अन्तःस्फुरणा पैदा कर देता है। यह व्यक्ति को पापी से धर्मी, अनैतिक से नैतिक, अन्यायी से न्यायी तथा परधर्मी से स्व (आत्म) धर्मी बनाने में सक्षम है।

एकान्तवास कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे ?

एकान्तवास की इन सब उपलब्धियों को देखते हुए भगवान महावीर ने साधकों के लिए एकान्त शान्त स्थान में आत्मसाधना का विधान किया है—

सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व एगओ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा, न य वित्तासए परं ॥[1]

मुनि अपनी ध्यानादि आत्मसाधना के लिए श्मशान में, सूने मकान में, अथवा गिरिगुफा में, या वृक्ष के मूल में अकेला अचपलभाव से बैठे, किन्तु दूसरे किसी भी प्राणी को त्रास (तकलीफ) न दे।

समाधिमरण में एकान्तवास क्यों और कैसे ?

प्राचीन काल में जब किसी साधु-साध्वी का शरीर अत्यन्त अशक्त, दुर्बल एवं धर्मपालन करने में अक्षम अथवा किसी असाध्य रोग से ग्रस्त या किसी आकस्मिक दुर्घटना से पीड़ित हो जाता तो अपना अन्तिम समाधिमरण का अवसर जानकर वह अपने गुरुदेव या आचार्यादि पूज्यवरों की आज्ञा प्राप्त कर अपने साथी साधुओं के साथ किसी पर्वत, वन, या अन्य किसी एकान्त शांत स्थान में चला जाता था और वहाँ आमरणांत संलेखना संथारा (अनशन) अंगीकार कर लेता था।[2] सम्मेत शिखर गिरनार, राजगृह, शत्रुञ्जय आदि पर लाखों साधु-साध्वियों ने अपनी अन्तिम समाधिमरण साधना की थी। सामान्य साधु-साध्वियों ने ही नहीं बल्कि तीर्थंकरों, गणधरों एवं आचार्यों आदि ने वहाँ आमरणान्त अनशन करके वहाँ से मोक्ष प्राप्त किया है।

प्रश्न होता है, केवलज्ञानी तीर्थंकरों एवं ज्ञानी मुनिवरों ने इन्हीं एकान्त निर्जन, शान्त, किन्तु अत्यन्त उत्तुंग पर्वत-शिखरों तथा ऊबड़-खाबड़ मार्ग वाले अति दुर्गम स्थानों को ही अपनी आत्मसाधना, कायोत्सर्ग तथा समाधिमरण (संलेखना संथारा) की आराधना, एवं अन्य ज्ञानादि आराधना व तपःसाधना के लिये क्यों पसंद किया ? क्या नगरों या जनपदों में भक्तजनों की भीड़ से घिरे, जयनाद से आकाश को गुंजा देने वाले, भक्तों

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ. २ गा. २२

२ देखिये—अन्तकृद्दशांग और भगवती सूत्र

द्वारा पूजा-अर्चा और सेवाभक्ति से सुलभ, मनोज्ञ स्थानों का इन साधनाओं के लिए क्यों नहीं पसन्द किया ? इसीलिये कि इन जनाकुल स्थानों में आत्मचिन्तन में, योगसाधना में तथा आत्मसमाधि में बार-बार विक्षेप और विघ्न होता। उनके मनमस्तिष्क में यह स्वर्णसूत्र रम गया था—

अरतिर्जनसंसदि

जनसमूह से अरति ही आध्यात्मिक विकास का श्रीगणेश है।

विविध धर्मग्रन्थों में एकान्तवास का महत्व

इसीलिए भगवान महावीर ने ब्रह्मचारी साधक के लिए सर्वप्रथम 'विविक्त शय्यासन' का विधान किया है। जिसका रहस्यार्थ यह है कि अध्यात्म की जितनी भी साधनाएँ हैं, उनके लिए साधक अपना शयन (निवास), आसन, जनसमूह से दूर एकान्त शान्त, पवित्र, निरुपद्रव तथा स्त्री-पशु-नपुंसक आदि से असंसक्त स्थान चुने। यही बात भगवान ने पुनः उत्तराध्ययन सूत्र में दोहराई है—**'निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं'**।[1] साधु अपने निवास के लिए विविक्त—जनशून्य, पवित्र, एकान्त एवं शान्त स्थान को पसन्द करे, चुने।

जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण ने **'ध्यानशतक'** में भी इसी तथ्य का समर्थन किया है—

"निच्चं चिअ····जइणो, ठाणं वियणं भणियं, विसेसओ ज्झाणकालंमि"।[2]

साधुओं को सदैव साधना के हेतु एकान्त (निर्जन) स्थान प्रशस्त बताया है, विशेषतः ध्यान-साधना के समय में।

ऋषि, मुनि, योगी, तपस्वी एवं साधु एकान्त सेवन को क्यों पसन्द करते हैं ? उसके पीछे बहुत से मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक, एवं प्राकृतिक कारण हैं। **'समाधिशतक'** में जन-सम्पर्क से रहित एकान्तवास का कारण बताते हुए कहा गया है—

होत मन-वचन-चपलता जन के संग-निमित्त।
जनसंगी होवे नहीं, ताते मुनि जगमित्त॥[3]

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र अ. ३२ गा. ४।

२. ध्यानशतक गा. ३५।

३. समाधिशतक दोहा ६०।

भगवद्गीता में भी मुनियों एवं योगियों के लिए एकान्तवास तथा एकाकी, निःस्पृह, और दत्तचित्त होकर योग-साधना करने का विधान किया गया है—

योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥[1]

जिसके चित्त, इन्द्रियाँ, बुद्धि आदि नियन्त्रण में हैं, जो निरपेक्ष और निःस्पृह है, परिग्रह—संग्रह से रहित है, वह योगी अकेला ही एकान्त स्थान में स्थित होकर सतत् आत्मा को परमात्मभाव में जोड़े ।

सामवेद का एक मन्त्र भी तपस्वियों के लिए एकान्त स्थान का ही समर्थन करता है—

'उपह्वरेगिरीणां संगमे च, नदीनां धिया विप्रोऽजायत ।[2]

इसका भावार्थ यह है कि पर्वतों के तट-प्रान्त, गिरि-कन्दरा, तथा नदियों के प्राकृतिक रम्य संगम स्थल आदि शान्त, एकान्त स्थानों पर रह कर तपस्वी लोग ध्यान, धारणा, समाधि, तप, जप, ज्ञान आदि आत्म-साधना का अभ्यास करके आत्मशक्तिमान् होते थे ।

प्रायः सभी भारतीय धर्मग्रन्थों में एकान्तवास को अत्यन्त महत्व दिया गया है । इसका कारण यह है कि भीड़-भाड़ से युक्त जन-संकुल स्थान में यथेष्ट चिन्तन-मनन नहीं हो सकता । बार-बार जन-विक्षेप (Disturb) होने से आत्मचिन्तन, आत्मशोधन और आत्मा की गहराई में उतरने में विघ्न बाधाएँ आती रहती हैं ।

एकान्तवास : बाह्य तप है

एकान्त सेवनपूर्वक साधना करने वाले साधक को बाह्य जनाकर्षणों से, प्रसिद्धि और प्रशंसा के प्रलोभनों से, अपने प्रति भक्तजनों की भीड़ द्वारा नमन, वन्दन और जय-जयकार पाने के आकर्षण से स्वयं को नियन्त्रण में रखना पड़ता है । तपस्या का लक्षण भी एक आचार्य ने बताया है— 'इच्छानिरोधस्तपः' इच्छाओं का निरोध अर्थात्–बाह्य प्रलोभनों, आकर्षणों,

---

१. भगवद्गीता, अ. ६ ।
२. सामवेद (आत्रेय ऋषिसूक्त) ।

लालसाओं, तृष्णाओं एवं वासनाओं को स्वेच्छा से समझ-बूझकर रोकना, उनका स्वेच्छा से त्याग करना तप है।

इस दृष्टि से एकान्तवास को तत्त्वार्थ सूत्र में बाह्य तप कहा गया है।

"अनशनावमौदर्य--वृत्तिपरिसंख्यान--रसपरित्याग --विविक्तशय्यासन--कायक्लेशा बाह्य तपः।"[1]

अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश, ये बाह्य तप हैं।

एकान्तवास से आध्यात्मिक उपलब्धि

विविक्त-शय्यासन का फलितार्थ ही एकान्तवास है। विविक्त शय्यासन तप को स्वेच्छा से रुचिपूर्वक स्वीकार करने वाले योगी, तपस्वी, ध्यानी या आत्मसाधक को अपनी आत्मशक्तियों को जागृत करने आदि की महान् आध्यात्मिक उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में विविक्तशयनासन से उपलब्धि के विषय में प्रश्न किया गया तो भगवान् महावीर ने कहा—

प्रश्न—विवित्तसयणासणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—विवित्तसयणासणयाए चरित्तगुत्ति जणयइ।

चरित्तगुत्ते य णं जोवे विवित्ताहारे दढचरित्ते एगंतरए, मोक्खभाव पडिवन्ने अट्ठविह-कम्मगंट्ठि निज्जरेइ।[2]

प्रश्न—"भन्ते ! विविक्तशयनासन (एकान्त शान्त-स्थान में निवास) से जीव को क्या उपलब्धि होती है ?"

उत्तर—"विविक्त शयनासन (जनसम्पर्क से शून्य एकान्त शान्त पवित्र स्थान में निवास) से जीव चारित्र (आत्मस्वरूप रूप) की रक्षा करता है। चारित्र रक्षक साधक विविक्ताहारी (शुद्ध निर्दोष सात्त्विक आहार करने वाला), दृढ़ चारित्री, एकान्तप्रिय, मोक्षभाव से सम्पन्न होकर अष्टविध कर्मग्रन्थी का निर्जरण—एकांशतः क्षय कर डालता है।"

---

१. तत्त्वार्थसूत्र अ. ९ सू. १९।
२. उत्तराध्ययनसूत्र अ. २९ पृ. ३२।

एकान्तवास की यह सर्वोत्तम आध्यात्मिक उपलब्धि है। एकान्त, शान्त, पवित्र जनशून्य स्थान में निवास करने से साधक की आध्यात्मिक साधना में दृढ़ता और निश्चलता आती है। उसकी सुषुप्त आध्यात्मिक शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं। वह एकमात्र शुद्ध आत्मभावों में– परमात्म-भाव में रमण करता रहता है।

एकान्तवास की दृष्टि विकसित हो जाने पर

जिसकी एकान्तवास की दृष्टि सम्यक्रूप से विकसित हो जाती है, वह जनसम्पर्क से, भीड़भाड़ से, प्रसिद्धि, वाहवाही, प्रशंसा, प्रतिष्ठा तथा भक्तों के द्वारा की जाने वाली सेवा, श्रद्धा-भक्ति और पूजा-अर्चा से निरपेक्ष, निःस्पृह रहता है। उसे एकमात्र अपनी आत्मसाधना की, परमात्मभाव-प्राप्ति की लगन और धुन रहती है। अपने आत्मज्ञान, आत्मध्यान, आत्म-स्वभावरमण, आत्मसमाधि, आत्मशक्ति और आत्मानन्द की मस्ती में वह खाने-पीने की, शरीर-शुश्रूषा की तथा मनोऽनुकूल सुख-सुविधाओं की, मनोज्ञ सुख-सुविधाजनक स्थान की परवाह नहीं करता। अपने आत्मभाव में रत रहने में उसके जीवन में आने वाली प्रियता-अप्रियता, सर्दी-गर्मी, बाह्य सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुविधा-असुविधा आदि सभी शरीर, मन और इन्द्रियों आदि से सम्बन्धित परभाव और नश्वर मानकर वह इन सारे द्वन्द्वों में निर्द्वन्द्व, समत्व में स्थिर और आत्मशक्ति से सम्पन्न अजेय रहता है। बड़े से बड़े अनुकूल-प्रतिकूल परीषहों तथा उपसर्गों को समभावपूर्वक सहने की उसकी क्षमता बढ़ जाती है। उसका चिन्तन, मनन, आचरण, व्यवहार, वचन आदि सब एकमात्र आत्मस्वभाव को केन्द्र में रखकर होता है।

एकान्तवास की उपलब्धियाँ

आशय यह है कि एकान्तवास से रुचिपूर्वक अभ्यस्त और श्रद्धाभक्ति-पूर्वक उक्त एकान्तस्थान में साधना करने से उसके तन-मन प्रतिकूल परि-स्थितियों को भी अनुकूल बनाने में सक्षम हो जाते हैं। प्रतिकूल परि-स्थितियाँ उस पर हावी नहीं हो सकतीं, उसे अपनी साधना छोड़कर अनु-कूल एवं सुख-सुविधाजनक स्थान से जाने के लिए बाध्य नहीं कर सकतीं। इसी प्रकार अनुकूल एवं सुख-सुविधाजनक परिस्थितियाँ उसे प्रलुब्ध, आक-र्षित एवं मोहित नहीं कर सकतीं। न ही एकान्तवास से अभ्यस्त निष्ठा-वान साधक भयों और प्रलोभनों से या अज्ञजनों के उपहास से अथवा किसी के दबाव से अपने स्वीकृत पथ को छोड़ सकता है।

इस प्रकार एकान्तवास से साधक को निःस्पृहता, असंगता, सहाय-निरपेक्षता, तितिक्षा, क्षमता, कष्टसहिष्णुता, समता, आत्मौपम्य भावना, विश्वैकत्व दृष्टि, एकत्व-अनुप्रेक्षा, क्षमा, मृदुता, सरलता, सन्तोष, अपरिग्रहवृत्ति, राग-द्वेष-कषाय-मन्दता आदि अनेक आध्यात्मिक उपलब्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

एकान्तवास : परिस्थितिजन्य/मनःस्थितिजन्य

जहाँ दूसरों का आवागमन न हो, कोलाहल कानों में न पहुँचे, आवागमन की उछलकूद जहाँ विक्षेप पैदा न करे, वहीं आमतौर से एकान्त समझा जाता है, पर वास्तविकता ऐसी नहीं है। वस्तुतः दूसरों के साथ लगाव ही अपने सम्पर्क जोड़ता है, एकान्त में बाधा उत्पन्न करता है। जिनके साथ परिचय, सहयोग, सम्बन्ध या विरोध न हो वे अपने स्थान पर बने रहें, अपनी हलचलें करते रहें तो भी उस स्थिति में मन एकान्त का अनुभव कर सकता है। मेले-ठेलों और भीड़भाड़ में अनेकों का आवागमन और हलचल होती रहती है, पर वहाँ किसी के साथ लगाव आदि न हो तथा दृश्य मनोरंजन की ओर उदासीनता रखी जाए तो वहाँ भी एकान्त का अनुभव किया जा सकता है, क्योंकि मनःस्थिति वैसी बना ली जाए तो मन को अपने साथ बाँधने या विक्षेप उत्पन्न करने वाला कोई कारण नहीं रहता। ऐसी दशा में रिक्तता के कारण एकान्त जैसी स्थिति बन जाती है। एकान्त में विक्षेप तब पड़ता है, जब व्यक्ति स्वयं उन हलचलों, व्यक्तियों, दृश्यों या वस्तुओं में रस लेने लगे, या उनके साथ किसी विरोध या संघर्ष में उतरे।

जेल में भी एकान्त की मनःस्थिति सहज ही बन सकती है। वहाँ भी वैसे तो अनेक कर्मचारी तथा बंदी अपना-अपना काम करते रहते हैं। उनसे वास्ता भी पड़ता है। अन्य असुविधाएँ भी रहती हैं। परन्तु उनके साथ सीधा लगाव न रखने से एकान्त जैसी मनःस्थिति बनी रहती है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति के चिन्तन-मनन में कोई बाधा नहीं पड़ती। यह मनःस्थितिजन्य एकान्त है। इसमें व्यक्तियों के इर्द-गिर्द रहते हुए भी उनसे लगाव हटा लिया जाता है। परिस्थितिजन्य एकान्त वहाँ होता है, जहाँ सर्वथा एकाकी जनशून्य स्थिति में रहना होता है।

वैसे सर्वथा सर्वांगीण एकान्त तो निर्विकल्प समाधि की स्थिति में होता है, अन्यथा, जनशून्य एकान्त होते हुए भी शारीरिक आवश्यकताएँ,

आदतें, रुचियाँ तथा मानसिक स्मृतियाँ एवं विकृतियाँ किसी न किसी प्रकार से विक्षेप पैदा करती रहती हैं। स्वाध्याय, लेखन, साहित्य-सृजन, वैज्ञानिक शोध, अनुसन्धान तथा आध्यात्मिक साधना एकान्त में ही ठीक ढंग से हो सकती है। उचित यही है कि मन को प्रत्यक्ष एवं स्मृतिजन्य लगावों से दूर रख जाए, उसे ऐसा साधा जाए कि जन संकुल स्थान में रहते हुए भी तथा शारीरिक मानसिक आवश्यकताओं पर स्वेच्छा से संयम रखा जाए, मन को एकान्तवास जैसी स्थिति में रखा जाए। आत्म-सन्तुलन भी स्थिर रखा जाए।

महात्मा गाँधी, सन्त विनोबा, लोकमान्य तिलक आदि मनस्वी लोगों ने जेल के एकान्तवास में आध्यात्मिक चिन्तन, लेखन एवं साहित्य सृजन किया था। इसी प्रकार प्रत्येक आत्मार्थी साधक मनःस्थिति एकान्तवास-सी बनाकर आध्यात्मिक साधना से परमात्मभाव को उपलब्ध कर सकता है।

३

अकेलेपन से परमात्मा का सान्निध्य सुलभ

एकान्तवास और अकेलेपन का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये दोनों अन्योन्याश्रित वृत्ति-प्रवृत्तियाँ हैं। एकान्तवास का एक फलितार्थ ही होता है—अकेलेपन में रहना, एकत्व का अभ्यास करना।

पूरे जीवन में साहचर्य कम : अकेलापन अधिक

मनुष्य जब इस संसार में आया वह निपट अकेला ही आया है। मनुष्य ही क्यों संसार के सभी प्राणी अपने-अपने शुभाशुभ कर्मानुसार अकेले ही जन्म लेते हैं और मरते समय भी अकेले ही होते हैं। परलोक से वे न तो किसी संगी-साथी या सम्बन्धी को या किसी वस्तु को साथ लेकर आते हैं, और न ही किसी सम्बन्धी को या वस्तु को अपने साथ परलोक में ले जाते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक वह जिन व्यक्तियों या वस्तुओं पर अपनेपन की, या अपने ममत्वयुक्त सम्बन्ध की छाप लगाता है, अर्थात्—जिन व्यक्तियों या पदार्थों को वह अपने मानता है, वे भी परलोक की महा-यात्रा के समय उसके साथ नहीं होते। कई परिजन या पदार्थ अथवा धन-धान्य, आदि तो उसके जीवनकाल में ही उसका साथ छोड़ देते हैं। इस प्रकार जन्म से मृत्यु तक कितने ही संगी-साथी बनते और बिगड़ते हैं। बाहर से वे पदार्थ या वे व्यक्ति उसके अपने-से दिखते हैं, पर वास्तव में वे उसके नहीं होते। अगर वे उसके होते तो प्रतिक्षण उसके साथ ही रहते। परन्तु वे कर्मोपाधिजन्य संयोग से उसके साथ जुड़ते हैं और बिछुड़ते हैं। इसीलिए एकत्वभावना के दोहे में बताया है—

आप अकेला अवतरे, मरे अकेला होय।
यों कबहुँ या जीव को, साथी सगो न कोय ॥[1]

यदि हम जन्म से लेकर मृत्यु तक हुए सम्बन्धियों या साथियों के साथ बिताये हुए क्षणों की पूरे जीवन से तुलना करें तो अधिकांश जीवन एकाकी ही—उक्त साथी या सम्बन्धी के बिना ही—व्यतीत हुआ प्रतीत होगा।

अनेकों के साथ रहता हुआ भी, अकेला-सा दुःखी व्यक्ति

बड़े गर्व से जिन्हें लोग माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री या पत्नी या सम्बन्धी कहते और सोचते हैं कि हम अकेले नहीं, पच्चीस हैं। क्या वे पच्चीस परलोकयात्रा के समय उनके साथ जाते हैं। वे केवल मोहवश आंसू बहाकर या शोक मनाकर रह जाते हैं। मृत्यु तो दूर रही, जब आदमी की वृद्धावस्था हो जाती है, तब वे ही कुटुम्बी लोग, जो उसके इशारे पर चलते थे, अब उसको प्रायः उपेक्षा करने लगते हैं, उसकी बात सुनी-अन-सुनी कर देते हैं। लम्बी बीमारी में भी पारिवारिकजन आँखें फेर लेते हैं, तर्ज बदल देते हैं। उनका व्यवहार रूखा हो जाता है। वह बूढ़े और रुग्ण मन ही कुढ़ते रहते हैं। वे प्रायः चिन्तित, रुष्ट, पीड़ित और विवश होकर सोचने लगते हैं; "इतना बड़ा परिवार होने से क्या लाभ हुआ? आज तो मेरा अपना कोई नहीं रहा। सभी पराये बन गए हैं। इससे तो मैं अकेला ही अच्छा था। इतना दुःखी तो न होता। आज मैं बहुसंख्यक परिवार वाला होकर भी अकेला-सा और दुःखी हूँ।"

पहले से मोहरहित अकेलापन अपनाता तो दुःखी न होता

अगर वह वृद्ध या रुग्ण व्यक्ति पहले से उन सबको अपने न मानते, उन पर मोह-ममत्व न करते, केवल कर्तव्य भावना रखते और स्वयं को एकाकी ही समझते, द्रव्य से भी, और भाव से भी, तो वर्तमान स्थिति में इन्हें इतना दुःख कदापि न होता। इसलिए पहले से ही उसे इस चिन्तन सूत्र को पकड़ कर चलना चाहिए था—

"एगो मे सासदो अप्पा, नाण-दंसण-लक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोग-लक्खणा ॥"[2]

---

१ बारह भावना दोहा ४
२ नियमसार गा० १०२

सम्यग्ज्ञान-दर्शन से युक्त अपनी कहने लायक तो मेरी एक ही शाश्वत आत्मा है। आत्मा के सिवाय अन्य सब पदार्थ (कर्मजन्य) संयोग मात्र से मिले हैं, वे मेरे अपने नहीं हैं, चाहे फिर वे सजीव हों, चाहे निर्जीव।

साधक जब इस चिन्तन सूत्र को आत्मसात् कर लेता है कि 'एकोऽहम्'—"मैं 'अकेला' हूँ" तब वह समस्त झंझटों, कठिनाइयों, मोहजन्य दुःखों, पंचेन्द्रिय-विषयों की आसक्ति से होने वाले मानसिक क्लेशों, इष्ट-वियोग-अनिष्टसंयोगजनित सन्ताप एवं भय, तथा पारिवारिक या सामाजिक उलझनों एवं मुसीबतों से पार हो जाता है।[1] साधक जीवन में ही नहीं, गृहस्थ जीवन में भी अकेलेपन का अभ्यास और अनुभव कर लेने पर उसका व्यावहारिक जीवन सन्तुष्ट, सुखी और आनन्दमय हो जाता है, अन्यथा, जीवन में 'सौ सगे सौ दुःख' वाली कहावत चरितार्थ होती है। व्यक्ति चिन्ता, क्षोभ, चिड़चिड़ापन, तनाव, असन्तोष आदि से तभी मुक्त हो सकता है, जब वह अपने-आप में अकेलेपन का अनुभव और अभ्यास कर लेता है।

द्वन्द्वात्मक जीवन से दूर : निरन्तर अकेलेपन का अनुभव

सामान्यतया अधिकांश व्यक्तियों (जिनमें गृहस्थ साधक भी हैं, साधु वर्ग भी हैं) का जीवन द्वन्द्वात्मक पद्धति से चल रहा है। प्रकाश और अन्धकार, सर्दी-गर्मी, निर्धनता-सधनता, गरीबी-अमीरी, आदि द्वन्द्व तो बाह्य हैं; कई ऐसे द्वन्द्व भी हैं, जिन्हें सामान्य व्यक्ति या अपरिपक्व मानस का साधक कल्पित कर लेता है जैसे—सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय, मनोज्ञ-अमनोज्ञ, भला-बुरा, रुचिकर-अरुचिकर आदि सब द्वन्द्व मन के बनाये हुए हैं। द्वन्द्वों का सागर इतना विशाल है कि उसे पार करना सामान्य व्यक्ति के वश की बात नहीं। अकेला होने का—जन-संकुलता से दूर रहने का अभ्यास ही द्वन्द्वों से मुक्ति पाने का राजमार्ग है। द्वन्द्वातीत होने के लिए व्यक्ति को एकत्वभाव में रमण करना अनिवार्य है। इन द्वन्द्वों से ऊपर उठकर ही मनुष्य अकेलेपन का अनुभव कर सकता है।

अकेलेपन से घबराने वाले लोग

अकेलेपन से डरने वाले लोग प्रायः अपने एकाकीपन की शिकायत

---

१. निश्चयनयमाश्रित्य सर्वोऽप्येकत्वमास्थितः।
रागद्वेष विमुक्तोऽसौ एक एव भवेज्जनः॥

करते रहते हैं। वे कहते हैं—क्या करें, हमें सच्चे मित्र, अच्छे साथी या विनीत पारिवारिक जन नहीं मिलते। कई व्यक्तियों को सरकारी नौकरी के कारण घर से बाहर कहीं दूसरे प्रान्त या दूसरे नगर में रहना पड़ता है, वे प्रायः कहा करते हैं—'क्या करें, यहाँ अकेले पड़े-पड़े दिन काट रहे हैं। घर की याद बहुत आती है, यहाँ कोई भी तो ऐसा नहीं, जिससे मैं अपने मन की बात कह सकूँ !

अपने किसी प्रिय पशु, प्रिय जन या प्रिय पदार्थ के वियोग में भी लोग स्वयं को एकाकी महसूस करके दुःखी होते रहते हैं। कई बच्चे अपने किसी पालतू पिल्ले, मेमने या खरगोश के साथ इतने घुल-मिल जाते हैं कि उसका वियोग हो जाने या कहीं चले जाने पर वैसा ही अकेलापन महसूस करके दुःखित होते हैं। तात्पर्य यह है कि कुछ लोगों को छोड़कर प्रायः सभी कल्पित स्वत्वमोहीजन अकेलेपन से घबराते हैं।

निर्द्वन्द्व अकेलेपन का अभ्यास

विवेकी गृहस्थ अकेलेपन से अभ्यस्त होने के लिए, अपनी सन्तान को सुशिक्षित-सुसंस्कृत बनाने हेतु अपने नगर या गाँव से दूर किसी गुरुकुल या विद्यापीठ में भेजते हैं। स्वयं भी विदेश या परदेश जाकर अपना व्यवसाय या आजीविका के लिए कोई कार्य अथवा सर्विस करते हैं। भगवान् महावीर ने गृहस्थ साधकों को निर्द्वन्द्व अकेलेपन के अभ्यास के लिए सामायिक व्रत, पौषध व्रत, देशावकासिक व्रत आदि की साधना धर्म-स्थान उपाश्रय आदि में बैठकर करने का विधान किया है। आगे चलकर इस निर्द्वन्द्व अकेलेपन से पूर्ण अभ्यस्त हो जाने पर व्यक्ति दुःखित, निराश और संतप्त नहीं होता है, और न ही वह किसी दूसरे पदार्थ या व्यक्ति की अपेक्षा रखता है। वह एकमात्र अपनी (आत्मा की) उपस्थिति में ही सम्पन्न होता है। इस अकेलेपन में किसी दूसरे की उपस्थिति या दूसरे के लौट आने की आकांक्षा नहीं रहती है। इस निर्द्वन्द्व अकेलेपन में व्यक्ति की आँखें दूसरे को नहीं खोजतीं, वे स्वयं (आत्मा) को ही खोजती हैं। अपने आपकी ही मस्ती में रहती हैं। इसमें अपने आप की उपस्थिति से ही व्यक्ति तृप्त और सन्तुष्ट रहता है।

स्थानांग सूत्र के 'एगे आया' (आत्मा एक है) सूत्र के अनुसार निर्द्वन्द्व में एकत्व व्यक्ति दूसरे की कोई आकांक्षा या अपेक्षा नहीं रखता, न ही उसे किसी दूसरे की स्मृति होती है या रहती है।

वेदान्त और जैनदर्शन में अकेलेपन का विचार

वेदान्तदर्शन[1] में 'अद्वैत' की भावना है। जिसका अर्थ है—अ+द्वैत =दो नहीं। जैनदर्शन और गीता में निर्द्वन्द्व की भावना है। निर्द्वन्द्व का अर्थ है—द्वन्द्व से रहित। निर्द्वन्द्व में अद्वैत की अपेक्षा स्पष्ट और सरल बोध होता है। अद्वैत में दो चीजों में संघर्ष की ध्वनि प्रतीत होती है, जबकि निर्द्वन्द्व में दोनों ही चीजों से दूर रहना, और अपने आप में स्थिर रहना परिलक्षित होता है। उपनिषदों में तो एकाकीपन का महत्व बताते हुए कहा है—'**द्वितीयाद्वै भयं भवति**' दूसरे से भय होता है।

द्वन्द्वात्मक अकेलापन : दुःख और निराशा का कारण

सांसारिक मोही लोगों का अकेलापन द्वन्द्वात्मक होता है, उसमें दूसरे की अपेक्षा रहती है, वह कुछ दिनों का ही अकेलापन होता है, अन्तर् में दूसरे के प्रति मोह, ममत्व, आसक्ति, लालसा आदि होती है। किसी विधवा माता का इकलौता पुत्र परदेश गया हुआ है; अथवा किसी का पति किसी कारणवश जेल में बन्द है, किसी पुरुष की पत्नी अपने मैके चली गयी है, ऐसे लोग प्रायः कहते हैं—'आजकल तो बड़ा अकेलापन लगता है।' किसी का पुत्र मर गया है, उसे भी अकेलापन अखरता है। ऐसा अकेलापन दूसरे की अनुपस्थिति में होता है, इसमें दूसरे के आने या दूसरे के होने की आकांक्षा रही हुई है कि वह शीघ्र ही यहाँ लौट आये, अथवा उसकी पूर्ति की जाये। ऐसे द्वन्द्वात्मक अकेलेपन में व्यक्ति संतप्त, दुःखित और निराश हो जाता है। संसारमोही लोगों को वृद्धावस्था में या किसी प्रियजन के वियोग के समय अकेलापन अधिक महसूस होता है। वृद्धजन जब अपने व्यवसाय से निवृत्त हो जाते हैं तब, अथवा युवक लोग जब अपने किसी मित्र, या स्नेही संगी से बिछुड़ते हैं, तब, तथा सामाजिक या राजनीतिक नेता जब उनके अनुगामी उनसे विमुख होते हैं तब अपने आपको बिल्कुल एकाकी, विपन्न और अस्तित्वहीन-सा समझने एवं महसूस करने लगते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि व्यक्ति साहचर्य का इतना भूखा और अभ्यस्त हो गया है कि दूसरे के बिना उसे अपना अस्तित्व ही तुच्छ प्रतीत होता है। वस्तुतः रागद्वेष जीते बिना अकेलापन कहीं भी सार्थक नहीं होता, चाहे वह व्यक्ति जंगल में रहे या घर में।[2]

---

१. 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म।'

२. रागद्वेषावनिर्जित्य किमरण्ये करिष्यसि ?
रागद्वेषौ विनिर्जित्य किमरण्ये करिष्यसि ?

ऐसे ही परावलम्बी, परमुखापेक्षी, साहचर्याकांक्षी संसारमोही जन प्रायः अकेलेपन से डरते हैं, वे अपने अविनीत, आज्ञाहीन, कर्तव्यविमुख एवं उद्दण्ड तथा दुर्व्यसनी पुत्र का भी साहचर्य पसन्द करते हैं, किन्तु अकेले शान्ति, सन्तोष और आत्मतृप्ति के साथ रहना नहीं चाहते। उनका भीड़ के साथ रहने का अभ्यास उन्हें बार-बार उसी मानसिक क्लेश और घुटन भरे वातावरण में रहने को प्रेरित करता है। इसी द्वन्द्वात्मक अकेलेपन के कारण कई लोगों के जीवन में कई अनाचार, पाप, अपराध और दोष आ जाते हैं। ऐसे अकेलेपन से ऊब जाने से कई व्यक्तियों को भविष्य की नाना कल्पित चिन्ताएँ पीड़ित करने लगती हैं, वर्तमान की कई समस्याएँ उसके सामने मुंह बाए खड़ी हो जाती हैं, और भूतकाल की कई दुःखद, एवं वैर-वर्द्धक स्मृतियाँ मानसपटल पर उभरने लगती हैं। अपरिपक्व एवं अनभ्यस्त व्यक्ति जब अकेले में होता है, तब अपनी कमजोरियाँ और कमियाँ, त्रुटियाँ और गलतियाँ, अपराध और दोष उसके समक्ष चलचित्र की तरह सामने आने लगते हैं, जिनसे व्यक्ति हैरान-परेशान हो उठते हैं।

कई बार अपने आप से अकेलेपन को अथवा दूसरों से स्वयं को, भुलाने के लिए लोग कई अनर्थकर उपाय एवं दुर्व्यसन अपनाने लगते हैं। शतरंज, ताश, चौपड़ आदि खेलों तथा भांग, गाँजा, अफीम, शराब आदि नशैली चीजों का सेवन करने लगते हैं। ऐसे अकेलेपन से ऊबे हुए लोग मादक द्रव्यों की लत से लेकर एकान्त से भागकर भीड़ में खो जाने तक की कई अनुचित, धर्मविरुद्ध, अनाचारयुक्त प्रवृत्तियों में गिरते-पड़ते रहते हैं। ये द्वन्द्वात्मक एकाकीपन से उत्पन्न हुए दुष्परिणाम हैं।

जिन्हें निर्द्वन्द्व अकेलेपन का रहस्य मालूम नहीं है, वे आत्मा के एकाकीपन को न अपनाकर इन बाह्य मादक एवं उत्तेजक साधनों को अपनाकर द्वन्द्वात्मक अकेलेपन के कारण दुःखी होते हैं। सच्चे अकेलेपन से जहाँ मनुष्य को स्वतन्त्र, परसहाय निरपेक्ष एवं निश्चिन्त होना चाहिए, वहाँ नशीले तथा उत्तेजक पर-पदार्थ मनुष्य को परतन्त्रता, गुलामी एवं चिन्ता में डाल देते हैं। ये परपदार्थ उपकार और लाभ के बदले मनुष्य का अपकार एवं हानि ही अधिक करते हैं। आत्मा का निर्द्वन्द्व अकेलापन जहाँ स्वतन्त्रता, परनिरपेक्षता, निश्चिन्तता तथा अप्रमत्तता का सशक्त साधन है, वहाँ द्वन्द्वात्मक अकेलापन प्रमाद, आत्मविस्मृति, अजागृति, परतन्त्रता तथा परमुखापेक्षता का माध्यम बन जाता है।

व्यवहार और निश्चय : दोनों दृष्टियों से निर्द्वन्द्व अकेलापन

जैनदर्शन में निर्द्वन्द्व अकेलेपन का व्यवहार और निश्चय दोनों दृष्टियों से रहस्य खोलकर स्पष्ट कर दिया है। व्यवहार दृष्टि से एकत्व-अनुप्रेक्षा (भावना) का चिन्तन, निर्द्वन्द्व अकेलेपन के सन्दर्भ में इस प्रकार दिया गया है—

एक्को करेदि कम्मं, एक्को हिंडदि य दीहसंसारे।
एक्को जायदि मरदि य, तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥[1]

व्यवहारदृष्टि से यह आत्मा (जीव) अकेला ही शुभ-अशुभ कर्म बांधता है, और उन शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप अकेला ही इस दीर्घ संसाररूपी अटवी में भटकता है। अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है। तथा अकेला ही कृतकर्मों का फल भोगता है।

सद्भूत-व्यवहारदृष्टि से आत्मा अकेला ही बार-बार जन्म, जरा, मृत्यु आदि के रूप में दुःखों का अनुभव करता है। इस दुःखरूप फल के लिए एकमात्र आत्मा ही जिम्मेवार है। व्यवहार कर्मोदय से प्राप्त और अपने माने हुए स्वजन या परजन जन्म-जरा-मरणादि दुःखों को दूर करने में असमर्थ हैं। इसलिए असद्भूत व्यवहारदृष्टि से कर्मोदयवशात् जो भी सजीव (स्वजनादि), निर्जीव (शरीर, धन आदि) प्राप्त हैं, वे आत्मा से बाह्य हैं। साधारण व्यक्ति व्यवहार के नाते कह देता है—मैं अकेला नहीं, मेरा परिवार, गण, संघ आदि मेरे साथ हैं, परन्तु निश्चय के धरातल पर तत्त्वज्ञ पुरुष यही मानता है—यथार्थ रूप से मैं तो अकेला ही हूँ। मेरी आत्मा के सिवाय मेरा अपना कोई नहीं है। इसीलिए आचार्य 'अमितगति सूरि' ने स्पष्ट कह दिया है—

"बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ताः, न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः।"[2]

आत्मा के अतिरिक्त जितने भी सजीव-निर्जीव बाह्य पदार्थ हैं वे सब तेरे अपने (आत्मा के) नहीं हैं, वे शाश्वत नहीं हैं, अनित्य हैं, जबकि आत्मा शाश्वत (नित्य) है, तथा वे कर्मोदय से प्राप्त हैं। जब व्यक्ति व्यवहार को

---

१. बारस अणुवेक्खा गा. १४।

२. सामायिकपाठ श्लोक. २६—

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मलः साधिगम-स्वभावः।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ताः, न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥

ही पूर्णतः यथार्थ मानकर चलता है, तब व्यक्ति को इष्टवियोग एवं अनिष्ट-संयोग की स्थिति में दुःख, क्लेश, राग-द्वेष, मोह-द्रोह आदि द्वन्द्व घेर लेते हैं। उसकी मानसिक शान्ति भंग हो जाती है, वह आर्त्तध्यान, शोक, चिन्ता, भय, शंका आदि में डूब जाता है, उसकी नींद हराम हो जाती है।

आशय यह है कि व्यवहार के धरातल पर कर्मोदय प्राप्त सजीव निर्जीव पदार्थों के साथ जो मेरेपन का बोध है, उसे असत्य माने, सत्य नहीं। अन्तर् में उन्हें आत्म-बाह्य—अपने से भिन्न, केवल संयोग मात्र से प्राप्त जाने। निश्चयदृष्टि से अन्तिम सत्य के रूप में इस प्रकार अकेलेपन का अनुभव करे—

एक्कोऽहं णिम्ममो सुद्धो णाण-दंसण-लक्खणो।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं चिंतेह सव्वदा॥[1]

मैं (आत्मा) अकेला हूँ, ममत्वरहित हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञान-दर्शनस्वरूप हूँ। इस प्रकार का शुद्ध एकत्व—'अकेलापन' ही उपादेय है; यों सदैव चिन्तन करना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि कर्मोदयवश व्यवहारदृष्टि से संयोगप्राप्त शरीरादि, परिवार, गण, संघ आदि के साथ रहता हुआ तथा उनके प्रति कर्त्तव्यों एवं दायित्वों का पालन करता हुआ भी उनके प्रति मोह, ममत्व, आसक्ति आदि से रहित हो, विरक्त एवं अनासक्त रहे। और अन्तर में निश्चयदृष्टि की अनुभूति का दीपक सदैव तीव्रभाव से सतत प्रज्वलित रखे कि—मैं अकेला हूँ, शरीरादि या परिवारादि मेरे अपने कोई नहीं हैं, न मैं किसी का हूँ। जैसा कि भगवान् महावीर ने आचारांगसूत्र में कहा है—

"एगो अहमंसि, न मे अत्थि कोइ, न वा अहमवि कस्सइ।
एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणिज्जा।
लाघवियं आगममाणे, तवे से अभिसमन्नागए भवइ।"[2]

अकेलेपन (एकत्व) का साधक समूह (अपने गुरु, आचार्य, संघ या साथी साधुवर्ग) के साथ रहता हुआ भी यह विचार करे कि मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है, (जितने भी हैं, वे सब कर्मोपाधिक संयोगजन्य हैं) मैं भी

---

१ बारस अणुवेक्खा गा. १३

२ आचारांगसूत्र श्रु. १ अ. ८ उ. ६

किसी (पर) का नहीं हूँ। इस प्रकार वह स्वयं (अपनी आत्मा) को सम्यक् रूप से अकेला अनुभव करे, जाने। ऐसा साधक लाघवता (हलका-फुलकापन) अनुभव करता है, उसे सहज तप (निर्जरा) का लाभ प्राप्त होता है।

इस प्रकार की मनःस्थिति हो जाने पर व्यक्ति (गृहस्थ हो या साधु) चाहे बूढ़ा हो जाए, विपन्न अवस्था में पड़ जाए, या शरीर, परिवार, गण आदि से उपेक्षित या त्यक्त हो जाए, तब भी उसे कोई दुःख, क्लेश, या कष्ट महसूस नहीं होता। वह प्रसन्नतापूर्वक आत्मलीन होकर जीता है।

निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से जब व्यक्ति इस प्रकार की एकत्व भावना का अभ्यास परिपक्व कर लेता है, तब वह अप्रमत्त, आत्मावलम्बी, सहायरहित, स्वाश्रयी एवं निश्चिन्त होकर अपने जीवन को परम ध्येय—मोक्ष—परमात्मपद की ओर द्रुतगति से ले जाता है।

दोनों दृष्टियों से अकेलेपन का परम लाभ

निश्चय और व्यवहारदृष्टि से जब इस प्रकार के अकेलेपन का अभ्यास और अनुभव परिपक्व हो जाता है, तब व्यक्ति स्वाश्रयी, स्वावलम्बी, परनिरपेक्ष हो जाता है। उसे किसी दूसरे के सहयोग या सहायता की अपेक्षा नहीं रहती। अकेलेपन का अभ्यास कर लेने पर दूसरे से संघर्ष, कलह, मनमुटाव, ईर्ष्या, भय, तू-तू, मैं-मैं आदि से होने वाले कर्मबन्धनों से बहुत अंशों में बच जाता है। इसी आध्यात्मिक दृष्टि से सहायता निरपेक्ष अकेलेपन के विषय में गौतम गणधर के एक प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने बहुत ही सुन्दर समाधान दिया है—

प्रश्न—"सहाय-पच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयई ?"

उत्तर—"सहायपच्चक्खाणेणं एगीभावं जणयइ। एगीभाव-भूए वि य णं जीवे एगत्तं भावेमाणे अप्पसद्दे, अप्पकलहे, अप्पकसाए, अप्पतुमंतुमे, संजमबहुले, संवरबहुले समाहिए यावि भवइ।[1]

भावार्थ यह है—

प्रश्न—भगवन् ! संघ, परिवार, गण, सम्प्रदाय, पंथ आदि से सहायता लेने का प्रत्याख्यान (त्याग) करने से जीव (साधक) को क्या फल प्राप्त होता है ?

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ. २९/४० वाँ बोल

उत्तर—सहाय प्रत्याख्यान से एकीभाव (आत्मा के साथ एकत्व) को प्राप्त होता है। एकीभावभूत हो जाने (एकमात्र आत्मा का अवलम्बन लेने) पर साधक को बहुत ही कम बोलना होता है, वाक्कलह एवं कषाय-नोकषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ, अहंकार, हास्य, आसक्ति, ईर्ष्या घृणा, आदि) बहुत ही कम हो जाते हैं, तू-तू मैं-मैं नहीं होती, व्यर्थ बोलना एवं बकवास बंद हो जाता है। मन, वचन और काया पर बहुत संयम-नियंत्रण हो जाता है, अहिंसा आदि संवर प्रचुर मात्रा में जीवन में आ जाते हैं और वह साधक आत्मसमाधिस्थ एवं आत्म-सन्तुष्ट भी हो जाता है।

यह है व्यवहार और निश्चयदृष्टि से अकेलेपन का परम लाभ। यदि दीर्घ-दृष्टि से विधेयात्मक ढंग से सोचा जाए तो अकेलापन जीवन में महत्वपूर्ण क्रान्ति ला सकता है। एकत्वभाव साकार होने पर व्यक्ति अपने सामने नितान्त निज के रूप में होता है और यह अनुभव परिपक्व हो जाता है कि अकेलापन ही सत्य है। सब ओर के आश्रय, अवलम्बन, या परनिर्भरत्व दूर हो जाते हैं, तब व्यक्ति को अपने मन, वचन, तन एवं इन्द्रियों की वास्तविक शक्तियों (जो कि आत्मशक्ति से अनुप्राणित है) का यथार्थ अनुभव होता है और वह निज (आत्मा) के बल को ही अन्तिम तथा शाश्वत मान कर पूर्णतया आत्मावलम्बी बन सकता है।

नमिराजर्षि को एकत्व की अनुप्रेक्षा से मानसिक शान्ति

नमि राजर्षि ने इसी आत्मावलम्बी अकेलेपन का अनुप्रेक्षण किया था और अनेकों के अवलम्बन, पराश्रय, मोह एवं ममत्व के जाल से सर्वथा मुक्त हो गये थे। दाहज्वर से पीड़ित नमिराजर्षि रुग्णशय्या पर पड़े-पड़े छटपटा रहे थे। वैद्य के परामर्शानुसार रानियाँ उनके शरीर पर लेप लगाने के लिए चन्दन घिस रही थीं। चन्दन घिसते समय उनके हाथों में पहनी हुई चूड़ियाँ खनक रही थीं। यह आवाज भी नमिराजर्षि को असह्य पीड़ा पहुँचा रही थी। अतः रानियाँ अपने हाथ में सौभाग्य चिह्न स्वरूप एक-एक चूड़ी रखकर चन्दन घिसने लगीं, इससे जो शोर होता था, वह बन्द हो गया। जिससे राजर्षि को मानसिक शान्ति मिली। उन्होंने पूछा—'क्या चन्दन घिसना बन्द हो गया ?' उत्तर मिला—चन्दन तो घिसा जा रहा है, लेकिन अनेक चूड़ियों के घर्षण से जो शोर होता था, वह बन्द हो गया, हाथों में केवल एक-एक चूड़ी होने से। नमिराजर्षि के मस्तिष्क में चिन्तन की बिजली कौंधी—"अनेक से घर्षण-संघर्ष होता है, एक से नहीं। एकत्व

ही शान्ति, सन्तोष, समाधि और आनन्द का कारण है।" बस, सूर्योदय होते ही वे अपना राज्य, वैभव, परिवार और अन्तःपुर आदि सबका आलम्बन छोड़कर एकमात्र आत्मावलम्बी—एकाकी बन गये, द्रव्य से और भाव से भी। भाव से भी राग, द्वेष, कषाय, नोकषाय आदि सबको छोड़ने का संकल्प कर लिया।[1]

निर्द्वन्द्व अकेलेपन से आध्यात्मिक शान्ति में वृद्धि

स्वामी विवेकानन्द ने कहा था--'महापुरुष सर्वाधिक शक्तिमान तभी होते हैं, जब वे अकेले खड़े होते हैं।' ईसामसीह का अकेलापन ही सर्वाधिक शक्तिशाली रहा। अन्तिम समय में जब वे क्रूस पर लटकाये गये थे, तब उनमें अद्भुत आत्मशक्ति आ गई। वे एकाकी होकर परम आनन्द की अनुभूति करते हुए दिवंगत हो गये। जीवन भर के कार्यों की अपेक्षा क्रूस पर लटकते समय का एकाकीपन उन्हें अमर बनाने में समर्थ रहा। तथागत बुद्ध से किसी ने पूछा—"आप प्रतिदिन धर्मोपदेश करते हैं, फिर भी सब लोग आपकी बात नहीं मानते। आपके शिष्यों की संख्या भी नगण्य है, क्या आपके मन में ग्लानि नहीं होती?" उन्होंने उत्तर दिया—"न माने कोई मेरी बात और न बने कोई मेरा शिष्य या अनुयायी। मेरे आत्मसन्तोष के लिए इतना ही पर्याप्त है कि मैं आत्मावलम्बी पर-निरपेक्ष एकाकी बनकर ही अपने कर्तव्य का पालन कर रहा हूँ।"

सार्थक अकेलापन : भाव से और आत्मिक दृष्टि से ही

अकेले होने का अर्थ यहीं तक सीमित नहीं है कि व्यक्ति के आस-पास कोई न हो। उसके आस-पास दूसरा व्यक्ति या प्राणी नहीं होगा, तब भी उसका शरीर, मन, इन्द्रियाँ, अंगोपांग, तथा अन्य रागद्वेषादिभाव, या आवश्यक साधन—सामग्री, उपकरण आदि तो होते ही हैं। इसलिए केवल द्रव्यात्मक रूप से अकेला होना ही अकेलापन नहीं है। अकेलापन भावात्मक दृष्टि से विश्लेषणपूर्वक हो, तभी वह सार्थक और आध्यात्मिक विकास में सहायक हो सकता है।

द्रव्यदृष्टि से सिर्फ शरीर से अकेलापन : बाधक भी, साधक भी

कई बार द्रव्यदृष्टि से व्यक्ति शरीर से अकेला होने पर अनेक

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन ९ वां नमिपवज्जा

खुराफातें भी कर बैठता है। अकेले में व्यक्ति अनेक कुविचार, दुर्ध्यान करता है, दूसरों को मारने, सताने, अपहरण करने, चोरी और लूटपाट करने तथा परधन हड़पने की योजना बनाता है। इसीलिए योगी अरविन्द ने कहा था—"महत्वपूर्ण यह नहीं है कि आप अकेले हैं। महत्वपूर्ण यही है कि आप अकेलेपन का आत्ममन्थनपूर्वक सही उपयोग करते हैं, या सिर्फ शरीर से अकेले होकर दुष्टता करते हैं। अकेले होकर आप दुष्टता की सीमा तक भी जा सकते हैं और महानता के शिखर को भी छू सकते हैं।"

अकेलेपन का सदुपयोग

इसलिए द्रव्यदृष्टि से अकेले होने पर भी उसके साथ सही अर्थ का चिन्तन किया जाये तो अकेलापन सदुपयोग करने की शक्ति प्रदान करता है। योगी अरविन्द को अलीपुर जेल की कोठरी में अकेले रखा गया था। उन्होंने अकेलेपन का उपयोग अपने आत्मविकास में तथा योगाभ्यास में किया। अकेलेपन में उन्हें कई आध्यात्मिक अनुभूतियाँ भी हुई थीं। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने राजनैतिक कारावास के दौरान अकेलेपन में 'विश्व इतिहास का झलक' तथा 'हिन्दुस्तान की कहानी' नामक पुस्तकें लिखीं। राजनेता लोकमान्य तिलक ने मांडले जेल में रहते हुए गीता पर कर्मयोग की दृष्टि से 'गीता-रहस्य' नामक ग्रन्थ लिखा। इसी प्रकार कितने ही राजनैतिक कैदियों ने जेल में एकाकीपन का अनुभव ही नहीं किया, बल्कि उसका महत्वपूर्ण कार्यों में सदुपयोग भी किया। एकाकी रहकर कई व्यक्तियों ने बौद्धिक, आध्यात्मिक, भावात्मक और शारीरिक प्रगति की। कई लोगों ने अपना आत्मबल बढ़ाया। इसीलिए सेंटजोन ने अकेलेपन की व्याख्या इस प्रकार की है—'यह मत समझो कि तुम ही अकेले हो। फ्रांस अकेला है, पृथ्वी अकेली है, चन्द्रमा अकेला है, सूर्य अकेला है, यहाँ तक कि ईश्वर (सिद्ध-बुद्ध मुक्त) भी अकेले हैं। मेरा अकेलापन इन सबकी तुलना में है भी क्या ?"

भगवती सूत्र में एक संक्षिप्त संवाद है—सोमिल और भगवान् महावीर का। सोमिल ने भगवान् महावीर से पूछा—"भगवन् ! आप अकेले हैं या दो हैं ?" उन्होंने अनेकान्त दृष्टि से उत्तर दिया—'मैं अकेला भी हूँ, दो भी। निश्चय दृष्टि से तो मैं अकेला हूँ। ज्ञान और दर्शन की दृष्टि से मैं दो हूँ।"

महान् शोधकार्य : एकाकी रहकर ही

संगीत, साहित्य, शिल्प, कला आदि किसी भी क्षेत्र में जो महान् कलाकृतियों का सृजन हुआ है, उसके इतिहास को खोजने से मालूम होगा कि इन सब विशिष्ट कृतियों के सृजनकाल में उनके स्रष्टा उनमें एकरस तन्मय होकर डूब जाते थे। महान आविष्कारकों एवं वैज्ञानिकों ने अपने चित्त में अन्य किसी भी विषय को प्रविष्ट नहीं होने दिया और वे एकान्त, शान्त, नीरव स्थान में रहकर अपने शोध या आविष्कार में इतने तल्लीन हो जाते थे, कि खाना-पीना तक भूल जाते थे। वे अपनी कृति में इतने खो जाते थे कि उन्हें पता ही नहीं चलता कि कौन उनके पास बैठा है, कौन उनसे मिलने आया है? इसी प्रकार आध्यात्मिक उत्थान के हेतु प्रबल पुरुषार्थ के लिए उत्कण्ठित साधक भी अन्य सर्वकामनाओं, इच्छाओं तथा समस्याओं की ओर पीठ करके, तथा जनसम्पर्क से पृथक् रहकर अकेला एकमात्र अपनी आत्मसाधना में तन्मय होता है तभी वह उच्च आध्यात्मिक भूमिकाओं को छू सकता है। तन्मयता के बिना कोई भी महान् कार्य निष्पन्न नहीं हो सकता और तन्मयता वैज्ञानिक आदि के समान एकाकी रहकर एकाग्र भाव से कार्य करने से आती है।

अन्तर् से अकेला ही वास्तव में अकेला

अकेलेपन का यह अर्थ है कि व्यक्ति शारीरिक रूप से अकेला हो किन्तु अकेलापन ऐसी एक अवस्था है, जिसमें व्यक्ति को दूसरे किसी भी व्यक्ति की उपस्थिति का आभास, अनुभव या अपेक्षा न हो। योगी अरविन्द ने इसी एकाकीपन को आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक माना है। अतः एकान्तरूप से यह अनिवार्य नहीं है कि व्यक्ति तभी अकेला हो सकता है, जब दूसरों का साथ—साहचर्य या संगत न हो। समूह में रहते हुए भी अकेलेपन का अनुभव किया जा सकता है। अकेलेपन का अनुभव करने पर व्यक्ति को पद-पद पर मन में विषाद, दुःख, भय, आशंका आदि का ज्वार नहीं आता। अनुकूल-प्रतिकूल, प्रिय-अप्रिय, इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग आदि द्वन्द्वों के समय उसे जरा भी दुःख महसूस नहीं होता। ऐसी स्थिति में बाहर से अकेला होता हुआ भी जो व्यक्ति अन्तर् से नाना कामनाओं की भीड़ से घिरा रहता है, वह सच्चा एकाकी साधक नहीं है। बाह्य सम्बन्ध को सच्चा एकाकी साधक कर्म-संयोगज सम्बन्ध मानता है। जैसाकि सामायिक पाठ में एकत्व साधना का फलितार्थ बताया है—

"यस्यास्ति नैक्यं वपुषाऽपि सार्धं, तस्यास्ति किं पुत्र-कलत्र-मित्रैः ।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ।।"[1]

अर्थात्—"जिसका अपने शरीर से भी एकत्व नहीं है, भला उस आत्मा का पुत्र, स्त्री और मित्र आदि के साथ एकत्व सम्बन्ध ही कैसे हो सकता है ? जैसे शरीर पर से चमड़ी उधेड़कर अलग कर दी जाये तो उसमें रोमकूप कथमपि नहीं ठहरते, वैसे ही आत्मा जब शरीर को छोड़कर अलग हो जाता है, तब शरीर को लेकर टिकने वाले ये (उपर्युक्त) सम्बन्ध भी कैसे टिक सकते हैं ? वस्तुतः ये कर्म-संयोगज सम्बन्ध भी उसी के साथ समाप्त हो जाता है।"

संयोग सम्बन्ध रहते हुए भी अन्तर् से अकेला रहे

यद्यपि शरीर है, वहाँ तक ये बाह्य संयोगज सम्बन्ध तो रहेंगे ही। गृहस्थ के लिए परिवार आदि के साथ सम्बन्धों को सर्वथा तोड़ा नहीं जा सकता, इसी प्रकार साधु भी धर्मसंघ, सम्प्रदाय, गच्छ या पंथ के साथ सम्बन्ध को तोड़ नहीं सकता, परन्तु अन्तर् में उस सम्बन्ध को वह औपचारिक, संयोगज ही मानता है। वैसे ही गृहस्थ साधक को भी भीतर से एकाकी बनने का विधान है। जैसा कि 'बृहदालोयणा' में कहा गया है—

रे रे समदृष्टि जीवड़ा ! करे कुटुम्ब—प्रतिपाल ।
अन्तर से न्यारो रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल ।।[2]

भावार्थ स्पष्ट है। भीतर से जब समाज, परिवार, राष्ट्र, धर्मसंघ, सम्प्रदाय आदि से सम्बन्ध छूट जाते हैं तो बाहर के सारे सम्बन्ध छूट गये, समझ लीजिए। साधु, अनगार, श्रमण जब पंचमहाव्रत, समत्व आदि की साधना प्रारम्भ करता है, तब उसे सर्वप्रथम, संयोग (पूर्वकृत संयोग) से मुक्त होने का निर्देश किया है—

संजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो ।[3]

कोई भिक्षु घरबार छोड़कर अनगार या श्रमण बना तो सारे बाह्य सम्बन्धों से मुक्त हो गया। बाहर से तो माता, पिता, कुटुम्ब,परिवार आदि

---

१. सामायिक पाठ श्लोक २७ (आचार्य अमितिगति)।
२. श्रावक रणजीतसिंह जी कृत बृहदालोयणा
३. उत्तराध्ययन सूत्र अ० १ गा० १

वे के वे ही हैं, किन्तु उनके साथ जो मोहादिजनित सम्बन्ध थे, वे सब छूट गये। अनगार बनने के बाद साधुवर्ग भी सम्बन्धों को पूरी तरह छोड़ नहीं सकता। उसे संघ, आचार्य या साथी साधुओं आदि के साथ सम्बन्ध जोड़ना पड़ता है, केवल संयमयात्रा निराबाध रूप से हो सके, इसके लिए वह अन्तर् से एकाकी होता तथा मानता हुआ भी बाहर से व्यवहार-दृष्टि से संघ, आचार्य, गुरु या साथी साधुओं के साथ सम्बन्ध रखता है, केवल लोक व्यवहार में पहचान की और संयमपालन के प्रयोजन की दृष्टि से।

अकेलापन कब साधक, कब बाधक

यदि बाह्य व्यवहार दृष्टि से, संघादि के साथ सम्बन्ध रखने में उसकी संयम यात्रा में बाधा पड़ती हो, शिथिलता आती हो, अथवा कषाय, राग-द्वेष, काम, मोह आदि भड़कते हों, उनसे कर्मबन्ध होते हों तो ऐसी स्थिति में शास्त्र में उनके साथ बाह्य सम्बन्धों को तोड़कर एकाकी विचरण करने का भी विधान है जैसे कि उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

न वा लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
एक्कोवि पावाइं विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥[1]

"अगर साधक को गुणों में अपने से अधिक अथवा गुणों में सम निपुण सहायक (साथी) न मिले तो पापकर्मों से दूर रहकर तथा काम-भोगों से अनासक्त रहता हुआ अकेला ही विचरण करे।

परन्तु यह ध्यान रहे कि अकेला विचरण करने का साहस वही करे, जो एकाकी रहकर भी अपना संयम-पालन दृढ़ता से कर सकता हो, महाव्रतों और समिति-गुप्ति, तप-संयम आदि का निरतिचार रूप से पालन कर सकता हो, भयों और प्रलोभनों से विचलित न होता हो, परीषहों से हट कर सुख-सुविधा का मार्ग न अपनाता हो, उपसर्गों से पराजित होकर संयम से भ्रष्ट न होता हो। कामभोगों में जरा भी आसक्त न होता हो, पापकर्मों से सदैव दूर रहता हो।

गार्ग्याचार्य ने जब देखा कि मैंने जिन शिष्यों को अपनी संयमयात्रा में सहायक माना था, और उनको स्व-परकल्याण के लिए मुनि दीक्षा दी थी, वे आज अविनीत, स्वच्छन्दाचारी, संयम और तप से भ्रष्ट हो रहे हैं,

---

१ उत्तराध्ययन. अ. ३२ गा. ५

मनमानी कर रहे हैं, तब उन्होंने पहले तो उन्हें समझा-बुझा कर सत्पथ पर लाने का प्रयास किया। कठोर शब्दों में उपालम्भ भी दिया, कोमल शब्दों से उन्होंने उन्हें सिद्धान्त और सत्य समझाया फिर भी वे जब न माने तो कषाय, उत्तेजना, संघर्ष, कलह एवं कर्मबन्ध से बचने एवं आत्मसमाधि पाने हेतु वे उन सबको छोड़ कर एकाकी हो गए।[1]

किन्तु स्वच्छन्दाचार या अनाचारयुक्त प्रवृत्ति या सुख-सुविधा, पद-प्रतिष्ठा, भय-प्रलोभन आदि के वश होकर एकाकी विचरण करने का भगवान ने सर्वथा निषेध किया है।

ये अकेलेपन के लिए अयोग्य

इसी प्रकार जो साधक अभी अपरिपक्व है, गीतार्थ नहीं है, जिसने ग्रहण-शिक्षा और आसेवन-शिक्षा प्राप्त नहीं की है, जो अभी स्व-पर-सिद्धान्तों का, व्यवहार-निश्चय का, उत्सर्ग-अपवाद का, छेदसूत्रों का विज्ञाता नहीं है, वह एकाकी विचरण करने के योग्य नहीं है।

यही कारण है कि ऐसे साधक को एकाकी विचरण न करके आचार्य, गुरु, श्रुत-स्थविर एवं गीतार्थ के निश्राय में विचरण करने का विधान किया गया है। कारण यह है कि जो अभी अपरिपक्व साधक है, नवदीक्षित है या अगीतार्थ है, उसको अपनी भूल, गलती या संयम में अतिचार [दोष] लगने पर कौन सुझाएगा? अगर एकाकी हो जाएगा तो कौन उसे यथार्थ मार्ग-दर्शन करेगा, कौन उसे सैद्धांतिक ज्ञान, शास्त्रीय ज्ञान देगा? ऐसा अपरिपक्व व्यक्ति या तो एकाकी रहकर अर्हन्नक मुनिवर की तरह संयमभ्रष्ट हो जाता है, या गलत अथवा मनमानी राह पकड़ लेता है, सुख-सुविधाओं वाले मार्ग पर चल पड़ता है, फिर उसी को पूर्वाग्रहवश सत्य मान लेता है। इसीलिए स्थानांग सूत्र में धर्माचरण करने वाले साधुवर्ग या श्रावकवर्ग के लिए पाँच निश्राय (आधार) बताये गए हैं—षट्कायिक जीव, गण, शासक, गृहपति और धर्माचार्य[2]। इन पाँचों के बाह्य आलम्बन से गृहस्थ साधक या त्यागी साधक का धर्माचरण शुद्ध रूप से हो सकता है।

---

१ उत्तराध्ययन, अ. २७ वाँ (खलुंकीय)

२ स्था० ५.....
धम्मस्स णं चरमाणस्स पंचठाणा निस्सिया पण्णत्ता,
छक्काया, गणे, राया, गाहावई, धम्मायरिए।

अकेलेपन की सतत् स्मृति रहे

सम्प्रदाय, गच्छ, पंथ या संघ में रहते हुए भी उक्त साधक को अकेलेपन की सतत् स्मृति और जागृति रहनी चाहिए। इसके लिए साम्प्रदायिकता, बाड़ाबन्दी, पंथवाद, भीड़तन्त्र, प्रदर्शन, गृहस्थवर्ग के अतिसंपर्क, अतिपरिचय आदि से भी दूर रहना आवश्यक है। गुरुजनों, आचार्य आदि पूज्यों एवं साथी साधुओं के साथ भी उसे मोह सम्बन्ध न रखकर मात्र संयोगज सम्बन्ध मानना चाहिए। उनकी सेवा, कर्तव्यों एवं दायित्व से तथा अपनी मर्यादा से विमुख नहीं होना चाहिए। उसे अन्तर में यह दृढ़ निश्चय हो जाना चाहिए कि यह सम्पर्क या सम्बन्ध तो केवल संयमपालन में परस्पर सहायक होने के लिए है, निश्चय में तो संयोग से विप्रमुक्त होना ही भाव से एकाकी होना तथा साहचर्य से निरपेक्ष होना ही उसका चरम लक्ष्य है। तभी वह एकत्वभाव की अनुभूति से सम्पन्न होगा, अपनी मस्ती में रहेगा, अपनी साधना में ही तन्मय और एकाग्र रह सकेगा।

अन्तर् से अकेलेपन का अभ्यास

गहराई से सोचा जाए तो संघ, आचार्य, गुरु या साथी साधुवर्ग का आश्रय तो संयम में जागरूकता एवं सतर्कता के लिए है. बाकी तो संयम, तप या सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय के यथार्थ धर्माचरण, परीषह विजय, कषाय विजय, प्रतिक्रमणादि आवश्यक साधना, इन्द्रिय-विषयों के प्रति अनासक्ति आदि की समस्त साधनाओं तथा उपासनाओं में साधुवर्ग को या गृहस्थ साधक वर्ग को अकेले ही रहना पड़ता है, तभी वह भाव से अकेलेपन का मनोवांछित सदुपयोग तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप का सम्यक् विकास भी कर सकता है।

संघ आदि से सम्पर्क रखता हुआ भी जो साधक अन्तर से स्वयं को एकाकी समझता है, एकत्वभावना का रहस्य और लाभ भलीभाँति जान लेता है। वह स्वयं का और दूसरे का स्वतंत्र एवं पृथक अस्तित्व मानता है। जैसा मेरा अस्तित्व है, वैसा ही दूसरे का भी अस्तित्व है। मेरी स्वतंत्र चेतना है तो उसकी भी स्वतंत्र चेतना है। इस प्रकार एकत्व के चिन्तन से अगर किसी समय दूसरा किसी कार्य में सहयोग, सहायता, या स्व-संकेतानुसार आचरण या कार्य नहीं करता है, तो उसे उत्तराध्ययन सूत्र में प्रतिपादित[1] 'इच्छाकार-समाचारी' के अनुसार कोई रोष, द्वेष, ईर्ष्या या घृणा

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ. २६ गा. ६

नहीं होती। उसकी इच्छा की बात है, वह सहयोग करे, या न करे। उसकी इच्छा है, वह मेरी इच्छानुसार कार्य करे या न करे, मुझे आदर दे या न दे। इसी प्रकार की चिन्तन क्षमता और तितिक्षा भाव एकाकी साधक में आ जाता है। वह सोचता है—वह अपनी आत्मा का मालिक है, मैं अपनी आत्मा का हूँ। मैं अपने आपको सुधार सकता हूँ, अपने आपको मोक्ष के रत्नत्रय पथ पर चलाने का अधिकारी हूँ। दूसरे को सुधारने अथवा सुपथ पर चलाने का दावेदार मैं नहीं हूँ। तीर्थंकर भगवान् भी किसी को बलात् न तो सुधार सकते हैं, और न ही सुपथ पर चला सकते हैं।[1] यही 'एगोऽहमंसि' (मैं अकेला हूँ) सूत्र का रहस्य है।

इस प्रकार अन्तर् से एकत्व की अनुभूति करने वाला साधक कदाचित् साथी साधु, गुरु या आचार्य का वियोग होने पर द्रव्य से अकेला होने पर भी मोहवश आर्त्तध्यान नहीं करता, दुःखी नहीं होता। ऐसे अकेलेपन में उसे जंगल में कभी हिंस्र पशुओं से वास्ता पड़ जाए तो भी वह आत्मैकत्व भावना से ओतप्रोत होकर भयभीत नहीं होता। जैसा कि अपूर्व अवसर में श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं—

एकाकी विचरतो वली श्मशानमां।
वली पर्वतमां वाघ, सिंह-संयोग जो।
अडोल आसन ने, मनमां नहिं क्षोभता
परममित्रनो जाणे पाम्या योग जो॥ अपूर्व अवसर० ॥११॥[2]

निर्द्वन्द्व अकेलापन : विरोधी को भी अनुकूल

सचमुच आत्मिक दृष्टि से एकाकीपन व्यक्ति को शक्तियों का पुंज बना देता है। एकाकी होने पर व्यक्ति में निर्भयता, निर्द्वन्द्वता, आत्मैकत्वभावना आदि शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं।

निर्द्वन्द्व अकेलेपन में व्यक्ति इतनी उच्च भूमिका पर आरूढ़ हो जाता है कि वह कैसे भी अनिष्ट या प्रतिकूल संयोगों, अथवा इष्ट-वियोगों के समय घबराता नहीं। वह यही चिन्तन करता है कि मेरी शुद्ध आत्मा ही तो परमात्मा के समान अनन्त शक्तिमान है, मुझे किससे डर है?

---

१ आचारांग श्रु. १ अ. ८ उ. ६
२ सिद्धि के सोपान गा. ११

सिंहादि हिंस्र पशुओं में भी शुद्ध रूप में वही आत्मा है। आत्मा में विकार न हो या सरलता हो तो उसको मनोवृत्ति या आन्तरिक भावना की छाप क्रूर आत्मा पर भी पड़ती है। कहा जाता है—सांप के जोड़े में से किसी एक को मार डालने पर उसकी आँख पर हत्यारे की आकृति प्रतिबिम्बित हो जाती है। इसी के सहारे वह क्रुद्ध नर सर्प या मादा सर्प हत्यारे को खोज लेता है, भले ही वह हजार कोस दूरी पर हो। इसी प्रकार निर्विकारी आत्मा, हिंस्र (विकारी) आत्मा के अन्तःकरण या मन पर अपनी छाप डाल देता है, अथवा उसकी शुद्ध मनोवृत्ति हिंस्र प्राणी के अन्तर पर प्रतिबिम्बित हो जाती है। इस कारण शुद्ध एकाकी आत्मा इतनी उच्च भूमिका पर आरूढ़ हो जाती है कि उसके समक्ष हिंस्र प्राणी विरोधी प्राणी के प्रति अपना हिंसकभाव भूलकर चुपचाप बैठ जाते हैं। यह शुद्ध अकेलेपन (एकाकी आत्मा) का प्रभाव है।

आत्मिक दृष्टि से एकाकी : परमात्मा का सहचर

दूसरे पहलू से देखें तो आत्मिक रूप से जो अकेला हो जाता है, वह स्वयं को परमात्मा (शुद्ध आत्मा) के निकट देखता है। वह अपने में परमात्मीय अस्तित्व का अनुभव करता है। अरविन्द आश्रम पांडीचेरी की माताजी ने कहा था—"कभी मत सोचो कि तुम अकेले हो। परमात्मा (ईश्वर) तुम्हारे साथ है। वह तुम्हारी सहायता और मार्गदर्शन कर रहा है। वह कभी साथ न छोड़ने वाला साथी है।" अतः आत्मिकरूप से एकाकी सदैव सर्वपरिस्थितियों में ऐसा चिन्तन करे कि मेरे भीतर, बाहर, सर्वत्र परमात्मा (शुद्ध आत्मा) का अस्तित्व है। परमात्मा को अपना शाश्वत सहचर और सखा, अथवा परम आप्त (विश्वस्त), और शरण्य माने। जैसा कि कल्याण मन्दिर स्तोत्र में कहा है—

त्वं नाथ ! दुःखिजन-वत्सल ! हे शरण्य !
कारुण्यपूर्ण वसते ! वशिनां वरेण्य !
भक्त्या नते मयि महेश ! दयां विधाय,
दुःखांकुरोद्दलन-तत्परतां विधेहि ॥[1]

अर्थात्—हे नाथ ! आप दुःखियों के वत्सल हैं, शरणागत, कारुण्यपूर्ण धाम हैं, जितेन्द्रियों में श्रेष्ठ हैं। हे महेश्वर ! मैं आपके प्रति भक्ति से

---

१ कल्याणमन्दिर स्तोत्र।

प्रणत हूँ। मुझ पर दया करके मेरे दुःख के अंकुरों का दलन करने हेतु, तत्परता करें।

सचमुच, सच्चे हृदय से परमात्मा को पुकारने पर साधक को अकेलापन महसूस नहीं होता।

द्वन्द्वरहित एकाकी की अर्हताएँ

भगवद्गीता में भी इसी निर्द्वन्द्व निरपेक्ष अकेले व्यक्ति की अर्हताओं का समर्थन किया गया है—

योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशोरपरिग्रहः॥[1]

"योगी के लिए यह उचित है कि वह किसी से किसी प्रकार की आशा-अपेक्षा रखे बिना, असंग्रही और चित्त और आत्मा को संयम में रखकर अकेला ही एकान्त स्थान में रहकर आत्मा को परमात्मा के ध्यान में जोड़े—लगाये।"

अकेलेपन का अनुभव जब परिपक्व और अभ्यासयुक्त हो जाता है तो उसे किसी भी परिस्थिति में दुःख, चिन्ता, निराशा, उद्विग्नता, आर्त्त-ध्यान या हर्ष, शोक, आदि नहीं होता, कोई प्रतिकूल घटना घटित होने से किसी प्रियजन के वियोग से, किसी के द्वारा चुभती अप्रिय एवं अपमान-, जनक बात कहने से, जरा-सी प्रतिकूलता या असुविधा के होने से मन जरा भी दुःख से नहीं भरता। चित्त चिन्ताग्रस्त, व्यग्र एवं व्याकुल नहीं होता, हृदय शोक और सन्ताप से युक्त नहीं होता। चिन्ता और उद्विग्नता से उसका मानस आक्रान्त नहीं होता। उसकी बुद्धि अनिश्चितता, संशय-ग्रस्तता और भय की भूतावलों से डाँवाडोल नहीं होती। विपदाओं,संकटों, परिषहों एवं मनुष्य-तिर्यंचकृत उपसर्गों-कष्टों से उसका धैर्य भंग नहीं होता। कष्टों और संकटों के अन्धड़ों से उसका मन ज्ञान-दर्शन-चारित्रमय सद्धर्म या आत्मधर्म के आग्नेयपथ से विचलित नहीं होता। इष्ट वियोग एवं अनिष्ट संयोग में उसका मन सहनशील और सम रहता है। इस प्रकार के अकेलेपन के सतत् अनुभव से साधक की आत्मशक्ति का अत्यधिक विकास हो जाता है। उसे किसी का सहारा ढूँढ़ने, आश्रय या आलम्बन लेने की आवश्यकता नहीं रहती। वह अकेला ही आत्म-साधना पथ पर चलता है।

---

१ भगवद्गीता अ. ६, श्लोक १०।

गुरुजनों का मार्गदर्शन और अनुशासन उसे प्राप्त होता है। वह अकेला ही अपनी पूर्वबद्ध कर्मग्रन्थियों को तोड़ता है और मुक्ति प्राप्त करता है। अतः निर्द्वन्द्व अकेलेपन का फलितार्थ हुआ—एकत्वभाव का सतत् अनुभव करना।

निर्द्वन्द्व एकत्वभाव का सतत अनुभव करने वाला व्यक्ति

सतत् एकत्वभाव का अनुभव करने वाला साधक इस चिन्ता या शंका से प्रायः सर्वथा विरत रहता है कि दूसरा व्यक्ति या अन्य साधक क्या करता है? अमुक व्यक्ति मेरा अहित, नुकसान या नाश कर देगा, अथवा मेरे भक्तों और अनुयायियों को भड़का देगा, या मेरे से आगे बढ़ जायेगा, अथवा अमुक सम्प्रदाय या पंथ का साधुवर्ग क्रियाकाण्ड में शिथिल है, मेरे सम्प्रदाय का साधुवर्ग उत्कृष्ट क्रिया पात्र है, इस प्रकार इन और ऐसी ही अन्य एक दूसरे की प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या, द्वन्द्व, क्लेश, संघर्ष, द्वेष, रोष, विवाद, कलह आदि से प्रायः निवृत्त, विरत, विरक्त और निश्चित रहता है।

वह एकमात्र अपनी ही आत्मा को टटोलता है, उसी का निरीक्षण-परीक्षण, अन्तःशोधन करता रहता है। किसी की निन्दा, चुगली, ईर्ष्या, विरोध, मात्सर्य आदि साम्प्रदायिक प्रपंचों से वह दूर रहता है। 'योगी चतुरसिंहजी' की अनुभवी वाणी के अनुसार, वह दूसरों की ओर नहीं देखता—

> कर कर वृथा थंथ दूजांरो, वेंडा वखत गमायो सारो।
> वी यूं कीधो, वी यूं कीधो, थें कांइ कीधो थारो ?[1]

दीपक की बत्ती की तरह निर्द्वन्द्व एकाकी बनो

चारों ओर सघन अन्धकार छाया हुआ है। उसमें दीपक की बत्ती अकेली जल रही है। वह यह नहीं सोचती कि मैं अकेली ही क्यों जलूं? दूसरी बत्तियाँ जलें या न जलें, अथवा दूसरे प्रकाशित करने वाले पदार्थ जलें या न जलें, मुझे इससे कोई मतलब नहीं। मेरा अपना धर्म है, स्वभाव है—जलना और पदार्थों को प्रकाशित करना, मुझे जो कार्य करना है, वह मैं कर रही हूँ। वस्तुतः दीपक की बत्ती को यह देखने का अवकाश

---

१ चतुरप्रकाश भा. १ से।

नहीं है कि कौन जल रहा है, कौन नहीं ? वह अपना कर्तव्य समझकर निरपेक्ष भाव से जल रही है। उसे दूसरों के साहचर्य की अपेक्षा नहीं है कि दूसरे जलें, तब मैं जलूं ? अथवा दूसरे बुझे पड़े हैं, वे नहीं जल रहे हैं तो मैं ही अकेली क्यों जलूं ? मेरे साथ ही दूसरी बत्तियाँ जलें, तभी मैं जलूं अथवा दूसरे मुझे जलने की प्रेरणा करें, तभी मैं जलूं, अन्यथा बुझी रहूं। दीपक की बत्ती ने देखादेखी करके जीना नहीं सीखा, वह अपने ही बल पर, अपने प्रकाशदान के एकाकी पौरुष के सामर्थ्य पर जीती है, जलती है। जैसे तिनके लहरों के पिछलग्गू बनकर प्रवाह में बह जाते हैं, इस प्रकार दीपक की बत्ती को किसी का पिछलग्गू बनकर चलना अच्छा नहीं लगता, न ही दूसरों को कायर बनते देख, उसे कायर बनना, प्रकाश देने से रुक जाना तथा अपना साहस खोना भी पसन्द है। साथ ही वह औरों को न तो उदासीन देखकर स्वयं प्रकाश देने या जलने से उदासीन होती है और न ही दूसरों को उफनते या एकदम भभकते देखकर वह उफनती या भभकती है। वह अपने लक्ष्यपूर्वक एकाग्रभाव से शान्त और निश्चल होकर एकाकी जलती रहती है। 'यह अकेली बत्ती क्या खाक अंधेरे को मिटायेगी ?' इस प्रकार की लोगों के द्वारा की गई आलोचना या निन्दा सुनकर अथवा प्रशंसा या प्रतिष्ठा न मिलने से वह जलना या प्रकाश देना बन्द नहीं करती। 'दुनिया क्या कहती है ?' इस पर उसकी दृष्टि ही नहीं है। दीपक की बत्ती की तरह निर्द्वन्द्व अकेलापन ही वास्तविक अकेलापन है। इसमें दूसरे के साहचर्य आदि की अपेक्षा नहीं है।

निर्द्वन्द्व अकेलेपन का अभ्यासी : अनुस्रोतगामी नहीं, प्रतिस्रोतगामी

बहुधा देखा जाता है कि कई लोग जनसमूह का अनुसरण करते हुए अनैतिक, अधार्मिक एवं हिंसाजनक कुकृत्यों को अपनाने में कोई संकोच नहीं करते। वे लोग मन के अति दुर्बल, साधना में पिछड़े हुए और अन्धविश्वासी या गतानुगतिक होते हैं। ऐसे लोग अनुस्रोतगामी होते हैं। जिधर भीड़ चल रही हो, उधर ही वे चल पड़ते हैं। सत्य-असत्य का, हानि-लाभ का, हेय-उपादेय का, अथवा विशुद्ध आत्मा की आवाज का वे कोई विवेक-विचार नहीं करते। किन्तु निर्द्वन्द्व अकेलेपन के पूर्वोक्त सूत्र को मानने वाला भीड़ का अनुसरण नहीं करता, वह प्रतिस्रोतगामी होता है। वह सत्य और शुद्ध आत्मा के स्वर के अनुकूल चलता है। इस प्रतिस्रोतगमन में बहुत कठिनाइयाँ आती हैं। कई बार कुरूढ़ि, अन्धविश्वास और युगबाह्य अहितकर मिथ्या परम्पराओं से ग्रस्त अनुस्रोतगामी लोग उसका विरोध करते हैं,

उसे बहिष्कृत भी कर देते हैं। वह अपनी बात लोगों को जरूर समझाता है, इसके बावजूद भी कोई उसके साथ आना न चाहे तो विश्व कवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर के निम्नोक्त उद्गारों के अनुसार वह अकेला ही चल पड़ता है—

"जोदि तोर डाक सुने, केऊ ना आसे,
तोबे तुमि एकला चलो रे !"[1]

इसका भावार्थ यह है कि यदि तुम्हारी पुकार सुनकर कोई भी न आये तो तुम अप्रतिबद्ध होकर अविचल कदम बढ़ाते हुए अकेले ही स्वीकृत पथ पर चल पड़ो। कदाचित् ऐसी परिस्थिति आ जाये और सभी तुम से विमुख हो जाएँ, दुर्भाग्य से कोई तुम से खुलकर बात भी न करना चाहे, सभी लोग कष्टों से डरकर साहस खो बैठें तब भी तुम अपने प्राणों को तिल-तिल करके उलीच कर राग-मुक्त हृदय से अकेले ही निर्भय होकर प्रसन्न मन से आगे बढ़ते जाओ। कदाचित् अँधेरी और तूफानी रात बनकर तुम्हारे पथ को रोकना चाहे, घर (संघ, या समाज, गच्छ, पन्थ या गण) के द्वार तेरे लिए बन्द हो जायें अथवा तेरे प्रतिस्रोतगमन के कारण तुझे पागल (उन्मादी या सनकी) समझ कर सभी, तुझे बीहड़ पथ पर छोड़कर भाग जायें, कोई मुड़कर भी तुझे न देखे, तब भी तू अपनी सर्वशक्ति लगा कर अकेला चलता रह।

आशय यह है कि भीड़तन्त्र की मनोवृत्ति वाले लोग कठिनाइयों से, बुराइयों से तथा कुरूढ़ियों से स्वयं को अलग रखने की स्थिति में नहीं होते। वे भीड़तन्त्र का अनुसरण करने वाले अनुस्रोतगामी होते हैं। अधिकांश लोग जिस प्रवाह में बहते चले जाते हैं, वह भी उसी प्रवाह में बहने लगता है। बेईमानी या तस्करी करने से कोई उसे रोकता है, तो वह कहता है—क्या मैं ही अकेला ऐसा कर रहा हूँ, सभी तो ऐसा कर रहे हैं। किसी गलत परम्परा या कुरूढ़ि-कुप्रथा को जानबूझ कर अनुसरण करता हुआ अनुस्रोतगामी कहता है—"तोर गति सो मोर गति", सबका जो कुछ होगा, वही मेरा होगा। इतने सब लोग तो इसी मार्ग पर चल रहे हैं, मैं ही अकेला अलग क्यों रहूँ ? किन्तु निर्द्वन्द्व अकेलेपन का अभ्यासी प्रतिस्रोतगामी बनकर अकेलेपन की व्यापक दृष्टि एवं परमार्थ को समझ कर अकेला ही चल पड़ता है।

---

१. गीतांजलि (रवीन्द्रनाथ ठाकुर) से

अकेलेपन में अन्तःकरण की पुकार सुनी जा सकती है

"महर्षि रमण ने अकेलेपन के अपने अनुभव लिखते हुए कहा है— जब मनुष्य अकेला होता है, उसके पास और आस-पास भी जब कोई नहीं होता, तब किसी भी पाप को करने में उसे जो भय लगता है, एक शंका रहती है, वह किसके कारण ? उसे बार-बार ऐसा क्यों लगता है कि कोई उसके पाप को देख रहा है ? क्यों उसका शरीर पूरे उत्साह से उस पाप कर्म में उत्साहित नहीं रहता ? और बाद में भी वह क्यों एक अपराधी की तरह मलिन रहता है ? क्या कभी कोई इस पर विचार करता है कि जब उसके पाप को कोई देखने वाला मौजूद नहीं, तब उसे भय किसका है ? वह किससे डर रहा है ? कौन अदृश्य शक्ति उसे ऐसा करने को निःशब्द रोकती और टोकती रहती है ? कौन उसके मन, प्राण और शरीर में कंपन उत्पन्न कर देता है ?

"निःसंन्देह यह उसका अपना अन्तःकरण है जो उसे उस पाप से हटाने के प्रयत्न में विविध प्रकार की शंकाओं, सन्देहों व कल्पनादि भय द्योतक अनुभवों से वैसा न करने के लिए संकेत करता रहता है। जो मनुष्य (अकेलेपन में होने वाले) अपने इस अन्तःकरण के संकेतों की उपेक्षा नहीं करता है, वह पाप कर्म से बच जाता है और जो मनुष्य उसकी अवहेलना करके वैसा करता है, उसका अन्तःकरण एक दिन उसकी गवाही देकर उसे दण्ड का भागी बनाता है। यह हो सकता है कि किसी का पापकर्म दुनिया से छिपा रहे; किन्तु उसके अपने अन्तःकरण से कदापि छिप नहीं सकता। वह उसकी एक-एक क्रिया और विचार का सबसे प्रबल और सच्चा साक्षी होता है। जब किसी कारणवश मनुष्य को अपने पाप का दण्ड किसी ओर से नहीं मिल पाता तो समय आने पर उसका अन्तःकरण स्वयं उसे दण्डित करता है। अतः हमारे लिए उचित यही है कि अन्तःकरण में विद्यमान परमात्मा (शुद्ध आत्मा) की आवाज (अकेलेपन में) सुनें और उसका अनुसरण करें।"

अकेलेपन से परमात्मा के सान्निध्य और उसकी आवाज सुनकर पापकर्म से सदैव बचने के लाभ से कौन वंचित रहना चाहेगा ?

ञ

४

एकाग्रता से परमात्मपदरूप लक्ष्य का वेध

गम्भीर ज्ञान के लिए एकाग्रता आवश्यक

संसार में उथली जानकारियाँ तो आँखों से देखकर अथवा अन्य इन्द्रियों के आध्यम से प्राप्त की जा सकती हैं। मगर किसी विषय में तल-स्पर्शी गम्भीर ज्ञान के लिए एकाग्रता की आवश्यकता है। गहराई में गोता लगाए बिना महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं होता। व्यापार का क्षेत्र हो, या साहित्य, शिक्षा, राजनीति, समाज सेवा, कृषि अथवा किसी भी कला या विद्या का क्षेत्र हो, पूर्ण सफलता तभी प्राप्त हो सकती है, जब मनुष्य अपनी सभी शक्तियों को उस क्षेत्र में एकाग्र करके जुट पड़े। कवि, दार्शनिक, साहित्यकार, नाट्यकार, शिल्पी, पदार्थविज्ञानी, रसायन-शास्त्री, या भूगोल-खगोलवेत्ता हों, अथवा अध्यात्म तत्व जिज्ञासु हों, या आत्मविद्या के अध्येता हों, सफलता के शिखरों पर तभी पहुँच सकते हैं, जब वे अपनी शक्ति को अपने मनोनीत विषय में केन्द्रित कर लें।

एकाग्रता के बिना आत्मशक्तियाँ जाग्रत नहीं हो सकतीं

आध्यात्मिक जीवन जीने वाले लोगों को तो सफलता प्राप्त करने के लिए उस विषय में गोताखोर की तरह गहरे गोते लगाने पड़ते हैं। एकाग्रता के बिना आत्मिक शक्तियाँ जागृत नहीं होतीं। और आत्मशक्तियाँ जागृत हुए बिना व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास हो नहीं सकता। विद्यार्थी यदि दत्तचित्त होकर अध्ययन न करे तो वह अपनी विद्या में पारंगत नहीं हो सकता। श्रोता यदि मनोयोगपूर्वक वक्ता की बात को न सुने या दर्शक

अन्यमनस्क होकर दृश्य को देखे तो उसके पल्ले कुछ भी न पड़ेगा। किसी भी व्यक्ति को, यहाँ तक कि साधु जीवन अंगीकार करने वालों को भी आध्यात्मिक साधना की किसी भी विधा में तथा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि आदि योग-साधनाओं में विशेषताएँ किसी बाह्य शक्ति या देवी-देवों के अथवा देव-गुरु आदि के वरदान या अनुग्रह से प्राप्त नहीं होतीं, एकाग्रता द्वारा स्वयं मनोयोगपूर्वक अभ्यास करने से ही ये प्राप्त होती हैं। विभिन्न कार्यकलापों में सफलता-असफलता के दूसरे कारणों की अपेक्षा, चित्त की एकाग्रता-अनेकाग्रता ही विशिष्ट कारण है। किसी महत्वपूर्ण निर्णय पर पहुँचने के लिए एकाग्रतापूर्वक चिंतन-मनन करना आवश्यक है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में सफलता : एकाग्रता से ही

एकाग्रता आत्मा को परमात्मा तक पहुँचाने की सरलतम, अभ्यास-साध्य और निश्चित फलदायिनी शक्ति है। इसकी महिमा और गरिमा जीवन के सभी क्षेत्रों में है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में तो एकाग्रता को पद-पद पर सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है। भावना, ध्यान,अनुप्रेक्षा, आत्म-चिन्तन, मनन, मनोनिग्रह, जप, स्मरण, स्तुति, प्रार्थना आदि सभी भावात्मक आध्यात्मिक साधनाओं का उद्देश्य एकाग्रता, तन्मयता, एकनिष्ठा, अनन्यश्रद्धा आदि की क्षमता उत्पन्न करना है। तन्मयता, केन्द्रीकरण, एकनिष्ठा, अनन्यश्रद्धा आदि एकाग्रता के ही रूप हैं। ध्यानयोग के अन्तर्गत नादानुसन्धान, चक्रवेधन, भक्ति-भावना, अनुप्रेक्षा आदि उपासनाएँ एकाग्रता से ही साध्य हैं।

राजयोग के प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये चार चरण हैं। ये चारों ही उच्चस्तरीय चिन्तनसहित एकाग्रता की ही प्रक्रिया हैं।

मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, इन चारों को सांख्यदर्शन में अन्तःकरण के ही चार रूप माने गये हैं। इन चारों का स्वरूप और व्याख्या पृथक-पृथक होते हुए भी इन चारों पर नियन्त्रण और सन्तुलन एकाग्रता द्वारा ही साध्य है। योगसाधना के अन्तर्गत राजयोग, हठयोग, लययोग और भक्तियोग की चारों विधाएँ अपने-अपने राजमार्ग पर चलती हुई अन्ततोगत्वा जिस केन्द्रबिन्दु पर मिलती हैं, उसे एक शब्द में एकाग्रता कहा जा सकता है। सभी अध्यात्म-साधक अपनी प्रगति और सफलता का अनुमान उपलब्ध एकाग्रता की मात्रा को देखकर ही लगाया करते हैं।

भौतिक क्षेत्र में एकाग्रता से सफलता

एकाग्रता और व्यग्रता में, अथवा केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण की प्रतिक्रिया में रात और दिन का-सा अन्तर है। कई मीलों तक बिखरी हुई सूर्य किरणें थोड़ी-सी धूप, उष्णता एवं प्रकाश देने के अतिरिक्त कोई चमत्कारी प्रयोजन सिद्ध नहीं करतीं, जबकि वे ही सूर्य किरणें छोटे-से आतिशी शीशे में एकत्रित एवं केन्द्रित कर लेने पर देखते ही देखते अग्नि पैदा कर देती है, और दावाग्नि का रूप धारण कर लेती है।

वर्तमान भौतिक विज्ञानी उपकरणों से सूर्यताप को एकाग्र करके उससे सूर्यबैटरी या सूर्यचूल्हा आदि बनाते हैं। सूर्य की किरणों को विविध रंग की पानी से भरी हुई बोतलों में एकाग्र करके अथवा विभिन्न रंगों के काँचों में सूर्य की किरणों को एकाग्र करके उनसे विविध रोगों की अचूक चिकित्सा की जाती है। आज तो सौर ऊर्जा एकत्र करके उससे नाना प्रकार के कार्य किए जा रहे हैं। निकट भविष्य में सौर ऊर्जा के सहारे विशालकाय बिजलीघर, मशीनें, कारखाने आदि चलाने की वैज्ञानिकों की योजना है।

धूप और गर्मी से प्रचुर जल समुद्र तालाब आदि में से भाप बनकर उड़ता रहता है। समुद्र से भाप उठती है और अन्तरिक्ष में उसका विलय होता रहता है। चूल्हों से कितनी ही भाप उत्पन्न होती और उड़ती रहती है। उसका कोई उपयोग नहीं होता। किन्तु थोड़ी-सी भाप केन्द्रीकृत करके प्रेशरकुकर कुछ ही मिनटों में भोजन पका देता है। रेल गाड़ी के इन्जन में थोड़ा-सा पानी भाप बनाया जाता है। उस भाप को हवा में उड़ जाने से बचाकर एक टंकी में एकत्रित किया जाता है, फिर उसका शक्ति प्रवाह एक छोटे-से छेद में से होकर पिस्टन तक पहुँचाया जाता है। इतने मात्र से रेल गाड़ी का इन्जन चलने ही नहीं, दौड़ने लगता है। उसकी दौड़ इतनी शक्तिशाली होती है, कि वह अपने साथ-साथ रेल गाड़ी के भारी-भरकम माल से भरे दर्जनों डिब्बों को भी घसीट कर ले जाता है।

बिखरी हुई ढेरों बारूद जला देने से थोड़ी देर के लिए चमक और लपट दीखेगी, किन्तु जब उसे योद्धा बन्दूक की छोटी-सी नली के भीतर कड़े खोल वाले कारतूस में बन्द कर देता है, और घोड़ा दबाकर नन्हीं-सी चिनगारी से स्पर्श करता है, तब एक तोले से भी कम वजन की वह बारूद भयंकर धड़ाका करते हुए लक्ष्य वेध के रोमांचकारी परिणाम उत्पन्न

करती है। बिखरे हुए कच्चे धागे जब एकत्रित कर दिये जाते हैं तो एक मोटा व मजबूत रस्सा बन जाता है, जो हाथी को बाँधकर रखने में सक्षम हो जाता है। बुहारी की सफाई करने की क्षमता दुर्बल सीकों के एकीकरण से ही सम्भव होती है।

आकाश से उतर कर वर्षा का स्वच्छ जल विस्तृत भूमि पर बरसता और फैलता तथा बहता हुआ जहाँ-तहाँ भटक-भटक कर क्रमशः अधिक नीचे गिरता चला जाता है। अन्ततः वह समुद्र के गहरे खड्ड में जा गिरता है और खारा होकर अपेय बन जाता है। इसी अपेय बन जाने वाली अतुलित जलराशि के थोड़े-से अंश को सिंचाई विभाग के कर्मचारी बाँध के रूप में एकत्रित और सीमाबद्ध कर देते हैं। इससे किसानों की प्यासी भूमि की सिंचाई होती है, टनों अन्न का उत्पादन किया जाता है। नदी एवं नहरों के रूप में सीमाबद्ध एकत्रित जल उपयोगी सिद्ध होता है, किन्तु वही जल जब बाढ़ के रूप में बिखर पड़ता है, तब वह तबाही मचा देता है, खड़ी फसलों को चौपट कर देता है, बस्ती को वीरान बना देता है।

छोटा-सा बरसाती नाला जब उच्छृंखल बन जाता है तो किनारों को तोड़-फोड़कर इधर-उधर बहता है। उस बाढ़ से भारी बर्बादी होती है। जब उसी बरसाती नाले का पानी एक जगह रोककर बाँध बना लिया जाता है, जिसके पीछे विस्तृत जलाशय बन जाता है। इसी जलराशि से सिंचाई कर्मचारी नहरें निकाल कर दूर-दूर तक के क्षेत्र को हरा-भरा बना देते हैं।

आध्यात्मिक एकाग्रता से महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ

वस्तुतः बिखराव को रोकने की, उपलब्ध शक्ति को संग्रहीत—एकत्रित करके, अभीष्ट प्रयोजन में प्रयुक्त कर सकने की कुशलता को आध्यात्मिक एकाग्रता कहते हैं। अध्यात्म मार्गदर्शक शास्त्रों में वर्णित मनोनिग्रह, चित्तनिरोध, या ध्यान-धारणा की प्रक्रिया को एकाग्रता के ही अंगोपांग कहे गए हैं। ये सब एकाग्र हो सकने की कुशलता-भर हैं। एकाग्रता की सफलता सुनने-समझने में आसान लगती है, परन्तु है वह बहुत ही कष्टसाध्य, समयसाध्य और अभ्याससाध्य। एकाग्रता के अभ्यास में प्रवीण हो जाने पर मनुष्य अपनी बिखरी हुई चेतना को एकत्रित करके पूरी शक्ति से

यदि आध्यात्मिक क्षेत्र की साधना में लगा दे, तो उसे शीघ्र ही जादू-सी सफलता मिलती है; वह आश्चर्यजनक उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकता है।

एकाग्रता से मस्तिष्कीय शक्ति में वृद्धि

इसी प्रकार एकाग्रता मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाली विचार तरंगों के निरर्थक बिखराव को निग्रहीत करना है। शक्ति को उपलब्ध करना महत्त्वपूर्ण नहीं, किन्तु उसके बिखराव को निरर्थक अपव्यय की अनर्थमूलक बर्बादी से बचाना चाहिए, वह बचाया जाता है—एकाग्रता के प्रयोग से तथा उपलब्ध तथा संग्रहीत शक्ति को एक लक्ष्य में केन्द्रित करके सत्प्रयोजन में लगाने से।

बाँधों में पानी भरा रहता है। जब उस संग्रहीत जलराशि को एक छोटे-से छेद से होकर निकाला जाता है, तब पानी के दबाव से वह धारा बड़ी तेजी से निकलती है। इस धारा में असाधारण शक्ति होती है। उसके प्रहार से अमुक मशीनों के पहिये घुमाए जाते हैं, और उनके घूमते ही कई प्रकार के यन्त्र चलने लगते हैं।

बड़े-बड़े बिजलीघरों का निर्माण इस प्रकार बँधे हुए जलाशय, बाँधों पर ही होता है। छोटे-छोटे जलप्रपातों से भी पनचक्की जैसी उपयोगी मशीनें चल पड़ती हैं। यह शक्ति एकाग्रता—एक स्थान में एकत्रित करने की है, जलधार की—झरनों की नहीं। मतलब है कि फैले हुए क्षेत्र को छोटा करके एक जगह केन्द्रित कर देने से उसकी प्रखरता और शक्तिमत्ता बढ़ जाती है।

मस्तिष्कीय क्षमता बिजलीघर से कई गुना अधिक

मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाली विचारधारा को भी किसी विशालकाय विद्युत् निर्माणगृह (बिजलीघर) से कम नहीं आंका जाना चाहिए। बिजलीघर की शक्ति सीमित होती है, वह अपनी परिधि के छोटे-से क्षेत्र को ही बिजली सप्लाई कर पाता है, जबकि मस्तिष्क की क्षमता समय पाकर अनेक गुनी हो सकती है, उसका प्रभाव क्षेत्र, जो एक दिन घर-परिवार तक सीमित होता है, वह समय पाकर विश्वव्यापी बन सकता है। बिजलीघर के तार निर्धारित वोल्टेज की क्षमता ही धारण किये रहने के लिए बाध्य हैं, जबकि मस्तिष्क की प्रचण्ड सत्ता परिस्थिति के अनुसार इतनी अधिक क्षमतासम्पन्न हो सकती है कि वह क्षेत्र, एवं समाज की

सीमा को लांघकर अपने प्रभाव से तीनों लोक को प्रभावित कर सकती है, तथा वातावरण को भी बदल देने की महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है।

ध्यानजन्य एकाग्रता : लक्ष्यवेधी

ध्यान क्या है ? मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाले विचार तरंगों के निरर्थक बिखराव को रोककर किसी एक चिन्तन बिन्दु पर केन्द्रित करना ही ध्यान है। वस्तुतः एकतानता, तन्मयता, एकवस्तुनिविष्ट दृष्टि, एकाग्र-चिन्तन-निरोध या एकाग्रता का दूसरा नाम ही ध्यान है। इस प्रयोग में जिसे जितनी सफलता मिलती है, उसकी अन्तश्चेतना में उसी अनुपात में लक्ष्य-वेधक प्रचण्डता-प्रखरता उत्पन्न होती जाती है। शब्दवेधी बाण की तरह लक्ष्यवेध कर सकना ध्यानयोगी के लिए बहुत ही आसान हो जाता है। उसका लक्ष्य या केन्द्र-बिन्दु यदि अध्यात्म-विकास है तो उस दिशा में बहुत शीघ्र ही वह आशाजनक प्रगति कर सकेगा। यदि उसका लक्ष्य भौतिक है, तो भी वह एकाग्रता से समुचित लाभ उठा सकेगा। अभीष्ट प्रयोजनों में उसे आशातीत सफलता मिल सकेगी।

एकाग्रता का विविध क्षेत्रों में चमत्कार

एकाग्रता की चमत्कारी शक्ति किसी भी क्षेत्र में देखी जा सकती है। सर्कस में एक से एक आश्चर्यजनक करतब दिखाये जाते हैं। उन सबमें शारीरिक शक्ति का उपयोग कम होता है, एकाग्रता का ही अधिक होता है। एक पहिये की साईकिल, एक तार पर चलना, एक झूले से दूसरे झूले पर उछल जाना, तेजी से लगातार तश्तरियों को एक हाथ से उछालना और दूसरे हाथ से पकड़ना, एक डोरी पर पैरों से चलना, इन और ऐसे ही आश्चर्यजनक तमाशों में क्या नटों और क्या सर्कस के कार्य-कर्ताओं का कुछ अंगों को एकाग्रतापूर्वक साध लेने का अभ्यास ही कौतुहल उत्पन्न करता है।

मैस्मेरिज्म, हिप्नोटिज्म या सम्मोहनक्रिया में एकाग्रता का ही चमत्कार है। प्रयोगकर्ता अपनी दृष्टि को एक बिन्दु पर एकाग्र-एकत्रित करने का अभ्यास करता है। अपनी इच्छाशक्ति को समेटकर एक लक्ष्य—केन्द्र में समाविष्ट करता है। फलतः जादुई शक्ति उत्पन्न होती है। उससे दूसरों को सम्मोहित करके उन्हें इच्छानुवर्ती बनाया जा सकता है। उनमें मानसिक परिवर्तन लाये जा सकते हैं; प्रखरता के बीज बोये जा सकते

हैं। शक्तिपात और क्या है ? अपनी इच्छाशक्ति को एक लक्ष्य में केन्द्रित करके दूसरे में वह शक्ति प्रविष्ट करना। यह भी एकाग्रता का ही चमत्कार है। प्राण-विज्ञान के द्वारा ऊर्जाशक्ति उत्पन्न करके शारीरिक एवं मानसिक चिकित्सा के अनेक कठिन कार्य पूरे किये जाते हैं। इन कठिन कार्यों में भी एकाग्रता की शक्ति का ही चमत्कार है।

चिन्तन शक्ति में एकाग्रता से चमक

मस्तिष्कीय बिखराव को रोककर विचार-तरंगों को एक केन्द्र पर निगृहीत करने से उनकी क्षमता अधिक बढ़ जाती है। अस्त-व्यस्त, अनियन्त्रित, निरुद्देश्य एवं बिखरे हुए चिन्तन से या किसी चिन्ता से मानसिक शक्ति की अत्यधिक बर्बादी होती है। उन्हीं चिन्तन कणों को चित्त में एकाग्र करके दिशाविशेष में नियोजित कर देने पर कितने चमत्कार पैदा होते हैं, इस तथ्य को पद-पद पर परखा जा सकता है।

यह एकाग्रता--एक ही दिशा में लक्ष्यवेध की शक्ति है कि बाण सही निशाने पर लगता है। अतः किसी भी कार्य में अभीष्ट सफलता प्राप्त करने के लिए एकाग्रतापूर्वक एक ही दिशा में शक्ति लगाने की आवश्यकता है।

लक्ष्यवेध एकाग्रता से ही सम्पन्न

महाभारत की कथा के अनुसार राजा द्रुपद अपनी गुणवती पुत्री द्रौपदी का विवाह किसी ऐसे पुरुष के साथ करना चाहते थे, जिसमें सफल जीवन जीने की क्षमता हो, जिसका भविष्य उज्ज्वल हो। इस सन्दर्भ में राजा द्रुपद ने मनीषियों से विचार-विमर्श करके यह निर्णय किया कि जो एकाग्रचित्त से छोटे-बड़े सभी कार्यों में जुड़े रहते हैं, वे ही सभी कार्यों में सफल होते हैं। अतः जो एकाग्रता की सत्प्रवृत्ति में सिद्ध हो सके, उसी को कन्या दी जाये। स्वयंवर में यह शर्त रखी गई कि जो पानी में छाया देखकर छत पर लटकती हुई मछली की आँख पर निशाना लगा सकेगा, वही विजेता होगा। इस लक्ष्यवेध में एकमात्र अर्जुन ही सफल हुए और सर्वगुण-सम्पन्न द्रौपदी का वरण कर सके। अर्जुन की प्रगति के मूल में एकाग्रता की विशिष्ट शक्ति थी।

एकाग्रता की शक्ति असाधारण है। भौतिक प्रयोजनों में तो उसका चमत्कारी उपयोग प्रतिदिन देखा जाता है। बहीखाते सही रखने और

हिसाब ठीक जोड़ने में एकाग्रता के अभ्यासी ही सफल होते हैं; प्रायः सुशिक्षित, किन्तु एकाग्रता के अनभ्यासी लोगों से तो पन्ने पर हिसाब करने में भी भूल होती है, वे काट-छाँट करते रहते हैं। वैज्ञानिक आविष्कारकों में प्रायः यही देखा गया है कि वे अपने विषय में तन्मय हो जाते हैं तथा विचार सागर में गोते लगाकर नई खोजों के रत्न ढूँढ लाते हैं।

एकाग्रता से अनेक विशेषताएं उपलब्ध हो सकती हैं

एकाग्रता को हम शक्तियों का एकीकरण कह सकते हैं। इसके माध्यम से व्यक्ति के अन्तःक्षेत्र में छिपी हुई विभूतियाँ और बाह्य क्षेत्र में बिखरी हुई कार्यक्षमताएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो सकती हैं। सामान्य-सा जीवन असामान्य विशेषताओं और तज्जनित सफलताओं से परिपूर्ण दृष्टिगोचर हो सकता है। जिस प्रकार भूमि के खोदने पर एक से एक बढ़कर खनिज सम्पदाएँ निकलती हैं, उसी प्रकार एकाग्रता की शक्ति में व्यक्तित्व के साथ जुड़े हुए गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टताएँ, अच्छी आदतें तथा बल, बुद्धि, मैत्री, प्रतिभा, कीर्ति एवं विद्या जैसी विशेषताएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो सकती हैं।

मानवी सत्ता के कण-कण में असंख्य विशेषताएँ और क्षमताएँ भरी पड़ी हैं। स्थूल शक्तियों की तरह सूक्ष्म शक्तियों का लाभ भी उन्हें एकत्रित करके किसी दिशाविशेष में लगा देने से मिल सकता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ जादू की पिटारियाँ हैं। इन्हें भटकाव-बिखराव से बचाकर रचनात्मक दिशा में नियोजित-केन्द्रित किया जाये तो अभीष्ट सफलता प्राप्त की जा सकती है। मन ग्यारहवीं इन्द्रिय है, इसे शास्त्र में नो-इन्द्रिय भी कहा गया है। इसी के अन्तर्गत मन, बुद्धि, चित्त और हृदय अथवा अहंकार का समावेश हो जाता है। मस्तिष्कीय क्षमता का भी कोई अन्त नहीं। वस्तुतः मस्तिष्क के विचारपक्ष और बुद्धिपक्ष का थोड़ा-सा प्रयोग होता है, शेष चित्त, हृदय, अहंकार वाला अवचेतन समझा जाने वाला, किन्तु चेतन से लाखों गुना अधिक शक्तिशाली भाग तो बिल्कुल अछूता उपेक्षित अविज्ञात और निष्प्रयोजन स्थिति में ही पड़ा रहता है। मन और बुद्धि वाले भाग का जितना उपयोग किया जाता है, उतना ही उपयोग यदि चित्त, अहंकार और हृदय का भी होने लगे तो मनुष्य अधिक प्रज्ञावान, विचारशील और शीघ्र निर्णायक, संकल्पवान् बन सकता है। वह केवल समझदार न रहकर तत्त्वज्ञ (ज्ञाताद्रष्टा) की भूमिका में पहुँच सकता है।

आँखों के आगे से हमेशा नाना दृश्य गुजरते रहते हैं। इसी प्रकार कान के निकट ही विविध प्रकार की ध्वनियाँ होती रहती हैं, किन्तु चित्त यदि और कहीं लगा हो तो खुली आँखें भी अंधी के समान रहती हैं एवं खुले कान भी बहरे-से बने रहते हैं। इसका कारण है—अनेकाग्रता, अन्य-मनस्कता।

एकाग्रता : अभीष्ट विचारों को स्थान देने से लाभप्रद

मन की अभीष्ट चिन्तन क्षमता को भी प्रायः महत्व नहीं दिया जाता। लोग ऐसे चिन्तन में उलझे रहते हैं, जिसका अपनी वर्तमान परिस्थितियों के साथ कोई तालमेल नहीं होता। असंगत और निरर्थक विचार करते रहने से इस उपयोगी सामर्थ्य का दुर्व्यय होता है जो विचार वर्तमान समस्याओं के समाधान में योग दे सकते हों, भविष्य निर्माण का पथ-प्रदर्शन कर सकते हों, उन्हें ही गहराई और दिलचस्पी के साथ अपनाना चाहिए। अनुपयोगी, निरर्थक, अनैतिक एवं अवांछनीय विचारों को मस्तिष्क में कतई स्थान न दिया जाये। पहले से ही इनका निर्णय कर लिया जाये, और जिनकी उपयोगिता असंदिग्ध हो उन्हें ही प्रवेश दिया जाये। अवांछनीय विचार मस्तिष्क में ही भ्रमण नहीं करते रहते, अपितु अपने अनुरूप क्रिया करके पूरे व्यक्तित्व और अंग-प्रत्यंगों की आदतों को भी बिगाड़ देते हैं।

कच्ची मनोभूमि वाले युवक जिस प्रकार अपराधी दृश्यों की फिल्में देखकर या अश्लील साहित्य पठन में डूबकर उसी प्रकार का आचरण करने लगते हैं, कामुकता में प्रवृत्त हो जाते हैं ठीक इसी प्रकार अनुपयोगी, निरर्थक एवं अवांछनीय विचारों को मस्तिष्क में लगातार स्थान मिलते रहने के कारण जीवनप्रवाह भी उसी धारा में बहने लगता है।

बौद्धिक विकास में सफलता के लिए एकाग्रता अपेक्षित

मस्तिष्कीय चेतना अमुक मात्रा में हर एक प्राणी में होती है। किसी प्राणी में अधिक होती है, किसी में कम। मनुष्यों में यह चेतना सबसे अधिक विकसित होती है। जन्म से मानसिक अथवा बैद्धिक विकलता किन्हीं-किन्हीं अविकसित मनुष्यों में होती है। परन्तु वह आपवादिक है, सामान्य नियम ऐसा नहीं है। अधिकांश मनुष्यों की बुद्धि विकासशील होती है। बचपन से लेकर यौवन में आने तक किसी की बुद्धि जन्मजात

स्वाभाविकरूप से किसी की बुद्धि अमुक कला या विद्या का निरन्तर अभ्यास करने से, किसी की उम्र के अनुसार, किसी की विनयपूर्वक बार-बार अभ्यास करने से विकसित होती है। चाहे किसी भी तरह से बुद्धि का विकास हो, एकाग्रता सभी में अपेक्षित है। बुद्धि को विकसित करना अपने प्रयत्नों पर निर्भर है। यदि एकाग्रता की क्षमता बढ़ा ली जाए और अपने चिन्तन, या कार्य में मनोयोगपूर्वक तन्मयता से जुटा जाए तो निश्चय ही बौद्धिक चेतना के विकास में सफलता मिलती है। तथा उस विषय में गहरी अनुभूति, जानकारी और प्रवीणता हस्तगत हो सकती है।

आयु या रुग्णता नहीं, एकाग्रता ही स्मृतिदक्षता का कारण

स्मरणशक्ति भी सदा एक-सी और स्थायी नहीं रहती है, आयु के अनुपात में अथवा स्वस्थता-अस्वस्थता के अनुरूप मस्तिष्कीय क्षमता में न्यूनाधिकता होती रहती है। परन्तु वृद्धावस्ता में या रुग्णावस्था में भी जबकि अधिकांश मनुष्यों की स्मरण शक्ति घट जाती है, उस विस्मृति का प्रमुख कारण आयु या रुग्णता नहीं, अपितु अनेकाग्रता या उपेक्षा ही है। स्वामी विवेकानन्द की स्मरण-शक्ति रुग्णावस्था में भी अत्यन्त तीव्र थी। उन्हें विश्वकोष के पढ़े हुए कई अंश कण्ठस्थ थे। इसी प्रकार शेख सादी ने ४० वर्ष की उम्र में भाषाज्ञान प्राप्त करके आश्चर्यजनक बौद्धिक क्षमता बढ़ा ली थी, और गुलिश्तां बोस्तां नामक पुस्तकें भी लिखी थीं। इसी प्रकार वृद्धावस्था में जिन लोगों की जिस विषय में दिलचस्पी होती है, वे उसमें तन्मयतापूर्वक लग जाते हैं और यही बौद्धिक क्षमता बढ़ाने का मूल कारण है। जिन घटनाओं में पूरी दिलचस्पी होती है, वे सहज ही विस्मृत नहीं होतीं, चिरकाल तक उनकी स्मृति बनी रहती है।

बौद्धिक विकास में एकाग्रतापूर्वक प्रयत्न ही प्रमुख कारण

औसत मनुष्य की मानसिक संरचना ऐसी होती है कि उसके आधार पर उसे बुद्धिहीन नहीं कहा जा सकता। फिर भी किसी की बुद्धि विकसित हो जाती है और किसी की अविकसित, इसका प्रमुख कारण और कोई नहीं एकाग्रता बढ़ाने का प्रयत्न और अप्रयत्न है। जिसने एकाग्रता की क्षमता हासिल कर ली, अपने चिन्तन और कार्य में एकाग्रता और तन्मयता के साथ जुट गया, उसकी बुद्धि विकसित हो जाती है। और वह प्रायः अपने मनोनीत क्षेत्र में गहरी जानकारी और दक्षता प्राप्त कर लेता है। और जो

व्यक्ति अपने अभीष्ट क्षेत्र में एकाग्रतापूर्वक प्रयत्न नहीं करता, उपेक्षा या उदासीनता रखता है, लापरवाही करता है, उसकी बुद्धि प्रायः विकसित नहीं होती। उसे महत्वपूर्ण कार्य भी निरर्थक प्रतीत होते हैं, उस कार्य को करने में उसका जी नहीं लगता।

कहना होगा कि एकाग्रता अभ्याससाध्य है जिस प्रकार खेलकूद में, अथवा किसी भी शिल्प में मनोयोगपूर्वक लगने से उसकी बौद्धिक प्रतिभा-खिल उठती है। कुछ ही अर्से में उसे उस शिल्प या अभीष्ट विषय में दक्षता प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार अन्य विषयों में भी तन्मय होने से प्रवीणता प्राप्त की जा सकती है। बौद्धिक प्रखरता, स्मरणशक्ति की तीव्रता अथवा सूक्ष्म विश्लेषण शक्ति, आदि किसी एकाध अपवाद के सिवाय मौलिक या जन्मजात नहीं होती। इन्हें एकाग्रता की पुत्रियाँ कह सकते हैं। एकाग्रता रूपी जननी की सहायता से ही बौद्धिक क्षमता प्रकट होती है। बुद्धि में अनेकों तर्क, अनुमान विश्लेषण एवं विवेचन तथा व्याख्या करने की शक्ति या सूझबूझ तभी प्रकट होती है, जब उसकी शक्ति को बिखरने से बचाई जाए, और अभीष्ट लक्ष्य या प्रयोजन में लगाई जाए। अगर ऐसा नहीं किया जाएगा तो चिन्तन-मनन एव विश्लेषण के तिनके अस्थिरता एवं अनेकाग्रता की आंधी में इधर-उधर उड़ते फिरेंगे, वे किसी अभीष्ट लक्ष्य या स्थान तक पहुँच नहीं पायेंगे। कहना होगा कि विद्यार्थी की बौद्धिक प्रखरता ही नहीं, उसके चित्त की एकाग्रता भी सफलता में सहायक होती है। नाटक में अभिनय करने वालों, हस्तलाघव एवं बाजीगरी के खेल दिखाने वाले बाजीगरों, रस्सी पर चलने वाले नटों, एवं सर्कस में विविध आश्चर्यजनक करतब दिखाने वाले पात्रों की कुशलता में प्रमुख रूप से एकाग्रता की ही साधना होती है, बौद्धिक क्षमता कम।

एकाग्रता और तन्मयता का अभीष्ट परिणाम

कहते हैं कि भृंगी नामक उड़ने वाला कीड़ा, ईलिका (लट) को पकड़ लाता है और उसके सामने निरन्तर गुँजन करता रहता है। उस गुँजन को एकाग्रतापूर्वक सुनने और छवि देखते रहने से उस ईलिका की मनःस्थिति भी भृंगी जैसी हो जाती है। वह अपने को भृंगी समझने लगती हैं। और कहा जाता है कि धीरे-धीरे उसका शरीर ही भृंगी के रूप में बदल जाता है। यह एकाग्रता और तन्मयता का ही परिणाम है।

इसी प्रकार यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि एकाग्रतापूर्वक जिस किसी व्यक्ति या परिस्थिति का देर तक चिन्तन करते रहने से मनुष्य की

मनोवृत्ति उसी साँचे में ढलने लगती है। यौवन पर अहर्निश ध्यान रखने से प्रायः वेश्याएँ ढलती उम्र में भी सुन्दर बनी रहती हैं। रात-दिन विपत्ति, कमजोरी एवं मृत्यु की बात एकाग्रतापूर्वक सोचने वाले लोग अक्सर भरी जवानी में ही जराजीर्ण, जर्जर, अशक्त एवं मौत के मेहमान बनते देखे जाते हैं। छोटी-सी बीमारी को बढ़ी-चढ़ी मान लेने वाले लोग उपयुक्त चिकित्सा होने पर भी अच्छे नहीं हो पाते और बार-बार उसी केन्द्रबिन्दु पर चिन्तन को केन्द्रित करते रहने के फलस्वरूप वे दिनानुदिन दुर्बल होते और मृत्यु के निकट पहुँचते चले जाते हैं। इसके विपरीत जिन्होंने अपनी भयंकर बीमारी को भी छोटी और शीघ्र ठीक होने वाली समझी, वे उस भयानक बीमारी से अनायास ही मुक्त हो गए।

मन्दबुद्धि भी एकाग्रता से तीव्रबुद्धि बने

इतिहास में असंख्य लोगों के ऐसे विवरण मिलते हैं, जिन्होंने बड़ी आयु तक अपनी बुद्धिमन्दता की शिकायत की, किन्तु जब उन्होंने अपनी बौद्धिक क्षमता और कार्यकुशलता को बढ़ाने और व्यक्तित्व को विकसित करने की ओर ध्यान दिया, अपने दायित्वों का समझा और अपने अभीष्ट प्रयोजन के लिए पूर्ण तत्परता के साथ जुट पड़े, अपने को पूरी तरह से कसा, पूरा ध्यान देकर, प्रमाद दूर करके अध्ययन करने लगे, तब उनकी बौद्धिक मन्दता अनायास ही दूर हो गई। वे तीव्र बुद्धि और कार्यकुशल भी माने जाने लगे। उपेक्षाजन्य आलस्य, प्रमाद के कारण बहुधा मनुष्य पिछड़ा हुआ रहता है। अगर सजग सक्रियता का दौर प्रारम्भ हो जाए तो प्रगति का चक्र दस गुने वेग से घूमने लगता है। यथेष्ट सफलता उन्हें ही मिलती है, जो अपने कार्य में रुचि को पूर्णतया केन्द्रित करके समग्र तत्परता के साथ उसमें जुट पड़ते हैं। रुचि का केन्द्रीकरण और मानसिक क्षमता के एकत्रीकरण का ही यह सब चमत्कार है। इस प्रयोग से कोई भी मन्दबुद्धि, दुर्बल शरीर, उपेक्षित, पीड़ित और अभावग्रस्त मानव अपना कायाकल्प कर सकता है। स्वास्थ्य, धन, यश, प्रभाव आदि के क्षेत्रों में भी इन्हीं का चमत्कार देखा जा सकता है।

बहुत-से लोग स्मरणशक्ति एवं बुद्धिमन्दता की शिकायत करते हैं। इसका एक कारण मनःसंस्थान की संरचना में किंचित् अन्तर का होना भी सम्भव है। परन्तु प्रधान कारण है—उस विषय के प्रति उपेक्षा, अरुचि या अन्यमनस्कता। जिसको व्यक्ति महत्त्वहीन समझता है, जिस विषय में

उसकी दिलचस्पी नहीं, निकृष्ट दृष्टि से जिसे देखा जाता है, वही बात विस्मृत हो जाती है, किन्तु जिस विषय में व्यक्ति की रुचि होती है, जिसे वह महत्त्वपूर्ण, अर्थोपार्जन सक्षम, एवं रुचिकर समझता है, वह बात उसे जीवन के अन्त तक याद रहती है। जैसे—पदवी-समारोह का दिन, किसी प्रियजन की मृत्यु, बड़ी चोरी, बड़ा घाटा, आक्रमण, हत्या, लूट जैसी घटनाएँ वर्षों तक मस्तिष्क में घूमती रहती हैं। उन्हें वे चाहे जब क्रमबद्ध रूप से सुना सकते हैं। यदि स्मरणशक्ति सचमुच ही मन्द होती तो ये विशिष्ट घटनाएँ भी उन्हें याद न रहतीं।

चींटी आदि प्राणियों की कृतियाँ एकाग्रता के कारण प्रशंसनीय

चींटी, दीमक, मधुमक्खी, मकड़ी, बया पक्षी आदि कोई पढ़े-लिखे नहीं होते, किन्तु उनके द्वारा अपने मनोनीत कार्य को नियतक्रम से तन्मयता एवं एकाग्रतापूर्वक करने से ही उन्हें अपने कार्य में सफलता प्राप्त होती है। इन सबमें कोई ऐसी विशेषता या शिक्षा नहीं होती, जिसके कारण उनकी ऐसी प्रशंसा हो सके। बया पक्षी का घोंसला अद्भुत कारीगरी का नमूना है। उसमें उसका परिवार अधिक सुरक्षित और सुखी रहता है। उसकी इस सफलता का श्रेय कार्य के प्रति उसकी तन्मयता और लगन के आधार पर ही मिलता है। चींटी, मधुमक्खी आदि की कृतियाँ भी देखते ही बनती हैं। उन कृतियों से वे स्वयं और उनका परिवार लाभान्वित होता है। उनकी अपनी अद्भुत कृतियों के पीछे उनकी एकाग्रता और तन्मयता ही प्रमुख कारण है।

एकाग्रता से ही अनेक आध्यात्मिक उपलब्धियाँ सम्भव

योगीजनों और अध्यात्म-साधना के लिए तो एकाग्रता का अभ्यास साधारणजनों से भी अधिक आवश्यक है। ध्यान, धारणा और समाधि का एकाग्रतापूर्वक अभ्यास करके तथा तप, संयम और चारित्र का एक निष्ठापूर्वक एकाग्रता से पालन करके वे भौतिक दृष्टि से जहाँ अनेक लब्धियों, तथा ऋद्धि सिद्धियों के अधिकारी बनते हैं, वहाँ आध्यात्मिक दृष्टि से भी वे अनेक उपलब्धियों के अधिकारी बनते हैं। पदानुसारिणी लब्धि, आहारक लब्धि, अवधिज्ञान-मनःपर्यायज्ञान एवं केवलज्ञान की लब्धि तथा सम्भिन्नस्रोतस् लब्धि आदि भी उन्हीं आध्यात्मिक उपलब्धियों के नमूने हैं। अतः एकाग्रता योगी जनों, तपस्वियों और अध्यात्मसाधकों के

लिए सबसे बढ़कर उपयोगी है, जबकि सर्वसाधारण के जीवन में भी उसकी नितान्त आवश्यकता है।

प्रत्येक अनुसन्धान की सफलता के पीछे एकाग्रता

इस जगत् में वैज्ञानिक आविष्कारों से लेकर साहित्यिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक अनुसंधानों में अन्वेषणों और विविध क्षेत्रों में शोध-खोज में एकाग्रता की शक्ति ही छाई हुई दृष्टिगोचर होती है। एकाग्रता का आश्रय लिये बिना कोई भी गायक, वादक,अभिनयकर्ता, नट, बाजीगर, मूर्तिकार, कलाकार, चित्रकार, स्थापत्यशिल्पी, साहित्यकार, संगीतकार, कवि, लेखक, वक्ता, रिसर्च-स्कॉलर आदि अपना कौशल कदापि प्रगट नहीं कर सकते। ये सब के सब कलाकार तन्मयता के सहारे ही श्रेय सम्पादन करते हैं। इस विशेषता के न रहने पर समर्थ और साधन-सम्पन्न व्यक्ति भी यथेष्ट सफलता कदापि अर्जित नहीं कर सकते।

मन का बिखराव, चित्त की व्यग्रता या अनेकाग्रता, बुद्धि का विभिन्न दिशाओं में फैलाव तथा हृदय की अनेक विषयों में विकेन्द्रित रुचि रहने पर सारे साधन होते हुए भी किसी भी मनोनीत क्षेत्र में उपलब्धियाँ प्राप्त नहीं हो सकतीं।

वैज्ञानिक और अनुसन्धानकर्ताओं का कठिन कार्य भी उसी अनुपात में प्रगति कर पाता है, जिस अनुपात में उनकी एकाग्रता एवं तन्मयता अपने मनोनीत कार्य में होती है।

मोची, दर्जी, लुहार, सुनार, सुथार आदि शिल्पी भी अपना काम एकाग्रता के बल पर ही ठीक कर पाते हैं। अन्यथा, जरा-सी गफलत या अन्यमनस्कता होने पर उनके तीक्ष्ण औजार ही उनके हाथ-पैर तोड़कर रख सकते हैं; उन्हें जख्मी बना सकते हैं। घास खोदने, खेती करने, मिट्टी के खिलौने बनाने आदि मामूली चीजें बनाने वालों से लेकर तेल, साबुन एवं विविध दवाइयाँ बनाने वालों तक के सभी कार्य ठीक तरह से उत्कृष्ट रूप में तभी हो सकते हैं, जब वे अपने काम को पूर्ण मनोयोग और एकाग्रता के साथ करते हैं।

एकाग्रतापूर्वक अभ्यास से प्रत्येक विषय की तकनीक प्राप्ति

सामान्यतया देखा जाता है कि मैट्रिक से लेकर बी. ए., एम. ए. तक पढ़े हुए लोग बेकार घूमते रहते हैं, क्योंकि उन्होंने केवल भाषाज्ञान

किया है या अमुक विषय की जानकारी ही दिमाग में ठूंसी है, टेकनिकल प्रशिक्षण प्राप्त नहीं किया। जबकि मेट्रिक के बाद तकनीकी प्रशिक्षण प्राप्त लोग टर्नर, फिटर, मेकेनिक, टाइपिस्ट, स्टेनो आदि के पदों पर आसानी से काम पा जाते हैं और अच्छी कमाई कर लेते है। तकनीकी ज्ञान से व्यक्ति उस कार्य से सम्बन्धित ऐसी बारीकियों को जान लेता है, जिनमें श्रम तो अधिक नहीं लगता, किन्तु मनोयोग और एकाग्रतापूर्वक अभ्यास अपेक्षित है। फलतः उसकी उस विषय में कार्यक्षमता, कुशलता एवं दक्षता अधिक बढ़ जाती है। जिन्हें छोटे-से जीवन में बहुत अधिक काम करना होता है, वे पढ़ने-लिखने और बोलने आदि सब कामों में एकाग्रतापूर्वक अभ्यास से ऐसी ही तकनीक विकसित कर लेते हैं।

स्व० डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के बारे में प्रख्यात है कि वे पूरे पृष्ठ को अल्प समय में ही पढ़ लेते थे, मानो वे पृष्ठ पर केवल निगाह फेर रहे हों। मास्को के कई नागरिकों ने ऐसी ही तकनीक हासिल की है कि सामान्य पाठक से तीन चार गुना अधिक पढ़ लेते हैं। यानी चार घंटे का वाचन एक घंटे में कर लेते हैं। यह ईश्वरीय देन नहीं, एकाग्रतापूर्वक अभ्यास से तकनीक प्राप्त करना भर है।

उपासना या प्रार्थना : एकाग्रता का ही दूसरा नाम

जिस साधक का चित्त व्यग्र या अनेकाग्र होता है, किसी कार्य में मन जमता नहीं, वह किसी भी साधना में आगे नहीं बढ़ सकता, और साधना में पारंगत होना तो बहुत ही दूर की बात है। चित्त की एकाग्रता के महत्त्व को समझाते हुए संत विनोबाजी कहते हैं—"उपासना ही क्यों, जीवन-व्यवहार के किसी भी क्षेत्र में चित्त की एकाग्रता अत्यन्त आवश्यक है। व्यवहार हो या परमार्थ चित्त की एकाग्रता के बिना उसमें सफलता पाना कठिन ही है।"

प्रार्थना स्तुति, भक्ति, भजन आदि एकाग्रतापूर्वक किये जाएँ, तभी वे प्रतिफल देने वाले होते हैं। अधिक गहराई से सोचें तो यह कहना अधिक संगत होगा कि एकाग्रता (परमात्मा में तन्मयता, तल्लीनता) का ही दूसरा नाम प्रार्थना, स्तुति, भजन या भक्ति है। चैतन्य महाप्रभु भजन और भक्ति में इतने एकाग्र हो जाते थे कि उनके मन में परमात्मा के सिवाय दूसरी ओर का कोई भी विचार, चिन्तन या विकल्प ही पैदा नहीं होता था। वे प्रभु में तन्मय-एकाग्र हो जाते थे। उस दौरान अगर कोई निन्दा,

गाली, प्रहार या द्वेषपूर्ण व्यवहार करता, अथवा कोई उनकी प्रशंसा, वाह-वाही या प्रसिद्धि करता तो वे दोनों की ओर जरा भी ध्यान नहीं देते थे। वास्तव में, भक्ति, प्रार्थना, स्तुति या उपासना आदि चित्त की एकाग्रता के बिना सही माने में हो ही नहीं सकते। इसी प्रकार प्रतिक्रमण, आलोचना, निन्दना, गर्हणा, क्षमापना या भावना तथा अनुप्रेक्षा आदि भी चित्त की एकाग्रता हो तभी यथार्थरूप से होते हैं। अन्तर् में एकाग्र हुए बिना कैसे कोई साधक सूक्ष्मता से आत्मावलोकन—आत्म-संप्रेक्षण, आत्मालोचन आदि सही रूप से कर सकता है? अनन्यभक्ति प्रभु में एकाग्रचित्त हुए बिना हो ही नहीं सकती।

चित्त की एकाग्रता क्यों आवश्यक ?

श्रमण भगवान् महावीर ने चित्त की एकाग्रता की ओर निर्देश करते हुए कहा है—

अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे[1]

यह मनुष्य निश्चय ही अनेक चित्त वाला है। अर्थात्—इसका चित्त एक (अध्यात्म) में एकाग्र नहीं है।

चित्त स्वभावतः चंचल प्रकृति का है, वह किसी एक वस्तु में—स्व-परहितकर तत्त्व में—स्थिर नहीं हो पाता। उसे किसी एक बिन्दु पर स्थिर करना बहुत कठिन कार्य है। यदि मन पर चंचलता का साम्राज्य छाया रहे, चित्त किसी बात पर जमे ही नहीं, बुद्धि किसी अभीष्ट प्राप्तव्य में स्थिर न हो, हृदय श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अभीष्ट साध्य में केन्द्रित न हो, तब यह अत्यन्त दुष्कर और दुर्लभ होगा, कि वह साधक किसी अभीष्ट तत्त्व या पदार्थ पर गहराई से चिन्तन कर सके, उसके हर पहलू पर दीर्घ-दृष्टि से विचार करके सही निष्कर्ष पर पहुँच सके। मन, बुद्धि, चित्त और हृदय की चपलता के कारण विचारों की अस्तव्यस्तता रहेगी, किसी भी अभीष्ट वस्तु में ये केन्द्रित नहीं हो सकेंगे।

भक्ति-योग के लिए चारों की एकाग्रता जरूरी

योगीजन और अध्यात्म-साधनानिष्ठ व्यक्ति पूर्ण एकाग्रता के द्वारा

---

१ आचारांग सूत्र श्रु. १ अ. ३ उ. २

अपनी साधना में यथेष्ट सफलता प्राप्त कर लेते हैं और लक्ष्य की दिशा में आगे बढ़ते जाते हैं। सफलता के अनुपात में वे अनेक सिद्धियों, लब्धियों और ऋद्धियों के अधिकारी बन जाते हैं। एकाग्रता के बिना कोई भी साधना या धार्मिक क्रिया अस्त-व्यस्त, नीरस, या रूखी-सूखी हो सकती है। एकाग्रता होने से ही सामायिक आदि साधना भावपूर्वक या उपयोग सहित हो सकती है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति करते हुए बताया है—

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि।
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव! दुःखपात्रम्।
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः॥

—कल्याण मन्दिर ३८

—हे जनबान्धव प्रभो! आपकी महिमा और गरिमा का श्रवण भी किया, आपकी छवि का नेत्रों से निरीक्षण भी किया, आपकी पूजा-अर्चा भी की, परन्तु निश्चय ही मैंने भक्तिभाव पूर्वक आपको हृदय में धारण नहीं किया, इसी कारण मैं दुःख का भागी बना हुआ है; क्योंकि श्रवण-मनन, निरीक्षण-भजन आदि कोई भी क्रिया भावशून्य=एकाग्रता से रहित होने पर फलित नहीं होती।

ध्यान के लिए एकाग्रता अतीव आवश्यक

मनोलय का प्रथम चरण **भक्तियोग** से प्रारम्भ होता है, द्वितीय चरण है—ज्ञानयोग। सम्यक्श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान इसके वाहन बनते हैं। इसमें तीनों प्रकार के ध्यानों का समावेश हो जाता है—पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ। ध्यान का तात्पर्य है—चिन्तन को किसी एक ही प्रवाह में बहने देना। उसे अस्त-व्यस्त उड़ानों में भटकने से रोकना। यह कार्य किसी एक ही लक्ष्य पर कुछ समय विचार तरंगों को केन्द्रित करने से होता है। जिस प्रकार वैज्ञानिक अपने शोध-विषय की परिधि में, साहित्यकार अपने गद्य, पद्य के सृजन करने में, लेख, कविता, कहानी, समालोचना, आदि का निर्माण करने या किसी तत्त्व का विश्लेषण करने के क्षेत्र में, तथा उपासक अपने इष्टदेव में सारी विचार शक्ति को नियोजित कर लेते हैं उसी प्रकार किसी भी वस्तु में, या अपने शरीर आदि के क्षेत्र में, अथवा किसी एक मन्त्र के पदों की परिधि में या किसी आकृति विशेष में, यथा—दीपशिखा,

प्रातःकालीन सूर्य, इष्टदेव प्रतिमा या किसी वृक्ष, आदि के रूप में, या आकृति में मन को केन्द्रित कर देना। इसमें भक्तियोग (सम्यक्श्रद्धा) के साथ ज्ञानयोग (सम्यग्ज्ञान) का भी सहयोग रहता है। अन्यथा, अकेली श्रद्धा मनुष्य को अन्ध-विश्वास या अन्धश्रद्धा की ओर धकेल सकती है। अतः भावना और बुद्धि दोनों क्षेत्रों के किसी भी एक विषय की परिधि में तन-मन को समौन केन्द्रित कर देना ही एकाग्रता सम्पादन में सफलता की निशानी है।

एकाग्रता की आध्यात्मिक क्षेत्र में महत्ता

जैन शास्त्रों में यत्र-तत्र धर्मध्यान के पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ, इन तीन प्रकार के ध्यानों के माध्यम से चित्त की एकाग्रता में वृद्धि के अनेक उदाहरण मिलते हैं। गजसुकुमाल मुनि जब महाकाल श्मशान में ध्यान करते हैं, तब सोमल ब्राह्मण द्वारा घोर उपसर्ग किये जाने पर भी वे विचलित नहीं होते, न तो शरीर पर मोह (राग) करते हैं, और न ही सोमल ब्राह्मण पर द्वेष। उस समय के उनकी एकाग्रता का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—**"एक्कपोग्गलनिविट्ठदिट्ठीए"**।[1] अर्थात्—उन्होंने अपनी दृष्टि एकमात्र एक ही पुद्गल (विषय) में निविष्ट—केन्द्रित कर दी थी। अभिप्राय यह है कि व्याख्या प्रज्ञप्ति एवं स्थानांग आदि शास्त्रों में बारहवीं भिक्षु प्रतिमा, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि साधनाओं में बिन्दु, मन्त्राक्षर, रूप, ज्योति आदि किसी एक ही पुद्गल पर अनिमेष नेत्र से दृष्टि को स्थिर करने का उल्लेख है।

एकाग्रता-सम्पादन का सर्वोत्तम उपाय : घेरा या चौका

इस बात को आसानी से समझने के लिए यों कहना उपयुक्त होगा कि आध्यात्मिक या व्यावहारिक क्षेत्र की किसी भी विधा में कुशलता, दक्षता, या क्षमता बढ़ाने के लिए उस विषय का एक घेरा बनाकर उसी में केन्द्रित होना, तथा उससे बाहर के किसी भी विषय को प्रविष्ट न होने

---

१ (क) अन्तकृद्दशांगसूत्र, गजसुकुमालजीवनवर्णन।
(ख) एकपोग्गलनिविट्ठदिट्ठी, अणिमिसनयणे।
—व्याख्या-प्रज्ञप्ति श. ३, उ-२, सू-१४३
(ग) अणिमिसणयणेगदिट्ठीउ। —स्थानांगसूत्र स्था. १, उ-३, सू-१८२

देना अत्यन्त आवश्यक है। जैसे—पवित्रता-धर्मी अपने चौके में किसी अशुद्ध या मलिन खान-पान या आचार-विचार वाले व्यक्ति को या वैसी वस्तु को प्रविष्ट नहीं होने देता, वैसे ही अध्यात्मज्ञानी अपने एक पवित्र, आध्यात्मिक विचार का, भेदविज्ञान का चौका लगा लेता है, एक घेरा बना लेता है, उसमें दूसरे किसी भी बाह्य विचार को आमन्त्रित या प्रविष्ट नहीं करता, नहीं प्रवेश पाने देता है। इसी प्रकार एकाग्रता का घेरा या चौका बना लेने से मस्तिष्क में अभीष्ट एवं आमन्त्रित विचारों का ही प्रवेश हो पाता है। यदि खेत या बाड़ी के चारों ओर घेरा न हो तो, उस खुले खेत या खुली बाड़ी में हर दिशा से पशु या पक्षी घुस पड़ते हैं और खेती को या साग-सब्जी को चरकर समाप्त कर देते हैं; इसी प्रकार एकाग्रता का घेरा न होने से जब-तब अवांछनीय और अनावश्यक ऊलजलूल विचार मस्तिष्क में घुस पड़ते हैं और मानसिक तथा बौद्धिक क्षमता की खेती या आध्यात्मिक क्षमता की साग-सब्जी की बाड़ी को ऐसे ही खा-पीकर चट कर जाते हैं। असम्बद्ध, अनर्गल एवं उटपटांग विचारों में उलझा हुआ व्यक्ति अपने द्वारा पढ़े-सुने या मन में उपजे हुए आध्यात्मिक विचार-प्रवाह का समुचित प्रयोग या रचनात्मक उपयोग नहीं कर पाता। फलतः उसके मानसिक विचार-प्रवाहों का उत्पादन भाप की तरह उड़ता और अन्तरिक्ष में विलीन होता रहता है। अगर इस दुर्व्यय को रोका जा सके और आध्यात्मिक क्षेत्र की किसी एक अभीष्ट विधा की परिधि में उसे केन्द्रित किया जाये, और फिर उसे निश्चित प्रयोजन में लगाया जाये तो आध्यात्मिक शक्ति के नये-नये स्रोत खुल सकते हैं। इस प्रकार उस विषय में प्रवीणता या क्षमता प्राप्त करने का वरदान एकाग्रता देवी द्वारा मिल सकता है।

जैनदर्शन में आस्रव और संवर ये दो तत्त्व साधक को मुख्य रूप से आध्यात्मिक दिशा में प्रगति के लिए बताये गये हैं। आस्रव का अर्थ है—शुभ-अशुभ कर्मों का आगमन और संवर का अर्थ है—आस्रव के आगमन को रोकना। साधकजन संवर का चौका लगाकर अपना आध्यात्मिक आसन जमा लेता है और आस्रवों (कर्मों के आगमन द्वारों को--छिद्रों) को आने से रोकता है तो अनायास ही उसे अनेक उपलब्धियाँ, लब्धियाँ या सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

आध्यात्मिक सफलता के लिए एकाग्रता की शक्ति जरूरी

भौतिक सफलताओं की तरह आध्यात्मिक सफलता एवं प्रगति के

लिए भी एकाग्रता की शक्ति आवश्यक है। आध्यात्मिक साधना में ध्यान की महत्ता और उपयोगिता को अत्यन्त महत्त्व दिया जाता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक साधना के प्रत्येक अनुष्ठान या उपचार में मन को एकाग्र रखने पर जोर दिया जाता है। आत्मा की प्रसुप्त शक्तियों को जगाने तथा उपयुक्त प्रयोजनों में लगाने हेतु स्वयं को प्रशिक्षित करने के लिए एकाग्रता की शक्ति का संचित होना आवश्यक है। जिस प्रकार नोंक पैनी न हो तो छेद करने वाला उपकरण अपना काम ठीक तरह से नहीं कर सकता, वैसे ही चिन्तन को नोंकदार बनाये बिना वह भी एक अभीष्ट विषय में एकाग्र न होकर विविध विषयों में बिखर जायगा। चिन्तन को नोंकदार बनाने के लिए उसे एकाग्रता के पत्थर पर घिसना आवश्यक है। बिखरा हुआ मानसिक, बौद्धिक या आध्यात्मिक चिन्तन फैली हुई सूर्य की किरणों के समान हैं, उनमें इतनी गर्मी उत्पन्न नहीं होती। परन्तु जब आतशी शीशे में सूर्य-किरणें केन्द्रित हो जाती हैं, तब शीघ्र ही तीव्र गर्मी उत्पन्न होती है और पास में रखे हुए वस्त्र या कागज को तुरन्त जला डालती है। इसी प्रकार प्रखर एकाग्रता मनःसंस्थान के जिस किसी भी केन्द्र पर अपना प्रभाव डालती है, उसमें गर्मी उत्पन्न होती है। गर्मी से हर चीज फैलती और उठती है। आन्तरिक क्षेत्र की जमी हुई या सोई हुई शक्ति को सक्रिय, व्यापक एवं गतिशील बनाने के लिए ध्यानजन्य एकाग्रता की गर्मी बहुत उपयोगी होती है। मुख्यतया इसी के सहारे आन्तरिक जागरण तथा आत्मिक उत्थान के बहुत-से आधार खड़े होते हैं। उच्चस्तरीय आध्यात्मिक सफलताओं का स्रोत भी ध्यानजन्य एकाग्रता है।

भक्तियोग की साधना भी एकाग्रता से

परमात्मा का स्वरूप क्या है ? उसकी कौन-सी प्रमुख शक्तियाँ हैं ? परमात्मभाव की प्राप्ति कितनी आवश्यक है ? परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त करने के, तथा उनकी भक्ति एवं उपासना के कौन-कौन-से उपाय या आलम्बन हैं ? इन तथ्यों को जितनी गहरी दिलचस्पी के साथ हृदयंगम किया जायगा, उतना ही आकर्षण बढ़ता जाएगा। और आकर्षणीय बातों में साधक के मन, बुद्धि, चित्त और हृदय एकाग्र होंगे।

इसलिए एकाग्रता का प्रमुख आधार है—दिलचस्पी, रुचि या आकर्षण। मन, बुद्धि, चित्त या हृदय उसी विषय में केन्द्रित होते हैं, जिनमें उसकी दिलचस्पी, आकर्षण या रुचि होती है। आकर्षण के चुम्बक से मन

उस विषय में संलग्न रहने के लिए सहमत होता है। रुचि के प्रबल हो जाने पर हृदय उसमें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक एकाग्र हो जाता है। दिलचस्पी की प्रबलता ही बुद्धि को उस विषय में गहराई से सोचने, समझने, विश्लेषण करने एवं व्याख्या करने के लिए एकाग्र करती है। उत्सुकता या उत्कण्ठा जितनी प्रगाढ़ या तीव्र होगी, उसी अनुपात में मन, बुद्धि, चित्त एवं हृदय उस विषय में सरसता, सहजता एवं सरलता अनुभव करने लगेंगे, और उसी विषय के इर्द-गिर्द छाया की तरह मँडराते रहेंगे।

आध्यात्मिक विषयों में एकाग्रता के लिए भी गहरी रुचि उत्सुकता, श्रद्धा, उत्कण्ठा या पिपासा हो तो उतनी ही शीघ्रता से मन, उसमें एकाग्र हो जायेगा, बुद्धि उसमें केन्द्रित हो जाएगी, चित्त उसमें तन्मय होकर डूब जाएगा और हृदय उसी में श्रद्धापूर्वक एकाग्र हो जाएगा। उसकी दृष्टि, इन्द्रियों की शक्ति एवं अंगोपांगों का प्रयत्न भी उसी दिशा में स्थिर होने लगेगा।

त्रिविध योगों में एकाग्रता : प्रधान उद्देश्य

योगाभ्यास का सर्वप्रथम सोपान मनोनिग्रह, मनोविजय अथवा मनोलय है। मनोनिग्रह का प्रधान उद्देश्य एकाग्रता सम्पादन करना है। एकाग्रता की शक्ति से अनेक आध्यात्मिक उपलब्धियाँ, भौतिक सिद्धियाँ, लब्धियाँ और आत्मिक समृद्धियाँ हस्तगत हो जाती हैं। आत्मा का परमात्मभाव (मोक्ष) में घुलना-मिलना, आत्मा को परमात्मा बन जाने का नाम ही योग है, मोक्ष है। इसी के व्यवहारदृष्टि से तीन विभाग किये हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। योग की भाषा में इन्हीं तीनों को क्रमशः भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्म (क्रिया) योग कहा गया है। इन तीनों को समुचित रूप से उपलब्ध करने के लिए एकाग्रता और तन्मयता आवश्यक है। ज्ञानयोग में साधक अपने चिन्तन को एक ही प्रवाह में बहने देता है। भक्तियोग में वह अपने इष्ट देव, गुरु, धर्म में सारी विचारशक्ति को श्रद्धा-भक्ति को नियोजित करता है। और क्रिया (कर्म) योग में तन्मयता तत्परता का रूप धारण लेती है। अभीष्ट विचारों को वह कार्य रूप में परिणत करता है। भावों का वाहन है—मस्तिष्क और मस्तिष्क का वाहन शरीर बनता है। शरीर इन्द्रियों और अंगोपांग आदि सेवकों से अपना कार्य कराता है। तप, नियम,संयम, धर्माचरण, अहिंसा-सत्य आदि, व्रतों का पालन, समता, दया, क्षमा, मृदुता, विनय आदि का आचरण, परीषह जय, कषाय विजय, आदि जो भी

अनुष्ठान या आचरण आत्मिक प्रगति के प्रयोजन से किया जाता है, वह चारित्र है, क्रियायोग है। क्रियायोग में इन सब साधनों में एकाग्रतापूर्वक विचार और कार्य का समन्वय करके जुट पड़ना पड़ता है। एकाग्रचित्त होकर चारित्र के इन सब अंगों का पालन किये जाने से नाना प्रकार के आध्यात्मिक लाभ दृष्टिगोचर होते हैं। बुद्धि की स्थिरता और तीक्ष्णता, हृदय की श्रद्धा भक्तिपूर्वक कार्य करने की क्षमता तथा तन-मन एवं इन्द्रियों द्वारा प्रत्येक कार्य के अनुष्ठान को सही ढंग से करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

एकाग्रता की सिद्धि के मूल सूत्र और मन्त्र

इच्छाओं के तल पर सन्तोष का भाव, भावनाओं के तल पर सभी स्थितियों में मांगल्य का दर्शन और कार्यों (आचरणों) के तल पर उन्हें सन्तुलित और समग्ररूप में करने की रीति-नीति, यही हैं वे सूत्र, जिसके आधार पर मन, हृदय, बुद्धि और चित्त को, तथा तन और उसके उपकरणों को अभीष्ट आध्यात्मिक विषय में एकाग्र किया जा सकता है। यही सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय में चमक और चमत्कार का प्रमुख कारण है। एकाग्रता की सिद्धि के लिए आकांक्षाओं का परिष्कार, सन्तोषभाव का वरण, सम्यक्चारित्र के अंगों की पवित्रता और उनके आचरण में तीव्रता एवं हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि प्रत्येक परिस्थिति में समता, ये चार मूल-मन्त्र हैं, जिन्हें प्रतिक्षण स्मरण रखना चाहिए।

□

५

परमात्म-स्वर-श्रवण का श्रेष्ठ साधन : मौन

आत्मधर्म की साधना का सर्वोत्तम अभ्यास मौन द्वारा

आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य—मोक्ष प्राप्ति है। मोक्ष की मंजिल प्राप्त करने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र, ये तीन साधन बतलाए गये हैं। इन तीनों साधनों को एक शब्द में सद्धर्म या आत्म-धर्म कहा गया है क्योंकि पर-पदार्थों की चिन्ता छोड़कर एकमात्र अपनी आत्मा का श्रद्धान, आत्मस्वरूप का ज्ञान और चित्त को अन्य विकल्पों से हटा कर एकमात्र आत्मस्वरूप में जोड़कर उसी में लीन होना निश्चय रत्न-त्रयी है, वही आत्मधर्म का रूप है। आत्मधर्म की साधना का व्यवहार और निश्चय से सर्वोत्तम अभ्यास मौन के द्वारा ही हो सकता है।

आध्यात्मिक विकास का उत्कृष्ट साधन : मौन

सभी धर्मों और दर्शनों ने मौन को आत्मविकास का उत्कृष्ट साधन माना है। प्रत्येक देश और युग के आध्यात्मिक पुरुषों ने, योगियों ने और मंत्र-तंत्रविदों ने भी मौन-साधना को आध्यात्मिक विकास के लिए अनिवार्य माना है।

ज्ञानी से ज्ञानी मौन में ही मिलता है

चीन का विख्यात दार्शनिक 'लाओत्जे' शान्ति के लिये मौन को अप-नाता था। उसका कथन था—"जो जानता है, वह बोलता नहीं, और जो बोलता है, वह जानता नहीं।" उसके द्वारा कहे गए 'जानने' शब्द का रहस्य क्या था ? यही था कि जो ईश्वरीय या शुद्ध-आत्मा परमात्मा की

आवाज को जानता है अर्थात्—जो परमपिता या शुद्ध आत्मा स्वर को तथा उनके आदेश को हृदयंगम कर लेता है, आत्मसात् कर लेता है, उसे बोलने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसका शुद्ध आत्मस्वरूप में रमण या स्वभाव का या आत्मधर्म का आचरण ही स्वयं बोलता है।

जहाँ दो ज्ञानी मिलते हैं, वहाँ वे बोलते नहीं, मौन से ही दोनों समझ जाते हैं। एक बार गुरु नानक के शिष्यों ने उनसे कहा—"संत कबीर यहाँ आए हुए है। वे बहुत ही पहुँचे हुए संत हैं, अध्यात्मज्ञानी हैं। आप उनसे वार्तालाप करिये, इससे ज्ञान-वृद्धि होगी।" शिष्यों के अनुरोध पर गुरु नानकदेव कबीरजी से मिलने पहुँचे। शिष्यमण्डली साथ में थी। कबीरजी को पता लगा कि नानकदेव आ रहे हैं तो वे उनके स्वागत के लिए सामने पहुँचे। दोनों मौन रहे। दोनों सन्त बड़े प्रेम से एक-दूसरे से गले लग कर मिले। पर दोनों मौन रहे। दोनों में से कोई भी न बोला। नानकदेव के शिष्य आश्चर्य से यह प्रेम-मिलन देखते रहे। दोनों का चेहरा प्रफुल्लित था। दोनों एक-दूसरे के सामने देखते रहे। कबीर भी ज्ञानी थे और गुरु नानक भी ज्ञानी थे। दोनों का मनोभाव दोनों मौन की भाषा में समझ गये। गुरु नानक प्रसन्न होकर वापस अपने स्थान पर पहुँचे। उनके शिष्यों ने पूछा—"गुरुजी! आप दोनों कुछ नहीं बोले, न ही कोई इशारा किया। पर आप दोनों के चेहरे पर प्रसन्नता थी, हम तो समझ ही नहीं पाये कि आपका क्या वार्तालाप हुआ?" गुरु नानकदेव ने कहा—"वार्तालाप बोलने से ही हो, ऐसी बात नहीं। दो ज्ञानी जब मिलते हैं, तो उन्हें बोलने की जरूरत नहीं पड़ती। हम लोग परस्पर एक-दूसरे की बात समझ गये।"

मौनावस्था में ही आत्मज्ञान या अन्तर्ज्ञान बढ़ता है

प्रायः आत्मज्ञान या अन्तर्ज्ञान तभी बढ़ता है, जब व्यक्ति मौन दशा में हो। क्योंकि मौनावस्था में मनुष्य बाह्य विषयों से मन, वाणी, काया और आत्मा को समेटकर अन्तर् में मोड़ता है। और जब मनुष्य अपनी अन्तर्यात्रा प्रारम्भ करता है तो उसके सामने आत्मा के सिवाय और किसी तत्त्व या द्रव्य का चिन्तन नहीं होता। भाषा का प्रयोग, मन का बाहर में उपयोग तथा शरीर की बाहरी चेष्टाएँ तभी होती हैं, जब मनुष्य दूसरों के सम्पर्क में आता है, समाज, नगर, राष्ट्र आदि के साथ अपने-पराये का सम्बन्ध जोड़ता है, किसी आत्मबाह्य वस्तु के साथ प्रियता-अप्रियता कल्पना करता है, एक को मनोज्ञ दूसरे को अमनोज्ञ, एक को बुरी, एक को अच्छी, तथा एक परिस्थिति को इष्ट, एक को अनिष्ट कहने, समझने और

तदनुसार व्यवहार करने लगता है। मौन के बिना वचन, मन और शरीर, तीनों चंचल हो जाते हैं, इनको व्यग्रता, व्याकुलता, अनेकाग्रता, अनेक-चित्तता हो जाती है। मनुष्य वस्तु स्वरूप से ज्ञान के बहुत दूर हट जाता है। अतः मन, वचन, और शरीर का बाहर में जितना अधिक प्रयोग-उपयोग होगा उतनी ही अधिक बाधाएँ, रुकावटें व्यक्ति के अन्तर्ज्ञान में आती है।

आत्मज्ञान विविध भाषाओं एवं विद्याओं के ज्ञान के आधार से नहीं

आजकल जितनी भी विद्याओं, कलाओं, विज्ञानों, तथा विविध भाषाओं का ज्ञान बोलकर अथवा विविध भाषाओं के माध्यम से होता है। परन्तु इस भौतिक विज्ञान और व्यावहारिक ज्ञान के साथ अध्यात्मज्ञान का मेल न होने से यह मानव जाति के लिए सुरक्षा और विकास का कम, संघर्ष, भीति असुरक्षा और विनाश का कारण अधिक बन गया। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा—

'न चित्ता तायए भासा, कओ विज्जाणुसासणं।[1]

सीखी हुई विविध प्रकार की भाषाएँ या बोलियाँ तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकतीं, फिर विविध विद्याओं का अनुशासन=प्रशिक्षण कैसे रक्षा कर सकेगा ?

आशय यह है विविध भाषाओं या विद्याओं के ज्ञान में आपकी सुरक्षा नहीं, आपकी सुरक्षा है आत्मज्ञान से, जो कि बोलने से प्राप्त नहीं होती। अथवा यों भी कहा जा सकता है कि आत्मज्ञान के लिए भाषाज्ञान की, अथवा विविध भौतिक विज्ञान की या विद्याओं की भी अपेक्षा नगण्य है। संसार में ऐसे आत्मज्ञानी भी हुए हैं, कबीर, रैदास, दादू, आदि का पर्याप्त भाषाज्ञान भी नहीं था, यहाँ तक कि वे अपने विचारों को भी व्यवस्थित ढंग से अभिव्यक्त नहीं कर सकते थे, भाषण देना भी नहीं जानते थे, अपनी बात अच्छे ढंग से कहना भी नहीं जानते थे, किन्तु भाषाविज्ञान विशारदों, प्रवचन-पटु वक्ताओं, तथा भाषणकलाविदों से आत्मज्ञान में बहुत आगे बढ़े हुए थे। अतः आत्मज्ञान के लिए भाषण, उच्च शिक्षा विद्याओं का अध्ययन या भाषा आदि की दक्षता अपेक्षित नहीं है। उसके लिए अपेक्षित है, मौनपूर्वक अन्दर में डुबकी लगाने की। भाषा आदि सब

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र अ० ६ गाथा ११

बाहर से आती हैं, और आत्मज्ञान अथवा आत्मस्वभाव का दृढ़ निश्चय अन्तर् से स्फुटित होता है। इस विश्व में अंग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत, फ्रेंच, जर्मन, तमिल, मराठी, गुजराती आदि अनेक भाषाओं के सभी विद्वान आत्मज्ञानी नहीं हुए। किन्तु साधारण पढ़े-लिखे एवं माषतुष जैसे मन्द-बुद्धि भी परम आत्मज्ञानी हुए हैं।

मौन से स्व-पर-शान्ति

रमण महर्षि कोई अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे। परन्तु उनके अन्तर में अपने आप (आत्मा) को जानने की लगन लगी। वे एकान्त एवं मौन के सहित एक ऐसी गुफा में रहे, जहाँ अनेक सर्पों और जहरीले जन्तुओं का अड्डा था। परन्तु एकमात्र निखालिस आत्मा के मौनपूर्वक चिन्तन-मनन एवं स्वरूप ध्यान करते हुए उन्हें यह दृढ़ निश्चय हो गया कि मेरे अन्दर जैसी आत्मा है, वैसी ही इन जहरीले जन्तुओं में है। केवल ऊपरी चोला (देह का आकार-प्रकार) दूसरा है। भले ही इनकी चेतना पर आया हुआ अज्ञान का आवरण न हटने से इनकी चेतना अल्पविकसित हुई है। फिर भी इतना अवश्य है कि मैं इन्हें सताऊंगा, डराऊंगा, मारूंगा नहीं तो ये भी मुझे कुछ भी हानि नहीं पहुँचायेंगे। और यही हुआ, सांप आदि उनके शरीर पर लिपट जाते, मगर कभी उन्हें काटा नहीं। इतना ही नहीं, दिन में जब वे गुफा के बाहर बैठते तो मोर, बन्दर, खरगोश, गिलहरी आदि दूसरे प्राणी भी आकर मौनी रमण महर्षि के पास आकर बैठते थे और उन्हें शान्ति प्राप्त होती थी।[1]

यही कारण है कि रमण महर्षि को मौन से आत्मिक शक्तियाँ और उपलब्धियाँ प्राप्त हो गई थीं, जिनके प्रभाव से पास में बैठने वाले व्यक्ति या प्राणी को भी शान्ति और समाधि प्राप्त होती थी। एक चीनी कहावत प्रसिद्ध है—

मौन के वृक्ष पर शान्ति के फल लगे रहते हैं।[2]

महात्मा गांधीजी किसी भी समस्या का समाधान तथा शान्ति प्राप्त करने के लिए प्रायः मौन रखते थे।

---

१ गुप्त भारत की खोज (ले. पालब्रिटन) से।

२ Chinese Proverb.

मौन जनित शान्ति का सुदूर प्रभाव

मौन रखने से शान्ति के अतिरिक्त मन में कई दिनों से घुटते हुए प्रश्न का कोई न कोई अनुकूल समाधान प्राप्त हो जाता है। मौन से संचित शान्ति के परमाणु लहरें (Vibrations) बनकर वायुमण्डल में घूमते रहते हैं और अपने सजातीय परमाणुओं को खींच कर ले आते हैं। मौनी साधक की शान्ति का प्रभाव पास में आने वाले पर पड़े बिना नहीं रहता। दिल को दिल से राह होती हैं। इस कहावत के अनुसार मौनावस्था में साधक के शुभभावों का प्रभाव मनुष्यों पर ही नहीं, दूसरे प्राणियों पर भी अवश्य पड़ता। वनस्पति आदि अल्पविकसित चेतना वाले जीव भी मौनभाव से व्यक्त प्रोत्साहन और प्रशंसा का प्रभाव ग्रहण करते हैं।

काम्पिल्य नगर के बाहर केसर नामक उद्यान में एकान्त शान्त स्थान में गर्दभाली आचार्य समौन ध्यान में विराजमान थे। नगरनरेश संयती अपनी चतुरंगिणी सेना सहित उसी वन में हरिणों का शिकार करने के लिए आया। संयती राजा ने तीर मारकर एक मृग को घायल कर दिया। घायल मृग संयोगवश भागकर मानो शरण के लिए मुनि के पास आकर बैठ गया। संयती राजा मुनि के पास आया। मुनि के शान्त, मौन, और ध्यानस्थ चेहरे को देखकर वह बहुत प्रभावित हुआ। उसने मन ही मन सोचा—हो न हो यह मुनि का ही मृग है। मुझसे बहुत बड़ा अपराध हो गया। मुनि के ध्यान और मौन खोलते ही राजा करबद्ध होकर क्षमा माँगने लगा। कहने लगा—"आप मुझ पर कुपित न हों, क्षमा करें, मुझे अभयदान दें।" मुनि ने कहा—"अभयदान चाहते हो तो सभी प्राणियों के प्रति अभयदाता बनो। क्यों इस नश्वर राज्य और क्षयिक विषय सुखों में आसक्त हो रहे हो ?" मुनि के प्रभावशाली वचनों से राजा को शान्ति मिली। उसने संसार से विरक्त होकर उनका शिष्य बनने का निर्णय कर लिया। वह संयती राजर्षि बना। मुनि के ध्यान और मौन से प्राप्त आत्म-शक्ति का ही यह प्रभाव था।[1]

मौन से आत्मतृप्ति और आत्मसन्तुष्टि का सुख

मन, वाणी और काया पर संयम रखने से, वाग्गुप्ति से अथवा भाषा समिति के विधिवत् पालन से मनुष्य को अभूतपूर्व शान्ति, सुख,

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र

सन्तुष्टि और तृप्ति मिलती है। इसे अनुभवी स्वयं अनुभव कर चुके हैं। प्रत्येक व्यक्ति इस त्रिविध मौन का स्वयं अभ्यास करके अनुभव कर सकता है।

फ्रांस के दक्षिण-पश्चिमी कोण में, स्पेन की सीमा के पास घने वृक्षों की छाया में संसार का एक अद्भुत मठ बना हुआ है। उसमें ईसाई भिक्षुणियाँ रहती हैं, तप, संयम और मौन से। ये 'सन्त बर्नार्ड' की भक्तिनें 'बर्नार्डाइन' कहलाती हैं। न वे परस्पर बातें करती हैं और न ही किसी व्यक्ति को आँखें उठाकर देखती हैं। इनका परिधान है—अंग पर नीला चोला, श्वेत कफनी, सिर पर काले वस्त्र का पर्दा, गले में लटकाया हुआ जंजीर में श्वेतरंग की लोहे की शूली का चिह्न, यही उनकी सीधी-सादी वेशभूषा है। प्रार्थना के सिवाय, वे हर समय मौन रहती हैं। दिन भर स्वाध्याय, ध्यान, सिलाई, बुनाई, कताई, बगीचे की सिंचाई, रसोई आदि कार्यों में व्यस्त रहती हैं। पर ये सब कार्य वे मौन रहकर करती हैं। ये सब कार्य या प्रशिक्षण ग्रहण वे इस मौन-महिलामठ की संस्थापित 'एब्बेसेस्टाक' के मार्गदर्शन से करती हैं। वे प्रतिदिन नियमित रूप से समय पर प्रार्थना करती हैं। इस आश्रम में रहने वाली प्रत्येक भिक्षुणी के तन, मन, पर शान्ति, समाधि और प्रसन्नता छाई रहती है। इनकी आवश्यकताएँ बहुत ही कम हैं। प्रायः वे उपवास करती हैं, संयम से रहती हैं। फैशन और विलास की कोई भी चीज अपने पास नहीं रखती, न ही उसका उपयोग करती है। यह आश्रम चारों ओर दीवारों से घिरा है। बीच में एक बड़ा लकड़ी का फाटक है। बाहर से आने वाले हर व्यक्ति को इसमें प्रविष्ट नहीं होने दिया जाये। भिक्षुणियों के निवास के लिए साधारण छत वाले कमरे बने हुए हैं। नीचे केवल बालू बिछा हुआ फर्श है।

इस मौन महिला मठ की शान्ति और समाधि के परमाणु आसपास दूर-दूर तक फैलते है, जिसके प्रभाव से वहाँ कभी लड़ाई-झगड़े या अशान्ति नहीं होती है।[1]

शक्ति संचित करने का उत्तम साधन : मौन

शक्ति को संचित करने का उत्तम साधन मौन है। मौन से बिखरी हुई शक्तियाँ संचित हो जाती है। चिरकाल तक मौन रखने वाले की वाणी

---

१ आर्यमार्त्तण्ड १७ अक्टूबर १९५३ (ले० श्रीमती लाज शिवहरे बी० ए०) से उद्धृत

में अपूर्व बल आ जाता है, उसे वचन सिद्धि भी प्राप्त हो जाती है। उसके चेहरे पर अपूर्व तेज और ओज व्याप्त हो जाता है। उसका मनोबल इतना जागृत और प्रदीप्त हो जाता है कि वह अपनी जगह पर बैठा-बैठा समौन जाप से दूसरों को सम्मोहित एवं आकर्षित कर लेता है।

कुछ वर्षों पहले सौराष्ट्र में एक वैष्णव सन्त ने बारह वर्ष तक मौन पूर्वक केवल एक कौपीन और चादर तथा एक भिक्षापात्र व तुम्बा रखकर तीर्थभ्रमण किया। यद्यपि मौन में उन्हें बहुत-सी असुविधाएँ हुई, कष्टों और संकटों का सामना करना पड़ा, फिर भी उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक सम-भाव से सहन किया। फलतः उन्हें वचन सिद्धि प्राप्त हुई, कष्ट सहिष्णुता और समता में वृद्धि हुई। आज भी वे जीवित हैं और प्रायः मौन रहते हैं। मौन में उन्हें अपनी पवित्र आत्मा से जो भी संदेश, आदेश एवं प्रेरणा प्राप्ति होती है, उसके अनुसार जिज्ञासु और आत्मार्थी लोगों को लिखित रूप में मार्गदर्शन देते हैं।

विश्व वात्सल्य पत्र के प्रेरक, धर्ममय समाज रचना के प्रयोगकार मुनि श्री संतबाल जी भाल-नलकांठा-प्रदेश में समाज निर्माण का प्रयोग प्रारम्भ करने से पूर्व आत्मशक्ति संचित करने की दृष्टि से रणापुर गाँव के बाहर एक स्थान में एक वर्ष तक समौन एकान्तवास में रहे थे। केवल भिक्षाचर्या के लिए वे गाँव में जाते, तथा भोजन, शयनादि शारीरिक कार्यों के अतिरिक्त शेष समय चिन्तन-मनन, वाचन, लेखन आदि में व्यतीत करते थे। इस प्रकार आध्यात्मिक शक्ति अर्जित करने के पश्चात् उन्होंने अहमदा-बाद जिले के भाल-नलकांठा-प्रदेश को प्रयोग क्षेत्र चुना और वे अपनी साधु-मर्यादा में रहते हुए समाज निर्माण के प्रयोग में संलग्न हुए। अनेकों व्यक्ति उनके सम्पर्क में आकर मांसाहार एवं मद्यपान से मुक्त होकर, नैतिक जीवन जीने के लिए तैयार हुए। कई व्रतबद्ध कार्यकर्ता भी तैयार किये। यह सब मौन द्वारा अर्जित शक्ति का परिणाम था।[1]

सर्वांगीण मौन से अहंता-ममतादि से विरति

सर्वांगीण मौन का सबसे बड़ा लाभ अहंता-ममता, प्रसिद्धि-प्रशंसा आदि से विरति है। जब व्यक्ति मन-वचन-काया से मौन स्वीकार करता है, तो भाषा, भाषण विद्या, सिद्धि, लब्धि, प्रसिद्धि आदि की अहंता-ममता

---

१ मुनिश्री सन्तबालनीनूं 'निवेदन' से।

से उसे विरक्ति हो जाती है। मैं जोशीला और लच्छेदार भाषण और प्रवचन करता हूँ, मेरा चिन्तन, मेरी विचारधारा, मेरी मान्यता और मेरा मत-पन्थ या सम्प्रदाय मौलिक है, सर्वोत्कृष्ट है, सर्वतोभद्र है, सर्वहितकारी है, मेरे समान कोई विचारक या प्रवक्ता है ? इसी प्रकार मेरा पत्र-पत्रिकाओं में नाम होना चाहिए, मेरी प्रसिद्धि संसार में होनी चाहिए ? धुंआधार प्रचार-प्रसार होना चाहिए, इस प्रकार की अहंता और ममता से सर्वतोमुखी मौनी साधक बहुत कुछ बच जाता है।

मौन से चित्त-एकाग्रता और अभूतपूर्व प्रेरणा

मौन से चित्त की एकाग्रता होती है। चित्त को एक सद्विचार में केन्द्रित करने से संकल्पशक्ति, कार्यक्षमता और सूझबूझ बढ़ती है। विचारों के बिखरे रहने से तथा चित्त की चंचलता से व्यक्ति संशयग्रस्त, अनिश्चय, भय और आवेश की स्थिति में होता है। इसलिए मौन से व्यक्ति शान्त और स्थिरचित्त होकर अनेकगुनी शक्ति बढ़ा लेता है। यही कारण है कि जो व्यक्ति मौन रहते हैं, वे आत्मशक्तियों को बढ़ाकर कठिन समझे जाने वाले कार्यों को आसानी से कर लेते हैं। ईसा मसीह ने मौन साधना द्वारा ही अपनी क्षमा, शान्ति, परमात्मभक्ति की क्षमता बढ़ा ली थी। इसी प्रकार तथागत बुद्ध ने भी मौन साधना द्वारा समाज में प्रचलित अनेक विषमताओं को दूर करके समन्वय का प्रशस्त मध्यम मार्ग अपना लिया था। वे अनेक दिनों से तपस्या और मौनसाधना में रत थे। सही मार्ग ढूंढ नहीं पाये थे। एक दिन एक वारांगना अपनी सहयोगिनी महिलाओं को वीणावादन के विषय में समझा रही थी—"वीणा के तार एकदम ढीले होंगे तो सुरीला स्वर नहीं निकलेगा, और तार अत्यन्त कसे हुए होंगे तो वह बिलकुल ही बजेगी नहीं, तार टूट जाएँगे। इसलिए वीणा के तार न तो अत्यन्त ढीले रखो न ही अत्यन्त कसे हुए।" बस मौनस्थ एकाग्रचित तथागत बुद्ध को इस कथन से महती प्रेरणा मिली। उन्हें मध्यम मार्ग का सूत्र मिला गया। शरीर को तथा इन्द्रियाँ मन आदि को न तो अत्यन्त शिथिल और स्वच्छन्द रहने दो और न ही अत्यन्त कसो, तपाओ और न उनकी शक्ति को बिलकुल अवरुद्ध करो। तभी शरीर से तप, संयम, त्याग आदि की साधना सुचारु रूप से होगी।

मौन : एक मानसिक तप

भगवद्गीता में मौन को मानसिक तप कहा गया है। वास्तव में

मौन में सभी प्रकार की इच्छाओं, कामनाओं और वासनाओं का निरोध हो जाता है, और इच्छा-निरोध ही तप का स्वरूप है।

मौन से प्रतिवाद आदि से छुटकारा

वाचिक मौन से सबसे बड़ा लाभ होता है—वाद-विवाद, वितण्डा-वाद गाली और निन्दा के प्रतिवाद, प्रहार, भर्त्सना, तर्जना, झिड़की आदि के प्रतीकार आदि से छुटकारा। अपनी मान्यता के विरुद्ध अथवा अपने प्रति गाली, निन्दा, चुगली, भर्त्सना, प्रहार, तर्जना आदि का प्रयोग एवं अपने से वाद-विवाद या वितण्डावाद करने वाले के विरुद्ध प्रतिक्रिया से मुक्ति। न बोलने वाला व्यक्ति वचन से नहीं, मन से भी अपना विरोध करने वाले का प्रतिविरोध नहीं करता। वह शान्तभाव से सहता है, विरक्ति, समता और क्षमा की शक्ति बढ़ा लेता है। एक व्यक्ति बोलता है और दूसरा मौन हो जाता है तो लड़ाई होती ही नहीं। लड़ाई तभी होती है, संघर्ष और मुठभेड़ तभी होती है, जब दूसरा व्यक्ति बोले। संघर्ष या मन-मुटाव की आग भी तभी भड़कती है, जब उसे ईंधन मिले। आग को घास खाने को नहीं मिलेगी, तो वह स्वयमेव शान्त हो जाती है,[1] इसी प्रकार विरोध की आग भी मौनस्थ व्यक्ति द्वारा प्रतिक्रिया न करने से स्वतः शान्त हो जाती है।

मौन से वचनगुप्ति और निर्विचार ध्यान की भूमिका पर

वाणी के मौन से वचनगुप्ति का भी पालन होता है। वचनगुप्ति का अभ्यास बढ़ाने से धीरे-धीरे व्यक्ति निर्विचार ध्यान की भूमिका पर पहुँच जाता है। मनुष्य जब तक बोलता रहता है तो उसे सोचना भी पड़ता है, सोचने में मन में नाना प्रकार के शुभ-अशुभ विकल्पों की घुड़दौड़ चलती है वह रुक नहीं सकती। परन्तु जब मनुष्य निश्चित रूप से लगातार कई दिनों तक मौन के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हो जाता है अथवा आमरणान्त अनशन (संथारा) के दौरान एकमात्र आत्म-चिन्तन के लिए समस्त शुभ-अशुभ विकल्पों का, क्लिष्ट-अक्लिष्ट चित्तवृत्तियों का निरोध करना चाहता है, तब उसके लिए मौन के सिवाय कोई श्रेष्ठतम उपाय नहीं। मौन से वाणी मन, बुद्धि, चित्त, हृदय, इन्द्रियों आदि की उछलकूद बन्द हो जाती है। मौन से ही परम्परा से मनुष्य क्रमशः निर्विचारता की भूमिका पर पहुँच

---

१ अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति।

जाता है। और तभी एकमात्र शुद्ध आत्मा का, आत्मस्वभाव में निर्विघ्न और विक्षेप रमण और चिन्तन हो सकता है।

निरन्तर धर्मरत रहने के लिए मौनाराधना

जो व्यक्ति दिन-रात कार्य में व्यस्त रहते हैं, चाहे वह राज्यकर्म हो चाहे व्यवसाय हो, चाहे नौकरी या कारखाना आदि कार्य हो, यदि कार्य करते हुए वह चिन्तन, मनन और विवेक रखे तो उस कार्य में धर्म या पुण्य अर्जित कर सकता है। किन्तु ऐसा चिन्तन-मनन और विवेक ऐसे एक महत्त्वपूर्ण दिवस को मौन रखे तभी हो सकता है। मौन के बिना चिन्तन में एकाग्रता नहीं आती, और विवेक की पगडण्डी नहीं मिलती।

एक बार कर्मयोगी श्रीकृष्ण तीर्थंकर अरिष्टनेमि भगवान् की सेवा में पहुँचे। उन्हें वन्दन करके उन्होंने सविनय प्रश्न किया—'भगवन् ! मैं तो अहर्निश राज्यकार्य में व्यस्त रहता हूँ। ऐसे में मैं निरन्तर धर्माचरण कैसे कर सकता हूँ। अतः पूरे वर्ष में कोई ऐसा उत्तम दिवस बतलाइए, जो सारभूत हो, जिसके प्रभाव से धर्माचरण की सतत् स्मृति बनी रहे।'[1]

भगवान् अरिष्टनेमि ने कहा—'पीताम्बर ! यदि तुम्हारी ऐसी इच्छा है तो मार्गशीर्ष मास की शुक्ला एकादशी का दिन उत्तम है। इस दिन समौन आठ पहर का पौषधोपवास ग्रहण करके सावद्य प्रवृत्तियों के त्याग-पूर्वक आराधना करनी चाहिए। क्योंकि इस मौन एकादशी के दिन श्री मल्ली भगवती का जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान, ये तीन कल्याणक हुए थे। तथा इसी दिन नमिनाथ भगवान् को केवलज्ञान हुआ था, और चक्रवर्ती अरनाथ भगवान् ने चक्रीपद त्याग कर दीक्षा ग्रहण की थी।[2] इस प्रकार वर्तमान चौबीसी के तीन तीर्थंकरों के पाँच कल्याण इसी दिन हुए हैं। यों पाँच भरत क्षेत्र और पांच ऐरावत क्षेत्र के इसी दिन नियमपूर्वक तीन-तीन तीर्थंकरों के पाँच-पाँच कल्याणक होने से दस क्षेत्रों के कुल मिलाकर ५० कल्याणक होते हैं। इसी तरह भूत, भविष्य और वर्तमान काल की तीनों चौबीसियों में ९० तीर्थंकरों के कुल मिलाकर १५० कल्याणक होते हैं। इस कारण मौन एकादशी का यह दिन सभी दिनों में उत्तम है। अतः मार्गशीर्ष

---

१ पर्वकथा संग्रह (श्री विजयलक्ष्मी सूरि रचित) के मौन एकादशी की कथा से।

२ अस्यां चक्रिपदं हित्वाऽग्रहीदरजिनो व्रतम।
जन्म-दीक्षा च सज्ज्ञान मल्ली, ज्ञान नमीश्वरः।

शुक्ला एकादशी को मौनपूर्वक आराधना करनी चाहिए। इसी विधि से ११ वर्ष तक इस मौन एकादशी की वर्ष में एक बार आराधना करनी चाहिए।

एक आचार्य ने कहा है—

जो व्यक्ति विधिपूर्वक ग्यारह वर्ष तक मगसिर सुदी ११ के दिन समौन एकादशी व्रत (धर्म) का आचरण करता है, वह शीघ्र ही मोक्ष सुख प्राप्त करता है।[1] भूतकाल में सुव्रत श्रेष्ठी ने इस मौन एकादशी की विधिवत् आराधना की थी। इसके फलस्वरूप असीम पुण्यराशि अर्जित की। कालान्तर में मुनिव्रत अंगीकार किया और अनेक उपसर्गों को सहन करते हुए अन्त में समौन आमरणान्त संल्लेखनापूर्वक अनशन (सन्थारा) करके सर्वकर्मों का क्षय करके सदा के लिए सिद्ध-बुद्ध मुक्त हुए।

श्रीकृष्णजी ने भगवान् नेमिनाथ के मुख से मौन-एकादशी का माहात्म्य सुनकर स्वयं पौरजनों सहित मौन-एकादशी व्रत की आराधना की।[2] सचमुच मौनव्रत का माहात्म्य जैनधर्म ने ही नहीं वैदिक, बौद्ध, ईसाई आदि धर्मों ने भी अंगीकार किया है।[3]

'विलियम लॉ' नामक एक तत्त्व-विचारक लिखता है—"आध्यात्मिक जीवन जीने वाला साधक मौन में ही अपने अन्तर में परमात्मा के स्वर को भली-भाँति सुन सकता है। जो व्यक्ति परमात्मा के सन्देश, आदेश या आवाज को सुनने के लिए उत्सुक है, उसे संसार के कोलाहलों, मन-वचन-काया की चंचलताओं और हलचलों को रोक कर सर्वांगीण मौन धारण करना अनिवार्य है। भाषण, सम्भाषण मन-वचन-काया की हलचल, इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति का तथा अन्य विषयों का जो सुख है, वह आत्मिक व परमात्मीय आनन्द में बाधक है। इन सबका मौन ही अन्तर में परमात्मा के स्वर को श्रवण करने के आनन्द में साधक है।

---

१. विधिना मार्गशीर्षस्यैकादशी धर्ममाचरेत् ।
यदेकादशभिर्वर्षैरचिरात्स शिवं भवेत ॥

२. हेमन्ते चैव सम्प्राप्ते मासि मार्गशिते पुनः ।
शुक्लपक्षे कुर्यात् पार्थ ! उपोष्यैकादशी शुभाम् ॥

३. इति नेमिमुखादेकादशी—माहात्म्यमुज्ज्वलम् ।
आकर्ण्य पौरसहितो हरिराराधयत् स्वयम् ।

'सेन्ट जॉन ऑफ दी क्रॉस' नामक एक ईसाई सन्त ने मौन के विषय में अपना अनुभव लिखा है—"परमपिता परमात्मा के अन्तर में उठे हुए एक-एक शब्द को जो सुन सकता है, वही उनका वास्तविक पुत्र है। और परमात्मा के चिरन्तन मौन में प्रादुर्भूत हुए शब्द को वही आत्मा सुन सकता है, जो मौन में हो.....।"

उसने अपने अनुयायी भक्त को एक दिन लिखा है—"यों मत समझना कि मैं अभी तक अपनी इच्छा से चुप था। मैंने तुम्हें कभी लिखा नहीं। परन्तु मेरी शुभकामनाएँ हमेशा तुम्हारे साथ रही हैं। मैं चुप था क्योंकि वह जरूरी था। यह कितनी ही बार कहा गया है। अब तो जरूरत इस बात की है कि न कुछ लिखा जाय, न कुछ कहा जाय। मौन रह कर सभी अपने कार्यों में संलग्न रहें। बोलने से ध्यान भंग होता है। मौन से विचारों में दृढ़ता आती है।"

मौन से आध्यात्मिक शक्तियों का संवर्द्धन

भारत के विख्यात योगी अरविन्द ने बारह वर्ष मौन रह कर अपनी आत्मशक्ति इतनी बढ़ा ली थी, कि बोलने से, भाषण देने से, जो प्रभाव नहीं पड़ता, वह मौन से पड़ा। उन्होंने पाण्डीचेरी में अध्यात्मसाधकों के लिए आदर्श आश्रम स्थापित किया और देश-विदेश के अनेक अध्यात्म-पिपासु व्यक्तियों को आकर्षित किया। यह मौन का ही अभाव था कि फ्रान्स में रईसी ठाठ से रहने वाली एक महिला योगी अरविन्द की शिष्या बनने के लिए आई। धीरे-धीरे उसने भी अधिक समय तक मौन रह कर अपनी आध्यात्मिक शक्ति, विलपावर (संकल्प शक्ति) एवं अन्य शक्तियों का संवर्धन किया। बाद में तो इस महिला ने आश्रम की सारी ही व्यवस्था सँभाल ली। इसे सभी लोग 'माताजी' कह कर पुकारते थे। माताजी के समौन आशीर्वाद एवं प्रेरणा से आकर्षित कई व्यक्ति सपरिवार जीवन भर के लिए आश्रमवासी बनकर रहने और साधना करने लगे।[1]

मौन से जिज्ञासु का समाधान करने की क्षमता

मौन रखने वाले की मानसिक क्षमता इतनी विकसित हो जाती है

---

१. 'अदिति' (मासिक पत्रिका) (अरविन्द आश्रम पाण्डिचेरी) से

कि उसके कुछ कहे बिना ही लोगों को उसकी बात समझ में आ जाती है। इसीलिए भारतीय दर्शन का यह सूत्र प्रसिद्ध है—

"गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं, शिष्यास्तु छिन्न-संशयाः।"

आत्मज्ञानी गुरु की आध्यात्मिक शक्ति इतनी प्रबल होती थी कि वह मौन होकर बैठा रहता है। जिज्ञासु शिष्य उसके पास अपनी नाना प्रकार की शंकाएँ लेकर आते। किन्तु गुरु के सान्निध्य में बैठते ही उनकी सारी शंकाओं का स्वतः समाधान हो जाता। अपने-अपने संशय मिट जाने से वे समाहित और सन्तुष्ट हो जाते। मौन की भाषा मन की भाषा है, वह अव्यक्त होती है। मौन रखने वाले को दूसरों की शंकाओं का बिना बोले ही समाधान करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

भगवती सूत्र में मौन के इस माहात्म्य को प्रकारान्तर से व्यक्त किया गया है। वहाँ गौतम गणधर के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रमण भगवान् महावीर कहते हैं— गौतम ! देवलोक का इन्द्र अपनी सैद्धान्तिक शंकाएँ मन ही मन विचार कर महाविदेह क्षेत्र या भरतक्षेत्र में जहाँ भी तीर्थंकर हों, उनके पास मौनभाव से प्रेषित करता है, तीर्थंकर उसकी शंका को जान लेते हैं और मन से ही उस शंका का समाधान कर देते हैं, जो इन्द्र तक पहुँच जाती हैं। यह है मौन का चमत्कार।[1]

आहारक लब्धि के धारक चतुर्दश पूर्वधर मुनिवर भी किसी सैद्धान्तिक सूक्ष्म विषय की शंका के निवारणार्थ आहारक लब्धि के प्रयोग से आहारक शरीरमय एक हाथ का स्फटिक-सा स्वच्छ शुभ तथा अदृश्य एवं इन्द्रियों से अगोचर पुतला निकालते हैं और उसे स्वयं मौनभाव से ही तीर्थंकर केवली भगवान् के पास भेजते है। तीर्थंकर या केवली भगवान् के ज्ञान में जो भाव आते हैं वे द्रव्य मनोवर्गणा के रूप में परिणत हो जाते हैं और पुतले से सम्बद्ध मुनिवर के आत्मप्रदेश उन्हें समौन ग्रहण कर लेते हैं। यह है—मौनभाव की विशिष्ट शक्ति की उपलब्धि !

इसका रहस्य यह है कि मौन में ही अर्हत् परमात्मा का स्वर अन्तरात्मा में ज्ञात हो जाता है या सुनाई पड़ता है। अथवा जिज्ञासु की शंकाओं का समाधान करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है। यही कारण है कि उच्चकोटि का आध्यात्मिक जीवन जीने वाले महान् साधक जब

---

१ भगवती (व्याख्या-प्रज्ञप्ति) सूत्र

तक केवलज्ञान नहीं हो जाता है, तब तक अधिकतर मौन ही रहते हैं और शुद्ध आत्मा सिद्धपरमात्मा या अर्हत् परमात्मा का स्वर अथवा संदेश, आदेश अन्तर में मौनभाव से ग्रहण करते हैं, सुनते हैं।

मौन से वीतरागता की उपलब्धि

आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने दीक्षाग्रहण करने के पश्चात् एक वर्ष से अधिक समय तक मौन रखा था। वह मौन उनके लिए आत्म चिन्तन का, आत्मस्वभाव में स्थिरता का, आत्मगुणों की पूर्णता का प्रबल साधक बना, इन्हें उसके फलस्वरूप मोहनीय आदि चार घाति कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान-केवलदर्शन क्षायिकसम्यक्त्व यथाख्यातचारित्र और अनन्त शक्ति उपलब्ध हुई। दीर्घतपस्वी श्रमण भगवान् महावीर भी केवलज्ञान होने से पूर्व लगभग साढ़े बारह वर्ष के तपश्चरणकाल में अधिकांश समय मौन रहे।[1] जिसके फलस्वरूप उन्हें शरीर की भूख, प्यास, निद्रा, तथा अन्य कष्टों के समय सुख-सुविधा आदि आवश्यकताओं की पूर्ति करने की कोई चिन्ता नहीं हुई। वे एकमात्र आत्मचिन्तन, आत्मा के ज्ञान-दर्शन, चारित्र, वीर्यरूप स्वभाव में ही लीन रहे। जिसके फलस्वरूप उन्हें चारों घातिक कर्मों के क्षय के कारण केवलज्ञान, केवल-दर्शन, क्षायिकसम्यक्त्व, यथाख्यात चारित्र, अनन्त आत्मिकशक्ति आदि की उपलब्धि हुई। वे आत्मतृप्त, आत्मसन्तुष्ट, आत्मरति एवं आत्मौपम्य भाव तथा आत्मानन्द में निमग्न हो गए। एक प्रकार से अर्हत्-वीतराग-परमात्मा बन गए। इन सबके पीछे विशेष रूप से उनके वाचिक, कायिक मानसिक एवं आत्मिक चारों प्रकार के मौन का ही प्रभाव था।

अतिदूर विचार-सम्प्रेषण-प्रक्रिया में मौन अनिवार्य

हजारों कोस दूर बैठे हुए व्यक्ति को प्राचीन काल में गुरु या मार्ग-दर्शक मौन में बैठे ही अपने विचारों का सम्प्रेषण एवं आदान-प्रदान कर लेते थे। वर्तमान युग में पेरासाइकोलॉजिस्ट अपने विचार-सम्प्रेषण के लिए टैलीपैथी का प्रयोग करते हैं। आज तो वायरलेस एवं टेलीफोन द्वारा अपनी ऑफिस या दुकान में बैठा हुआ आदमी हजारों माइल दूर रहे हुए आदमी से बात कर सकता है या सुन सकता है। प्राचीन काल में ये साधन थे नहीं, हजारों कोस दूर बैठे हुए अपने शिष्य को विचार सम्प्रेषित करने

---

१ कल्पसूत्र सुबोधिनी टीका

के लिए योगनिष्ठ गुरु मौन द्वारा मानसिक क्षमता एवं एकाग्रता में वृद्धि कर लेता था। विचार-सम्प्रेषण की साधना में दक्ष योगनिष्ठ गुरु समौन ध्यानमुद्रा में बैठता और अपने विचारों की लहरें अभीष्ट दिशा में सम्प्रेषित करता। वहाँ के व्यक्ति का मस्तिष्क उन्हें ग्रहण करने (रिसीवर) का कार्य करता।

विचारों की वे लहरें इतनी शक्तिशाली होती थीं कि यथेष्ट स्थान पर निर्दिष्ट व्यक्ति तक पहुँच जाती थीं। विचार-सम्प्रेषक की लहरों को वह ग्रहण कर लेता और जान लेता कि मुझे कौन क्या कह रहा है? यदि उसे उत्तर देना होता तो वह भी समौन निश्चल ध्यान में बैठता और अपने विचारों की लहरें अभीष्ट व्यक्ति के पास पहुँचा सकता था। विचार-सम्प्रेषण का सबसे सशक्त माध्यम समौन एकाग्रचित्तता का ही था। इस प्रकार दूरातिदूर विचार पहुँचाने और वार्तालाप करने की प्रक्रिया मौन-पूर्वक ही होती थी, बोलकर नहीं।

बोलने से तथा कोलाहल से मानसिक क्षमता कम

आज तो सर्वत्र बोलने का ही अभ्यास हो रहा है। इसलिए मानसिक क्षमता दुर्बल होती जा रही है। इस ओर लोगों का लक्ष्य भी नहीं रहा। वैज्ञानिकों द्वारा आविष्कृत रेडियो, टेलीविजन, टेलीप्रिंटर, वायरलेस, केबिल द्वारा फोन, टेलीफोन आदि एक से एक दूर संचार के साधन बढ़ रहे हैं। इसका नतीजा यह हुआ कि मौन का अभ्यास तो छूट ही गया; मानसिक क्षमताएँ भी घट गयीं।

रेडियो, टी० वी०, विडिओ केसेट आदि के आविष्कारकों ने मन एवं आत्मा को मौन से वंचित करके आम जनता को नये-नये कुविकल्पों, कुविचारों, काम और कामनाओं की वृद्धि के जाल में फँसा दिया क्योंकि मौन के कारण जो मानसिक एकाग्रता आध्यात्मिक मार्ग की ओर होनी चाहिए थी, वह तो रही नहीं। इन सब दूरसंचार के साधनों ने मनुष्य के मन को व्यग्र बना दिया। कान और चेतन मन के माध्यम से अवचेतन मन तक वासना, कामना, अर्थ-लालसा एवं कामलालसा की प्रेरणा एवं सन्देश ही दिये।

समाचार पत्रों की भी लगभग यही स्थिति है। स्त्री विकथा (कामकथा), भक्त विकथा (आहार कथा), राज विकथा (राज-नैतिक भ्रष्टाचार कथा) तथा देशविकथा (दूसरे देशों के साथ संघर्ष तथा

प्रतिस्पर्द्धा की कथा) ही इनके माध्यम से पढ़ने और सोचने को मिली फलतः आबाल वृद्ध मनुष्यों के सुसंस्कार लुप्त हो गये।

मौन के अभाव में कोलाहल बहुत, धर्माचरण कम

वर्तमान युग कोलाहल का है। भूतकालीन इतिहास से ज्ञात होता है, जगत् में ऐसा कोलाहल कभी नहीं हुआ। जैसा कि आज हो रहा है। प्राचीनकाल के लोग मौनपूर्वक शान्ति से कम से कम एक-दो घण्टे या सप्ताह में एक दिन आत्मचिन्तन, धर्मजागरणा पौषधोपवास एवं समाज जागरणा में लगाते थे।

आज तो सभी वर्ग के लोगों का उद्देश्य प्रायः यही हो गया है कि हम शान्ति से न बैठें। मौन न रहने से या मौन का अभ्यास छूट जाने से सभी वर्ग के लोगों में नई-नई इच्छाएँ जन्म लेती हैं। वैज्ञानिकों का प्रयोजन भी वर्तमान जगत् के मानवों को तीव्रतम गति से चलाकर अशान्त बनाने का है। फलतः नई-नई वस्तुएँ पाने और उपभोग करने की लालसा मानव के व्यग्र तथा अशान्त मन में होती है। जब तक मन अशांत और व्यग्र रहता है, व्यक्ति आत्मसाधना के मार्ग में आगे नहीं बढ़ सकता। वह दिखावे के लिए क्रियाकाण्ड कर लेगा; जोर-शोर से धर्म,सम्प्रदाय और पंथ का धुआँधार प्रचार-प्रसार कर लेगा, भजन, कीर्तन, आदि भी लाउड-स्पीकर लगाकर जोर-ज़ोर से कर लेगा, अपने धर्म के सिद्धान्तों और विचारों पर लच्छेदार भाषण भी दे देगा; परन्तु सर्वांगीण मौन के अभाव में मन अशान्त और व्यग्र होने के कारण लोगों के जीवन में धर्म एवं नीति का उतरना तथा सक्रिय रूप से अध्यात्म का आचरण बहुत ही दूर की वस्तु हो गई है।

आज के विशालकाय प्रचण्ड उद्योगतन्त्र के सभी साधनों का प्रयोग मौन के विरुद्ध संघर्ष करने में हो रहा है। इन साधनों ने अपनी-अपनी तीव्र आवाजों द्वारा मनुष्यों का मौन भंग करके उन्हें अपने उच्च-तम लक्ष्य तक पहुँचने से रोक दिया है।

आवश्यकता है, इन सब दूरसंचार के तीव्रतम कोलाहल से अशान्त चंचल व्यग्र और अस्त-व्यस्त हुए मन, चंचल हुए वचन एवं विपरीत दिशा में गति-प्रगति एवं चेष्टा करती हुई काया एवं इन्द्रियों तथा अंगो-पांगों को मौन द्वारा आध्यात्मिक शक्तियों को जगाने में, इनकी वृद्धि करने में एकाग्र एवं स्थिर करने की।

इसीलिए 'आचारांग सूत्र' में मुनि को मौन ग्रहण करके मन-वचन-काया आदि से संचित, उपार्जित एवं बद्ध कर्मों और शरीर की संज्ञाओं को तोड़ने और छोड़ने की प्रेरणा दी गई है—

मुणी मोणं समायाए धुणे कम्म-सरीरगं ।[1]

मुनि मौन ग्रहण करके अपनी आत्मा के साथ लगे हुए कर्म और शरीर को कृश करे, छोड़े या तोड़े ।

जैन और बौद्ध संस्कृति में मुनि के लिए मौन आवश्यक और आत्म-चिन्तन के लिए अनिवार्य बताया है । उत्तराध्ययन सूत्र में मुनि का वास्तविक लक्षण बताते हुए कहा है—

मोणेण य मुणी होई ।[2]

मौन से ही वास्तव में मुनि होता है ।

बौद्धधर्म के मूर्धन्य ग्रन्थ 'धम्मपद' में भी मुनि का लक्षण बताया है—

'यो मुनाति उभे लोके, मुनि तेन पवुच्चति ।'[3]

जो मौनपूर्वक दोनों लोकों का मनन करता है, वह मुनि है ।

जो साधक मौन वृत्ति में रहकर अपनी इहलोक और परलोक की गतिविधि का, कार्यकलापों का चिन्तन-मनन करता है, अपनी आत्मशक्ति, आत्मिक आनन्द, आत्मिक ज्ञान-दर्शन तथा आत्मिक सौन्दर्य एवं ऐश्वर्य पर विचार करके प्रतिदिन यह सोचता है—

किं मे किच्चं, किं मे किच्च सेसं, किंवा सक्कं न समायरामि ।'[4]

मेरे लिए क्या करणीय-आचरणीय है, कर्तव्य है, कौन-सा करणीय कृत्य शेष है, और कौन-सा ऐसा कार्य है, जिसे मैं कर सकता हूँ, फिर भी प्रमाद, आलस्य एवं असावधानी वश नहीं कर रहा हूँ । इसीलिए मुनि का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ किया गया है—'मौनाद् मुनिः' मौन से ही मुनि होता है ।

---

१ आचारांग सूत्र श्रु. १, अ. ५, उ.३ ।

२ उत्तराध्ययन सूत्र ।

३ धम्मपद ।

४ दशवैकालिक सूत्र चूलिका ।

मौन का सम्यक् और सर्वांगीण रूप से अभ्यास करने वाला साधक ही सत्य की सुरक्षा कर सकता है। जिसका मौन का अभ्यास नहीं होता, वह बोलते समय क्षणभर भी न रुककर क्रोध, आवेश, रोष, द्वेष, लोभ, भय, हास्य, कपट और अहंकार वश असत्य बोल सकता है, असत्य सोच सकता है और असत्य आचरण या चेष्टा कर सकता है। इसलिए सत्यार्थी को मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के साथ सर्वांगीण मौन का अभ्यास करना जरूरी है। इसी का समर्थन करते हुए आचारांगसूत्र में कहा गया है—

एयं मोणं समणुवासेज्जासि।[1]

इस मौन की सम्यक् अनुपासना करनी चाहिए।

जो इस सर्वांगीण मौन की सम्यक् उपासना करता है, वही सत्य और सम्यक् (यथार्थ) दर्शन करता है, और सत्य का—सम्यक् (यथार्थ) का दर्शन करने वाला ही मौन—मुनित्व के दर्शन करता है। इसी तथ्य का उद्घाटन आचारांगसूत्र में किया गया है—

"जं सम्मं ति पासहा, तं मोणंति पासहा।
जं मोणंति पासहा, तं सम्मं ति पासहा॥"[2]

भावार्थ ऊपर आ गया है।

जितने भी आध्यात्मिक साधक हुए हैं, उन्होंने ध्यान, कायोत्सर्ग, अनुप्रेक्षा, आत्मसम्प्रेक्षण, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, पूजा-पाठ, सामायिक, पौषध, परमात्मस्मरण, आत्मचिन्तन, अभिग्रह, संल्लेखना-संथारा, समाधि-मरण-साधना आदि के दौरान मौन ही रखा है और रखते हैं। भगवान महावीर ने भी कायोत्सर्ग के समय साधकों के लिए कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकार के मौनपूर्वक आत्म-व्युत्सर्ग का विधान किया है। देखिये आवश्यक सूत्रीय वह पाठ—

ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि।[3]

---

१ आचारांगसूत्र श्रु. १, अ. २, उ.४।
२ वही, श्रु. १, अ. ५, उ.३।
३ आवश्यकसूत्र, उत्तरीकरण पाठ।

कायोत्सर्ग के समय साधक प्रतिज्ञा करता है—'प्रभो ! मैं शरीर से एक स्थान पर स्थिर रहकर, वाणी से मौन रहकर, तथा चित्त से धर्म-शुक्ल ध्यान में एकाग्र होकर अपनी आत्मा का समस्त सावद्य व्यापारों या परभावों से पृथक्—व्युत्सर्ग करता हूँ।

केवल वाणी का मौन अधूरा एवं कभी-कभी अश्रेयस्कर भी

केवल वाणी का मौन अधूरा मौन है। कई लोग मौन का उद्देश्य न समझ कर केवल वचन से मौन कर लेते हैं, परन्तु अन्तर में उनकी मनोवृत्तियाँ चंचल रहती हैं, काया की चेष्टाएँ भी चंचल हो जाती हैं। अतः मौन यदि भय या किसी स्वार्थ, लोभ या छल से प्रेरित है तो वह वास्तविक मौन नहीं, वह पाशविक या तामसिक मौन है। वाणी का मौन तो एकेन्द्रिय से लेकर तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव तक रख लेते हैं, परन्तु वह मौन समझ-बूझ-पूर्वक संयम एवं त्यागपूर्वक नहीं, वह ज्ञानचेतनाशून्य मौन नहीं होता, न ही उसे तप या संयमफलद्योतक मौन कहा जाता है। एक बगुला भी मौनी की तरह एक पैर ऊँचा करके खड़ा रहता है, किन्तु उसका मौन जल-जन्तुओं को धोखा देकर पकड़ना है। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य वाणी से मौन रखकर दूसरों को धोखा देता है, वंचना करता है, या ठगी करता है, तो वह मौन पाप कर्मबन्धक है।

एक ग्वाले ने एक गाय खरीदी जो हृष्ट-पुष्ट थी परन्तु गाय बिल्कुल दूध नहीं देती थी। बेचारा उदास रहने लगा। पास ही एक मन्दिर में भगतजी रहा करते थे। उन्होंने ग्वाले की चिन्ता सुनकर आश्वासन दिया—"मैं तेरी गाय बिकवा दूँगा, ग्राहक को मेरे पास ले आना।"संयोगवश एक देश से एक ग्राहक गाय खरीदने आ गया। गाय उसे पसंद आ गई। उसने पूछा— कितना दूध देती है ? ग्वाले ने कहा—मैं अपने मुँह से क्या कहूँ ? भगतजी से पूछ लो। ग्वाला उस ग्राहक को भगतजी के पास ले गया। भगतजी ने मौन में ही सामने पड़े हुए एक पत्थर की ओर इशारा किया। ग्राहक समझा—यह लगभग दस सेर का पत्थर है। इसलिए गाय दस सेर दूध देती है। वह गाय की कीमत चुकाकर ले गया। किन्तु जब उसे दुहने बैठा तो एक बूँद भी दूध नहीं दिया। दूसरी-तीसरी बार प्रयत्न करने पर भी ऐसा ही हुआ। वह गाय लेकर भगतजी के पास आया और उलाहना देने लगा। भगत जी ने सफाई देते हुए कहा—"मैंने तुम्हें पत्थर की ओर इसलिए इशारा किया था कि यह पत्थर दूध दे तो, यह गाय दूध दे। तुम नहीं समझे उसका मैं क्या करूँ ?"

इस भगत की यह दूसरों का धोखा देने वाला वाणी का मौन स्वपर-अहितकर होता है। अतः वाणी का मौन भी सदुद्देश्य से प्रेरित होना चाहिए। वह भी कुछ हद तक लाभकारी है। गुजराती में कहावत है—

'न बोलवामां नव गुण'

न बोलने से मनुष्य प्रायः कलह, झगड़े और विवाद से बच जाता है।

हम मानते हैं कि मनुष्य को बोलना पड़ता है, उसके बिना व्यवहार नहीं चलता। परन्तु आवश्यकता पड़ने पर बोलने और व्यर्थ, निरर्थक एवं अहितकर शब्द बोलने में बहुत अन्तर है।

वाणी के निरर्थक अपव्यय से वाणी का मौन अच्छा

कई बार हम देखते हैं कि मनुष्य निरर्थक और निष्प्रयोजन बोलता रहता है, जिससे कोई मतलब सिद्ध नहीं होता। ऐसे शब्दों का व्यर्थ प्रयोग करने की अपेक्षा वाणी का मौन अच्छा है। आध्यात्मिक जीवन के लिए नियंत्रण रहित एवं विवेकहीन भाषा बहुत ही अश्रेयस्कर है, खतरनाक है, नैतिक दृष्टि से यह एक अपराध है। इसीलिए जैन धर्म में साधकों के लिए भाषासमिति और वचनगुप्ति के पालन का निर्देश दिया गया है। भारतीय संस्कृति के विशेषज्ञों ने भी कहा है—

'वचनपातो वीर्यपातात् गरीयान्।'

वचन बोलने में समय और शक्ति का व्यय, वीर्यपात से भी बढ़कर हानिकारक है। कई बार मनुष्य हंसी-मजाक में व्यर्थ शब्दों का प्रयोग करता है। उससे कलह और वैर-विरोध खड़ा हो जाता है। द्रौपदी के द्वारा दुर्योधन को लक्ष्य करके बोले हुए वाक्यबाण—'अन्धे के पुत्र अन्धे ही होते हैं', ने महाभारत युद्ध के बीज बो दिये थे। कैकेयी को फुसलाने के लिए मंथरा के वे बोल राम परिवार में फूट डालने वाले ही सिद्ध हो गये थे। यह तो अच्छा हुआ कि मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री राम संभल गए थे, उन्होंने कैकेयी के कहे हुए वचनों को सीधे रूप में ग्रहण किये। स्वेच्छा से सहर्ष स्वयं के लिए वनवास और भरत को राज्य देना स्वीकार कर लिया। वचन से कभी-कभी वैरपरम्परा भी बंध जाती है, जो जन्म-जन्मान्तर तक चलती है।

इसलिए 'बाइबिल' में कहा गया है—"मनुष्य के द्वारा व्यर्थ बोले गये प्रत्येक शब्द का हिसाब ईश्वर के दरबार में देना पड़ेगा।"

सारे दिनभर में बोले गये व्यर्थ शब्दों का हिसाब लगायें तो उन्हें तीन वर्गों में समाविष्ट कर सकते हैं—(१) स्वार्थ, लालसा और विषयलोलुपता के वश बोले गए, (२) द्वेषवश बोले गये और (३) कायरता, भय एवं व्याकुलता तथा हास्य वश बोले गये निरर्थक शब्द। निरर्थक शब्दावली में वे शब्द भी परिगणित किये जा सकते हैं, जो मनुष्य के दिमाग में सदैव चक्कर काटते रहते हैं। तर्कयुक्त एवं अर्थगाम्भीर्य युक्त शब्द बहुत ही कम बोले जाते हैं। इसलिए वाणी के मौन की अपेक्षा सर्वांगीण मौन को ही आचार्यों ने महत्व दिया है।

मौन का सर्वांगीण रूप ही श्रेयस्कर

प्राचीन आचार्यों ने मौन का यथार्थ और सर्वांगीण स्वरूप चारों प्रकार के मौनों का सम्मिलित रूप माना है।

वाचिक मौन—चुप रहना, (सावद्य वचन) न बोलना।

कायिक मौन—शरीर, इन्द्रियों और अंगोपांगों को चंचल न करना, निश्चेष्ट एवं स्थिर रखना, बार-बार हिलाना-डुलाना या संकेत आदि न करना, इन्द्रियों को विषय में प्रवृत्त होने से रोकना, शान्त रखना।

मानसिक मौन—मन में असत् विकल्पों, राग-द्वेषादि भावों, कषाय, नोकषाय, काय, मोह, आसक्ति, तृष्णा आदि विकारी भावों को न उठने देना, मन को आत्मभावों में एकाग्र करना, इधर-उधर के बाह्य भावों में न भटकने देना।

आत्मिक मौन—समस्त बाह्य भावों, परभावों व विभावों से परांगमुख रहकर आत्मभावों में तल्लीन करना।

इन चारों प्रकार का मौन ही सर्वांगीण और स्व-पर-श्रेयस्कर है।

○

६

तितिक्षा : परमात्म-भाव की दीक्षा

तितिक्षा : परमधर्म—क्यों और कैसे ?

परमात्मभाव का दूसरा नाम ही परम धर्म है, सब धर्मों का धर्म है, सर्वोत्कृष्ट धर्म है। इसी परमात्मभाव की दीक्षा ग्रहण करने के लिए सूत्रकृतांग सूत्र में एक प्रेरणादायक सूत्र के द्वारा इंगित किया गया है—

'तितिक्खं परमं नच्चा'[1]

"तितिक्षा को परमधर्म जानकर उसका आचरण करे।"

शास्त्रकारों ने तितिक्षा को परमधर्म इसलिए कहा है कि क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य तथा ब्रह्मचर्य, एवं अहिंसा, अस्तेय, दया, सन्तोष, शील, मैत्री, सेवा (वैयावृत्य) आदि सभी धर्मों का पालन तितिक्षा के द्वारा ही हो सकता है। तितिक्षा के बिना न तो क्षमा का आचरण या भाव आ सकता है और न मैत्री, दया, सेवा, करुणा, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि अन्य धर्मों का सम्यक् पालन हो सकता है। दूसरी दृष्टि से सोचें तो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप। ये चार मिलकर मोक्ष-मार्ग है अर्थात्—परमात्मभाव प्राप्ति का पथ है—सम्यक्चारित्र में सम्यक्तप का समावेश हो जाने से सम्यग्ज्ञानादि[2] रत्नत्रय को आचार्य समन्तभद्र

---

१ (क) आचारांग श्रु. १, अ. ८, उ. ८
(ख) सूत्रकृतांग श्रु. १, अ. ८, गा. २६

२ सद्दृष्टि-ज्ञान-वृतानि धर्मं धर्मेश्वराः विदुः। —रत्नकरण्डक श्रावकाचार ३

ने सद्धर्म भी कहा है। इस दृष्टि से रत्नत्रयरूप धर्म के 'सम्यक्रूप से विचार, आचरण, एवं निरतिचार पालन के लिए भी तितिक्षा धर्म का आचरण अनिवार्य है।' स्पष्ट शब्दों में कहें तो परमात्मभावप्राप्ति (मोक्षप्राप्ति) का जो रत्नत्रयरूप धर्म-पथ है, उसकी साधना की दीक्षा का सूत्रपात तितिक्षा-रूप परमधर्म से ही होता है।

तितिक्षा का सामान्यतया अर्थ होता है— सहिष्णुता, सहनशीलता। क्षमा, सेवा, दया आदि जितने भी धर्म के अंग हैं, उनमें समभावपूर्वक सहन करना पड़ता है, दूसरों के साथ व्यवहार करते समय भी उग्रता, आवेश, क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या, द्रोह, मोह, ममत्व, अहंकार, ममता, मद आदि दुर्गुणों —कषाय-नोकषायादि विकारों को दबाना पड़ता है, उन्हें वश में करना होता है, उन पर विजय पानी पड़ती है। दूसरों के साथ[1] क्षमा, मार्दव, आर्जव (सरलता) आदि धर्मों का व्यवहार करते समय भी विचार सहिष्णुता एवं आचार सहिष्णुता रखनी पड़ती है। सेवा, दया, करुणा, मैत्री, अनुकम्पा, अहिंसा, सत्य आदि धर्मों का पालन करने में कई विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता है, क्रोध, अहंकार, मद, लोभ, माया, द्वेष, मोह, द्रोह आदि विकारों से भी जूझना पड़ता है। अहिंसा, मैत्री, दया, सत्य, सेवा आदि धर्मों का पालन करते समय भय, लोभ, मोह, ममत्व आदि मानसिक विकार आ घेरते हैं, उनका सामना तितिक्षा रूप परमधर्म की साधना के बिना कथमपि नहीं हो सकता। हृदय में तितिक्षा का भाव होगा, मन में सहनशीलता का विचार होगा, बुद्धि में कष्टसहिष्णुता का निश्चय होगा, चित्त में तितिक्षा की ज्ञानचेतना जागृत होगी, वाणी में समभाव के उद्गार होंगे, काया के द्वारा मरणान्तक कष्ट सहने की तैयारी होगी, तभी तितिक्षा रूप परमधर्म का सर्वांगीण एवं सर्वतोमुखी आचरण होगा।

इसीलिए तितिक्षा को परमात्मभावरूप परमधर्म की दीक्षा देने वाली कहा गया है।

परमात्मभाव की पूर्ति तितिक्षा के द्वारा

एक अन्य पहलू से सोचें तो तितिक्षा परमात्मभाव की दीक्षाप्रदात्री सिद्ध हो जाती है। वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा बनने के लिए जिस अर्हता

---

१ उत्तमः क्षमा मार्दवार्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्त्यागाकिंचन्य ब्रह्मचर्याणि धर्माः।
—तत्वार्थ सूत्र अ. ८, सू. ६

एवं योग्यता की आवश्यकता है, एवं जो क्षमता एवं शक्ति अपेक्षित है, उसकी पूर्ति तितिक्षा के द्वारा ही हो सकती है।

केवलज्ञानी परमात्मा बनने के लिए वज्रांग शरीर आवश्यक

जैन सिद्धान्त के अनुसार वीतराग सर्वज्ञ (केवलज्ञानी) होने के लिए शरीर इतना सुदृढ़, कसा हुआ, सुडौल तथा प्राकृतिक आघातों को सहने में सक्षम होना चाहिए जो सर्दी, गर्मी, वर्षा, साधारण रुग्णता आदि के द्वन्द्वों को समभावपूर्वक सहने में समर्थ हो, समय आने पर भयंकर से भयंकर उपसर्गों, अनुकूल-प्रतिकूल परीषहों, तथा साधनाशील जीवन के मौलिक नियमों को पालने में एवं धर्मपालन, सेवा-शुश्रूषा तथा त्याग-तपस्या करने में होने वाले कष्टों को हँसते-हँसते सहन करने में सशक्त हो। ऐसे शरीर को जैनागमों में वज्रऋषभनाराच-संहनन वाला कहा गया है। वज्र के समान मजबूत शरीर ही वीतराग केवलज्ञानी बनने के लिए आवश्यक है।

शारीरिक तितिक्षा द्वारा महान् उपलब्धियाँ

तितिक्षा के द्वारा शरीर पूर्ण शक्तिमान बनाया जा सकता है

कई लोग कह देते हैं कि ऐसा सशक्त, सुदृढ़, सबल शरीर साधारण मनुष्य का तो हो ही नहीं सकता, जो भगवान् है, तीर्थंकर हैं, या अवतारी पुरुष होते हैं, उन्हीं का ऐसा शरीर हो सकता है। किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से यह कथन सुसंगत नहीं। मनुष्य शरीर को ही मोक्ष के—परमात्मपद-प्राप्ति के योग्य इसीलिए बताया है कि वह समस्त सामर्थ्यों का पुञ्ज है। उसमें पूर्ण शक्तियों को जागृत करने की समस्त सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। यदि उन शक्ति स्रोतों को समझ लिया जाये और प्रयत्नपूर्वक तितिक्षा की साधना के लिए कटिबद्ध हुआ जाये तो स्वतः प्रतीत होगा कि शरीर को पूर्ण शक्तिमान एवं परमात्मभाव की प्राप्ति (वीतराग सर्वज्ञता प्राप्ति) के योग्य बनाया जा सकता है। वे सभी विशेषताएँ एवं अर्हताएँ मानव काया में विद्यमान हैं, किन्तु उनकी अभिव्यक्ति एवं शक्ति-जागृति तितिक्षा की साधना के द्वारा ही हो सकती है। जिन विशेषताओं का पहले अभाव प्रतीत होता था, तितिक्षा के अभ्यास द्वारा स्वयं को सँभालने, सुधारने, मनोबल बढ़ाने और प्रतिकूलताओं के आगे साहसपूर्वक डटे रहने से स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि प्रतिकूलताओं एवं विपत्तियों से जूझने और उन्हें

सहन करने की अपार सामर्थ्य अपने में मौजूद है। अपनी काया में तितिक्षा शक्ति इतनी अधिक संचित है कि मृत्यु जैसा भीषण संकट उपस्थित होने पर भी जीवन की रक्षा की आशा की जा सकती है। सचमुच यह मानव काया इतने अन्दाज से अष्ट धातु से विनिर्मित है कि यह बड़े से बड़ा आघात सह सकती है।

कहते हैं— कोमलकाय शिशु हनुमानजी बचपन में विमान में से छिटक कर सहसा नीचे गिर पड़े थे, एक चट्टान पर। माता अंजना को गहरी चिन्ता हो गई कि अब बालक बचेगा नहीं। किन्तु सबने आश्चर्य से देखा कि शिशु हनुमान का बाल भी बाँका नहीं हुआ, वह चट्टान पर आनन्द से खेल रहा है।[1]

वर्तमान युग के उदाहरण लें—न्यूयार्क की पन्द्रह मंजिल ऊँची बिल्डिंग से दो वर्ष का एक नन्हा शिशु—'टामी पेइवा' गिर गया। उसकी हड्डियाँ टूट गई थीं, फिर भी वह मरा नहीं।

पोर्टलैण्ड में एक आठ वर्ष का बालक सड़क कूटने वाले तीन टन भारी इन्जन के नीचे आ गया। उसकी कमर से नीचे का हिस्सा बुरी तरह पिस गया। डॉक्टरों आदि किसी को भी उसके बचने की आशा नहीं थी। परन्तु बालक की जीवनीशक्ति एवं उसमें प्रबल आशारूप तितिक्षा के यत्किंचित् प्रवेश के कारण वह एक वर्ष तक हॉस्पिटल में रहकर अच्छा हो गया। उसके पैर चलने लायक तो नहीं हो सके, किन्तु जीवन रक्षा तो हो ही गई।

इससे भी प्रबल प्रेरणादायक उदाहरण लीजिये—सन् १९६५ की घटना है। अमेरिका का एक विमान समुद्र पर उड़ रहा था कि अचानक विमान में आग लगने से वह जल उठा। पाइलट एकदम समुद्र में कूद पड़ा। चोट तो उसे बहुत ही सख्त लगी थी, परन्तु तितिक्षा बल के कारण उसने हिम्मत नहीं हारी और वह लगातार ४० घन्टे तक तैर कर अत्यधिक श्रान्त अवस्था में किनारे पर पहुँच गया। बुखार, न्युमोनिया, भूख, थकान, पीड़ा एवं चोट से व्यथित बदहवासी की स्थिति में उसे हॉस्पिटल पहुँचाया गया। उसकी शारीरिक अशक्ति, क्षीणता और गम्भीर हालत देखकर डॉक्टरों को उसके बचने की आशा कम थी। किन्तु तत्काल

---

१. अंजना चरित (रचयिता पू० श्री जवाहरलालजी म०) से।

चिकित्सा की गई। पाइलट की तितिक्षा शक्ति एवं जीवनी शक्ति ने साथ दिया। वह मरा नहीं, बच गया और धीरे-धीरे अच्छा होता चला गया।[1]

साधु वर्ग में तितिक्षा गुण आवश्यक

आवश्यकसूत्र में साधु वर्ग के २७ विशिष्ट गुणों में तितिक्षा से सम्बन्धित दो गुण बताये गये हैं—**वेदनातिसहता** और **मारणान्तिकातिसहता**। दोनों का अर्थ—श्रमण सूत्र में इस प्रकार किया गया है—वेदनाभिसहता = तितिक्षा अर्थात्—शीतादि कष्टसहिष्णुता तथा मारणान्तिक उपसर्ग को समभाव से सहना।[2] इससे सिद्ध होता है मानवी काया मृत्यु तक से जूझने और घोर आघातों-कष्टों को सहने में समर्थ है। वह काँच की नहीं, अष्ट धातु से सुदृढ़ बनी हुई है।

तितिक्षा द्वारा अधिक तापमान सहने की शक्ति

मनुष्य के शरीर का नोर्मल तापमान ९८.६ डिग्री माना जाता है, यदि वह १९ डिग्री कम हो जाये, अर्थात् ७९ के करीब रह जाये तो जीवन-संकट उत्पन्न हो जाता है। इसी तरह ९ डिग्री बढ़ जाये अर्थात्—तापमान १०७ डिग्री पर पहुँच जाये तो जिन्दगी को खतरा पैदा हो जाता है। बुखार में तापमान अधिक न बढ़ने पाये इसके लिए डॉक्टर मस्तक पर बर्फ रखने की सलाह देते हैं। किन्तु इस तथ्य को असत्य सिद्ध करने वाली अमेरिका के 'ब्रुकलिस पुशावक' नामक हॉस्पिटल की एक नर्स है, जिसके शरीर में बुखार में ११० डिग्री तक तापमान बढ़ गया था। डॉक्टरों ने उसका बचना असम्भव मान लिया था। कह दिया कि यदि यह बच भी गई तो इतनी अत्यधिक गर्मी इसके मस्तिष्क को विक्षिप्त बना देगी। किन्तु उस नर्स ने मौत और पागलपन दोनों को पास फटकने न दिया। मानवीय जीवनी शक्ति को उसने मृत्युञ्जयी सिद्ध करके एक कीर्तिमान स्थापित किया है।

विभिन्न महानुभावों द्वारा प्रस्तुत तितिक्षा का ज्वलन्त आदर्श

तितिक्षा के अभ्यास से मनुष्य भारी से भारी वजनदार वस्तु भी उठा सकता है।

---

१. 'अखण्ड ज्योति' सन् १९७२ के मार्च के अंक से।

२. (क) समवायांग सूत्र २७ वाँ समवाय।

(ख) श्रमणसूत्र पृ० २९४ (उपाध्याय अमर मुनि)।

उदयपुर के गुलाब बाग में हमने महाराणा प्रताप का लोहे का भारी भरकम बख्तर और भाला देखा। इतना भारी बख्तर महाराणा प्रताप अकेले पहनते थे, और भाला भी हाथ में वे अकेले ही सँभालते थे। आज तो तीन-चार व्यक्ति मिलकर भी उस बख्तर को नहीं उठा सकते, न ही उस भाले को कोई अकेला व्यक्ति संभाल सकता है। इससे शरीर की क्षमता और शक्ति का अनुमान सहज लगाया जा सकता है।

लाहौर का एक मुस्लिम फकीर था—'साहिब अल्लाशाह' जो पंजाब में 'सांकल वाला' और 'जिगलिंग' के नाम से प्रसिद्ध है; वह लोहे की ६०० पौंड से भी अधिक वजन की मोटी सांकलें कमर में पहने रहता था। वृद्ध हो जाने पर भी तितिक्षा के अभ्यास के कारण सांकलों का इतना वजन उसके लिए भार रूप नहीं हुआ। उसकी मृत्यु के बाद सांकलों को तौला गया तो वे ६७० पौंड निकलीं।

बाहुबली मुनि का वृत्तान्त भी तितिक्षा की पराकाष्ठा है। एक वर्ष तक बिलकुल निर्वस्त्र, निश्चल, अकेले, स्थिर, निराहार, निर्जल रहकर वे कायोत्सर्ग में खड़े रहे। उनके तन-मन में सर्दी, गर्मी, वर्षा, भूख, प्यास, हिंसक जन्तुओं के द्वारा आक्रमण की जरा भी चिन्ता नहीं थी। सच है, तितिक्षापूर्ण अभ्यास के द्वारा मनुष्य चाहे तो अपने शरीर की सामान्य क्रियाओं को असामान्य बना सकता है।

वैसे तो शरीर में एक नन्हीं-सी सुई चुभ जाने पर बड़ा दर्द होता है, किन्तु 'ए वण्डर बुक ऑफ स्ट्रेंज फेक्ट्स' में एक सच्ची घटना छपी है कि सिंगापुर में एक भारतीय योगी ने अपने शरीर में ५० भाले आर-पार घुसेड़ लिये और इस हालत में भी वह सब लोगों से हंस-हंसकर बात करता था। लोगों ने प्रार्थना की—"महात्मन् ! आपको कष्ट नहीं हो रहा हो तो थोड़ा चलकर दिखाइए।"

यह सुनकर योगी ने ३ मील चलकर दिखा दिया। उसने इसका रहस्योद्घाटन करते हुए कहा—वास्तव में कष्ट शरीर को होता है, आत्मा को नहीं। यदि मानव अपने आपको आत्मा में (स्वभाव में) स्थित कर ले, तो जिन्हें आम लोग यातनाएँ कहते हैं, वे कष्ट भी साधारण खेल जैसे लगने लगते हैं।

इन्का जाति के राजा अटाहुल्लापा ने अपने कानों में वजनदार

छल्ले डालकर उन्हें १५ इंच तक बढ़ा लिया था। इससे सारा शरीर सामान्य मानव का होते हुए, उसके कान हाथी के कान से लगते थे।[1]

वस्तुतः मनुष्य में असीम तितिक्षा शक्ति है। वह उन परिस्थितियों में भी जीवित ही नहीं, संतोष तथा आनन्दपूर्वक जीवन-यापन कर सकता है, जो तप-तितिक्षा से अनभ्यस्त लोगों को मृत्यु सरीखी भयानक प्रतीत होती है।

आतापना से शरीर अधिक ताप रहने में सक्षम

व्याख्याप्रज्ञप्ति, औपपातिक एवं उत्तराध्ययन आदि आगमों में कई ऐसे महातितिक्षु कष्टसहिष्णु तपस्वियों के वर्णन आते हैं, जो प्रचण्ड ग्रीष्म ऋतु में सूर्य के सम्मुख घण्टों खुले बदन खड़े रहकर आतापना लेते थे। उनका शरीर इस तितिक्षा के कारण सुदृढ़ तथा तीव्रतम ताप को सहन करने में सक्षम हो गया था।

इस युग में ऐसे कई तपस्वीगण हुए हैं, जो सूर्य के सम्मुख कई घंटों तक खड़े होकर आतापना लेते थे।

यह ध्यान रहे कि जब तक सुख-सुविधाओं एवं सुकुमारता की ओर पीठ करके तप, तितिक्षा के द्वारा तन, मन और प्राणों को साधा और कसा नहीं जाएगा; इन्हें कष्ट-कठिनाइयों की भट्टी में डालकर कुन्दन की तरह विशुद्ध, तितिक्षाशील एवं कष्टसहिष्णु नहीं बनाया जाएगा, तब तक आध्यात्मिक जीवन में विकास, सफलता एवं प्रगति कोसों दूर रहेगी।

दशवैकालिक सूत्र में तितिक्षाशक्ति के बीज मंत्र इस प्रकार मिलते हैं—

"आयावयाही चय सोगमल्लं, कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए॥"[2]

(यदि तुम्हारा शरीर और मन दुर्बल होकर कामसुखों (विषय सुख-सुविधाओं) को पाने के लिए लालायित हो रहा हो, तब) सूर्य के सम्मुख खड़े होकर आतापना लो। सुकुमारता का त्याग करो। मन में उठती हुई

---

१ 'A Wonder Book of Strange Facts' से साभार।

२ दशवैकालिकसूत्र अ. २, गा. ५।

भौतिक सुखों की विविध कामनाओं को कम करो। वस्तुतः कामना ही दुःख रूप हैं। साथ ही पाँचों इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों पर रागभाव (मोह) दूर करो, और अमनोज्ञ पदार्थों के प्रति द्वेष, घृणा, अरुचि का भाव समाप्त कर दो। ऐसा करने पर ही इस संसार में तुम सुखी और सफल हो सकोगे।

अपरिपक्व साधक तितिक्षा में अनभ्यस्त होने के कारण जीवन-यात्रा में सुखी, सन्तुष्ट और सफल नहीं हो सकता।

तितिक्षा से दीर्घकाल तक निराहार रहने की क्षमता

मानवीय काया में इतना सामर्थ्य है कि वह तितिक्षा के अभ्यास द्वारा कई महीनों तक भूखी रह सकती है, कई दिनों तक स्वेच्छा से प्यासी रह सकती है। तीर्थंकर चरित्र के अनुसार भगवान् ऋषभदेव लगातार एक वर्ष तक और भगवान् महावीर ५ महीने २५ दिन तक उपवासी (निराहार) रहे। जयपुर की तपोनिधि वीरांगना ईचरजबाई ने केवल गर्म किये हुए पानी के आधार पर १५० दिन तक निराहार उपवास तप किया। बेंगलौर की तपोमूर्ति श्रीमती धापूबाई ने १२० दिन का उपवास तप करके तप-तितिक्षा का अनुपम आदर्श प्रस्तुत किया। आयरिश स्वाधीनता-सेनानी मेकस्विनी ने ७३ दिन तक एवं भारतीय स्वतन्त्रता-सेनानी यतीन्द्रनाथदास ने ६८ दिनों तक निराहार रहकर राजनैतिक जीवन में भी तितिक्षा शक्ति का परिचय दिया। जैन साधु-साध्वियों तथा श्रावक-श्राविकाओं में आज भी ७०, ७५, ६५, ५२, ४५, ३०, २१, १६, ८ आदि दीर्घ तपस्यायें करना तो साधारण-सी बात है। तितिक्षा का अभ्यास ही इन तपस्वीजनों की आत्माओं को विशुद्ध प्रखर और तेजस्वी तथा परीषहों और संकटों को सहर्ष सहने में सक्षम बनाता है। ये और ऐसी घटनायें तितिक्षा द्वारा तन-मन की क्षमता में वृद्धि के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

फीजीद्वीप के निवासी एक त्यौहार मनाते हैं। उस दिन वे धधकती आग पर नंगे पैर चलते हैं तथा नाचते-गाते हैं। इसे भी तितिक्षा का अभ्यास और आत्मविश्वास कहा जा सकता है।

अत्यधिक शीत सहन करने की तितिक्षाशक्ति

जिस प्रकार अत्यधिक ताप सहने की तितिक्षाशक्ति मानव काया में मौजूद है, उसी प्रकार उसमें अत्यधिक शीत सहने की शक्ति भी मौजूद है।

अमेरिका के सामरिक इतिहास की एक प्रसिद्ध घटना है। उसकी एक सैनिक टुकड़ी एक बार ग्रीनलैण्ड के बर्फ से ढके हुए क्षेत्र में फँस गई। भयंकर शीत प्रदेश के बर्फीले क्षेत्र में लगातार ८८ दिन तक वह अत्यन्त सादे कपड़ों में रही। दस दिन तक तो बिना भोजन के उसे रहना पड़ा। परन्तु आखिरकार वह उस क्षेत्र को पार करके आने में सफल हुई।

जीवनेच्छा जब तितिक्षा के रूप में विकसित होती है, तब वह कष्ट-साध्य समझी जाने वाली परिस्थितियों में जूझने को कटिबद्ध हो जाती है और तब उसके मानसिक ढाँचे में परिवर्तन के साथ-साथ शारीरिक क्षमता भी बढ़ जाती है, उसके प्राणों की ऊर्जाशक्ति भी अपार हो जाती है। कठिन समझी जाने वाली परिस्थितियाँ भी अनुकूल एवं सरल प्रतीत होने लगती हैं। जहाँ भी मानव ने तितिक्षा को अपनाया, वहीं परिस्थिति को अपने अनुकूल ढाल लेने की क्षमता प्रगट हो गई।

[1]उत्तरी ध्रुव प्रदेश में सदैव बर्फ जमी रहती है। भयंकर शीत रहता है। वहाँ खेती तथा वनस्पति पेड़-पौधों की कोई सम्भावना नहीं। इतनी अधिक ठण्ड में सामान्य मनुष्य का एक दिन भी जीवित रहना कठिन है। न ही वहाँ जीवित रहने के कोई साधन उपलब्ध हैं। फिर भी 'एस्किमो' नाम की मनुष्य जाति वहाँ चिरकाल से जीवित रही है। जीवित ही नहीं परिपुष्ट भी, सन्तुष्ट भी एव सुखी भी है। यहाँ का सम्पन्न मानव जितना स्वयं को सुखी मानता है, वे उससे कम नहीं, कुछ अधिक ही सुखी मानते हैं और सन्तोषपूर्वक जीवनयापन करते हैं। अत्यधिक शीत वाले प्रदेश में आजीवन रहकर भी वे शीत से प्रभावित नहीं होते। जब एस्किमो जाति के अनपढ़ एवं असंस्कारी मानव अत्यधिक शीत में भी आनन्दपूर्वक जीवित रह सकते हैं, तब अध्यात्म-साधक तितिक्षा के अभ्यास से अत्यन्त गर्मी और अत्यधिक सर्दी को क्यों नहीं बरदाश्त कर सकता ?

इसी दृष्टि से साधक की तितिक्षा शक्ति की साधना के सन्दर्भ में दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है—

आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउडा।
वासासु पडिसंलीणा संजया सुसमाहिया ॥[2]

---

१ Clarandon Reader IV से।

२ दशवैकालिकसूत्र अ. ३ गा. १२।

जो साधक सुसमाहित होते हैं वे ग्रीष्म के दिनों में आतापना लेते हैं, हेमन्त ऋतु के महीनों में वे उघाड़े बदन होकर रहते हैं, एवं वर्षा ऋतु के महीनों में इन्द्रियों को प्रतिसंलीन-गोपन करके विविक्त स्थान में रहते हैं।

यह वे तभी कर सकते हैं, जब तितिक्षाशक्ति से अभ्यस्त हों।

जंगल में रहने वाले लोग शहरी लोगों की तुलना में जितने अभाव-ग्रस्त हैं, उसने ही सुदृढ़, प्रसन्नचित्त एवं सन्तुष्ट रहते हैं। वे सर्दी, गर्मी, वर्षा में प्रायः खुले बदन रहते हैं। उनका शरीर अत्यधिक सर्दी, गर्मी को बरदाश्त करने में सक्षम हो जाता है।

मानव-काया में अत्यधिक सर्दी, गर्मी एवं वर्षा के थपेड़े सहने की शक्ति तितिक्षा से ही आती है। तितिक्षा मानव के तन और मन दोनों को बलिष्ठ, परिषह सहने के योग्य एवं परमात्म भाव को प्राप्त करने योग्य बना देती है। तितिक्षा से मानव शरीर घोर से घोर परीषह, उपसर्ग, संकट और विपत्तियों से जूझने और उन पर विजय पाने में समर्थ हो जाता है।

मनुष्य शीत सहने में कितना समर्थ है? इसका ज्वलन्त आधुनिक उदाहरण है—मेजर डोनमल्ड का, जिन्होंने एक घण्टे तक बर्फीले पानी में रहकर शीत-सहिष्णुता सिद्ध कर दी।

इंग्लैण्ड का एक विमानचालक टेड ग्रीनवेको द्वितीय महायुद्ध के दौरान भयंकर शीत वाले बर्फीले प्रदेश में फँस गया। उसके साथ दो और साथी थे। इस भयंकर विपत्ति का सामना उन्होंने किया। उनके पास गरम कपड़े और खाने-पीने के कुछ भी साधन नहीं थे। फिर भी १० दिन भूखे-प्यासे रहकर शीत सहन करते हुए बिताये। फिर वे शीत सहते हुए ही उस प्रदेश को पार करते हुए बच सकने की स्थिति में पहुँचे।[1]

मानवशरीर में सर्दी-गर्मी को सन्तुलित रखने की क्षमता

कोई कह सकता है कि शरीर में—नग्न या अर्धनग्न शरीर में इतना अधिक शीत या ताप सहने की शक्ति कहाँ से आती है? वैज्ञानिकों ने सिद्ध करके बता दिया है कि परिस्थितिवश अगर शरीर का ताप घटता-बढ़ता

---

१ अखण्डज्योति से साभार उद्धृत।

है तो उसका नियन्त्रण करने के लिए शरीर के भीतर ही हीटर और कूलर जैसी व्यवस्था मौजूद है।

तापमान को संतुलित रखने के लिए सचेतन नाड़ी संस्थान सतत् प्रयत्नशील रहता है। मांसपेशियाँ उष्मा पैदा करती रहती है। उन्हीं में उष्मा बनती और बढ़ती है। हृदय, फेफड़े, वृक्क, यकृत्, आँतें आदि भी गर्मी पैदा करते हैं। रक्त भी अच्छा उष्मा-वाहक है। ताप को एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजने के लिए शरीर में रक्त इधर से उधर दौड़ता रहता है। रक्त केवल दौड़ता ही नहीं, गर्मी भी पैदा करता है और स्वयं गर्म रहता है। रक्त की एक विशेषता यह भी है कि वह हीटर और कूलर दोनों का काम करता है। शरीर को जब गर्मी लगती है तो रक्त की दौड़ शरीर से पसीने आदि के माध्यम से गर्मी बाहर फेंकने लग जाती है। पसीना शीतलता पैदा करता है। जब ठंड लगने लगती है तो रक्त की गर्मी भीतर संचित रहकर अंगों को गर्म करती रहती है। सर्दियों में आवश्यक ताप-संचय का काम रक्त ही करता है।

रक्तप्रवाह का नियंत्रण केन्द्र मस्तिष्क के नीचे और रीढ़ की हड्डी के ऊपर स्थित है। यहीं से सभी अंगों को यथावश्यक रक्त-वितरण किया जाता है। यही उष्मा संचालन केन्द्र है। बाहरी सर्दी गर्मी बढ़ने पर यह उष्मा नियंत्रण केन्द्र विशेष सक्रिय हो जाता है और परिस्थिति के अनुरूप अपने आपको ढाल देता है तथा सारे शरीर की स्थिति ऐसी बना देता है, जिसके आधार पर सर्दी-गर्मी की घट-बढ़ का सामना किया जा सकता है।

अतः मानव शरीर में अत्यधिक शीत-ताप सहने की शक्ति स्वाभाविक है। शरीर रचना भी ऐसी है कि ठंड अधिक पड़ने पर शरीर के ठिठुरने, अंगों के कांपने की घर्षणात्मक हलचलें अतिरिक्त गर्मी पैदा करने लगती हैं। अधिक गर्मी लगने पर पसीने आदि से शरीर में अतिरिक्त ठंड पैदा करती है। इसलिए मानव-तन में इतनी अधिक क्षमता है कि प्रबल मनोयोग के साथ तितिक्षाशक्ति संजोई जाए तो मृत्यु जैसे भयंकर संकट को भी एक बार तो दूर ठेल सकता है। साधारण बीमारियाँ या दुर्घटनाएँ कुछ अधिक अनर्थ नहीं कर सकतीं। बशर्ते कि तितिक्षा का सम्बल साहसपूर्वक ग्रहण कर ले। यह बड़े से बड़े आघात को सह सकती है। कहते हैं—मुगलों के साथ युद्ध में एक योद्धा ने लोहे की कीलों से युक्त भारी भरकम दरवाजे को तोड़ने के लिए अपनी छाती भिड़ा दी थी। दरवाजा तोड़ने पर वह घायल तो हो गया, किन्तु मृत्यु उसे कवलित न कर सकी। अतः प्रकृतिदत्त

तितिक्षा शक्ति हर किसी में भरी पड़ी है। जो तितिक्षा की राह पर बढ़ चलते हैं, वे असुविधा को सुविधा में एवं कठिनाइयों को आसानियों में बदल देते हैं।

इसीलिए भगवान् महावीर ने साधकों को निर्देश दिया है कि साधक अध्यात्म साधना में पराक्रम करता हुआ बार-बार जब अल्पवस्त्र वाला या निर्वस्त्र (अचेल) हो जाता है, तब उसके शरीर को तृणस्पर्श, शीतस्पर्श, उष्ण (तेजः) स्पर्श तथा दंशमशक स्पर्श एवं अन्य ऐसे ही विविध स्पर्श आ घेरें तो वह उन्हें समभाव से सहन करे।"[1]

मानसिक तितिक्षा की अद्भुत शक्ति

मनुष्य के तन की तरह मन में भी अपार तितिक्षा शक्ति है। शीत सम्बन्धी तितिक्षा को ही लिया जाए तो दक्षिणी ध्रुव एवं उत्तरी ध्रुव की कलेजा कंपा देने वाली असह्य शीत और बर्फ की मोटी परतों के मध्य में ध्रुव सम्बन्धी खोज के लिए निकले साहसी व्यक्ति पहुँचे। वहाँ जीवनोपयोगी कोई भी साधन-सुविधा नजर नहीं आती, दीर्घकाल तक वहाँ निर्वाह होना कठिन था। चारों ओर बर्फ ही बर्फ जमी हुई, जमीन के दर्शन तक नहीं! नीरवता का साम्राज्य! तापमान शून्य से १२५ डिग्री नीचे! प्रायः २०० मील प्रति घण्टे की रफ्तार से चलने वाले तूफान! ऐसी परिस्थिति में भी ब्रिटेन, अमेरिका और रूस के वैज्ञानिकों ने अपने केम्प डालकर स्थायी रूप से बस्ती बसाकर रहना स्वीकार किया। सुविधापूर्ण जीवन-यापन करने वाले वे वैज्ञानिक कई वर्षों से वहाँ रह रहे हैं, और उस असुविधापूर्ण परिस्थिति के अभ्यास का ही नहीं, आनन्द का अनुभव भी करते हैं। आशय यह है कि यदि मनुष्य संकल्पपूर्वक परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढाल ले तो तितिक्षा से अनभ्यस्त लोगों को मृत्यु जैसी भयानक लगने वाली परिस्थितियों में केवल जीवित ही नहीं रहता, बल्कि संतोष एवं आनन्द का जीवन बिता सकता है। यह सब मानसिक तितिक्षा शक्ति का प्रभाव है।

विपत्तियों और कठिनाइयों से जो घबरा जाते हैं, बुजदिली दिखाते

---

१ अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति सीदफासा फुसंति, तेउफासा फुसंति दंसमसग-फासा फुसंति, एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेई। —आचा० श्रु.१ अ० ८, उ० ७

हैं, पस्तहिम्मत हो जाते हैं, उन्हें ही विपत्तियाँ और कठिनाइयाँ मारती हैं। घबराहट और भय का प्रभाव पेट में छुरा भोंकने से भी बदतर होता है। छुरेबाजी के शिकार हुए हिम्मतवर लोग दर्जनों घावों को सहन करके अस्पताल से ठीक होकर हँसते-कूदते बाहर निकलते हैं, जबकि घबराने वाले पस्तहिम्मत लोगों के लिए एक छोटी-सी फुंसी भी जान लेवा तथा भय और आतंक का कारण बन जाती है।

जिस प्रकार भौतिक प्रयोजनों और शोध-खोज के लिए उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों के असह्य शीत, असुविधा और कष्टों को चुनौती देते हुए साहसी वैज्ञानिक वहाँ स्थायीरूप से जुटे हुए हैं, उसी प्रकार उच्च आध्यात्मिक प्रयोजनों तथा परमात्मभाव की प्राप्ति के लिए असुविधाओं और कष्टों की परवाह न करते हुए तन, मन और प्राणों को झोंका जाए तो सन्तुष्ट,सुखमय एवं आनन्दमय जीवन-यापन करके वे महान् उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकते हैं।

इसीलिए भगवान् महावीर ने समस्त आत्मार्थी साधकों को निर्देश देते हुए कहा—

पियमप्पियं सव्वं तितिक्खएज्जा[1]

प्रिय हो या अप्रिय, आत्मार्थी साधक को सभी परिस्थितियाँ समभाव से सहनी चाहिए, तितिक्षा करनी चाहिए।

भूतकाल में उच्च अध्यात्म मार्ग के पथिक सुख-सुविधाओं का स्वेच्छा से, समझबूझ कर त्याग करके, कष्ट-कठिनाइयों में समभावपूर्वक आगे बढ़े और सन्तोष तथा आत्मिक आनन्द का जीवन बिताते रहे हैं। आज भी उस दिशा में प्रयाण किया जाये, तो जिन असह्य कष्टों, और असुविधाओं की कल्पना की गई थी, वह निर्मूल हो सकती है, परिस्थिति के अनुरूप अपने को ढालने वाली, असुविधा को सुविधा में बदल देने वाली एकमात्र तितिक्षा शक्ति है, जो प्रत्येक मानव में भरी पड़ी है, प्रकृति-प्रदत्त है। अगर उस मार्ग पर बढ़ चलें तो उनकी आशंकाओं और भीतियों से भरी कठिनाइयाँ, विपत्तियाँ या सुविधाएँ समय आने पर अत्यन्त सरल, सरस और सुखद प्रतीत होंगी।

परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालने की मानवीय क्षमता

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र अ० २५, गाथा १५

अद्भुत है। तितिक्षाशील मानव अपनी रुचि, प्रकृति को ही नहीं, शारीरिक क्षमताओं को बदलकर असीम शक्ति प्राप्त कर लेता है।

तितिक्षा के अभ्यास से तन, मन और प्राण भी कष्टसहिष्णु

हिमालय की आध्यात्मिक जीवन यात्रा करने वाले महामनीषी आचार्य श्रीराम शर्मा ने **'हमारी वसीयत और विरासत'** में अपनी हिमालय-यात्रा का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है—"शीत ऋतु और पैदल चलना, ये दोनों ही परीक्षाएँ कठिन थीं।....स्थान नितान्त एकाकी। ठहरने की कोई व्यवस्था नहीं, वन्य पशुओं का निर्भीक विचरण, यह सभी बातें काफी कष्टकर थीं। हवा उन दिनों काफी ठण्डी चलती थी। ....हर दृष्टि से यह क्षेत्र अपने लिए सुनसान था। सहचर के नाम पर थे, छाती में धड़कने वाला दिल या सोच-विचार उठाने वाले सिर में अवस्थित मन। ऐसी दशा में.... यह अपनी परीक्षा ली जा रही थी। हृदय ने निश्चय किया—जितनी सांस चलनी है, उतने दिन अवश्य चलेगी, तब तक कोई मारने वाला नहीं। मस्तिष्क कहता—वृक्ष-वनस्पतियों में भी तो जीवन है उन पर पक्षी रहते हैं। पानी में जलचर मौजूद हैं। जंगल में वन्य पशु फिरते हैं, सभी गंगे बदन, सभी एकाकी। जब इतने सारे प्राणी इस क्षेत्र में निवास करते हैं, तो तुम्हारे लिए सुनसान कैसे? जब **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की बात मानते हो, तब इतने सारे प्राणियों के रहते तुम अकेले कैसे? ....एकाकीपन में विशेषतया सुनसान अँधेरे में, मनुष्य के मस्तिष्क को डर लगता है। योगी को इस डर से निवृत्ति पानी चाहिए। 'अभय' को अध्यात्म का अति महत्त्वपूर्ण गुण माना गया है।[1]

तितिक्षा से मृत्यु को ठेलने का सामर्थ्य

भारतीय योगी चाँगदेव के योगजनित चमत्कार की गाथाएँ प्रसिद्ध हैं। कहते हैं—उन्होंने एक-एक करके चौदह बार असह्य कष्ट सह करके भी अपने आपको बचा लिया। स्वामी दयानन्द सरस्वती को कई बार जहर दिया गया था, किन्तु मानसिक तितिक्षा के कारण जहर उन्हें मार न सका।

मानवीय चेतना इतनी समर्थ, सूझबूझ वाली एवं सशक्त है कि प्रतिकूल परिस्थितियों में भी तितिक्षा द्वारा अपना मानसिक सन्तुलन स्थिर

---

१. 'हमारी वसीयत और विरासत' पृ० १०-४१

रख सकती है, जबकि सामान्य मानव तितिक्षाहीन बनकर सामने आई हुई प्रतिकूलताओं से जूझने के बजाय स्वयं को असंतुलित करके प्रकोपों के शिकार बन जाते हैं। अन्यथा, मानवीय मनःस्थिति तो इतनी प्रबल है कि सामान्य तो क्या असामान्य परिस्थितियों में भी अपना अस्तित्व बनाये रख सकती है। मृत्यु को भी ऐसे व्यक्तियों के मानसिक साहस एवं जीवन के सामने घुटने टेकने पड़ते हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध की घटना ब्रिटिश इतिहास में महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। २४ मार्च, १९४४ को ब्रिटेन के सार्जेण्ट 'निकोलस' ने बर्लिन पर बमवर्षा करने के लिए उड़ान भरी। जब उसका जहाज शत्रुओं के विमानों द्वारा होने वाले प्रहार को बचाते हुए आगे बढ़ा तो सतर्क शत्रु सेना की विमानभेदी तोपों ने जहाज पर लगातार बम बरसाने शुरू किये। बचाव के लिए अत्यन्त सतर्क रहने पर भी दो गोले उसके विमान के ही लग गये। फलतः विमान में आग लग गई। निकोलस ने वायरलेस से कप्तान से सहायता की माँग की। परन्तु उसका निराशाजनक उत्तर मिला कि विकट समस्या है। विमान को बचाने के लिए भेजे जाने वाले जहाज में भी आग लग सकती है। ऐसी स्थिति में हम किसी प्रकार का सहयोग करने में असमर्थ हैं। अपनी सूझबूझ से स्वयं बचाव का प्रयत्न करो।

एक ओर भयंकर आग की लपटें और दूसरी ओर से कप्तान का निराशाजनक उत्तर, अगर निकोलस दुर्बल मनःस्थिति का होता तो अपना सन्तुलन कायम नहीं रख सकता। किन्तु वह सन्तुलन रखकर धैर्य से केबिन की ओर बढ़ा, वहाँ रखा हुआ पैराशूट भी आग में भस्म हो गया था। केबिन के बीच का द्वार खोला कि लपलपाती आग की लपटें उसकी ओर बढ़ीं। आँखों में धुआँ भर गया। फिर भी उसने हिम्मत न हारी। परिस्थितियाँ शीघ्र निर्णय के लिए बाध्य कर रही थीं, क्योंकि जीवन-मरण के बीच कुछ ही क्षणों का फासला था। मस्तिष्क तेजी से सोचने लगा। २० हजार फुट की ऊँचाई से निकोलस ने नीचे देखा। निर्णय किया—आग की लपटों में जल मरने की अपेक्षा विमान से कूदकर बचने का प्रयास किया जाय। सिर के बल वह धरातल की ओर अचेतन स्थिति में गिरा। चेतना लौटी तो स्वयं को बर्फ से चारों ओर ढका पाया। परमात्मा का स्मरण किया, उसकी कृपा से २० हजार फुट से छलांग लगाने पर भी नवजीवन पाया। अंग-अंग में पीड़ा। शत्रु सेना ने घेर लिया। किन्तु गुप्तचर होने का भ्रम दूर होने पर उसे छोड़ दिया। वह सकुशल इंग्लैण्ड पहुँचा।

यह घटना मनुष्य की मानसिक तितिक्षा की परिचायिका है। यदि प्रतिकूलताओं से जूझा जाए और विपन्नताओं के समक्ष समर्पण न किया जाए तो मनुष्य परिस्थिति के अनुरूप अपनी मनःस्थिति बना सकता है, और तब मृत्यु की विभीषिका में से उसे जीवन का सर्वश्रेष्ठ उपहार मिल सकता है। मानवीय चेतना अवरोधों और प्रतिकूलताओं से जूझने में कितनी समर्थ और सशक्त है, इस तथ्य का यह ज्वलन्त उद्धहरण है।

मानसिक सन्तुलन रखने से मानसिक तितिक्षा में वृद्धि

जीवट और उत्साह का प्रचुर भण्डार मानवीय जीवन के अन्तराल में कूट-कूट कर भरा है। उनके आधार पर वह परीक्षा करने वाली कठिनाइयों, दुष्परिस्थितियों, तथा प्रतिकूलताओं से हंसते-खेलते निपट सकता है। तितिक्षा का सम्बल साथ में हो तो शारीरिक क्षमता, मानसिक सूझ-बूझ, साधनों का सामर्थ्य, सहयोगीजनों का आश्वासन, परमात्मा पर दृढ़ विश्वास एवं आत्मविश्वास; ये सब सहज ही मिल जाते हैं और कठिनाइयों एवं प्रतिकूलताओं के पहाड़ को भी चूर-चूर किया जा सकता है।

वास्तव में कठिनाइयाँ और उलझनें, विपत्तियाँ और परिस्थितियाँ उतनी जटिल नहीं होती, जितनी कि मनुष्य को अपनी बुजदिली, घबराहट और भीरुता के कारण प्रतीत होती हैं। यदि सन्तुलन बनाये रखा जाए तो हर उलझन और कठिनाई को हल करके ऐसा तालमेल बिठाया जा सकता है, कि अपरिहार्य परिस्थितियाँ हँसते-हँसते सहन की जा सकें। यदि जिजीविषा को शिथिल न बनने दी जाए तो मौत की सखी-सी प्रतीत होने वाली विपत्तियों को भी पार कर सकना कुछ अधिक कठिन नहीं होता। मानवीय तन-मन की रचना ही ऐसी नहीं है कि वह छोटे-मोटे आक्रमणों और आघातों के सामने घुटने टेक दे। उन्हें सहन करने, सामना करने, एवं भिड़ जाने तक की ऐसी अनेक विशेषताएँ मानव में भरी पड़ी हैं, जिनके सहारे वह कठिनाइयों, कष्टों एवं विपत्तियों से डट कर जूझ सकता है।

मनःस्थिति को परिस्थिति के अनुरूप ढाल दिया

अध्यात्ममूर्ति आचार्य श्री राम शर्मा के शब्दों में ही पढ़िये—"हिमालय क्षेत्र के एकाकीपन में दूसरा संकट है—उस क्षेत्र में वन्य हिंस्र पशुओं का डर। रात्रि में एकाकी, अंधेरे में हिंस्र पशुओं का मुकाबला होना

एक संकट है,""सीधी मौत से मुठभेड़ है। कोलाहल और भीड़ न होने पर हिंस्र पशु दिन में भी पानी पीने या शिकार तलाशने निकल पड़ते हैं। यात्रा में जहाँ भी रात्रि बितानी पड़ी, वहाँ काले साँप रेंगते और मोटे अजगर फुफकारते बराबर मिलते रहे। छोटी जाति का सिंह, आक्रमणकारी पहाड़ी रीछ, तथा जंगली हाथी भी""रहते हैं। इन सभी की प्रकृति यह होती है कि आँखों से आँखें न मिलें, उन्हें छेड़े जाने का भय न हो तो अपने रास्ते ही चले जाते हैं, अन्यथा तनिक भी भय या क्रोध का भाव मन में आने पर वे आक्रमण कर बैठते हैं।"" अजगर, सर्प, गोह, रीछ, तेन्दुए, चीते, हाथी, इनसे आये दिन यात्रियों को कई-कई बार पाला पड़ता है।"" ऐसा आमना-सामना मुकाबला दिन और रात में कुल मिलाकर दस से बीस बार हो जाता था।" "" साक्षात् मृत्यु के रूप में सामने आते थे, कभी-कभी साथ चलते या पीछे-पीछे चलते थे। ""डर उतना ही लगता कि साक्षात् मौत की घड़ी आ गई। पर प्रायः हर घण्टे एक बार मौत से भेंट होना, और हर बार प्राण जाने का डर लगना, अत्यधिक कठिन परिस्थितियों का सामना करने की बात थी।""यहाँ भी विवेक समेटना पड़ा, साहस संजोना पड़ा। मौत बड़ी होती है, पर जीवन से बड़ी नहीं होती। अभय और मैत्री भीतर हो तो हिंसकों की हिंसा भी ठंडी पड़ जाती है और अपना स्वभाव बदल देती है। पूरी यात्रा में प्रायः तीन-चार सौ की संख्या से ऐसे डरावने मुकाबले हुए। पर गड़बड़ाने वाले साहस को हर बार संभालना पड़ा। मैत्री और निश्चिन्तता की मुद्रा बनानी पड़ी।""एकाकीपन, अंधेरा और मृत्यु के दूत मिल-जुलकर डराने का प्रयत्न करते रहे और वापस लौट चलने की सलाह देते रहे। पर संकल्प शक्ति (तितिक्षा शक्ति) साथ देती रही और यात्रा आगे बढ़ती रही।"

मन को मजबूत बनाइए

"अपने मन में वजनदार निर्भयता या प्रेम-भावना हो तो घने जंगलों में आनन्द से रहा जा सकता है।""मन कमजोर भी है, और मना लिए जाने पर समर्थ भी। अनुकूल परिस्थिति की अपेक्षा करने के स्थान पर मनःस्थिति को मजबूत बनाने की बात सोचो। इस दिशा में मन को ढालते चले गए और प्रतिकूलताएँ जो आरम्भ में बड़ी डरावनी लगती थीं, अब बिलकुल सरल और स्वाभाविक लगने लगी।

"मन की कुटाई, पिटाई और ढलाई करते-करते वह बीस दिन की

यात्रा में काबू में आ गयी। वह क्षेत्र ऐसा लगने लगा, मानो हम यहीं पैदा हुए हैं, और यहीं मरना है।"

".....तीन परीक्षाएँ इस बार होनी थीं—बिना साथी के काम चलाना, ऋतुओं के प्रकोप को तितिक्षा से सहना,और हिंस्र पशुओं के साथ रहते हुए विचलित न होना। तीनों ही परीक्षाओं में अपने को उत्तीर्ण समझा।"[1]

तितिक्षावान व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थिति के सामने भी टिके रहते हैं

पर्वत की चट्टानें वर्षा, गर्मी, सर्दी, आँधी एवं तूफानों में अडोल एवं निष्कम्प बनी रहती हैं। चट्टानों का गौरव उनके भारी भरकम होने में नहीं, अपितु सुदृढ़ और अविचल बने रहने में है। इसी प्रकार मनुष्य का गौरव भी उसकी भारी भरकम काया में नहीं, वरन् तितिक्षायुक्त सन्तुलित मनःस्थिति में है। परिस्थितियाँ सदैव एक-सी नहीं रहतीं, उनका परिवर्तन होना निश्चित है। इसलिए तितिक्षावान व्यक्ति परिस्थिति पर निर्भर नहीं रहते। वे अपनी मनःस्थिति को परिस्थिति के अनुरूप ढाल लेते हैं, जिसे उनके तन, मन और प्राण की सुदृढ़ ऊर्जा सह लेती है। किसी को यह आशा कदापि नहीं करनी चाहिए कि परिस्थिति अनुकूल होगी, तब सत्कार्य करेंगे, तभी धर्माचरण और प्रभुभजन करेंगे। कोई व्यक्ति अगर एक-सी स्थिति में सदा रहना चाहे तो उसकी यह इच्छा कभी पूर्ण नहीं हो सकती। घर में कभी जन्म होता है, कभी किसी की मृत्यु होती है। कभी दुकान में अत्यधिक कमाई होती है, कभी सहसा घाटा लग जाता है। रात के बाद दिन आता है, एक के बाद दूसरी ऋतु आती है। मौसम भी बदलता है, कभी गर्मी तो कभी ठण्ड और कभी वर्षा। इन परिवर्तनों का प्रभाव हर किसी पर पड़ता है। धैर्यवान और विवेकी तितिक्षाशील मानवों की मनःस्थिति इतनी मजबूत होती हैं कि वे प्रतिकूल परिस्थितियों से घबराते नहीं, साहसपूर्वक उनका सामना करते हैं। वे रोते-झींकते नहीं, अपितु गम्भीरता और शान्ति से उसे सह लेते हैं। आवश्यक सात्विक प्रतीकार भी करते हैं। वे अपनी दिनचर्या, वस्त्रादि तथा सोना-जागना आदि अनिवार्य समझकर असन्तुलित हुए बिना सहजभाव से सह लेते हैं। वे न तो अनुकूलता में हर्षित होते हैं और न प्रतिकूलता में रोते-झींकते या खीजते एवं निराश होते हैं। वे परिवर्तन के अनुरूप

---

१ "हमारी वसीयत और विरासत" पृ. ४१ से ४४ तक से साभार उद्धृत

अपने को ढालने में, विपन्नता को सुधारने में, उपाय सोचने, हल निकालने और तालमेल बिठाने में अपने मन-मस्तिष्क को लगाते हैं। तितिक्षा का यह अभ्यास उनके तन-मन को तो सुदृढ़ बनाता ही है, साथ ही उनके जीवन में आनन्द और सन्तोष की सुखद सरिता भी बहा देता है।

पारिस्थितिक समभाव से प्रतिकूल संयोगों में भी आनन्दानुभूति

यों तो जीवन में संयोग-वियोग, सुख-दुःख, हानि-लाभ, जन्म-मरण, सफलता-असफलता जैसे परस्पर विरोधी अवसर भी धूप-छाया की तरह आते रहते हैं। ये सामान्य मनुष्यों को ही नहीं, महान व्यक्तियों को भी प्रभावित कर देते हैं। भगवान महावीर जैसे तितिक्षा में पारगंत साधकों के सामने अनुकूल-प्रतिकूल कई प्रसंग आए किन्तु उन्होंने प्रत्येक प्रतिकूल परिस्थिति, कठिनाई, और आतंक के समय भी धैर्य नहीं छोड़ा, वरन् समभाव से बिना मुँह मचकोड़े,प्रसन्नतापूर्वक सहन किया। इस प्रकार की सर्वांगीण तितिक्षा से उन्हें मुख्यतया तीन-लाभ हुए—(१) उनकी कर्म-निर्जरा (कर्मक्षय) हुई, मुक्ति=परमात्म-पद प्राप्ति की ओर कदम बढ़ा। (२) तन, मन, प्राणों की शक्तियाँ बढ़ीं, और (३) उनके अनुगामी साधु श्रावकों को प्रेरणा मिली। उन्होंने अपने अनुगामियों को यही सन्देश दिया—

"लाभालाभे सुहेदुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो णिंदा-पसंसासु तहा माणावमाणओ॥"[1]

जो लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा तथा मान-अपमान में सम रहता है, वही वस्तुतः तितिक्षु मुनि है। दुःख, कष्ट, विपत्तियाँ और संकट बड़ों-बड़ों पर आते हैं। प्रतिकूलताएँ, कठिनाइयाँ और उलझनें भी हर एक महान् कहलाने वाले व्यक्ति पर आती हैं, पर महान् व्यक्ति इनके सामने दृढ़तापूर्वक डट जाते हैं। और समभावपूर्वक सहन करके आगे बढ़ जाते हैं। अच्छे खिलाड़ी की तरह न तो वे सफलता में उन्मत्त होते हैं और न ही असफलता पर सिर धुनते हैं। दोनों ही परिस्थितियों में वे आनन्दानुभव करते हैं। यही प्रौढ़ मनोभूमि है। भगवान महावीर को अनार्य देश में घोर कष्ट,राम का वनवास, सीता का अपहरण, श्रीकृष्ण का वंशनाश, जराकुमार के बाण से देहान्त, पाण्डवों का अज्ञातवास, ईसा को शूली, सुकरात को विषपान, गांधी को गोली, शंकराचार्य

---

१ उत्तराध्ययनसूत्र अ. १९, गा. ९०।

को भगंदर, और स्वामी रामतीर्थ को जल समाधि जैसे घटनाक्रमों को देखते हुए कहा जा सकता है, कि विपत्तियों और प्रतिकूल परिस्थितियों ने उन्हें भी घेरा, किन्तु वे इन परिस्थितियों और विपत्तियों के आगे झुके नहीं। क्योंकि उन्होंने अपनी मनःस्थिति बदल ली, तो परिस्थिति अपने आप बदल गयी।

इसलिए परिस्थिति बदलने अथवा परिस्थिति के अनुरूप अपने मनोभावों को ढालना ही महान् पुरुष बनने का अथवा परमात्मभाव प्राप्त करने का राजमार्ग है। अभीष्ट परिस्थिति पाना किसी के वश की बात नहीं है परन्तु अपने मन को तो परिस्थिति के अनुरूप प्रत्येक व्यक्ति चाहे तो ढाल सकता है।

कठिनाइयों को स्वप्न के शेर समझकर उनसे मित्रता करो

मनुष्य जितना नाजुक बनता जाता है, उतना ही वह तन और मन से दुर्बल और भयाकुल बनता है और परिस्थितियाँ उस पर हावी होती जाती हैं। किन्तु यदि वह दृढ़ता, कष्टसहिष्णुता और तितिक्षा को अपनाये रहे तो तन ही नहीं, मन भी इतना सुदृढ़ हो जाता है कि वह प्रत्येक विपत्ति, संकट और प्रतिकूलता का सामना कर सकता है।

कठिनाइयाँ सपने के सिंह की तरह हैं। एक लड़की को स्वप्न में सिंह दिखता था, तब वह डर के मारे रोने-चिल्लाने लगती। दिन में भी उसकी याद करके वह दुर्बल होती जा रही थी। उसका पिता उसे एक कुशल मानसिक चिकित्सक के पास ले गया। उसने लड़की की बात ध्यान से सुनी और कहा—"तुम्हारी तरह वही सिंह स्वप्न में मेरे पास आता है, पर काटता नहीं, मेरे साथ हंसता-खेलता है। मैंने उससे दोस्ती कर ली है। तुम भी उससे दोस्ती कर लो। तुम्हें भी वह रात भर हंसाता-खिलाता रहेगा।" लड़की ने मनश्चिकित्सक की बात पर विश्वास करके ऐसा ही किया। उसके फलस्वरूप लड़की को सिंह का स्वप्न तो आता रहा, लेकिन उसका चेहरा प्रसन्न और हास्य मुद्रा में रहता। पूछने पर लड़की ने कहा कि "अब उसे सिंह के साथ उत्साहपूर्वक खेलने में आनन्द आता है। उसने सिंह के साथ दोस्ती कर ली है।"

कठिनाइयों को भी व्यक्ति स्वप्न के सिंह समझे और उन्हें शत्रु न मानकर मित्र मान ले तो वे ही कठिनाइयाँ उसे पस्त हिम्मत एवं व्याकुल करने की अपेक्षा उसके पुरुषार्थ और साहस को विकसित करने, उसकी

तितिक्षा शक्ति बढ़ाने, उसके आनन्द में वृद्धि करने में सहायक हो सकती हैं।

कष्टसहिष्णुता से प्रखर एवं चमकता व्यक्तित्व

संसार में जितने भी महामानव हुए हैं, उनमें से प्रत्येक ने कष्ट-कठिनाइयों की अग्नि परीक्षा में कूदकर अपनी तितिक्षा शक्ति, साहस, निर्भयता और कष्टसहिष्णुता बढ़ाई है। वे परीक्षाएँ उनके लिए आनन्द-दायक बनी हैं। तितिक्षा और कष्टसहिष्णुता से उनके प्रखर व्यक्तित्व की चमक-दमक बढ़ी है। सोने में तभी चमक-दमक आती है, जब उसे कसौटी पर कसा जाता है, काटा जाता है, अग्नि में डालकर गलाया जाता है। हीरे पर भी चमक तभी आती है जब उसे खराद पर चढ़ाकर तराशा जाता है, उसके पहलू काटे-छांटे जाते हैं। तलवारें तीखी और धारदार तभी होती हैं, जब शान के पत्थर से बार-बार रगड़ी जाती हैं। विद्यार्थी स्नातक तभी बन सकता है, विद्या में पारंगत भी तभी हो सकता है, जब वह सुकुमारता एवं सुखशीलता छोड़कर कष्ट सहता है। सुख-सुविधाएँ मनुष्य को दुर्बल बनाती हैं। असुविधाओं का सामना करने वालों का तन-मन बलवान् बनता है। सर्दी-गर्मी से डरने वाले, हीटर-कूलरों के सहारे वातानुकूलित कमरों में निवास करने वाले उस समय तो आराम महसूस करते हैं, बाद में उन की सहनशक्ति कमजोर हो जाने से तनिक-सा ऋतु-प्रभाव सहन नहीं कर सकते। जरा-सी सर्दी से जुकाम और जरा-सी गर्मी से उन्हें जलन की शिकायत आ दबोचती है। सुविधाभरा जीवन आलसी बन जाता है। जब कठिनाइयों से जूझने का अवसर नहीं मिलता तब उनकी प्रतिभा सुषुप्त हो जाती है। असुविधा भरे संघर्षमय, कठिनाइयों से परिपूर्ण जीवन जीने वाले की प्रतिभा निखरती है, तप, त्याग और संयममय जीवन जीने का लाभ मिलता है। भगवान महावीर ने सुकमार जीवन जीने वाले साधकों को सुगति दुर्लभ बताते हुए कहा है—

सुहसायगस्स समणस्स सायाउलगस्स निगामसाइस्स।
उच्छोलणा-पहोयस्स दुल्लहा सुगइ तारिसगस्स॥

जो श्रमण सुख-सुविधाओं का रसिक है, साता (सुख-सुविधा) के लिए व्याकुल रहता है, बहुत सोता है, हाथ-पैर शरीर आदि को बार-बार धोता है, ऐसे साधक को सुगति दुर्लभ है।

ऐतिहासिक महापुरुषों की गरिमा-महिमा उनकी तितिक्षा शक्ति के कारण है। यदि उन्हें कष्ट-कठिनाइयों का सामना न करना पड़ा होता

और निष्ठापूर्वक अपने स्वीकृत पथ पर संकटों के बीच भी डटे न रहते तो उनकी गरिमा पर कोई विश्वास न करता। कष्टों और संकटों की अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद ही जनता ने अंजना, सीता, सुभद्रा, चन्दन-बाला आदि महान् सन्नारियों को महासती माना है, पाण्डव, राणाप्रताप, महात्मा गांधी, राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, सुकरात आदि को महान् पुरुष माना है, उन्हें उच्च स्थान और सम्मान दिया है। अरस्तू कहते थे—लोग डरने, घबराने से अपनी शक्ति नष्ट करते हैं, उसकी आधी शक्ति भी यदि कष्ट-कठिनाइयों से निपटने में लगाएँ तो उनका आधा संकट तो अपने आप टल सकता है।

कठिनाइयों का कठिनाइयों से सामना करने वाला जीतता है

जो कष्टसहिष्णु कठिनाइयों का सामना करने को तैयार रहता है। वह जब कठिनाइयों को जीत लेता है तो उसे दिव्य सुख और सन्तोष मिलता है। अगर हम गहराई से सोचें तो जगत् में एक कठिनाई को दूर करने के लिए दूसरी कठिनाई उठानी पड़ती है। भूख का कष्ट दूर करने के लिए परिश्रम करना होता है, पसीना बहाना होता है, धन कमाने का कष्ट उठाना पड़ता है। बीमारी मिटाने के लिए कड़वी दवा पीनी पड़ती है, नियम-संयमों का पालन करना होता है। इसके विपरीत जो भूखा मानव परिश्रम से घबराता है, जो रुग्ण मानव चिकित्सा तथा संयम से दूर भागता है, वह न केवल नारकीय यातना पाता है, अपितु बुद्धि-मानों की दृष्टि में मूर्ख और कायर समझा जाता है। कठिनाइयों को कठि-नाइयाँ झेलकर दूर न करके केवल रोने-कलपने से और कष्ट में पड़े रहने से काम नहीं बनता।

यदि मनुष्य-जीवन की सार्थकता के लिए ऊँचे-ऊँचे काम भी न किये जायें तो भी कठिनाइयों से वह नहीं बच सकता। मनुष्य जीवन की दैनिक आवश्यकताएँ भी बिना कष्ट और कठिनाइयाँ सहे, बिना तप-त्याग किये पूरी नहीं हो सकतीं। भूख मिटाने के लिए भोजन बनाने में कितना ताप और कष्ट सहना पड़ता है ? एक माता को अपने शिशु के पालन-पोषण में, शिक्षण-संस्कार देने में, उसकी अन्य आवश्यकताओं को पूरा करने में कितना त्याग करना और कष्ट सहना पड़ता है ? संसार कठिनाइयों का घर है। यहाँ पग-पग पर कठिनाइयाँ मुँह बाए खड़ी हैं। उन्हें सहन करना ही उनसे बचने और आनन्दपूर्वक जीने का उपाय है। सांसारिक कार्यों में भी जब इतनी कठिनाइयाँ सहनी पड़ती हैं, तब आध्यात्मिक कार्यों में,

परमात्मभाव की प्राप्ति के मार्ग पर चलने में जो कष्ट कठिनाइयाँ आती हैं, उनको समभावपूर्वक सहने में क्या हानि है ? उससे तो पापकर्म नष्ट ही होंगे, पुण्यवृद्धि होगी, सद्धर्म की राह पर चलने से आत्मा का सर्वांगीण विकास ही होगा।

कठिनाइयाँ मनुष्य की प्रतिद्वन्द्वी नहीं होतीं, वे सच्ची मित्र होती हैं, वे मनुष्य में तितिक्षा शक्ति, कष्टसहिष्णुता और निर्भयता बढ़ाती हैं। कठिनाई सहने का अर्थ यह नहीं है कि कठिनाइयाँ या मुसीबतें आने पर उन्हीं में पड़े-पड़े पिसते रहा जाय, बल्कि सामने आई हुई मुसीबत का स्वागत किया जाए, घबराया न जाए, उनके वेग तथा उनकी तीव्रता एवं ऊष्मा को सहन किया जाए, उनके निवारण के लिए योग्य पुरुषार्थ और परिश्रम में जुटा जाए, तभी उन्हें यथास्थान रोका जा सकेगा। कठिनाइयों से घबराकर भागने से तो उनकी तीव्रता बढ़ जाएगी। तिल जैसी तकलीफ पहाड़ जैसी दीखने लगेगी, मन और बुद्धि पर बोझ पड़ जाएगा, और निवारण का सही मार्ग भी नहीं सूझेगा।

देखा यह जाता है कि मन की चंचलता और सुखलिप्सा से ही मनुष्य आध्यात्मिक क्षेत्र में तितिक्षा एवं कष्ट सहिष्णुता से कतराता है। मन की चंचलता के कारण मनुष्य नाना कल्पनाओं की दौड़ में भटकता रहता है। इसी में उसकी अधिकांश शक्ति नष्ट हो जाती है, जबकि मन को वह अन्तिम लक्ष्य-परमात्मभाव की प्राप्ति (मोक्षप्राप्ति) में केन्द्रित करता तो उधर ही उसका वैचारिक जीवन मुड़ता और सन्तोष पाता। मन की दूसरी प्रवृत्ति है—सुखोपभोग की लिप्सा। इन्द्रियाँ उसकी पूर्ति के लिए माध्यम बनती हैं। स्वाद में, विलासिता में, वासनातृप्ति में, झूठे और अमीरी ठाठ-बाट के प्रदर्शन के द्वारा अहंत्व की तृप्ति में तथा विभिन्न विषय-सुखों की कल्पना करने में और उनके लिए साधन जुटाने के ताने-बाने में अधिकांश लगी रहती हैं। अगर इसी प्रवृत्ति को उलट दिया जाए तो मन की शक्ति तप-तितिक्षा में लगेगी।

विविध शक्तियों को खोएं नहीं, संजोयें

परमात्मा की अनन्त आत्मिक शक्तियां संसार के सर्वश्रेष्ठ प्राणी-मनुष्य में सुषुप्त हैं। अगर मनुष्य में शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक शक्तियों का भण्डार न होता तो उसने जो भौतिक, वैज्ञानिक, सामाजिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में आश्चर्यजनक प्रगति की है,

वह न होती। जिन लोगों ने आध्यात्मिक शक्तियों को जागृत करके वीत-रागता, सर्वज्ञता (केवलज्ञान), कर्मक्षय, अनन्तज्ञान, दर्शन, आनन्द और आत्मिक शक्ति की उपलब्धि की है, उन्होंने अपनी शक्तियों को अपव्यय से बचाया है। अतः शक्तियों का असीम भण्डार सभी मनुष्यों में है। परन्तु वे जाने-अनजाने उनका अपव्यय करते रहते हैं। वे शक्तियों का सदुपयोग नहीं करते। अगर शक्तियों को खोयें नहीं, संजोएँ तो उनका सदुपयोग हो सकता है।

कई लोग व्यर्थ ही शारीरिक चेष्टाएँ करते रहते हैं। कई जुआ, चोरी, व्यभिचार, शिकार, मांसाहार, मद्यपान आदि दुर्व्यसनों के शिकार होकर अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करते रहते हैं। कई लोग चिन्ता, उद्वेग, आवेश, क्रोध, द्वेष, वैर-विरोध, अहंकार, छल-कपट, लोभ, रसलोलुपता, भय, कामवासना आदि के जाल में फंसकर अपनी मानसिक शक्तियों का अपव्यय करते रहते हैं। कई व्यर्थ की गप्पें हांकने में, निन्दा-चुगली करने में, हिंसा, असत्य, ठगी, चोरी आदि रौद्रध्यान के दांव-पेंच करने व सिखाने में तथा दूसरों को लड़ाने-भिड़ाने, उकसाने आदि में वाणी की शक्ति का दुर्व्यय करते हैं। इसी प्रकार बुद्धि से नरसंहार कराने, शस्त्रास्त्र बनाने, एटमबम आदि आग्नेयास्त्र बनाने, दूसरों को लूटने आदि की योजना बना कर कई लोग बौद्धिक शक्ति का अपव्यय करते हैं।

अधिकांश लोग हिंसा, झूठ, चोरी, ठगी, डाकेजनी, आगजनी, तोड़-फोड़, अत्यधिक संग्रह, परिग्रहवृत्ति, विषमता, कषायवृत्ति,मोह, द्रोह, राग-द्वेष आदि में रचे-पचे रहकर अपनी आध्यात्मिक शक्तियों को बर्बाद करते हैं। इस प्रकार जिन शक्तियों को आत्मविकास के आवश्यक कार्यों में लगाना चाहिए था, उन्हें अधिकांश मानव व्यर्थ ही खो देते हैं। जब आव-श्यक कार्यों के लिए शक्तियां नहीं बचतीं तो मनुष्य हार-थक कर जीवन से निराश-हताश हो जाता है। वैषयिक सुख-साधनों को जुटाने में भी अधिकांश मनुष्य निरर्थक कल्पनाओं का भार ढोते रहते हैं। अतः विविध शक्तियों के उस असीम भण्डार को निरर्थक व्यय होने से रोका जाए तो खोई हुई शक्तियों को जाग्रत करके मनुष्य परमात्मीय शक्ति उपलब्ध कर सकता है।

मानसिक तितिक्षा का अभ्यास क्यों और कैसे ?

सुखानुभूति तो आत्मा की आकांक्षा भी है, पर वह मन के स्तर से

बहुत ऊँची, स्वाधीन प्रवृत्तिजन्य और अत्यन्त भिन्न है। मन की तृप्ति, वासना, तृष्णा और अहंता की पूर्ति में होती है, इसका लक्ष्य उपभोग है। आत्मा को तृप्ति उच्चस्तरीय आदर्शों के पालन में होती है, उसका लक्ष्य तन, मन आदि से आत्मिक आनन्द-प्राप्ति में उपयोग है। वह प्राप्त होता है—तितिक्षा, सन्तोष और शांति से। संक्षेप में, मन को भौतिक सुख की आकांक्षा रहती है, जबकि आत्मा को संतोष, शान्ति और आध्यात्मिक आनन्द की। अगर आत्मा को तृप्त और सच्चिदानन्दमय बनाना हो तो मन को जीतना पड़ेगा। प्रारम्भ में उद्धत मन जंगली पशु की तरह होता है, उसे संयत बनाने में काफी संघर्ष करना पड़ता है। बाद में जब समझौता हो जाता है तो वह पालतू पशु की तरह आत्मारूपी स्वामी के अनुकूल बन जाता है। जिस प्रकार सरकस वाले सिंह जैसे क्रूर एवं आक्रमणकारी प्राणी को स्वामिभक्त एवं आज्ञाकारी बना लेते हैं, उसी प्रकार मन को भी तप-तितिक्षा की साधना द्वारा आत्मा का आज्ञाकारी बनाया जो सकता है। जैसे सरकस के पशु-शिक्षक उन प्राणियों की अनगढ़ आदतों को छुड़ाने और नए किस्म का अभ्यास डालने में बहुत माथापच्ची करते हैं। उन्हें मार और प्यार की दुहरी भूमिका निभानी पड़ती है। इसी प्रकार मन की चंचलता और सुखलिप्सा वाली अनगढ़ आदतों एवं कुसंस्कारिता को छुड़ाने और उसे उच्च स्तरीय आध्यात्मिक प्रवृत्तियों में संलग्न होने तथा लक्ष्य में एकाग्र करने का बार-बार तप-तितिक्षा भरा कठोर अभ्यास कराना पड़ेगा। यद्यपि तप-तितिक्षा के द्वारा शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक असुविधाओं का कठोर अभ्यास मन की अनगढ़ कुसंस्कारिता को छुड़ाने के लिए किया जाता है। इसमें तन-मन के साथ हठयोगयुक्त कड़ाई बरतनी पड़ती है, किन्तु उसके पीछे आत्मोत्कर्ष का दूरगामी दुलार छलकता देखा जा सकता है। मानसिक तितिक्षा शक्ति बढ़ाने के लिए प्रारम्भ में सुखद परिणाम की दृष्टि से कष्ट सहना पड़ता है। इसमें शारीरिक सुख-सुविधाओं, मन की सुखलिप्साओं और चंचलताओं में कटौती करनी पड़ती है। किन्तु प्रसव पीड़ा की तरह इस कष्ट-कठिनाई को माना जाये तो इसके पीछे उज्ज्वल सम्भावनाएँ निहित है। इसे थोड़ी-सी लागत से पर्याप्त मुनाफा कमाने जैसी बुद्धिमत्ता कहा जा सकता है। वस्तुतः यह प्रारम्भ में बीज की तरह गलने और पीछे विशाल वृक्ष के रूप में विकसित करने वाली दूरगामी बुद्धिमानी है। वैसे देखा जाये तो सत्परिणाम प्राप्त करने के लिए किसान, विद्यार्थी, कलाकार, श्रमिक, व्यवसायी आदि

सबको अपनी चंचलताओं, सुखलिप्साओं से विरत होकर तपना और मन मारना ही पड़ता है।

तप-तितिक्षा से तन-मन-प्राण परिपक्व, सुदृढ़ और संशुद्ध

तपाने से वस्तुएँ गरम होती हैं, उनकी संशुद्धि होती है, उनमें दृढ़ता आती है, स्तर बढ़ता है, इसी प्रकार शारीरिक मानसिक तप-तितिक्षा से भी आत्मा परिष्कृत और सुदृढ़ होती है। धातुएँ खान में से मिट्टी मिली हुई कच्ची हालत से निकलती हैं, उनकी शुद्धि और मजबूती के लिए उन्हें भट्टी में तपाया जाता है। कच्ची ईंटों को पकाये जाने पर ही वे भवन को चिरस्थायी और मजबूत बनती हैं। मुसीबत की आग में तपने पर मनुष्य की बहुत-सी कमजोरियाँ जल जाती हैं और वह खरे सोने की तरह चमकने लगता है। कष्ट की चोट सहकर मनुष्य दृढ़, बलवान् और साहसी बनता है. बिना चोट लगे गेंद नहीं उछलती, बिना थपकी लगे मृदंग नहीं बजता, बिना एड़ लगाये घोड़े की चाल में तेजी नहीं आती, मनुष्य के सामने भी कठिनाइयाँ न हों तो उसकी सुप्त शक्तियाँ जागृत नहीं हो सकती, उसकी क्रियाशीलता, कुशलता और कष्टसहिष्णुता नष्ट हो जाती है। घात-प्रतिघातों की ठोकर खाकर रबड़ की गेंद की तरह अन्तश्चेतना में उछाल आता है और वह लक्ष्य तक पहुँचने की गति-प्रगति प्रारम्भ कर देती है। वस्तुतः तितिक्षा शक्ति बढ़ जाने पर मनुष्य के तन, मन और प्राण परिपक्व, संशुद्ध हो जाते हैं। मानसिक तितिक्षा शक्ति की अभिवृद्धि शास्त्रोक्त बाईस परीषह एवं बड़े से बड़े उपसर्गों पर विजय पाना आसान हो जाता है। तितिक्षा अभ्यास है, जबकि परीषह-जय या उपसर्ग-सहन उसका परीक्षाफल है। इस तरह मानसिक तितिक्षा-शक्ति बढ़ जाने से व्यक्ति में परमात्मीय शक्ति अवतरित हो जाती है।

प्राण-तितिक्षा से ऊर्जा शक्ति में वृद्धि

शारीरिक और मानसिक तितिक्षा से भी बढ़कर प्राण तितिक्षा है। कई बार शारीरिक और मानसिक क्षमता होते हुए भी तथा उपयुक्त साधन एवं सहयोग होते हुए भी मनुष्य निर्भयता, साहस, उत्साह एवं तीव्र निष्ठा के अभाव में सत्कार्य में, या आध्यात्मिक विकास के शिखर को छूने में पराक्रम नहीं कर पाता। निर्भयता, साहसिकता, उत्साह, तीव्र निष्ठा, लगन और पराक्रम करने की धुन प्राणों की ऊर्जा शक्ति से निष्पन्न होती है, और ऊर्जा शक्ति बढ़ती है—प्राण तितिक्षा से। इंजन कितना ही अच्छा और मजबूत हो, उसके कल-पुर्जे सब सही हों और यथास्थान फिट हों,

फिर भी उसमें भाप या तेल न हो तो वह जरा भी नहीं चल सकता। मशीनें कितनी ही अच्छी और मजबूत हों, किन्तु उनमें तेल या बिजली की शक्ति न हो तो वे बेकार हैं। इसी प्रकार शरीर कितना ही सुडौल और बलिष्ठ हो, मन किसी प्रकार के सत्कार्य करने के लिए या आध्यात्मिक विकास के शिखर को छूने के लिए मचल रहा हो, परमात्म-पद को प्राप्त करने के लिए उत्कण्ठित हो, किन्तु उस तन-मन में प्राण न हों तो वह व्यक्ति कुछ भी पराक्रम या साहस नहीं कर सकता। प्राणमयी ऊर्जा शक्ति के अभाव में शरीर और मन-मस्तिष्क की भौतिक क्षमता कितनी ही चढ़ी-बढ़ी हो, उसका कोई उपयोग नहीं हो सकता। प्राण के बिना तन-मन में साहस, पराक्रम और उत्साह कहाँ से जगेगा? पराक्रम दृश्य-रूप है, और साहस उसका प्राण है। तन और मन कितना ही सशक्त हो, आन्तरिक उत्साह न जगे, किसी लक्ष्य को प्राप्त करने की तीव्र उत्कण्ठा जागृत न हो, किसी सत्कार्य को पूरा करने के लिए संकल्प-शक्ति की आन्तरिक स्फुरणा न हो तो उस तन-मन में न तो उमंग उठेगी और न ये दोनों उस दिशा में सक्रिय हो सकेंगे।

प्राणतितिक्षा के चमत्कार

जिसकी प्राणमयी ऊर्जा शक्ति बढ़ जाती है, उसके दशविध[1] प्राणों में बल आ जाता है, उसमें किसी सत्कार्य को करने एवं लक्ष्य को प्राप्त करने का शौर्य और साहस जग जाता है। इतना ही नहीं, आक्रोश, वध, ताड़ना, तर्जना, भर्त्सना, निन्दा, अप्रतिष्ठा, आलोचना, प्रहार आदि प्रसंगों में भी उसकी प्राणमयी ऊर्जा शक्ति इतनी प्रबल होती है, कि वह क्षमावीर प्राण-तितिक्षाशील शौर्यमूर्ति अजेय योद्धा की तरह खड़ा रहता है। उसे कोई भी शक्ति अपने स्वीकृत मोक्षपथ से, परमात्मपद-प्राप्ति के लक्ष्य से तथा अनन्तज्ञानादि चतुष्टय के सम्यक् प्रवाह से विचलित और भ्रष्ट नहीं कर सकती। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रहवृत्ति पर वह अडिग रहता है। उसकी प्राणतितिक्षा अजेय आत्म-

---

१ जैन शास्त्रोक्त दस प्राण इस प्रकार हैं—(१) श्रोत्रेन्द्रिय बल प्राण, (२) चक्षुरिन्द्रिय बल प्राण, (३) घ्राणेन्द्रिय बल प्राण, (४) रसनेन्द्रिय बल प्राण, (५) स्पर्शेन्द्रिय बल प्राण, (६) मनोबल प्राण, (७) वचन बल प्राण (८) काय बल प्राण (९) श्वासोच्छ्वास बल प्राण और (१०) आयुष्य बल प्राण।

बल या अध्यात्म शौर्य की पर्याय बन जाती है। मरणान्तक कष्ट, उपसर्ग (संकट) एवं प्राणान्तक आतंक को वह हंसते-हंसते समभाव से सह लेता है। प्राण-तितिक्षाशील व्यक्ति में ऊर्जा, शक्ति, शौर्य, धैर्य, गाम्भीर्य, साहस और आत्मबल कूट-कूटकर भरे होते हैं। रण-क्षेत्र में दिखाई गई वीरता या शौर्य का नाम ही साहस नहीं है। उससे तो अपनी और दूसरों की क्षति होती है, इसलिए वास्तविक साहस आध्यात्मिक क्षेत्र का होता है जो स्वपर-कल्याणकारी तथा उभयहितकर होता है। आध्यात्मिक साहस वह है—जिसमें आलस्य और प्रमाद जैसे रक्त को ठण्डा कर देने वाले दोषों को हटाकर शारीरिक एवं मानसिक स्फूर्ति उत्पन्न करने वाले विवेकमय जोश, उमंग, धुन या पराक्रम होते हैं। इसका पहला निशाना बनता है—उदासीनता, लापरवाही और उपेक्षावृत्ति। इन्हें वह मार भगाता है। तदनन्तर उसका कदम उठता है—अन्यान्य दोष-दुर्गुणों को ढूंढ़-ढूंढ़कर उन्हें बुहारने और कूड़े के ढेर में फैंक देने में। निराशाजनक भविष्य की भयावह कल्पनाएँ, असफलता की आशंकाएँ, अपनी अक्षमता, अयोग्यता, एवं दुर्भाग्यग्रस्त होने की मिथ्या धारणाएँ तथा लोकरूढ़ि-प्रचलित मिथ्या मान्यताएँ ऐसी हैं, जो बाधक भारी चट्टानें बनकर व्यक्ति के प्राणों की ऊर्जा शक्ति को पनपने से तथा व्यक्तित्व को उभरने से रोकती हैं। इन कुकल्पनाओं की घटनाओं की वजनी चट्टानों को हटाने में प्राण तितिक्षा से समुत्पन्न प्राणमयी ऊर्जाशक्ति बनाम साहसिकता का प्रभंजन ही समर्थ होता है।

सामान्य व्यक्ति जहाँ इन और ऐसी ही काल्पनिक कठिनाइयों से डरे, सहमे रहते हैं, कुछ करने के लिए कदम बढ़ाने से पूर्व ही नाना आशंकाएँ उन्हें घेर लेती हैं, वे पस्तहिम्मत हो जाते हैं। अपनी योग्यता, क्षमता और प्रखरता पर उन्हें विश्वास ही नहीं होता, आत्महीनता की ग्रन्थि से सारा मनःक्षेत्र एवं आत्मविश्वास बुरी तरह डगमगाता रहता है। समय पर उदार सहायता और अनुकूलता की उन्हें आशा ही नहीं रहती। उपहास, झिड़की एवं अयोग्यता के भय से किसी के सामने मुंह खोलने, अपना विचार स्पष्टतया प्रस्तुत करने, तथा उचित सहयोग माँगने का साहस ही नहीं होता। ऐसे आत्मविश्वासहीन व्यक्ति चुपचाप अन्याय सहते रहते हैं, अनीति के विरुद्ध आवाज उठाने की हिम्मत नहीं कर पाते। दब्बूपन, मानसिक दुर्बलता एवं हीनभावना के कारण उनकी ऊर्जाशक्ति का भी ह्रास हो जाता है। जबकि प्राणतितिक्षा में अभ्यस्त ऊर्जाशक्ति के

धनी इन सब कुकल्पनाओं और आशंकाओं की चट्टानों को लाँघकर दूर-दर्शितापूर्ण, सन्तुलित एवं विवेकयुक्त कदम मुस्तैदी से उठाते हैं। वे उस सत्कार्य के सम्बन्ध में सभी पहलुओं से विचार-विमर्श करके निर्णयात्मक कदम उठाते हैं, उस राह पर चलने के बाद वे पीछे नहीं हटते। अभीष्ट सफलता, अनुकूल परिस्थिति झटपट न दिखाई देती हो, प्रगतिक्रम धीमा हो, साधनों और सहायकों की कमी हो, फिर भी वे हिम्मत नहीं हारते। फिर भी उनकी प्राणमयी ऊर्जाशक्ति उन्हें आगे से आगे बढ़ने का साहस प्रदान करती है। भगवान महावीर की भाषा में वे निम्नोक्त गाथा को जीवन में चरितार्थ कर दिखाते हैं—

"खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
सव्व-दुक्ख-पहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो॥"[1]

समस्त दुःखों से मुक्त होने के लिए वे महर्षिगण संयम और तप के द्वारा (प्राणमयी ऊर्जा शक्ति अर्जित करके) (आत्मा एवं तन-मन प्राणों को आवृत किये हुए) समस्त पूर्व कर्मों का क्षय करके (मोक्ष=परमात्मपद की प्राप्ति के लिए) पराक्रम करते हैं।

प्राण-तितिक्षा के अभ्यास से प्राणमयी ऊर्जाशक्ति अर्जित करने के लिए उनके मन-मस्तिष्क में सदैव भगवान् महावीर का यह तितिक्षा प्रेरक सूत्र अंकित रहता है—

"इह आणाकंखी पंडिए अणिहे, एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं कसेहि अप्पाणं जरेहि अप्पाणं।"[2]

प्रभु की आराधना का आकांक्षी ऊर्जाशक्तिसम्पन्न पण्डित साधक एकमात्र अपनी आत्मा को अकेली (शरीर से भिन्न) समझकर अस्नेह—अनासक्तभाव से अपने शरीर को तप-तितिक्षा द्वारा क्षीण करे। साथ ही अपने तन-मन-प्राणों से सम्बन्धित कषायादि विकारों को कृश करे, उन्हें जीर्ण-शीर्ण कर दे।

इस प्रकार उस प्राज्ञ एवं ऊर्जाशक्ति सम्पन्न प्राणतितिक्षा में पारंगत मुनि के समक्ष कैसा भी भय, आतंक, आक्रोश आदि का प्रसंग हो, वह विचलित नहीं होता, न ही भयभीत और वैरविरोध से ग्रस्त होता है।

---

१ उत्तराध्ययनसूत्र अ. २८, गा. ३६।
२ आचारांगसूत्र श्रु. १ अ. ४ उ. ३

भगवान् महावीर के निर्देशानुसार वह साधक प्राणतितिक्षा के निम्नोक्त सूत्र को हृदयंगम कर लेता है—

> "से अकुट्ठेव हए व लूसिए वा, पलियं पगंथे अदुवा पगंथे, अतहेहिं सद्दफासेहिं, इतिसंखाए; एगतरे अण्णयरे अभिण्णाय तितिक्खमाणे परिव्वए।"[1]

'अगर कोई व्यक्ति साधक पर आक्रोश करता है, उसे मारता-पीटता है, अथवा रुष्ट होता है या रूखा व्यवहार करता है, उसे रस्सी से बाँधता है, अथवा व्यथित-पीड़ित करता है, अतथ्य अवाच्य शब्दों के स्पर्श से उसे उत्तेजित करता है, यह जानकर उन सबको आत्मा की दृष्टि से समान एवं शरीर की दृष्टि से भिन्न समझे और तितिक्षा धारण करता हुआ अपने स्वीकृत पथ पर प्रयाण करे।'

अभिप्राय यह है कि प्राण-तितिक्षाधारी साधक संकट, भय, त्रास और आतंक आदि से साहस को बड़ा मानते हैं। मृत्यु की अपेक्षा जीवन को अधिक सक्षम और ऊर्जाशक्तिसम्पन्न मानते हैं। अनन्त शक्तिमान् आत्मा के आगे वे उन काल्पनिक कठिनाइयों, संकटों और आशंकाओं के भूतों को कुछ भी नहीं गिनते।

भगवान् महावीर, हरिकेशबल मुनि, अर्जुन मुनि, गजसुकुमाल मुनि आदि का आदर्श उनकी नजरों में तैरता रहता है। ऐसे साहसी, पराक्रमी वीरों की प्राणमयी ऊर्जाशक्ति सदा बाजी मार जाती है। उनके अन्दर का शौर्य बाहर में पराक्रम और पुरुषार्थ बनकर अपने आन्तरिक राग-द्वेष, काम-क्रोधादि शत्रुओं को परास्त कर देता है। कर्म रिपुओं से भी वे सदैव जूझते रहते हैं, तप-संयमरूपी शस्त्रास्त्र लेकर। वे सोचते हैं कि जब गई-गुजरी परिस्थितियों में पड़े हुए व्यक्ति भी तप-तितिक्षाशील पराक्रमी साधक बनकर परमात्मपद को प्राप्त कर सकते हैं, तो हम क्यों नहीं प्राप्त कर सकते ? ऐसे आत्मविश्वास, तितिक्षा और उर्जाशक्ति के धनी व्यक्ति एकाकी आगे बढ़ते हैं तो तितिक्षा उनके लिए परमात्मपदप्राप्ति की दीक्षा बनती है। सफलताएँ और अनुकूलताएँ उनके दाँये-बाँये चरण चूमती हुई चलती हैं। वे तन-मन और प्राण की सर्वांगीण तितिक्षा से प्रगति पथ पर बढ़ते हुए ज्ञान-दर्शन-आनन्द और आत्मशक्ति के सर्वोच्च शिखर तक पहुँच जाते हैं।

---

१. आचारांग सूत्र श्रु. १, अ० ६, उ० २

७

आत्म-शुद्धि से परमात्मपद-प्राप्ति

परमात्मा के सान्निध्य के लिए आत्मशुद्धि अपेक्षित

यह सर्वविदित है कि परमात्मा के पास जाने के लिए बाह्य-शुद्धि के साथ-साथ आन्तरिक शुद्धि की आवश्यकता है। जो व्यक्ति मलिन वासनाएँ, भावनाएं, तुच्छ कामनाएँ अथवा भोगों की लालसाएँ लेकर प्रभु के द्वार पर जाता है; अथवा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, द्रोह-मोह, वैर-विरोध, भय-उद्वेग, घृणा-ईर्ष्या आदि विकार-कालुष्यों को लेकर भगवान के दरबार में पहुँचता है, उसकी कोई भी धार्मिक साधना तथा भक्ति, ज्ञान और चारित्र की आराधना सफल नहीं हो सकती। बाहर से शरीर को शुद्ध कर लेने पर भी यदि आत्मा अशुद्ध है, अपवित्र है, अन्ध-विश्वास और अविवेक के अन्धकार से व्याप्त है तो वह परमात्म-पद को प्राप्त नहीं कर सकता। कठोपनिषद् में इसी तथ्य को उजागर किया किया है—

> यस्त्वज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
> न स तत्पदमाप्नोति संचारं चाधिगच्छति ॥[1]

जो अज्ञानान्धकार में पड़ा है, अन्यमनस्क (प्रभु पद के प्रति उपेक्षक) है, और सदैव कषाय-कालुष्यों से अशुद्ध-अपवित्र बना रहता है, वह

---

१. कठोपनिषद् वल्ली ३, मं. ७

परमात्म-पद को प्राप्त नहीं कर पाता, वह संसार भ्रमण के बन्धनों में जकड़ा रहता है।

अभिप्राय यह है कि परमात्म पद की प्राप्ति के लिए केवल बाह्य शुद्धि से काम नहीं चलता, उसके लिए मुख्यतया आत्मिक शुद्धि आन्तरिक पवित्रता अपेक्षित है।

केवल पानी से आत्मा की शुद्धि सम्भव नहीं

आत्मा की शुद्धि हुए बिना परमात्मा का सामीप्य, सायुज्य, सालोक्य और सान्निध्य पाना कठिन है और आत्मा की शुद्धि भी केवल पानी से नहीं हो सकती। कई अन्धविश्वासी लोग कह देते हैं कि अमुक नदी, अमुक सरोवर या अमुक तीर्थ क्षेत्र में स्नान करने से सभी पाप धुल जाते हैं और आत्मा शुद्ध हो जाती है। किन्तु यह एक प्रकार की भ्रान्ति है। यदि किसी नदी या तीर्थ के जल में डुबकी लगाने मात्र से ही समस्त पापों का क्षय हो जाता, तब तो किसी भी व्यक्ति को, विशेषतः पापकर्म करने वाले को, कुछ भी तप, जप, नियम, त्याग, संयम, व्रत, परीषहजय आदि का आचरण नहीं करना पड़ता। केवल नदी या तीर्थ के जल में डुबकी लगा लेने में क्या लगता है? ऐसा सस्ता सौदा कौन नहीं चाहेगा? दूसरी बात, किसी नदी या तीर्थ के जल में अहर्निश डुबकी लगाने से ही यदि पापों का नाश हो जाता तो उस नदी या तीर्थ के जल में अहर्निश रहने वाले मगरमच्छ, घड़ियाल, मछली या अन्य जलचर प्राणियों के पापों का नाश तो उस नदी या तीर्थ-सरोवर आदि के जल में केवल एक-दो घंटे तक स्नान करने वाले मनुष्यों से पहले ही हो जाना चाहिए, तथा वे जलचर जन्तु उन मनुष्यों से पहले ही पवित्र होकर मोक्ष में पहुँच जाने चाहिए थे, परमात्मा का सान्निध्य भी उन्हें प्राप्त हो जाना चाहिए था। परन्तु ऐसा कदापि नहीं होता। इसीलिए भगवान महावीर ने सूत्रकृतांग सूत्र में स्पष्ट कहा—

'उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी।
सिज्झिसु पाणा बहवे दगंसि ॥'[1]

'यदि जल स्पर्श (जल में स्नान) से ही सिद्धि प्राप्त होती हो, तो

---

१ सूत्रकृतांगसूत्र श्रु. १, अ. ७/१४

पानी में रहने वाले अनेक जीव कभी के मोक्ष प्राप्त कर लेते ? परमात्मा के समीप पहुँच जाते ?

वैदिक धर्मग्रन्थों में भी केवल तीर्थ-जल-स्नान से पापनाश होना नहीं बताया, उन्होंने बताया कि तीर्थ में रहकर संयम, नियम, अहिंसादि व्रत, इन्द्रिय-विजय, ब्रह्मचर्य-पालन, क्रोध आदि कषायों पर विजय करने से तथा नित्य भाव भक्तिपूर्वक भगवदुपासना, ऋषि मुनियों का सत्संग, ध्यान-धारणा, जप-तप आदि से आत्मशुद्धि होती है।

इस सम्बन्ध में महाभारत में एक प्रेरक आख्यान मिलता है—

महाभारत का युद्ध समाप्त हो चुका था। पाँचों पाण्डवों के मन में युद्ध में विजयी होने का उल्लास था, परन्तु साथ ही युद्ध में हुए नर-संहार के कारण आत्मग्लानि हो रही थी। सोचा—'इतने बड़े पाप को धोने के लिए ६८ तीर्थों में स्नान कर आना आवश्यक है।' उन्होंने श्रीकृष्ण जी के समक्ष अपना मनोरथ प्रगट किया। सम्यग्दृष्टिवान् श्रीकृष्ण जी ने सोचा "ये अभी स्थूलदृष्टि बन रहे हैं। पाप कहाँ लगा है और धोने कहाँ जा रहे हैं ?" फिर भी उन्होंने सोचा—अभी इन्हें मना करने से ये मानेंगे नहीं, अतः बाद में इन्हें युक्ति से समझाना ठीक रहेगा। अतः कहा—"पापों को धोना और आत्मशुद्धि करना तो प्रत्यक्ष मनस्वी का कर्त्तव्य है। हमारी एक तुम्बी ले जाओ, प्रत्येक तीर्थ में इसे पहले नहलाना, बाद में आप नहाना।" पाण्डवों ने स्वीकार किया और विदा हुए। सभी तीर्थों की यात्रा करके जब पाण्डव लौटे तो श्रीकृष्ण ने उनका स्वागत करके कुशल-मंगल पूछा। फिर अपनी तुम्बी के विषय में पूछा तो पाण्डवों ने कहा —"आपकी तुम्बी को भी हम सभी तीर्थों में नहला लाए हैं।" श्रीकृष्णजी ने एक सेवक को आदेश दिया कि "इस पवित्र तुम्बी को कूटपीट कर चूर्ण बना लाओ। सबको इसका प्रसाद बाँटा जाएगा।" तुम्बी का चूर्ण बनकर आने पर श्रीकृष्णजी ने सबको एक-एक चुटकी चूर्ण दिया और उसे फांकने को कहा। पाण्डवों ने ज्यों ही चूर्ण मुँह में डाला, सभी कड़वा कह कर थू-थू करने लगे। श्रीकृष्ण बोले—"अड़सठ तीर्थों में नहा कर, पवित्र बनी हुई तुम्बी में कड़वापन कहाँ से आया ?" सबने कहा—"नहलाया तो बाहर से था, कड़वापन तो इसके भीतर था, वह कहां से जाता ?" इसी सूत्र को पकड़ कर श्रीकृष्णजी ने पूछा—"आपके पाप कहाँ लगे थे ? बाहर लगे थे, या अंदर ?" पाण्डवों ने कहा—"पाप तो अंतर में लगे थे, हम तो

भ्रमवश यही समझ रहे थे कि नहाने मात्र से पाप धुल जाएंगे आप हमें बताइए कि अन्तर के पापों को धोने के लिए हम क्या करें? हमारी आत्मा में बहुत ही खटक है, उनकी।" इस पर श्रीकृष्णजी ने कहा—

आत्मा नदी, संयमतोय-पूर्णा,
सत्योदका शील-तटा दयोर्मिः।
तत्राऽभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र!
न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥[1]

पाण्डुपुत्रो! देखो, आत्मारूपी नदी है, जो संयमरूपी जल से परिपूर्ण है। जिसके सत्यरूपी प्रवाह हैं, और शीलरूपी तट हैं। उसमें दयारूपी उर्मियाँ उछल रही हैं। ऐसी आत्मारूपी सरिता में स्नान करो। पानी से अन्तरात्मा शुद्ध नहीं होती।

अभिवृद्धि से पहले आत्मशुद्धि आवश्यक

किसी भी आध्यात्मिक साधना के लिए सर्वप्रथम आत्मिक शुद्धि या अन्तरात्मा का परिष्कार जरूरी है। इसके बिना आध्यात्मिक साधना में प्रगति दिवास्वप्न-सी हो जायेगी। जैसे—फूटे बर्तन में दूध दुहने से पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता, जितना भी दूध दुहा जाता है, उतना शीघ्र निकल जाता है। दुहने का श्रम भी निरर्थक चला जाता है। वैसे ही दोषों, दुर्गुणों और कषाय कल्मषों से भरे हुए अन्तरात्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की जितनी भी साधनाएँ-आराधनाएँ की जाती हैं, यम-नियमों और धार्मिक क्रियाओं का जितना भी आचरण किया जाता है, उनमें तेजस्विता नहीं आती, सफलता नहीं मिलती। दोष-दुर्गुणों के रहते, साधना के लिए जितना भी श्रम किया जाता है, तपस्या के लिए जितना पराक्रम किया जाता है, वह राख लीपने के समान व्यर्थ चला जाता है। इसलिए साधना में अभिवृद्धि से पहले परिशुद्धि नितान्त आवश्यक है।

केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही नहीं, भौतिक क्षेत्र में भी यही सिद्धान्त उपयोगी होता है। रक्तविकार जैसे रोगों के निवारण के लिए निष्णात चिकित्सक पहले पेट की सफाई करते हैं, दूषित रक्त को बाहर निकालते हैं, तदुपरान्त ही वे रक्त शोधक उपचार करते हैं। कायाकल्प-

---

१ महाभारत शान्तिपर्व

चिकित्सा में वैद्य प्रारम्भ में ही शक्तिवर्द्धक औषधियाँ, रसायन या भस्म नहीं दे देता, अपितु सर्वप्रथम रोगातुर व्यक्ति के उदर आदि शरीरावयवों में संचित मलों के निष्कासन के लिए वमन, विरेचन, स्वेदन आदि क्रियाओं को ही प्रधानरूप से अपनाता है। संचित मल-निष्कासन के प्रयोग मे जितनी-जितनी सफलता मिलती जाती है, जीर्ण रोगग्रस्त व्यक्ति भी उसी अनुपात में आरोग्यलाभ करता है और फिर उसे दी गई औषधियाँ उसके तन-मन-प्राणों को बलिष्ठ बनाती चली जाती है। कायाकल्प-चिकित्सा के विज्ञान की तरह आत्मा का कायाकल्प करने तथा उसे ज्ञानादि साधना से परिपुष्ट एवं तप-तितिक्षा एवं परीषहादि सहने के लिए कार्यक्षम बनाने तथा परमात्मपद प्राप्ति के लिए समर्थ बनाने हेतु यही सिद्धान्त काम में लाया जाता है।

निष्कर्ष यह है कि आध्यात्मिक साधना में प्रगति-अभिवृद्धि से पूर्व दोषों, दुर्गुणों और कषाय-कल्मषों को दूर करके आत्मा की परिशुद्धि आवश्यक है। इस सिद्धन्त को न अपनाने के कारण अधिकांश साधक आत्मिक प्रगति के आवेश में वर्षों तक साधना किये चले जाते हैं परन्तु अन्तरंग दोषों दुर्गुणों के दूर न होने, तथा पूर्वकृत संचित दुष्कर्ममलों के परिशोधन न होने से उन्हें सिद्धि या सफलता नहीं मिलती। पूर्वकृत दुष्कर्मों तथा वर्तमानकालीन पाप-दोषों के कारण चित्त पर जमे हुए कुसंस्कारों की मोटी पर्तें आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है, उसे पहले हटाना ही आत्मशुद्धि करना है।

भूमिशोधन के बाद ही बीजारोपण

परमात्मपद-प्राप्ति की आध्यात्मिक साधना कृषक की कृषि-कर्म-साधना अथवा बागवान् की उद्यान-संवर्द्धन-साधना जैसी ही है। कृषक उन्नत फसल प्राप्त करने के लिए बीजारोपण करने से पूर्व भूमिशोधन करता है। वह भूमि पर उगे हुए झाड़-झंखाडों को, खरपतवारों को उखाड़ता है, कंकड़-पत्थरों को हटाता है, फिर अच्छी तरह उसे जोत कर समतल बनता है, उसमें पानी छींटकर मिट्टी को मुलायम बनाता है, तत्पश्चात् खाद डालता है। इन और ऐसे ही कई कार्य करके भूमि को इस योग्य बना देता है, ताकि उसमें बोया हुआ बीज ठीक तरह उग सके। अंकुरों को बढ़ने और फलने-फूलने की स्थिति तक पहुँचाने के लिए कृषक को भूमि शोधन की यह प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। यदि जल्दी फसल प्राप्त करने

के लोभ में किसान भूमिशोधन के कार्य की उपेक्षा करता है, या उस श्रम एवं तप तितिक्षा को निरर्थक समझता है तो भारी भूल करता है। प्रारम्भ में श्रम बचाने की जो बुद्धिमानी उसने की थी, उसका प्रतिफल वह बीज भी गँवा बैठने और श्रम निरर्थक होने की निराशा के रूप में पाता है। इसी प्रकार जो आध्यात्मिक साधक परमात्मपद-प्राप्तिरूप फल पाना चाहता है, उसे अपनी साधना में अभिवर्धन से पूर्व आत्मारूपी भूमि की सर्वांगीण परिशोधन करना आवश्यक है।

जो इसे व्यर्थ श्रम और समय की बर्बादी समझता है, उसे आगे चलकर उस साधना में निराशा, खिन्नता और असफलता ही हाथ लगती है। आसानी से शीघ्र फलोपार्जन के लोभ में ऐसी आतुरता अपनाई जाती है, जिसके अति-उत्साह एवं आवेश में पूर्वसंचित दुष्कर्मों तथा दोषों व दुर्गुणों के परिशोधन की प्रक्रिया पूरी नहीं की जाती है। फलतः ऐसे एकांगी प्रयास अधूरे और असफल हो जाते हैं। साधनाओं की असफलता का मूल कारण यही है, जिसमें परिशोधन जैसी प्रारम्भिक आवश्यकता को पूरी किए बिना ही आगे की छलांग लगा दी गई।

साधना से पहले असफलता, बाद में सफलता

माधव-निदान के प्रणेता माध्वाचार्य ने वृन्दावन में रहकर लगातार ग्यारह वर्षों तक पूर्ण विधि-विधान के साथ तन्मयतापूर्वक गायत्री महापुरश्चरण-साधना की। फिर भी उन्हें सिद्धि का कोई भी लक्षण प्रतीत न हुआ। वे निराश, खिन्न और असफल होकर उस साधना को छोड़कर काशी चले आए।

गंगातट पर वे उदास होकर बैठे थे कि एक कापालिक ने उनकी खिन्नता का कारण जाना और उनकी अन्तर्व्यथा सुनकर एक वर्ष तक साधना से भैरव सिद्धि कर लेने से निश्चित रूप से सिद्धि प्राप्त होने का आश्वासन दिया। उन्होंने इसी प्रकार किया। फलतः भैरव ने प्रच्छन्नरूप में रहकर वरदान माँगने का कहा। माध्वाचार्य ने कहा—"मेरी इतनी लम्बी और निष्ठाभरी गायत्री साधना निष्फल कैसे हो गई? इसका समाधान चाहता हूँ।" भैरव ने उन्हें पिछले ग्यारहजन्मों के दृश्य दिखाये, जिनमें अनेकों पापकर्मों का समावेश था। फिर कहा—"आपके एक-एक वर्ष की गायत्री-पुनश्चरण-साधना से एक-एक जन्म के पापकर्मों का परिशोधन हुआ है। अतः आपके इन ग्यारह वर्षों की तपश्चर्यापूर्वक गायत्री साधना

के फलस्वरूप तो पिछले ग्यारह वर्षों के समस्त संचित पापकर्मों के दुष्परिणाम नष्ट हुए हैं। उनके रहते आपको साधना में सफलता कैसे मिलती ? अब पिछले संचित पापकर्मों की निवृत्ति हो जाने से, नये सिरे से गायत्री साधना करेंगे तो आपको अवश्य सफलता मिलेगी।"

माध्वाचार्य ने वृन्दावन आकर पुनः गायत्री के बारहवें पुनश्चरण की साधना की। फलतः प्रारम्भ मे ही सफलता के लक्षण प्रगट होने लगे। वर्ष पूरा होते ही इष्टदेव का साक्षात्कार हुआ। उन्हीं के अनुग्रह से वह प्रज्ञा प्रगट हुई, जिसके सहारे से माधव-निदान जैसा महाग्रन्थ लिखकर वे यशस्वी हो गए।

यह घटना इस तथ्य पर प्रकाश डालती है साधना से सिद्धि प्राप्त करने में बाधक है—पूर्वसंचित दुष्कर्मों के परिशोधन का न होना।

शुद्ध आत्मा में धर्म का रंग चढ़ता है

मैले-कुचैले, चिकने और गन्दगी से सने कपड़े पर कोई रंग चढ़ाना चाहे तो चढ़ नहीं सकता। दशवैकालिक चूर्णि में कहा है—

'मइलो पडो रंगिओ न सुन्दरं भवइ।'[1]

मलिन वस्त्र रंगने पर भी सुन्दर नहीं होता।

अगर कोई हठाग्रहवश चढ़ाने का प्रयास करता है तो रंग का दाम, रंगाई का श्रम और समय निरर्थक चला जाता है। यही कारण है कि रंगरेज वस्त्र को भलीभाँति धो लेने के पश्चात् ही उसकी रंगाई करता है। अतः रंगाई से पहले धुलाई आवश्यक है, उसी प्रकार पूर्वसंचित कर्ममलों का तप, त्याग, तितिक्षा आदि से प्रक्षालन होने पर ही उस आत्मा पर धर्म संयम, अध्यात्म या परमात्मभक्ति का रंग चढ़ सकता है। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा गया है—

'सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ'[2]

ऋजु अर्थात् सरल आत्मा की सच्चे माने में विशुद्धि होती है, और विशुद्ध आत्मा में ही धर्म (रत्नत्रयरूप धर्म) ठहरता-टिकता है।

---

१ दशवैकालिकसूत्र चूर्णि ४

२ उत्तराध्ययन सूत्र अ. ३ गा. १२

आस्रवछिद्रों से युक्त आत्मनौका संसार सागर में डूबती है

आत्मपरिष्कार, आत्मशुद्धि अथवा आत्मशोधन कपड़े की धुलाई के समान है और परमात्मपदप्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की साधना आराधना उसकी रंगाई एवं पालिश के समान है। आत्मा शुद्ध होने पर ही उसमें तेजस्विता, चमक-दमक एवं साधना में स्फूर्ति-प्रगति आती है।

दोषों और दुर्गुणों के छिद्र जिस आत्मारूपी नौका में होंगे, उसमें ठीक उसी प्रकार आस्रवों-शुभाशुभकर्मों का जल तेजी से भर जाता है, जिस प्रकार छिद्र वाली नौका में पानी भर जाता है और वह शीघ्र ही डूब जाती है। आस्रवों से परिपूर्ण आत्मा नौका भी पतन की खाई में या संसार सागर में डूब जाती है।

ऐसी आत्मनौका में रत्नत्रयरूप धर्म की साधना को झेलने की क्षमता नहीं रहती। कर्ममलों और दोषों-पापों के रहते आत्मा में परमात्मा के सान्निध्य में—उपासना में पहुँचने की शक्ति नहीं रहती। दीवार बीच में खड़ी हो तो उसके उस पार बैठा हुआ पिता अतिसमीप रहने पर भी नहीं मिल पाता, इसी प्रकार आत्मा को अशुद्ध बनाने वाली विषय-कषायों की दीवार भी अपने इष्ट देवाधिदेव वीतराग परमात्मा से मिलने में रुकावट डालती है। गन्दे नाले में जरा-सा गंगा-जल डाल देने से उसकी शुद्धि नहीं होती, वैसे ही कषायों और विषय-विकारों से गन्दी आत्मा भी दो चार क्रियाकाण्डों या व्यावहारिक पूजा-पत्री या जप-पाठ कर लेने मात्र से शुद्ध नहीं होती। अन्तरंग जीवन में विषय-कषायों की गन्दगी भरी रहे तो आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता।

दूषित आत्मा आध्यात्मिक विकास के योग्य नहीं

आध्यात्मिक जीवन की प्रगति में बाह्य परिस्थितियों और संयोगों का स्थान गौण है, मुख्य भूमिका तो आन्तरिक स्थिति की ही होती है। यदि स्वयं की आत्मा ही दोष युक्त, मलिन, विकार-कालुष्य से परिपूर्ण एवं निकृष्ट होगी तो उसकी प्रतिक्रिया एवं प्रभाव बाह्य परिस्थितियों, पारिपार्श्विक व्यक्तियों एवं समाज में पड़े बिना नहीं रहेगा। यह कहावत प्रसिद्ध है—

'दाबी-दूबी ना रहे रुई लपेटी आग'

आग या दुर्गन्ध को कितना ही दबाया—छिपाया जाये, वह प्रकट

हुए तथा दूसरों को प्रभावित किये बिना नहीं रहती। सत्कर्म छिप सकते हैं, दुष्कर्म नहीं। पाप और पारा छिपता नहीं। वह फूट-फूट कर देर-सबेर बाहर निकलता ही है। हींग की गन्ध कई थैलियों में बन्द करके रखने पर भी फैलती है। इसी प्रकार दुष्कर्मों की दुर्गन्ध हवा में इस तरह उड़ती है कि किसी के छिपाये नहीं छिपती। यदि अन्तरात्मा परिष्कृत न हो, और मनुष्य बाहर से पूजा,पत्री या बाह्य शुद्धि का दिखावा करे तो उसका प्रभाव प्रतिकूल ही पड़ता है, अनुकूल नहीं। फिर साधना में सफलता न मिलने एवं प्रगति ठप्प होने के कारण वह दम्भ, दिखावा और वाचलता का आश्रय लेता है, जिससे अगणित समस्याएँ और विपदाएँ उत्पन्न होती हैं। किसी व्यक्ति का पेट साफ न हो, मल में दुर्गन्ध आती हो, खाया हुआ हजम न होने से सड़न बढ़ रही हो तो उसका प्रभाव शरीर पर गैस, रक्त-चाप, कोष्ठबद्धता, अजीर्ण, अल्सर, आंत्रवृद्धि आदि भयंकर रोगों के रूप में होता है। वह अपने शरीर को चाहे जितना पौष्टिक, स्वादिष्ट, सरस भोजन दे, चाहे जितनी उत्कृष्ट बलवर्द्धक दवाइयाँ एवं रसायन खा ले, उसका शरीर स्वस्थ एवं शक्तिमान होने के बदले अधिकाधिक रुग्ण, अशक्त एवं दुर्बल होता जायेगा। इसी प्रकार किसी व्यक्ति की आत्मा मलिन हो, उसमें कषायादि विकार अतिमात्रा में भरे हुए हों, तो वह चाहे जितना तप, जप, संयम आदि का पौष्टिक आध्यात्मिक भोजन अपनाये, कितना ही वाणी विलास करे, भक्ति का दिखावा करे, प्रभु नामरूपी रसायन सेवन करले, उसके भवभ्रमण का रोग मिटेगा नहीं, उसकी आध्यात्मिक साधना ठप्प हो जायेगी, वह दुर्बल, दाम्भिक एवं प्रदर्शनमात्र हो जायेगी।

जिसके मुंह से दुर्गन्ध आती है, उसके पास आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उससे घृणा होती है, वह उससे दूर हटकर बैठता है। दुष्कर्मों के कारण मनुष्य की अपनी ही आत्मा खिन्न रहती है। आत्मधिक्कार से आत्मबल गिरता जाता है। उस पर तिरस्कार, घृणा, विरोध, असहयोग, उपेक्षा, बहिष्कार के रूप में समाज दण्ड भी बरसता है। कई बार प्रतिशोध और प्रत्याक्रमण के रूप में भी समाज सामने आता है। हर कुमार्गगामी को दुष्कर्मों का दण्ड भुगतना पड़ता है। जिसके चिन्तन-मनन स्वभाव वाणी, या व्यवहार या कायिक चेष्टाओं में दुर्गन्ध आ रही होगी, उसका न तो कोई सहयोगी बनता है और न कोई सखा। शत्रुता, विरोध, निन्दा और घृणा का वातावरण ही उसे अपने चारों ओर फैला हुआ

दिखाई पड़ेगा। अगर आन्तरिक स्थिति मैत्री और आत्मीयता से भरी है, सद्भाव और सहानुभूति से सम्पन्न है, उदार विचार और सदाचार से युक्त जीवन है, तो उसका चुम्बकत्व अपने चारों ओर सज्जनों और सहयोगियों की भीड़ जमा कर देगा। जो अन्तर से परिष्कृत है, भीतर से सुदृढ़ है, वही आध्यात्मिक और भौतिक उपलब्धियों से लाभ उठा सकेगा। आन्तरिक शुद्धि ही व्यक्तित्व को प्रखर, प्रतिभा सम्पन्न और आकर्षक बनाती है, उसी में प्रभु का सान्निध्य प्राप्त करने का सामर्थ्य है।

जिसके आन्तरिक विचार गन्दे एवं अस्तव्यस्त हैं, उसकी वाणी, व्यवहार और कायिक चेष्टाएँ, भी अशुद्ध होंगी और फिर उसके मन-वचन-काया में भी विषमता बढ़ती जायेगी, वह स्वयं मनहूस, मायूस, उदास, खिन्न और जीवन से हारा-थका-सा प्रतीत होगा। आध्यात्मिक साधनाएँ ऐसे जीवन में क्या रंग लायेंगी ?

विशुद्ध आत्मा : भार-रहित एवं प्रगति के योग्य

इसके विपरीत यदि किसी व्यक्ति ने अपने आन्तरिक विचारों को सत्संग, स्वाध्याय एवं ध्यान से पवित्र और शुद्ध बना लिये हैं, कषायों और विषयवासना तथा आसक्ति को अत्यन्त मन्द कर लिया है, तो उसका व्यवहार भी सरल, निश्छल एवं निर्मल होता जाएगा, उसकी वाणी में भी शालीनता मधुरता और सत्यता आती जाएगी। ऐसी स्थिति में पाप-दोषों और दुर्गुणों का बोझ, जो मन पर भार बना हुआ था, वह उतर जाता है। वह हलका-फुलका और शुद्ध होकर पवित्रभाव से तन्मयतापूर्वक आत्मसाधना में परिवर्धन कर सकता है। भावुक जिज्ञासु जनता उसके प्रति चुम्बक की तरह आकर्षित होकर उससे कुछ न कुछ सत्प्रेरणा लेने चली आती है। भगवान महावीर ने दोषों-दुर्गुणों एवं मायादि शल्यों से रहित विशुद्ध बनी हुई आत्मा को भारवाहक के सिर से बोझ उतरने पर भाररहित—हलकी-फुलकी बताई है। ओघनिर्युक्ति में उसी भाव को आचार्य ने प्रतिबिम्बित किया है—

> "उद्धरिय-सव्वसल्लो, आलोइय-निंदिओ गुरुसगासे ।
> होइ अतिरेगलहुओ, ओहरिय भरोव्व भारवहो ॥"[1]

---

१. ओघनिर्युक्ति ८०६

जो साधक गुरुजनों के समक्ष अन्तर से समस्त शल्यों (माया, निदान और मिथ्यात्व के काँटों) को निकालकर आलोचना, निन्दना (आत्मनिन्दा=पश्चात्ताप) करके शुद्ध हो जाता है, उसकी आत्मा उसी प्रकार अत्यन्त हलकी हो जाती है, जैसे सिर का भार उतर जाने पर भारवाहक।

अतः रत्नत्रय की अध्यात्म-साधना में प्रगति के लिए सर्वप्रथम अन्तरात्मा में पहले के जमे हुए—पड़े हुए दोषों-दुर्गुणों और कषायों के कालुष्यों को निकालकर उसे भाररहित और परिष्कृत करना आवश्यक है।

परमात्म-प्रकाश पाने के लिए अन्तरात्मा की शुद्धि आवश्यक

दूसरी बात यह है कि आन्तरिक पवित्रता एवं आत्मिक शुद्धि के अभाव में अन्तःप्रकाश को देख पाना सम्भव नहीं है। अन्तःप्रकाश सच्चे माने में तो परमात्मा का प्रकाश है। अतः परमात्म-प्रकाश पाने के इच्छुक व्यक्तियों को आन्तरिक पवित्रता-अन्तरात्मा की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है, लालटेन का शीशा अगर मैला हो तो उसमें चाहे जितना तेल भरा हो बत्ती और लालटेन चाहे जितने अच्छे हों और शीशा चाहे जितना मजबूत हो, उसका प्रकाश बाहर नहीं पड़ सकेगा। लालटेन का शीशा साफ होगा तभी उसका प्रकाश चारों ओर पड़ सकता है। इस तथ्य से हर कोई अवगत है कि घर की खिड़की के शीशे गन्दे तथा धुंधले होंगे तो बाहर की वस्तुएँ स्पष्ट नहीं दिखाई देंगी। उसी प्रकार मन के शीशे पर दोषों, कषायों और पापों की कालिमा या मलिनता जम गई होगी तो अन्तरात्मा चाहे जितनी सक्षम हो, चाहे जितनी क्रियाओं और बाह्य साधनाओं का घटाटोप कर ले, उसका प्रकाश या प्रभाव चारों ओर नहीं पड़ेगा। उसका आध्यात्मिक विकास वहीं ठप्प हो जाएगा। इसलिए अन्तःप्रकाश या परमात्म-प्रकाश प्राप्त करने तथा बाहर फैलाने के लिए अन्तर का परिष्कार करना आवश्यक है। इसीलिए आचारांग निर्युक्ति में स्पष्ट कहा है—

जह खलु मइलं वत्थं सुज्झइ उदगाइएहिं दव्वेहिं।
एवं भावुवहाणेण, सुज्झए कम्ममट्ठविहं॥

---

१ आचारांग निर्युक्ति २८२

जिस प्रकार जल आदि शोधक द्रव्यों से मलिन वस्त्र भी शुद्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा भी आध्यात्मिक तपःसाधना द्वारा ज्ञानावरणीयादि अष्टविध कर्मफल से मुक्त होकर शुद्ध हो जाता है।

धर्मशास्त्र, आप्तवचन एवं प्रवचन इस सम्बन्ध में मार्गदर्शन तो कर सकते हैं किन्तु परमात्मीय प्रकाश का पुंज तो अपनी अन्तरात्मा में है, वह ज्ञान, दर्शन, तप-त्याग के द्वारा आत्मा को परिष्कृत—शुद्ध किये बिना प्राप्त नहीं हो सकता। जब तक विधिपूर्वक आत्मपरिष्कार नहीं होगा, तब तक पूर्वोक्त बाह्य मलिनताओं के कारण परमात्मीय-प्रकाश बादलों में छिपे सूर्य के समान दृष्टिगोचर नहीं होगा।

'भद्रक' नामक तथागत बुद्ध का एक शिष्य उनके पास आत्मज्ञान-प्राप्ति की इच्छा से पहुँचा। तथागत बुद्ध ने उसे समझाते हुए कहा—"वत्स ! प्रकाश का पुंज तुम्हारे अन्तर् में है। बाह्य मलिनताओं के कारण वह दिखाई नहीं दे रहा है।" उनका अभिप्राय इसी अन्तरात्मा से ही था, जो पद-पद पर अन्तःप्रेरणाओं के प्रकाश में अच्छे-बुरे का आभास कराती रहती है। आत्म-परिष्कार करने वाले को ही वह अन्तःप्रकाश मिलता है। 'भद्रक' इस रहस्य को जानकर आत्मपरिष्कार की साधना में निरत हो गया।

आत्मशुद्धि स्वयं ही करनी है

यह निश्चित सिद्धान्त है कि अपने-अपने कर्मों के करने और उनका फल भोगने के लिए मनुष्य स्वयं उत्तरदायी है। जो जैसा कर्म करता है, वही उसका फल भोगता है। इस दृष्टि से मनुष्य को अपने पूर्वजन्मों के कृतकर्म प्रायः ज्ञात नहीं होते, किन्तु इस जन्म में किये हुए शुभ-अशुभ कर्मों को तो वह अच्छी तरह जानता है। अतः पूर्वकृत अज्ञात और इहजन्मकृत ज्ञात कर्म-मलों का परिशोधन करने के लिए व्यक्ति को स्वयं ही तैयार होना होगा। जैसे कपड़ों की सफाई धोबी या नौकर कर देता है, इसी प्रकार बर्तनों या मकान आदि की सफाई भी नौकर आदि दूसरे कर देते हैं, वैसे अन्तरात्मा की सफाई—आत्मशुद्धि अपने बदले दूसरा कोई नहीं कर सकता है। जैसे अपने कृत कर्ममलों दोषों-अपराधों के लिए व्यक्ति स्वयं जिम्मेदार है, वैसे ही अपने कर्ममलों-दोषों-अपराधों की शद्धि के लिए भी वही जिम्मेदार है। जो आत्मा पाप-दोष का कर्ता है, वही आत्मा अपनी शुद्धि करता है। कोई भगवान्, शक्ति, देवी-देव, या गुरु आदि दूसरे व्यक्ति

हमारी आत्मा की शुद्धि नहीं कर सकते। अपने पापों को मिटाना अपने ही हाथ में है। एक की आत्मा की शुद्धि या सफाई दूसरा कोई नहीं कर सकता। आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में परावलम्बिता या पराश्रतना नहीं चलती। यहाँ आत्म-परिष्कार या आत्मशुद्धि स्वयं ही करनी पड़ती है। जैसे अपने आपको बिगाड़ना अपने हाथ में है, वैसे ही अपने-आपको सुधारना भी अपने ही हाथ में है। दूसरा कोई विशिष्ट अनुभवी या ज्ञानी हो तो मार्गदर्शन, प्रेरणा या सुझाव दे सकता है लेकिन उसके बदले में वह सुधार नहीं कर सकता, क्योंकि सुधार या शुद्धि का सम्बन्ध अपने ही मन-वचन काया से है। इसलिए आत्मशुद्धि के साधक को चाहिए कि दूसरों के भरोसे न रहकर स्वयं अपने पूर्वकृत पाप-दोषों का आलोचन-निरीक्षण करे, और किसी अनुभवी गुरु के समक्ष अपने पाप-दोष प्रकट करे, आत्मनिन्दा (पश्चात्ताप) और प्रायश्चित्त लेकर शुद्धिकरण करे। अपने पाप-दोषरूपी रोगों का चिकित्सक स्वयं बने, अपने भावरोगों का निदान भी स्वयं करे, क्योंकि वह अपने जीवन में हुए शुभाशुभ कृत्यों को स्वयं जानता है, स्वयं द्वारा वे अनुभूत हैं, इसलिए पाप-दोष आदि भावरोगों की चिकित्सा वह स्वयमेव कर सकता है। वह निर्मल, निश्छल होकर शुद्ध अन्तःकरण से वीतराग परमात्मा की साक्षी से अपने पाप-दोषों का अथ से लेकर इति तक एक-एक करके विश्लेषण करे, फिर आलोचना-निन्दना-गर्हणा एवं प्रायश्चित्त आदि द्वारा उनका परिशोधन करके उन्हें निर्मूल करे। इस प्रकार आत्म-चिकित्सक बनकर साधक स्वयं आत्मशुद्धि करे।

आत्मशुद्धि-साधक को जरा-सी अशुद्धि भी सह्य नहीं

आत्मशुद्धि का साधक मानव जरा-सी भी अशुद्धि—कषाय-कालुष्य विषय-विकार-रूप अशुचि आत्मा पर लगने पर उसे दूर करने के लिए बेचैन हो उठता है। कृत पापकर्म उसके मन को बार-बार कचोटते रहते हैं। जब तक प्रायश्चित्त आदि की प्रक्रिया द्वारा उन्हें बाहर नहीं निकाल देता, तब तक चैन से नहीं बैठ सकता। आत्मशुद्धि के साधक में इतनी तीव्रता होनी चाहिए। तभी वह शुद्धात्मा प्रत्येक कार्य को करता हुआ पाप से लिप्त नहीं होता। जैसा कि भगवद्गीता में कहा है—

"योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्म-भूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥"[1]

---

१ भगवद्गीता अ. ५ श्लो. ७

"जिसकी आत्मा विशुद्ध है, जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, जो जितेन्द्रिय है, तथा समस्त प्राणियों की आत्मा को जो अपनी आत्मा के समान समझता है, ऐसा निष्काम कर्मयोगी प्रत्येक कार्य करता हुआ भी पापकर्म से लिप्त नहीं होता।"

आत्मशुद्धि का साधक सतर्क रहता है कि कहीं भी, किसी भी रूप में, किसी भी प्रकार से कोई भी पाप-दोष चुपके से घुसने न पाए। अन्तर् गंदगी, मल, दोष एवं भूल उसे असह्य हो जाती है। वह जब तक उसकी शुद्धि नहीं कर लेता, तब तक वह शांत होकर बैठ नहीं सकता। जैसे सफाई और स्वच्छता की दृष्टि वाला व्यक्ति घर में कहीं भी कूड़ा-कर्कट, गंदगी या कचरा देखता है, या किसी के वस्त्र और शरीर को मलिन देखता, है तो उसे चैन नहीं पड़ता। उसे जरा-सी भी गंदगी सहन नहीं होती। बच्चा मल से लिपटा हो तो क्या उसकी माँ जरा-सी भी लापरवाही कर सकती है? वह झटपट उसके मललिप्त शरीर को पानी से धोकर साफ करती है। इसी प्रकार साधक किसी भी पापमल से लिपटा हो तो क्या उसकी अन्तरात्मारूपी माता उसकी सफाई करने में लापरवाही दिखा सकती है? कदापि नहीं। घाव में मवाद भर गई हो तो फौरन ही उसे निकालना अनिवार्य हो जाता है, अन्यथा उस व्रण का जहर सारे शरीर में फैलकर रोगी का जानलेवा बन सकता है, इसी प्रकार आत्मा के कहीं भी पाप रूपी व्रण अनेक अनिष्ट रूपी मवाद से भर गया हो तो उसकी उपेक्षा करने पर वह भी सारे जीवन में व्याप्त होकर आत्मा का सर्वनाश कर सकता है। इसलिए यह उचित है कि आत्मा के लिए अशुद्धिकर अवांछनीय तत्वों का तत्काल परिशोधन होता रहे। गन्दगी जमा न होने पाये। काफी अर्से तक जमी रहने के उपरान्त उस गन्दगी की सड़ान अधिकाधिक बढ़ती जाती है। शरीर में व्रण के रूप में जमा हुआ विजातीय द्रव्य जितने अधिक समय तक टिकेगा, उसी अनुपात में विष बढ़ता जायेगा और सामान्य रोगों की अपेक्षा उससे असाध्य, और प्राण लेवा बीमारी हो जायेगी। इसीलिए आचार्य भद्रबाहु कहते हैं—

अणथोवं वणथोव अग्गीथोवं कसायथोवं च।
णहुभे वीससियव्वं थोवं पि हु ते लहु होइ॥[1]

---

१ आवश्यक निर्युक्ति गा. १२०।

अर्थात्—ऋण, व्रण (घाव), अग्नि और कषाय (क्रोधादि विकार) इनका थोड़ा-सा अंश भी हो तो उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। ये विश्वसनीय नहीं हैं, समय पर ये अल्प भी बहुत विस्तृत हो जाते हैं।

थोड़ा-सा कर्जा पुराना होने पर ब्याज समेत कई गुना अधिक हो जाता है। कषायादि से हुआ जरा-सा मनोमालिन्य बहुत समय तक टिका रहे तो वह द्वेष-प्रतिशोध का रूप धारण कर लेता है। इसलिए इन्हें जल्दी से जल्दी साफ कर देना चाहिए। संचित पापकर्मों के सम्बन्ध में भी यही बात है। उनका तुरन्त परिशोधन कर लेना चाहिए—प्रायश्चित्त, आलोचनादि से। अन्यथा, इनका फल भोगने में किया हुआ विलम्ब उतना ही भयंकर प्रतिक्रिया रूप हो जाता है। नया अपच जुलाब की एक गोली से ही साफ हो जाता है, लेकिन यदि कई दिनों तक पेट में मल रुका रहे तो उसकी पत्थर जैसी कठोर गाँठें बन कर भयंकर उदरशूल का कारण बन जाती हैं। फिर तो पेट फाड़कर उन मल की गाँठों को निकालने के सिवाय कोई चारा नहीं रहता। कोई जहरीला पदार्थ खा लेने पर पेट में जलन पैदा होती है, भयंकर बेचैनी होती है। रोगी के सामने मृत्यु का संकट उपस्थित हो जाता है। उस समय जब तक वमन और विरेचन द्वारा उसे बाहर न निकाला जाये तब तक मृत्यु का संकट और भय दूर नहीं होता। पैर में काँटा चुभ जाये तो जब तक उसे बाहर नहीं निकाल दिया जाता, तब तक चुभता रहता है, सारे शरीर को कष्ट होता है, नींद नहीं आती। आँख में तिनका और कान में मच्छर घुस जाये, तब भी जब तक उसे निकाल दिया न जाये, तब तक बेचैनी होती रहती है। सौ बात की एक बात है, अन्तरात्मा में पाप-दोषों की गन्दगी को भी शीघ्र में शीघ्र निकाल कर आत्मा को शुद्ध रखने का प्रयास करना चाहिए।

आत्मशुद्धि के लिए त्रैकालिक पाप-दोषों से निवृत्त होना आवश्यक

आत्मशुद्धि के लिए इस जन्म के विदित और स्मृत पाप-दोषों से लेकर जन्म-जन्मान्तर के पाप-दोषों का निराकरण-निष्कासन करना आवश्यक है। यदि साधक भूतकालीन पापों-दुष्कर्मों के निवारण के प्रति उपेक्षा करेगा, तो उसकी अन्तरात्मा हर समय कचोटती और धिक्कारती रहेगी। मानसिक ग्लानि या घुटन नाना प्रकार के शारीरिक मानसिक रोगों को उत्पन्न करती रहेगी। फिर साधक का मन न तो साधना-आराधना में

लगेगा और न ही ध्यान-धारणा या आत्मशुद्धि में लगेगा। उसे इस काँटे को, तथा वर्तनानकालीन पाप-दोषों को भी याद करके शीघ्र ही निकालना अनिवार्य है। विष खाने की गलती का परिमार्जन पेट और आँतों की धुलाई करके वमन, विरेचन द्वारा उसे शीघ्रातिशीघ्र निकालकर किया जाता है, इसी प्रकार जैन शास्त्रों में त्रैकालिक प्रतिक्रमण, आलोचनादि तथा प्रत्याख्यान, संवर प्रायश्चित्तादि द्वारा पाप-दोषों को परिमार्जन की सुन्दर प्रक्रिया बताई गई है। काल के भेद से व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र में त्रिविध प्रतिक्रमण बताया है।

अइयं पडिक्कमेइ, पडुपन्नं संवरेइ, अणागयं पच्चक्खाइ।[1]

भूतकाल में लगे हुए दोषों के परिमार्जन के लिए साधक आलोचना, निन्दना-गर्हणा करता है, वर्तमान कालिक दोषों-पापों के निवारण के लिए संवर (आस्रव निरोध) करता है और भविष्य काल में होने की सम्भावना वाले पापकर्मों के लिए प्रत्याख्यान (त्याग-नियम प्रायश्चित्तादि) ग्रहण करता है। इस प्रकार के त्रैकालिक प्रतिक्रमण से भूत-भविष्य-वर्तमान, तीनों काल के पाप-दोषों का परिमार्जन-प्रतिलेखन (आलोचन-निरीक्षण) हो जाता है।

जिस प्रकार एक दुःसाध्य रोगी चिरकाल से चले आए दुःसाध्य रोग के निवारण के लिए ऑपरेशन करवा कर रोग को तो मिटा देता है, किन्तु ऑपरेशन के बाद आई हुई कमजोरी को दूर करने के लिए दुर्बलता निरोधक एवं सबलतादायक दवा लेता है। इसके साथ ही यह रोग भविष्य में फिर न हो जाए, इसके लिए पूर्ण रूप से पथ्य-परहेज का ध्यान रखता है, जो चीजें उसकी बीमारी को पैदा करने वाली हैं, उनका त्याग (प्रत्याख्यान) करता है। यही बात आत्मा पर लगे हुए पाप-दोषरूप दुःसाध्य रोग के त्रैकालिकरूप से निवारण एवं उनके परिमार्जन के सम्बन्ध में समझ लेनी चाहिए। अर्थात् वह भूतकालीन दोषों का परिमार्जन, भविष्य के लिए पवित्र संकल्परूप निर्धारण (प्रत्याख्यान) और वर्तमानकालिक संवर (पापाश्रवों के निरोधरूप) करता है। इससे शुद्धि और पुष्टि दोनों होती है।

---

१ भगवतीसूत्र।

पाप दोषों की अशुद्धि कैसे-कैसे, किस विषय में लग जाती है ?

पाप, दुष्कर्म एवं दोष केवल तन से ही होते हैं, ऐसी बात नहीं हैं, मन से भी होते हैं, वचन से भी होते हैं, अभ्यस्त कुसंस्कारों से, कषाय-वृत्तियों से, एवं प्रमादवश होते हैं, अतः आत्मशुद्धि के लिए उनका परिशोधन किया जाना आवश्यक है। आवश्यक सूत्र में प्रतिक्रमण के समय बोले जाने वाले पाठ में यही बताया गया है—

"इच्छामि पडिक्कमिउं···जो मे····अइयारो कओ—काइओ, वाइओ, माणसिओ, उस्सुत्तो, उम्मग्गो, अकप्पो, अकरणिज्जो; दुज्झाओ, दुव्विचितिओ, दुचिट्ठिओ, अणायारो, अणिच्छियव्वो····नाणे तह दंसणे चरित्ते सुए सामाइए···जं खंडियं जं विराहियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं।"[1]

"भगवन् ! मैंने जो····मानसिक, वाचिक, कायिक अतिचार (दोष) किए हों, कैसे ? सूत्रविरुद्ध, मार्ग-विरुद्ध, आचार-मर्यादाविरुद्ध, न करने योग्य (अकरणीय), दुर्ध्यानरूप, दुश्चिन्तनरूप, दुश्चेष्टारूप, अनाचरणीय, अवांछनीय दोष, ज्ञान में, दर्शन में, चारित्र में, श्रुतज्ञान में, सामायिक (समतायोग की) साधना में····जो खण्डना (स्खलना), जो विराधना की हो, मेरे लिए वह पाप-दोष मिथ्या (निष्फल) हो।"

अभिप्राय यह है कि जो पाप-दोष जिस विषय में, जिस प्रकार से, जिस योग से, जैसी भावना से हुआ हो, उसी भाव से उसका प्रतिक्रमण (आलोचना-निन्दना-गर्हणा) करके आत्मा की शुद्धि की जानी चाहिए।

आत्मशुद्धि का सर्वश्रेष्ठ उपाय : तप

यह निश्चित है कि जो भी पाप कर्म या दोष स्वयं से हो गये हैं या हो सकते हैं, उनका परिमार्जन स्वयं को ही करना है, तभी आत्मा शुद्ध हो सकती है। पाप-दोषों को नष्ट करने के लिए तपश्चर्या अमोघ उपाय है। तपस्या से आत्म-शुद्धि के दोनों उद्देश्य सम्पन्न हो सकते हैं—अशुभ को नष्ट करना और शुभ या शुद्ध को परिपुष्ट-परिपक्व करना। ताप गर्मी को कहते हैं। आग में ताप (गर्मी) होती है, उससे दो कार्य निष्पन्न होते हैं—(१) जलाना, नष्ट करना, और (२) शक्ति-सामर्थ्य को कई गुना बढ़ा देना। धातुओं में मिली हुई विकृतियाँ भट्टी में डालकर लोग तपाते हैं

---

१ आवश्यक सूत्र इच्छामि ठामि० का पाठ

उससे वे जलकर नष्ट हो जाती हैं और वे धातु भी तप कर परिपुष्ट एवं पक्के बन जाते हैं। लोहे को अधिकाधिक तपाकर उसे फौलादी लोहा बना दिया जाता है, उसमें से मिट्टी या अन्य कचरा जलकर समाप्त हो जाता है। कूड़े-कचरे को लोग आग में डालकर उसकी सड़न और दुर्गन्ध से छुटकारा पा जाते हैं। गर्म पानी में खौलाकर लोग कपड़ों का मैल छुड़ाते हैं, उससे कपड़ों में चमक भी आ जाती है। रेलगाड़ी जैसे भारीभरकम वाहन पानी से भाप बनाने से द्रुतगति से चलते हैं। अध्यात्म क्षेत्र में आत्मा पर लगे हुए संचित कर्ममलों एवं दोषों को मिटाने के लिए तपस्या रूपी अग्नि उपयोगी है। उससे दोष-दुर्गुण तो नष्ट होते ही हैं, शुद्ध आत्मा भी तेजस्वी ओजस्वी, एवं परिपक्व-सुदृढ़ बन जाती है। कहा भी है—

'तवेण परिसुज्झइ'[1]

तपस्या से आत्मा परिशुद्ध हो जाती है।

तप से करोड़ों भवों के पापों का विनाश

यह नहीं समझना चाहिए, पिछले कई जन्मों के संचित और इस जन्म में उपार्जित पाप कर्म तो बहुत भारी मात्रा में हैं, उनका परिमार्जन एक ही जन्म में, थोड़े-से तप से कैसे हो सकता है? जब थोड़े-से तप से आत्मा शुद्ध नहीं हो सकती, तब व्यर्थ कष्ट सहने से क्या लाभ? परन्तु ऐसा कभी नहीं सोचना चाहिए। अन्धकार कितना सघन होता है? इतनी प्रचुर-मात्रा में फैले हुए अन्धकार को एकमात्र अकेला सूर्य उदय होते ही छिन्न-भिन्न कर देता है। एकमात्र एक चिनगारी घास के बड़े से बड़े ढेर को जलाकर खाक कर डालती है। इसलिए यदि साधक में आत्म शुद्धि की तीव्र जिज्ञासा, उत्कण्ठा और उत्साह हो तो जन्म-जन्मान्तरों के तथा इस जन्म के संचित पाप-दोष भी तप से शीघ्र ही नष्ट हो सकते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र इस तथ्य का साक्षी है—

भव कोडी संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जई।[2]

करोड़ों भवों (जन्मों) के संचित कर्म, पापकर्म के आने के मार्ग को रोकने पर, (संवर से) तपस्या से नष्ट हो जाते हैं।

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र अ० २८, गाथा ३५

२. उत्तराध्ययनसूत्र अ. ३० गा. ६

पूर्व जन्मों के संचित कर्म, एक प्रकार से ऋण हैं, अगर शुद्ध अन्तःकरण से, वीतराग परमात्मा की साक्षी से पूर्ण वफादारी और शक्ति लगा कर प्रायश्चित्त किया जाय तथा तपश्चरण का प्रयास किया जाए तो कोई कारण नहीं कि कर्मों का कर्ज न उतरे और आत्मा पाप-दोषों से मुक्त एवं शुद्ध न हो। यदि प्रायश्चित्त करके क्षतिपूर्ति द्वारा आत्मशुद्धि करने की सच्ची व्याकुलता है और ईमानदारी के साथ शक्तिभर प्रयास किया जाता है, तो उस सद्भावना की यथार्थता को देखते हुए शास्त्रीय विधि-विधानों में भी इतनी लचक है कि उतने भर से पाप दोषों का परिशोधन हो सकता है। साहूकार जब देखता है कि आसामी के पास कुछ नहीं है तो जितना वह दे सकता है, लेकर फारकती कर लेता है, ताकि भविष्य के लिए फिर लेन-देन चालू हो सके। बैंकें भी अपनी पूंजी डूबती देखकर कर्जदार से समझौता करती हैं और कम लेकर भी मामला रफा-दफा कर लेती हैं। वीतराग-प्रभु के कथित शास्त्रों में तथा सामाजिक व्यवस्था में भी दोष-पापकारी व्यक्ति की भावना, परिस्थिति और शक्ति देखकर प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

आत्मशुद्धि के लिए यथार्थ पद्धति : तप-तितिक्षा की ही

कुछ भौतिकवादी अथवा सुख-सुविधावादी अज्ञ लोग आत्मा पर चढ़े हुए कषाय-कल्मषों को काटने के लिए प्रायश्चित्त आदि तप करने से कतराते हैं, विधिपूर्वक आलोचनादि करके जो तप-तितिक्षा में पुरुषार्थ करना पड़ता है, उससे घबरा कर सस्ता नुस्खा खोजते फिरते हैं, आत्म-शुद्धि के लिए जो सच्ची पद्धति है, उसे अपनाने को तैयार नहीं होते। ऐसे मानव तप, त्याग, तितिक्षा की जरा-सी बात आते ही उससे दूर भागते हैं। वे भ्रमवश यह सोचते हैं—अधिकांश लोग तो इसी सुविधाजनक रास्ते पर चल रहे हैं, फिर हम ही अकेले क्यों कष्टदायक मार्ग पर चलें ? या नास्तिकता वश कह देते हैं—"क्या जरूरत है—आत्मशुद्धि करने की ?" कुछ लोग, जो दुःख या संकट में होते हैं, वे थोड़ी-सी पूजा पत्री, नाम स्मरण आदि सस्ते क्रियाकलापों से भगवान् को रिझाने, फुसलाने और उनसे पाप-माफी का फतवा लेकर पाप-दोषों के फल से छूटने की बात सोचते हैं। परन्तु ऐसे सस्ते नुस्खों से आत्मशुद्धि नहीं हो सकती। कई लोग समाज की आलोचना, नुक्ताचीनी, प्रतिरोध, या प्रत्याक्रमण से बचने के लिए केवल उस अवसर पर कार्य सिद्ध करने भर के लिए समाज के

नेताओं, प्रमुखों अथवा भगवान् की छवि के आगे गिड़गिड़ाते तथा माफी मांगते हैं। किन्तु उनके वे आँसू या दैन्य प्रदर्शन या नम्रतापूर्ण वचन क्षणिक हैं, वास्तविक नहीं, वह समाज एवं परमात्मा से वंचना करने की चातुर्यपूर्ण नीति है। उसे आत्मशुद्धि की तमन्ना नहीं है। वह होती तो उस ने जिसका अपराध किया है, उससे सच्चे हृदय से माफी मांगता, उसकी क्षतिपूर्ति करता, उससे विनयपूर्वक निवेदन करता, और वह जो दण्ड देता, उसे स्वीकार करने की तैयारी बताता, पश्चात्तापपूर्वक अपना अपराध स्वीकार करता। जिसके जीवन पर पाप-दोषों की कालिमा छायी हुई है, और जिसे आत्मशुद्धि की कोई तमन्ना, तड़फन नहीं है, केवल औपचारिक रूप से जीभ से माफी मांगता है, कुछ भी तप-तितिक्षा करना-धरना नहीं चाहता; उसके द्वारा प्रभु की स्तुति, पूजा, प्रार्थना, पाप माफी मांगने या जप-क्रिया मात्र से आत्मशुद्धि कैसे हो सकती है? इसलिए आत्म-शुद्धि के हेतु साधक को स्वयं कमर कसकर तप-तितिक्षा के लिये तैयार होना होगा, तभी परमात्मा की कृपा एवं सहायता मिलेगी। स्वयं दण्ड भुगतने की तैयारी दुष्कर्मों के निवारण का सर्वश्रेष्ठ उपाय है। जो कुछ पाप-दोष अज्ञान, प्रमाद एवं लाचारी से हो गया है, उसका दण्ड बहादुरी से भोगने की तैयारी ही आत्मशुद्धि-साधक का चिह्न है। इसलिए प्रायश्चित्त तप द्वारा वह स्वेच्छा से कृत पापों का स्वीकार करके दण्ड भुगतने का साहस दिखाता है।

प्रायश्चित्त तप : आत्मशुद्धि के लिए सर्वोत्तम उपाय

जिसे अपनी आत्मा शुद्ध और परिष्कृत करनी होती है। वह प्रायश्चित तप को अपनाता है। जैनागमों में प्रायश्चित्त को आभ्यन्तर तप कहा गया है। परन्तु गहराई से विचार करने पर ज्ञात होगा कि प्रायश्चित्त में उपवासादि बाह्य तप, तथा प्रतिक्रमण, आलोचना, निन्दना, (पश्चात्ताप) गर्हणा, क्षमापना, भावना, तथा त्याग-प्रत्याख्यान आदि सबका समावेश हो जाता है। इसमें मन, वचन, काया, इन्द्रियाँ, प्राण आदि सभी के परिशोधन, परिमार्जन और परिष्कार की प्रक्रिया होती है।

प्रायश्चित्त की समुचित व्याख्या

प्रायश्चित्त और दण्ड में अन्तर है। शासन और समाज की ओर से किसी अपराधी या दोषी, पापकर्मों को उसके अपराध के अनुरूप जो सजा

शासनकर्त्ता या समाज नेता द्वारा दी जाती है, उसे दण्ड कहा जाता है। इसके विपरीत किसी कृत पाप या अपराध को स्वीकार, आलोचना (निरीक्षण), आत्म-निन्दा (पश्चात्ताप) और गुरु के समक्ष या समाज के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करके स्वेच्छा से व्रत, तप या त्याग स्वीकार करना प्रायश्चित्त है। तात्पर्य यह है कि पाप-दोष या अपराध हो जाने पर उसकी शुद्धि के लिए स्वेच्छा से पुरुषार्थ करना, दण्ड भोगना एवं चित्त को शुद्ध करना ही प्रायश्चित्त है। प्राचीन आचार्यों ने प्रायश्चित्त का अर्थ यों किया है—

'प्रायः पापं विजानीयात्, चित्तं तस्य विशोधनम्।'

'प्रायः' का अर्थ—पाप या आराध और 'चित्त' का अर्थ है—विशुद्धि। दूसरे शब्दों में पाप-विशुद्धि कहें या पापशोधन कहें, या आत्मशुद्धि कहें ये प्रायश्चित्त के ही रूप हैं।

प्रायश्चित्त की सर्वमान्य पद्धति

प्रायश्चित्त की व्यवस्थित, सर्वमान्य और दोषानुरूप विधि एवं पद्धति क्या है ? इस सम्बन्ध में आचार्य श्री अमितगति इसी प्रकार का समाधान करते हुए कहते हैं—

विनिन्दना ऽऽ लोचन-गर्हणैरहं,
मनो-वचः-काय-कषाय-निर्मितम्,
निहन्मि पापं भवदुःख-कारणम्,
भिषग् विषं मंत्र-गुणैरिवाखिलम्॥[1]

प्रभो ! मन, वचन, काया से, कषायों के द्वारा मैंने जन्म-मरणरूप संसार के दुःखों के कारणभूत जो कुछ भी पाप-दोष किया है, उसे मैं आलोचना, निन्दना और गर्हणा करके उसी प्रकार नष्ट करता हूँ, जिस प्रकार एक कुशल वैद्य मंत्र-प्रयोगों के द्वारा शरीर में व्याप्त समस्त विष को दूर कर देता है।

वस्तुतः प्रायश्चित्त के ये प्राथमिक तीन चरण है— आलोचना, निन्दना और गर्हणा। इन तीनों का महत्व है।

---

१ सामायिकपाठ, श्लोक ७

आलोचना : आत्मशुद्धि का प्रथम चरण

पापनाशपूर्वक आत्मशुद्धि के लिए साधक सर्वप्रथम आलोचना करता है।

आलोचना का अर्थ है—अपने द्वारा कृत पापों-दोषों का सर्वतोमुखी निरीक्षण-अवलोकन करना। अन्तर्दृष्टि लगाकर यह देखना कि कौन-कौन से अपराध, पाप, दोष, दुष्कर्म या भूलें अथवा गलतियाँ किस-किस कारण से, कब-कब, कैसे-कैसे, मन से, वचन से, काया से या इन्द्रियों से हुई हैं? उन्हें याद करना, ढूंढ़ना, समझना, विश्लेषण करना तथा प्रत्येक स्वीकृत व्रत, नियम, संयम, समतायोग, त्याग, प्रत्याख्यान आदि के साथ मन ही मन विवेक करना कि किस व्रत नियम आदि की किस धारा में, कितनी और कहाँ गलती हुई है? वह गलती जानबूझ कर हुई है? अनजाने में हुई है? लाचारी से हुई? प्रमाद या असावधानी से या अविवेक से हुई है? उस भूल से अपनी तथा दूसरे प्राणी की, मनुष्य, तिर्यञ्च आदि की कितनी क्षति हुई है? वह क्षति आर्थिक हुई है, सामाजिक हुई है, पारिवारिक हुई है, अथवा मानसिक हुई है? इस प्रकार अन्तर में डुबकी लगाकर जब व्यक्ति अपना अन्तर्निरीक्षण, विश्लेषण एवं स्मरण-मनन करता है, तो उसके अन्तर में स्वतः सम्यग्ज्ञान का उज्ज्वल प्रकाश हो जाता है।

आलोचना का सच्चा आराधक

आलोचना का सच्चा आराधक वही हो सकता है, जो यह दृढ़तापूर्वक मानता है कि मेरे द्वारा पूर्वजन्म में, या इस जन्म में जो भी दोष, दुर्गुण एवं दुष्कर्म हुए हैं, उनसे मेरा ही अहित है। दूसरे का अहित तो हो भी सकता है, नहीं भी। मेरे ही पापकर्म के कारण मुझे दुःख, विपत्ति, संकट, रोग, शोक आदि प्राप्त होंगे या हो रहे हैं। कुमार्ग या पाप-दोष की कंटीली राह पर चलने से मेरे ही पैर काँटों से बिंधेंगे, मेरे ही अंग छिलेंगे, कपड़े फटेंगे, मेरा ही नुकसान अधिक होगा। पाप कर्मों के कारण मस्तिष्क आर्त्त-रौद्रध्यान में लगकर विकृत होगा, मिथ्यात्व और अज्ञान का अन्धकार सम्यग्ज्ञान और विवेक को ढक देगा, दुर्ध्यान, मिथ्यात्व और अज्ञान के कारण और नये-नये नाना पापकर्मों का बन्ध होता जाएगा। परमात्मप्राप्ति की या मोक्ष की सही राह मिलनी दुष्कर हो जाएगी। ये पाप दोष मेरे ही आत्मविकास में पत्थर की तरह अवरोधरूप हो जायेंगे। इसलिए अब यहीं उन पर रोक लगाना और जो भी पाप-दोष हुए हैं, उन ज्ञात-अज्ञात पाप-दोषों का निरीक्षण-विश्लेषण, स्मरण एवं मनन करना आत्मशुद्धि का सर्वप्रथम चरण है। इस आशा,

उत्साह एवं विश्वास के साथ आत्मावलोकन में लग जाने वाला साधक शीघ्र ही अपने दोष-दुर्गुणों एवं अपराधों को निकाल कर उनके स्थान में सद्गुणों, सुविचारों और सम्यक् आचरणों को प्रविष्ट करा देता है।

आलोचना : अपने द्वारा ही अपना आत्मनिरीक्षण

आलोचना आत्मशुद्धि का प्रथम चरण इसलिए है कि ज्ञपरिज्ञा से जब व्यक्ति अपने पापों-दोषों को तथा होने वाली स्वपर हानियों को भली-भाँति जान लेता है, तब उनके निवारण के लिए प्रयत्न कर सकता है। दूसरे के पाप-दोषों की अपेक्षा व्यक्ति अपने पाप-दोषों को भलीभाँति ढूंढ़-समझ सकता है। जितना पता व्यक्ति को स्वयं के बारे में होता है, उतना दूसरों को कैसे हो सकता है ? दूसरों को तो उतनी ही जानकारी होती है, जितनी उन्होंने देखी या सुनी है। देखने-सुनने के उपरान्त भी बहुत कुछ बचता है, जिसे लोग प्रच्छन्न रखते हैं, दूसरों को इसलिए बताते नहीं कि उनके पापों का पर्दाफाश हो जाने से लोगों की उनके प्रति अश्रद्धा, घृणा या अरुचि होने की आशंका होती है। अधिकांश लोग अपनी अच्छाइयों को बढ़ा-चढ़ाकर बताते हैं और बुराइयों को छिपा लेते हैं। अतः व्यक्ति अपनी असलियत जितनी अच्छी तरह जानता है, दूसरे उतनी नहीं जान पाते। फिर अपने पर जितना अपना दबाव और प्रभाव है, उतना और किसी पर नहीं। इसलिए आत्मशुद्धि का कार्य प्रारम्भ करना हो तो स्वयं से ही करना चाहिए, क्योंकि व्यक्ति स्वयं ही अपने अधिकतम निकट और अधिकतम प्रभाव दबाव में है।

सर्वाधिक साहस का कार्य है—अपने जीवन में हुए दोषों, दुर्गुणों और दुर्बलताओं को स्पष्ट रूप से समझना तथा तन-मन-वचन-काया का परिशोधन करना। जो अपनी कुरूपता, दुर्बलता को जाँचता-परखता है, वह बहादुरी का पहला कदम उठाता है।

अपनी चेतना के दर्पण में अपनी मलिनताओं को देखो

तथागत बुद्ध ने अपने जेतवन के प्रवचन में कहा था—मुमुक्षुओ ! दूसरों के विचार पढ़ना, संकल्प जानना तथा भावनाओं और प्रवृत्तियों की थाह लेना तुम्हारे लिए कठिन है, परन्तु अपनी परख आसानी से कर सकते हो। दूसरों को सुधारने की अपेक्षा जो अपने सुधार का प्रयत्न करता है, वही मोक्ष का सच्चा अधिकारी है। जिस तरह दर्पण में अपने चेहरे की

मलिनता स्पष्ट प्रतिबिम्बित हो जाती है और देखने वाला उसे ठीक करके अपना चेहरा सुन्दर बना लेता है। उसी प्रकार चेतना के दर्पण में मन की मलिनताओं को देखो। तुम्हारे विचार, वचन और कार्य पवित्र हैं या नहीं? तुम कहीं इन्द्रियों के आकर्षण में तो नहीं पड़े हो? क्या क्रोध, मान, माया, लोभ तुम्हें हैरान कर रहे हैं? क्या कोई दुर्व्यसन तुम्हारे जीवन में है? यदि हाँ, तो तत्काल उन्हें देखो-परखो और पश्चात्ताप एवं प्रायश्चित्त द्वारा उन क्षतियों-दोषों को मिटाने में जुट पड़ो, आज से, अभी से। देर और आलस्य न करो,....तभी तुम मोक्ष के अधिकारी बनोगे।'[1]

आत्मालोचना के दो रूप

यह है, आत्मालोचना का यथार्थ दृष्टिकोण, जिसमें आत्मनिरीक्षण और आत्मसुधार की यथार्थ प्रेरणा है। इसी आत्मालोचना के माध्यम से साधक अपनी भूलों, गलतियों, दोषों एवं अपराधों को गहराई से निष्पक्ष होकर मन ही मन छानबीन करता है, तत्पश्चात् उन दोषों-अपराधों की सूची बनाकर प्रकट में आलोचना करता है। इस प्रकार आलोचना दो रूप में की जाती है—(१) निष्पक्ष होकर अपने दोषों—पापों—अपराधों का स्वयं क्रमशः निरीक्षण, स्मरण एवं विश्लेषण करना और (२) वे पाप-दोष जैसे भी, जिस रूप में लगे हों, निष्कपट होकर सरलभाव से गुरु या महान् के समक्ष हूबहू प्रगट कर देना। इस प्रकार आलोचना आत्मशुद्धि की प्राथमिक सीढ़ी बनकर मोक्ष=परमात्मपद की ओर ले जाने वाली बन जाती है।

आत्मालोचना से परम आध्यात्मिक लाभ

भगवान् महावीर ने यथार्थ आलोचना का लाभ बताते हुए गणधर गौतम से कहा था—

"आलोचना अनन्तसंसार के बन्धन में डालने वाले तथा मोक्षमार्ग में विघ्न रूप मायाशल्य, निदानशल्य एवं मिथ्यादर्शनशल्य को उखाड़ फेंकती है। आलोचना से आत्मा सरलता को प्राप्त करता है। सरलता-

---

१ बुद्ध वचनामृत से साभार उद्धृत

सम्पन्न आत्मा अमायिक होकर स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का बन्ध नहीं करता। यदि पहले बन्ध हो गया तो उसका क्षय कर देता है।"[1]

यह है—आलोचना का महान् फल !

निन्दना : आत्मशुद्धि का द्वितीय चरण

आलोचना के बाद प्रायश्चित्त=पापविशोधन का दूसरा क्रम है—निन्दना या आत्मनिन्दा ! यों तो निन्दा चाहे अपनी हो, चाहे दूसरे की; दोनों ही गलत है। अपनी निन्दा करने से, अपने आपको कोसने से तथा भर्त्सना करने से, व्यक्ति में बहुधा हीनता की भावना, (लघुताग्रन्थी) निराशा, निरुत्साहता, आर्त्तध्यान, शोक, विलाप, रुदन, आक्रोश, क्षोभ आदि का भाव मन में प्रविष्ट हो जाता है। और अगर पर-निन्दा की जाती है तो वह घृणा, द्वेष, वैर-विरोध आदि का कारण बनती है। ऐसी स्थिति में निन्दा, पापविशुद्धि का कारण बनकर पाप-वृद्धि का कारण बन सकती है इसलिए निन्दना का अर्थ न तो अपनी निन्दा है और न ही दूसरों की; अपितु पापों, दोषों, दुष्कर्मों, अपराधों एवं भूलों से दूषित बनी हुई आत्मा की निन्दा करना ही यहाँ निन्दना शब्द का अर्थ अभीष्ट है। इसे ही आत्म-निन्दा कह दिया जाता है। यहाँ आत्मनिन्दा उन पाप-दोषों के प्रति ग्लानि, उनसे घृणा या विरक्ति एवं पश्चात्ताप के रूप में फलित होती है। आत्म-(दोषों की) निन्दा और पश्चात्ताप इन दोनों में कार्य-कारणभाव सम्बन्ध है। आत्मनिन्दा कारण है और पश्चात्ताप उसका कार्य (प्रतिफल) है।

तीव्र पश्चात्ताप की धारा से समस्त पाप-दोषों का प्रक्षालन

अन्ततोगत्वा आत्मनिन्दा तीव्र पश्चात्ताप के रूप में प्रगट होती है। किन्हीं दुष्कर्मों, पाप-दोषों या अपराधों से पीड़ित आत्मा को आलोचना करने के पश्चात् विवेकी साधक के मन में जो अनुताप-सन्ताप, दुःख उत्पन्न होता है, वही पश्चात्ताप है। पश्चात्ताप जब शुद्ध अन्तःकरण से होता है, तो साधक सच्चे माने में अपने दुष्कर्मों के लिए दुःखी होता है, भूल की

---

१ आलोयणाए णं माया-नियाण-मिच्छादंसण-सल्लाणं मोक्खमग्ग-विग्घाणं-अणंत-संसार-बद्धणाणं उद्धरणं करेई। उज्जुभावं च जणइय। उज्जुभाव-पडिवन्न' य णं जीवे अमाई इत्थीवेय—नपुंसगवेयं च न बंधइ। पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।'

—उत्तराध्ययन० अ. २९, सू. ६

भयंकरता का अनुभव करता है, भविष्य में इस प्रकार का आचरण न करने के लिए दृढ़ संकल्प करता है उसे कठोरतापूर्वक निभाता है। तब पापों की जड़ें हिल जाती हैं। एक-एक करके सभी पाप-दोष आत्मा से पलायन कर जाते हैं।

भयंकरतम पाप भी तीव्र पश्चात्ताप से नष्ट

पाप, जाने-अनजाने में, आवेश-रोषवश या लाचारीवश अतिभयंकर रूप धारण कर चुके हों, लेकिन जब व्यक्ति जागृत हो जाता है, अपने अन्तर्मन से उन-पाप-दोषों को खदेड़ने के लिए तैयार हो जाता है, उसके हृदय में तीव्र पश्चात्ताप और क्षतिपूर्ति की भावना है तो कोई कारण नहीं कि वे भयंकर पाप नष्ट न हों। चिलातीपुत्र, अरणक, प्रसन्नचन्द्र राजर्षि, अर्जुन मुनि जैसों से भी बहुत भयंकर पाप हो चुके, वे मर्यादाभ्रष्ट हो गये थे, किन्तु उनके मन में तीव्र पश्चात्ताप की धारा थी, आत्मशुद्धि की सच्ची तड़फन थी, प्रायश्चित्त ग्रहण करने की तत्परता थी, इसलिए उनके भारी से भारी पापों का शुद्धीकरण हो सका। जिस प्रकार आग में तप कर सोना शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार पश्चात्ताप की आग में तपकर साधक की आत्मा भी शुद्ध हो जाती है। वह कषाय भावरूप मल को सर्वथा भस्म कर देती है। अपने कृत-पाप-दोषों के प्रति पछतावा और विरक्ति ही वे आधार हैं, जिनके सहारे से भविष्य में वैसा पाप-दोष होने की सम्भावना समाप्त हो जाती है। 'महाभारत' में इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है—

"विकर्मणा तप्यमानः पापात् परिमुच्यते।
न तत् कुर्यां पुनरिति द्वितीयान् परिमुच्यते॥"

"जो मनुष्य पापकर्म हो जाने पर शुद्ध अन्तःकरण से पश्चात्ताप करता है, वह उस पाप से छूट जाता है तथा फिर कभी ऐसा पापकर्म नहीं करूँगा, ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेने से भविष्य में होने वाले दूसरे पाप से वह बच जाता है।"

निष्कर्ष यह है कि आत्मनिन्दा रूप पश्चात्ताप की उपयोगिता इसी में है कि दूषित आचरण के प्रति अन्तर्हृदय में विरोधी प्रतिक्रिया इतनी तीव्ररूप से उभरे कि भविष्य में उस अनाचार की पुनरावृत्ति को जरा भी

---

१. महाभारत वनपर्व

अवकाश न रहे। शुद्ध अन्तःकरण से किया हुआ पश्चात्ताप समस्त पाप-दोषों को भस्म कर देता है। 'शिवपुराण' में भी यह स्पष्टरूप से स्वीकार किया गया है—

"पश्चात्तापः पापकृतां, निष्कृतिः परा स्मृता।
सर्वेषां वर्णितं सद्भिः, सर्व-पाप-विशोधनम्॥"[1]

पश्चात्ताप को सभी पापकर्मों की परम निष्कृति मानी गई है। इसलिए संतजनों ने पश्चात्ताप से समस्त पापों की विशुद्धि होना बताया है।

अगर व्यक्ति अपने दोष-दुर्गुणों को जानकर भी उन्हें भयंकर भूल या गलती नहीं समझता, उनके लिए अपने अन्तर में सहजभाव से पश्चात्ताप महसूस नहीं करता और न ही उसके मन में उस पाप दोष का कोई सन्ताप है तो समझना चाहिए, ऊपर-ऊपर से लीपापोती की जा रही है। मन में उस पाप के समर्थन की धृष्टता या आग्रहवृत्ति बनी हुई है, पाप की जड़ें हिली नहीं हैं। अवसर पाते ही वह पाप-दोष पुनः उभर सकता है। अतः पापकर्म के प्रति यदि तीव्र दुःख नहीं है तो किसी कारणवश उत्पन्न हुआ सदाचरण का उत्साह सोडावाटर के उफान की तरह बाद में ठंडा पड़ जायेगा और जीवन की गाड़ी पुनः उसी पुराने ढर्रे पर चलने लगेगी।

आत्मनिन्दा से आध्यात्मिक लाभ

अतः आत्मनिन्दा तीव्र पश्चात्ताप और दृढ़ वैराग्य के साथ होनी चाहिए, तभी यह आत्मशुद्धि करने में सफल हो सकती है। भगवान् महावीर ने 'निन्दना' (आत्मनिन्दा) से बहुत बड़ा लाभ बताते हुए कहा है—

"निन्दना से पश्चात्ताप उत्पन्न होता है। पश्चात्ताप के कारण कषायादि योगों से विरक्त हुआ साधक करण-गुण श्रेणी को प्राप्त कर लेता है। करण-गुण-श्रेणी को प्राप्त अनगार मोहनीय कर्म का क्षय कर देता है।"[2]

आत्मनिन्दा का यह सुन्दर प्रतिफल है, जो आत्मशुद्धि से साधक को प्राप्त होता है।

---

१. शिवपुराण

२. "निंदणयाए णं पच्छाणुतावं जणयइ। पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करण-गुण-सेढिं पडिवज्जइ। करण-गुण-सेढिं पडिवन्ने य णं अणगारे मोहणिज्ज कम्मं उग्घाएइ।"
—उत्तराध्ययन अ. २९, सू. ७

गर्हणा : आत्मशुद्धि का तृतीय चरण

पाप विशुद्धि रूप प्रायश्चित्त के क्रम में गर्हा या गर्हणा का तीसरा स्थान है।

आत्मनिन्दा और गर्हा में अन्तर यही है कि आत्मनिन्दा अपने पाप-दोषों के प्रति तीव्र विरक्ति भाव जगाती है, हृदय में पश्चात्ताप होता है, परन्तु गर्हा में साधक गुरु, या किसी बड़े या विश्वस्त पुरुष के समक्ष अपने पाप दोषों को प्रगट करता है, धिक्कारता है, झूठी प्रतिष्ठा के अहंकार को छोड़कर नम्रतापूर्वक सरलता से अपने कृतपापों को जरा भी छिपाये बिना स्वीकार कर लेता है, सार्वजनिक रूप में जनता के समक्ष खुले दिल से हृदय की गाँठों को खोल देता है, मन-वचन-काया तीनों को पश्चात्ताप की भट्टी में झोंककर जो भी प्रायश्चित्त गुरुजन या समाज-प्रमुख दें, उसे सहर्ष ग्रहण करने को तैयार रहता है, यही गर्हणा का शुद्ध रूप है।

निन्दना की अपेक्षा गर्हणा में अधिक आत्मबल एवं साहस की आवश्यकता होती है। मनुष्य स्वयं को अकेले में या एकान्त में धिक्कार सकता है या निन्दित कर सकता है, परन्तु जिनके समक्ष आज तक वह प्रतिष्ठित और सम्मानित रहा, उन गुरुजनों, बुजुर्गों या सामान्य समाज के समक्ष अपने आपको दोषी, अपराधी, पापी या अनाचारी घोषित करना अथवा अपने पाप-दोषों को स्वीकार करना बड़ा ही कठिन कार्य है। गर्हा में पाप-दोष जरा भी छिपाया नहीं जाता, जो अपराध या पाप-कर्म जैसे भी, जिस कारण से हुआ हो, उसे ज्यों का त्यों पश्चात्तापपूर्वक प्रगट करना पड़ता है। अपने मन की सब गाँठें खोलकर बालक के समान सरल निश्छल हृदय से रख देनी पड़ती हैं। परन्तु अपने पाप-दोषों का प्रकटीकरण किसी विश्वस्त आप्त गुरु या किसी गंभीर, विश्वस्त महान् आत्मा के समक्ष किया जाता है, किसी में सार्वजनिक रूप से प्रकट करने का साहस हो तो सबसे श्रेष्ठ है। अपने दोषों और दुर्बलताओं को स्पष्टरूप से स्वीकार कर लेना सबसे बड़ी हिम्मत का काम है। वही सबसे बड़ा शूरवीर है, जो असलियत को बिना छिपाए निर्भयतापूर्वक प्रकट कर देता है। वस्तुतः दोषों और पापों को स्वीकार करने के बाद साधक एकदम भाररहित एवं निश्चिन्त हो जाता है। मनुस्मृति में पापों के प्रकटीकरण से अधर्म मुक्त होना बताया है —

"यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते।
तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाऽधर्मेण मुच्यते॥"[1]

---

१. मनुस्मृति

जैसे-जैसे मनुष्य अपने द्वारा किये गये अधर्म (पाप) को गुरुजनों आदि के समक्ष ज्यों का त्यों प्रकट कर देता है, वैसे-वैसे ही वह अधर्म से उसी प्रकार मुक्त होता जाता है जिस प्रकार सांप कांचली से।

दुर्बल व्यक्ति गर्हा से कतराता है। किन्तु जो सच्चा बहादुर और अनाचारों से जूझने वाला आध्यात्मिक योद्धा होता है, वह प्रतिष्ठा आदि के सब विकल्पों को पीछे छोड़कर गर्हा की पावन प्रक्रिया अपनाता है। अपने पाप-दोषों को वह साहसपूर्वक स्वीकार करता है, साथ ही अपनी दुर्बलताओं एवं पापों को सदा के लिए उखड़ फैंकने का पराक्रम-पुरुषार्थ दिखाता है। अपने आप से लड़ना और अपनी आत्मा को शुद्ध कर लेना संसार को निर्मल-निष्पाप बना सकने की योग्यता और वीरता की निशानी है। जैनधर्म में, वैदिकधर्म में एवं ईसाईधर्म में मृत्यु के समय अपनी आत्मा को शुद्ध बनाने हेतु सुन्दर आराधना बताई गई है। ईसाईधर्म में मरण काल में पादरी के समक्ष एकान्त में जन्म से लेकर आज तक किये गए, सारे पाप दोष प्रकट करने होते हैं। 'बाइबिल' में बताया गया है—

'Confess thy sins'[1]

अपने अपराधों को स्वीकार कर।

जैनधर्म में गुरु या गुरुजनों के समक्ष अन्तिम समय में या आत्मशुद्धि के लिए आलोचना, निन्दना, गर्हणा एवं प्रायश्चित्त (दण्डादि) लेकर सर्व जीवों से क्षमायाचनापूर्वक आत्मशुद्धि करने का विधान है।

गर्हणा का एक अर्थ और भी है— आप्त गुरु या विश्वस्त पुरुष पाप-दोष को मात्रा और इरादे के अनुसार तप, क्षतिपूर्ति या त्याग-प्रत्याख्यान के रूप में जो भी दण्ड-प्रायश्चित्त दें उसे ग्रहण=स्वीकार करना।

गर्हणा से वीतराग परमात्मभाव की प्राप्ति

गर्हणा से बहुत बड़ा आध्यात्मिक लाभ बताते हुए भगवान् महावीर ने कहा— गर्हा से साधक अपुरस्कारता (पाप कर्म में पुरुषार्थ न करने की वृत्ति) प्राप्त कर लेता है। अपुरस्कारता प्राप्त साधक अप्रशस्त योगों से निवृत्त और प्रशस्त योगों में प्रवृत्त होता है। प्रशस्त योग प्राप्त साधक अनन्त घातिकर्म-पर्यायों का क्षय कर देता है।"[2]

---

१. बाइबिल

२. "गरहाएणं अपुरक्कारं जणयइ। अपुरक्कारगएणं जीवे अपसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेइ, पसत्थजोग पडिवन्ने य णं अणगारे अणंत-घाइ-पज्जवे खवेइ।"

—उत्तराध्ययन सूत्र अ. २९ सू.८

प्रायश्चित्त के दस प्रकार

सबके पापदोष या अपराध एक-से नहीं होते और न ही उनकी भावना भी एक-सी होती है। अतः जैनागमों में अपराधी या दोषी की मनः-स्थिति, परिस्थिति एवं मनोवृत्ति के आधार पर प्रायश्चित्त के १० प्रकार बताये गये हैं – (१) आलोचनार्ह, (२) प्रतिक्रमणार्ह, (३) तदुभयार्ह, (४) विवेकार्ह, (५) व्युत्सर्गार्ह, (३) तपस्यार्ह, (७) छेदार्ह, (८) मूलार्ह, (९) अनवस्थाप्यार्ह, और (१०) पाराचिकार्ह।[1]

आलोचनार्ह प्रायश्चित्त में आलोचना, निन्दना, गर्हणा तीनों का समावेश है। प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित्त में अपने दोषों की शुद्धि मिथ्यात्वादि पाँचों के रूप में वर्गीकरण करके तीनों काल का प्रतिक्रमण करने से शुद्धि होती है। विवेकार्ह में त्यक्त वस्तु को निर्दोष से पृथक् किया जाता है। व्युत्सर्गार्ह में क्षतिपूर्ति या त्याग प्रत्याख्यान किया जाता है। तपस्यार्ह में तप द्वारा, छेदार्ह में दीक्षापर्याय का छेद किया जाता है, गृहस्थ वर्ग को पद, प्रतिष्ठा एवं नौकरी से मुक्त किया जाता है। मूलार्ह में मूलव्रतों का नये सिरे से ग्रहण कराया जाता है। अनवस्थाप्यार्ह एवं पारांचिकार्ह में साधु के लिए संघबहिष्कार गृहस्थ के लिए समाजबहिष्कार, असहयोग, देश निष्कासन आदि कठोर दण्ड दिया जाता है।

विशुद्ध आत्मा ही परमात्मा बनता है

इस प्रकार प्रायश्चित्त के द्वारा आत्मा शुद्ध एवं परिष्कृत हो जाती है, आत्मा का परिष्कृतरूप ही परमात्मा है। अर्थात्—आलोचना, निन्दना, गर्हणा आदि प्रायश्चित्त से चारों आत्मघाती कर्मों का क्षय हो जाने से वीतरागता प्राप्त हो जाती है। तत्पश्चात् वह क्रमशः वीतराग परमात्मा एवं सिद्ध परमात्मा बन जाता है। आत्मा जितनी-जितनी शुद्ध एवं निर्मल होती जाती है, उसी अनुपात में उसमें परमात्मभाव का अवतरण होता जाता है। जिस प्रकार निर्मल दर्पण में प्रतिबिम्ब स्पष्ट दीखता है, उसी प्रकार कर्ममल से रहित शुद्ध निर्मल आत्मदर्पण में परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, परमात्मभाव का उसे साक्षात्कार हो जाता है। फिर उस परम विशुद्ध आत्मा का परमात्मा बनना कोई कठिन नहीं है।

---

१. स्थानांग स्थान १०

८

उपलब्धियाँ सिद्धियाँ : परमात्म–प्राप्ति में साधक/बाधक

लक्ष्य तक पहुँचाने वाली अति दुर्लभ उपलब्धि : मानवजन्म प्राप्ति

विचारक एवं साधनाशील मानव-जीवन का लक्ष्य है—आत्मा से परमात्मा बनना। अर्थात्—अपूर्णता से पूर्णता तक पहुँचना मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। यह महायात्रा अनेक जन्मों से चली आ रही है। वर्तमान मानव-आत्मा अन्य प्राणियों का शरीर धारण करता हुआ मनुष्य-योनि तक पहुँच पाया है। अनेक प्राणियों के शरीरों में—योनियों में ठहरते-विरमते प्रचुर पुण्य राशि संचित होने से इस सुखद स्थिति तक पहुँचा जा सका है, जहाँ से परमात्मपद-मोक्षपद तक की लम्बी छलाँग लगाई जा सकती है और मंजिल पूरी की जा सकती है। श्रमण भगवान् महावीर ने पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन में मनुष्यजन्म को अत्यन्त दुर्लभ बताते हुए कहा है कि "अपने कृतकर्मों के अनुसार जीव कभी देवलोक में, कभी नरक में और कभी असुर निकाय में जन्म लेता है। इसी प्रकार कभी क्षत्रिय, कभी चाण्डाल, कभी वर्णसंकर, कभी कुंथु और कभी चींटी होता है। कर्मों के संग से वे अतिमूढ़, दुःखित और अत्यन्त वेदना से युक्त प्राणी मनुष्येतर योनियों में जन्म लेकर पुनः-पुनः त्रास पाते हैं। कालक्रम के अनुसार कदाचित् मनुष्य-गति-निरोधक कर्मों के क्षय होने से जीवों को शुद्धि प्राप्त होती है। उसके फलस्वरूप उन्हें सर्वश्रेष्ठ मनुष्यत्व प्राप्त होता है। किन्तु देव दुर्लभ मनुष्य जन्म प्राप्त होने पर भी कर्मों से मलिन जीव संसार दशा

से निर्वेद पाने अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होने की इच्छा नहीं करते।"[1]

दुर्लभ उपलब्धि को अवरोधों में नष्ट मत करो

आशय यह है कि दुर्लभ मनुष्यजन्म प्राप्त होने पर भी पिछले जन्मों के खट्टे-मीठे अनुभवों को ध्यान में रखते हुए इस बहुमूल्य अवसर का सदुपयोग कर लेने का सौभाग्य उसे प्राप्त हुआ है। इस शुभ अवसर को अपना और अपनों के पेट भरने, इन्द्रिय-सुख-लिप्सा की पूर्ति करने तथा तृष्णा-अहंता आदि कषाय एवं विकारों की उस निम्नस्तरीय पूर्ति में नष्ट नहीं किया जाना चाहिए, जिसके लिए पिछले अनेक जन्मों में मूढ़तावश अनवरत प्रयत्न किये जाते रहे, किन्तु हाथ कुछ नहीं लगा। चपला की चकाचौंध की तरह इन्द्रिय-विषय-लिप्सा की पूर्ति का सुख क्षणभर चमकता है, फिर पीछे के लिए गहन अन्धकार छोड़कर चला जाता है। पेट और प्रजनन की तथा क्षणिक विषय-लिप्सा की गतिविधियों में सीमित जीवन-क्रम कितना कटु, कितना मधुर, कितना नीरस, कितना सरस, कितना निःसार और कितना सारभूत होता है? उसे पिछली अनेकानेक पिछड़ी योनियों में मनुष्य अनुभव कर चुका है। अब मनुष्यजन्म जैसी अनुपम और देवदुर्लभ उपलब्धि प्राप्त करके उसे पुनः उन्हीं कुगतियों और कुयोनियों के अनुभवों को दुहराने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। अगर मनुष्य-जन्म जैसी अमूल्य एवं दुष्प्राप्य सम्पदा और उपलब्धि पाकर भी मनुष्य फिर उन्हीं पिछले जन्मों की तरह निम्नस्तर की उधेड़-बुन करता है, तो काता-पींजा कपास जैसे स्थिति हो जायेगी।

अगर शरीर को गलाते चलने वाली वासना और मन को जलाते रहने वाली धन आदि विविध सुखोपभोगों की तृष्णा की पूर्ति करना ही अभीष्ट हो तो मनुष्यजन्म पाना निरर्थक है। यों देखा जाये तो अन्य योनियों में वासना और तृष्णा इन दोनों की आवश्यकता स्वल्प रहती है और आसानी से पूरी हो जाती है। जबकि वासना और तृष्णा की पूर्ति के चक्कर में पड़े हुए अधिकांश मनुष्यों की विकसित चेतनात्मक मनःस्थिति इनके भोग और संग्रह के लिए अधिकाधिक लालायित रहती है और उनकी पूर्ति भी सीमित साधनों से नहीं होती। आश्चर्य है कि विकसित चेतनाशील मानव अन्य प्राणियों की तुलना में अधिकाधिक असन्तुष्ट एवं उद्विग्न

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र अ. ३, गा. ३, ४, ६, ७।

रहता है। ऐसे मनुष्यों की अपेक्षा तो अन्य प्राणियों का जीवनक्रम अधिक सन्तुष्ट एवं अनुद्विग्न हैं।

मनुष्य इस संसार का सर्वश्रेष्ठ महायात्री है। वह बहुत दूर चल चुका है, अब जितना चलना शेष है वह भी कम नहीं है। अपूर्णता से पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उसे मनुष्य जीवन की दिव्य नौका मिली है। अतः लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उसे मार्ग के इन अवरोधों से दूर रहकर वर्तमान गति को तीव्रतर करना होगा; अन्यथा स्वल्पकालीन जीवन इन्हीं अवरोधों की भूलभुलैया में फंसकर फिर चौरासी लक्ष योनि की घाटी में जन्म-मरण करता रहेगा। लक्ष्य से बहुत ही पिछड़ जायेगा।

जन्म-मरण की चक्रवात्या और रुग्णता की रस्सियों से बँधा हुआ मानवजीवन अदृश्य कर्मशक्ति द्वारा घसीटा जा रहा है। जिन्दगी (आयुष्य) की डोरी को दिन और रात रूपी सफेद और काले चूहे अपने दाँतों से काट रहे हैं। कब यह आयुष्य की डोरी कटकर नीचे गिर जाय, कहा नहीं जा सकता। ऐसी सर्वथा अनिश्चित परिस्थिति में षट्-पर्याप्तियों से युक्त देव-दुर्लभ मानवजीवन रूपी उपलब्धि को यदि विषय-वासना, तृष्णा, अहंता, ममता तथा कषाय-नोकषायों की आग में झोंक दिया जायेगा तो परमात्म-पद या मोक्ष-पद पाने के लक्ष्य से वह कोसों दूर हो जायेगा, रत्नत्रय साधना से अपूर्णता से पूर्णता को प्राप्त करने का जो अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ था, उसे यों ही खो दिया जायेगा। वासना, तृष्णा, अहंता आदि के द्वारा विषय-सुखों की तनिक-सी पूर्ति होने तथा किसी सांसारिक कार्य में थोड़ी-सी सफलता मिलने पर गर्वोन्मत्त होना बुद्धिमानी की निशानी नहीं है। इस प्रकार के क्षणिक सांसारिक सुखों की पूर्ति या जरा-सी सफलता भी आग में घी पड़ने की तरह अहंकार और कामना की आग पहले से भी अधिक भभक उठती है। इससे असन्तोष और दुःख अधिकाधिक ही बढ़ता जाता है।

प्राप्त उपलब्धियों के सदुपयोग से ही लक्ष्य की प्राप्ति

मानव-जीवन का लक्ष्य इन वैषयिक सुखों का सम्पादन करना या कषायों की भट्टी में स्वयं को झोंकना नहीं है, अपितु सत्-चित्-आनन्द अथवा अनन्त-ज्ञानादि-चतुष्टय प्राप्त करना है। इनकी प्राप्ति में मानव-जीवन में प्राप्त षट्-पर्याप्तियाँ, दशविध प्राण तथा उत्कृष्ट तन, मन, आर्य क्षेत्र, उत्तमकुल, दीर्घ आयुष्य, धर्मनिष्ठ परिवार, अरहंत देव, निर्ग्रन्थ गुरु,

सर्वज्ञ-प्रज्ञप्त सद्धर्म, चतुर्विध धर्म संघ, धर्मश्रवण, सम्यक्श्रद्धा और ज्ञान-दर्शनचारित्र रूप सद्धर्माचरण में पुरुषार्थ, संयम में पराक्रम, आदि सब उपलब्धियाँ सहायक हैं। इन सहज प्राप्त उपलब्धियों का मानव-जीवन की मोक्ष-महायात्रा में सदुपयोग करना चाहिए। मनुष्यजन्म से लेकर इन सब उपर्युक्त उपलब्धियों का परमात्म-पद प्राप्ति का लक्ष्य प्राप्त करने में जो साधक सदुपयोग करता है, दीर्घकाल तक निरन्तर विनय एवं सत्कारपूर्वक दृढ़निष्ठा के साथ उपलब्धियों के सहारे लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ता जाता है।

स्थूल दृष्टि से देखा जाये तो अधिकांश मानव बोलते-सोचते दुर्बल-काय पशु-तुल्य हैं। वे पेट और प्रजनन के लिए अन्य प्राणियों की तरह जीते-मरते हैं। मानव में परमात्मा के समान अनन्त शक्ति सामर्थ्य छिपा हुआ है। वह प्राप्त उपलब्धियों को समझे तथा उनका उपयोग ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की साधना में करे, तप-संयम से कर्मक्षय करके आत्मा को परिष्कृत करे, तो वीतराग परमात्मा बन सकता है। अथवा उन उप-लब्धियों का लोकहित, समष्टि कल्याण एवं जनसेवा में करे तो पुण्यराशि अर्जित करके दिव्य शक्ति सम्पन्न देव बन सकता है। श्रमण भगवान् महावीर के इस सम्बन्ध में अनुभवपूत उद्गार हैं—

"स देव-गंधव्व-मणुस्स-पूइए,
चइत्तु देहं मल-पंक-पुव्वयं।
सिद्धे वा हवइ सासए,
देवे वा अप्परए महिड्ढिए॥"[1]

"वह देवों, गन्धर्वों और मनुष्यों द्वारा पूजित—आहत साधक मल-पंक से निर्मित इस मानवदेह का सदा के लिए त्यागकर शाश्वत सिद्ध मुक्त परमात्मा बन जाता है, अथवा अल्प कर्मरज वाला महान् ऋद्धि-सम्पन्न देव होता है।"

ऐसा उपलब्धिसम्पन्न मानव-महायात्री अपनी परमात्म-पद प्राप्ति में साधक उपलब्धियों को काम, क्रोध, लोभ, मोह, ममत्व, ईर्ष्या, वैर-विरोध, छल-कपट, राग-द्वेष, विषय-वासना, तृष्णा, अतिसंग्रह, हिंसा, असत्य, चोरी-ठगी, अब्रह्मचर्य आदि में नष्ट नहीं करता। जीवनयापन के

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ. १ गा. ४८।

लिए आवश्यक वस्तुओं और साधनों का उपयोग भी विवेकपूर्वक, यत्नाचार के साथ करता है। वह अपनी यात्रा को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने की दृष्टि से मनुष्यजीवन की विशिष्ट स्थिति और उपलब्धियों को ध्यान में रखता है, एवं उनके सदुपयोग के लिए अधिक तत्परतापूर्वक कटिबद्ध रहता है। क्योंकि वह प्राज्ञ यात्री यह भली-भाँति जानता है कि इस विषय में जरा भी प्रमाद करने से, असावधानी एवं उपेक्षा से उस सौभाग्य से—उस परम लाभ से वंचित हो जाना पड़ेगा, जो इन दिनों में थोड़ी-सी सतर्कता रखने पर सहज ही उपलब्ध किया जा सकता है।

जब उपलब्धियाँ लक्ष्यप्राप्ति में अवरोधक बन जाती हैं

बुद्धिमान यात्री मार्ग के मनोरम दृश्यों को देखते-जानते भर हैं, पाँचों इन्द्रियों का उपयोग करते हैं, किन्तु उन तथाकथित मनोज्ञ-अमनोज्ञ या प्रिय-अप्रिय वस्तुओं के प्रति राग-द्वेष, मोह-द्रोह, आसक्ति-घृणा या रति-अरति नहीं करते; साथ ही वे प्रिय-अप्रिय व्यक्तियों को देखकर उन्हीं के हो जाने या उनसे बैर-विरोध करने की बाल-बुद्धि नहीं करते, अथवा इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग के मिलने पर सुखद-दुःखद परिस्थिति प्राप्त होने पर अपनी सहनशीलता एवं समता नहीं खोते। अगर वे उन प्रिय वस्तुओं या प्राणियों पर मोहित होकर उन्हीं में रमने लगेंगे अथवा अप्रिय या अनिष्ट वस्तुओं या व्यक्तियों से उलझने, नफरत करने या झगड़ने लगेंगे तो गन्तव्य-स्थान—लक्ष्य तक पहुँचना कठिन हो जायेगा। इस महायात्रा के पथ में कहीं-कहीं कड़वी-मीठी परिस्थितियाँ एवं अनुभूतियाँ मिलती ही रहती हैं, किन्तु उन्हें देखना-समझना और यथोचित उपयोग भी करना चाहिए। मगर सुखद स्थिति को देखकर वहीं ठिठक कर बैठ जाना या प्रिय व्यक्तियों को देखकर उनमें ही आसक्त हो जाना, दोनों ही स्थितियाँ लक्ष्य से भटकाने वाली हैं। लोभ और मोह की अति का दुष्परिणाम अतीव भयावह है। व्यामोह के जाल में फंसने पर गन्तव्य की प्राप्ति दुष्कर हो जाती है।

सतर्क रहने पर ही उपलब्धियों का सदुपयोग

साधक की दृष्टि जीवन-यात्रा के गन्तव्यस्थल पर ही रहे तो वह अपनी उपलब्धियों का सदुपयोग कर सकता है। उसे यह नहीं भूल जाना चाहिये कि मैं ऐसे लम्बे पथ का पथिक हूँ, जिसे अपनी उपलब्धियों के सहयोग से या सदुपयोग के लगातार द्रुतगति से सतर्कतापूर्वक चलते रहना

चाहिए। जिसका हृदय उत्कृष्ट चिन्तन, मस्तिष्क विवेकपूर्वक कर्तव्य का निर्णय करता है एवं जिसके चरण उस पथ पर द्रुतगति से आगे बढ़ते रहें। जिसकी दृष्टि लोभ, मोह आदि विकारों से जीवन को बचाती रहे, वही व्यक्ति परमात्म-प्राप्त की मंजिल तक पहुँच पायेगा। अन्यथा, भय, प्रलोभन, मोह, काम आदि विकारों के चंगुल में उसके ये सहायक उपकरण फंस गए तो उपलब्धियों के सदुपयोग का बहुमूल्य अवसर हाथ से चला जाएगा, जिसे गँवा देने पर पश्चात्ताप के सिवाय और कुछ भी हाथ नहीं लगेगा।

प्राप्त शक्तियों का दुरुपयोग लक्ष्यप्रप्ति में बाधक

मनुष्यजन्म होने पर किसी को पूर्वकृत कर्मों के क्षयोपशम से बल, बुद्धि, तप, ज्ञान, ऐश्वर्य, सत्ता, पद-प्रतिष्ठा, रूप, धन आदि की शक्तियाँ उपलब्ध होती है, यदि वह उन शक्तियों का दुरुपयोग करता है, दूसरों को मारने, सताने, लूटने-खसोटने, छल-कपट करने, धोखा देने, बलात्कार, अपहरण या किसी भी दुर्व्यसन में, धन का संग्रह-परिग्रह करने में ही उन्हें लगाता है, या उन प्राप्त शक्तियों का अहंकार करके दूसरों को दबाता, सताता व नीचा दिखाता है, तो समझना चाहिए, उसकी वे उपलब्धियों लक्ष्य-प्राप्ति में साधक के बदले बाधक बन रही हैं।

भौतिक वैज्ञानिकों के पास बौद्धिक शक्ति तो बहुत है, परन्तु वर्तमान में अणुशक्ति का उत्पादन करने का उनका इरादा रचनात्मक कार्यों में लोकहित में करने का नहीं है। उनका इरादा अपने प्रतिद्वन्द्वी को समाप्त करने और विश्वव्यापी वर्चस्व जमाने का है। 'वेलवेरो सिस्टम कम्पनी' के उपाध्यक्ष डान वर्जर ने तो योजना बनाई थी कि "अन्तरिक्ष में उड़ाकर सैकड़ों अणु बम एक साथ रूस पर छोड़कर उसके समृद्ध नगरों को पूरी तरह नष्ट कर दिया जाए।" शक्ति का यह सरासर दुरुपयोग है, पापबन्ध का कारण है।

शक्तियों के उपार्जन के साथ सदुपयोग हो

परन्तु शक्ति की प्रतिद्वन्द्वी शक्ति भी होती है। क्रिया की प्रतिक्रिया और ध्वनि की प्रतिध्वनि तथा आघात का प्रत्याघात भी होता है। अणु का प्रतिअणु पदार्थ भी वैज्ञानिकों ने खोज निकाला है। अतः प्राप्त शक्तियों की जब प्रतिपक्षी शक्तियों से टक्कर होती है, तब हिंसक संघर्ष की ज्वाला में पड़कर सभी स्वाहा हो जाते हैं। अतः शक्तियों का उपार्जन करने के साथ-साथ उनका सदुपयोग हो तो कम से कम व्यक्ति हिंसादि पापों से बच

सकता है, और समाज एवं समष्टि के लिए उसका उपयोग करने पर, किसी दुर्बल एवं पीड़ित की सबल एवं उत्पीड़क से रक्षा करने पर, धन की एवं साधनों की शक्ति का निर्धनों, जरूरतमन्दों अथवा योग्य सुपात्रों की सेवा करने में उपयोग करने पर पुण्यलाभ भी हो सकता है, और उस प्राप्ति शक्ति का निष्काम-निःस्वार्थभाव से ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की साधना में उपयोग करने से संवर निर्जरा रूप धर्म भी हो सकता है, जिसका आचरण परमात्मप्राप्ति का—मोक्ष का साधक है।

धन और साधनों की प्रचुर उपलब्धि भी बाधक

कई लोग भ्रान्तिवश यह कहते हैं कि हमारे पास धन और साधन प्रचुर मात्रा में हों तो हम निश्चिन्ततापूर्वक लक्ष्य की दिशा में अपने कदम मुस्तैदी से बढ़ा सकते हैं, रत्नत्रय की साधना करके परमात्मपद=मोक्षपद प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु यह विचार दिवास्वप्नवत् है। धन या साधनों के बढ़ने से साधना में तेजी नहीं आती, प्रत्युत इनका अहंकार, ममत्व, दुर्ध्यान आदि में वृद्धि करता है, बहुत धन और साधनों की प्रचुरता आलस्य, प्रमाद एवं लापरवाही को जन्म देती है। अतः धन-साधनों की प्रचुर उपलब्धि प्रायः लक्ष्यप्राप्ति में बाधक ही बनती है। बहुधा व्यक्ति स्वेच्छा से निर्धनता और अल्प साधनों को स्वीकार करके अपरिग्रह वृत्ति की साधना भली-भाँति कर सकता है और सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रह सकता है। अपरिग्रही साधक ही लक्ष्यप्राप्ति की साधना में सफल होते हैं।

इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर के अपने अनुभवयुक्त उद्गार देखिये—

"थावरं जंगमं चेव धणं धण्णं उवक्खरं।
पच्चमाणस्स कम्मेहिं नालं दुक्खाउ मोयणे ॥"[1]

कर्मों से दुःख पाते हुए आस्रवरत जीव को स्थावर-जंगम (चल-अचल) सम्पत्ति, धन, धान्य और उपस्कर (गृह-सामग्री) भी दुःख से मुक्त करने में समर्थ नहीं होते।

कोरा तत्त्वज्ञान बघारने से भी लक्ष्यप्राप्ति नहीं होती

आशय यह है कि आस्रवों (शुभाशुभकर्मों) को छोड़कर संवर और

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ. ६/६

निर्जरा की साधना किये बिना केवल सिद्धान्तों या तत्वों का ज्ञान बघारने से दुःखों से छुटकारा नहीं हो सकता और न ही लक्ष्य-प्राप्ति की दिशा में आगे बढ़ा जा सकता है। कई व्यक्ति मानते हैं—विविध भाषाओं के ज्ञान से तथा विविध विद्याओं और कलाओं में प्रवीणता प्राप्त करने से दुःखों से रक्षा हो सकती है, पापकर्म कट सकते हैं, परन्तु वे पण्डितम्मन्य अज्ञजन अपने पापकर्मों का क्षय करने के लिए सद्धर्म का आचरण नहीं करते, तब तक भाषाएँ, विद्याएँ, कलाएँ उनकी आत्मरक्षा नहीं कर सकतीं।[1] उनका भाषाज्ञान या विद्या-प्रावीण्य प्रायः अहंकारवृद्धि के ही कारण बनते हैं।

सुख-सुविधाओं ने शैलक राजर्षि को लक्ष्यविमुख बनाया

शैलक राजर्षि ने अपना राज्य, धन, धाम सब कुछ त्याग कर मुनि दीक्षा अंगीकार की। कालान्तर में उनके शरीर में भयंकर व्याधि उत्पन्न हो गई। उनके गृहस्थपक्षीय सुपुत्र राजा ने उन्हें शिष्यों सहित शैलकपुर पधारने की विनती की। फलतः वे अपनी शिष्य-मण्डली सहित शैलकपुर पधारे। राजा ने उन्हें अपने सुन्दर भवन में ठहराया। उनके लिए औषधोपचार एवं पथ्य आहार की व्यवस्था की। रोगमुक्त होने के बाद राजा के यहाँ से बलवर्द्धक पौष्टिक आहार भी प्राप्त होने लगा। पौष्टिक आहार तथा सुख-सुविधा पाकर शैलक राजर्षि को आलस्य और प्रमाद ने आ घेरा। उनकी रत्नत्रय साधना में शिथिलता आने लगी। सन्ध्या होते ही वे सो जाते, दैनिक क्रियाओं के प्रति उदासीन एवं सुकुमार हो गए। पंथक नामक शिष्य के सिवाय सभी शिष्य उनकी इस सुकुमारता एवं आचार-शिथिलता को देखकर अन्यत्र चले गए। अन्त में, पंथक के द्वारा विनय-पूर्वक प्रतिबोध से वे सँभले और पुनः संयम में स्थिर हुए।[2]

ज्ञाताधर्मकथा सूत्र की इस कथा से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि सुख-सुविधाओं और साधनों की प्रचुरता पाकर साधक प्रायः प्रमादी, आचार-शिथिल एवं लक्ष्य के प्रति अजागरूक हो जाता है। प्रचुर साधनों और सुख-सुविधाओं की उपलब्धि साधक के लिए परमात्मपद रूप लक्ष्य की प्राप्ति में प्रायः बाधक ही बनती है।

तप-संयम की साधना बहुत बड़ी उपलब्धि है, इसे पाकर यदि साधक

---

१. 'न चित्ता तायए भासा कुओ विज्जाणुसासणं।' — उत्तराध्ययन ६/११

२. ज्ञाताधर्मकथा सूत्र में शैलक राजर्षि की कथा

जागरूक होकर संयम में सतत् प्रयत्न करे तो परमात्मपद-प्राप्ति के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

सुकुमारता ने अरणक को लक्ष्यभ्रष्ट बना दिया

इसके विपरीत जो साधक मुनिदीक्षा जैसी परम उपलब्धि पाकर सुखशील और प्रमादी बन जाता है, वह उक्त लक्ष्य को पाने में सफल नहीं हो सकता। अरणक मुनि अपने पिता 'दत्त' और माता 'भद्रा' के साथ दीक्षित हो गये थे। पिता-पुत्र वात्सल्यवश अरणक मुनि को गोचरी आदि के लिए जाने नहीं देते थे।

अधिक सुख-सुविधा मिलने से वे आरामतलब और सुकुमार हो गए। उनमें कष्टसहिष्णुता न आ सकी। दत्त मुनि के दिवंगत होने के बाद अरणक मुनि को भिक्षा लाने के लिये जाना पड़ा। भयंकर गर्मी, शरीर की सुकुमारता, पैर और सिर बुरी तरह झुलसने लगे। एक विशाल अट्टालिका के नीचे विश्राम लेने हेतु रुके। पति-वियोग से व्यथित गृहस्वामिनी उनका रूप देखकर मोहित हो गई और दासी द्वारा ऊपर बुलवाकर उन्हें हावभाव से और नम्र वाणी से अपने प्रेमपाश में फंसा लिया। मुनिजी दुर्लभता से उपलब्ध संयम-साधना छोड़कर गृहस्थ बन गए। रूपसी की शीतल छाया में सुख की सांस लेने लगे। उधर माता 'भद्रा' साध्वी को ज्ञात हुआ तो वे पागलों की भांति अरणक-अरणक पुकारती घूमती रही। तीसरे दिन अरणक ने माता का क्रन्दन-स्वर सुना तो सहसा महल से नीचे उतरकर आये और माता को प्रणाम करके बोले—'मैं हूँ आपका अरणक!' माता के शिक्षा सूत्रों से अरणक पुनः प्रबुद्ध हो गया। पुनः सम्भलकर मुनिदीक्षा स्वीकार की। सुकुमारता को त्यागकर तप और आतापना के द्वारा अपने कर्मफलों को समूल नष्ट कर दिया। केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बन गए।[1]

निष्कर्ष यह है, अधिक सुख-सुविधा एवं सुकुमारता मनुष्य को लक्ष्य भ्रष्ट कर देती है, किन्तु जागरूकता और कष्टसहिष्णुता हो तो वह अवश्य ही लक्ष्य को प्राप्त करा देती है। अतः भौतिक उपलब्धियों को पाकर यदि सतर्कता और तत्परता न रखे तो वे मनुष्य को परमात्मप्राप्ति के लक्ष्य से बहुत दूर ठेल देती है।

---

१ 'आवश्यक कथा' से

उपलब्धियाँ और सिद्धियाँ परमात्मपद प्राप्ति में साधक भी, बाधक भी

मनुष्य को उपलब्धियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त हों, और वह उनका सदुपयोग करे तो उन उपलब्धियों एवं सिद्धियों के सहारे अपनी आत्मिक शक्ति एवं कष्ट-सहन की क्षमता बढ़ाकर एक दिन अनन्त-शक्तिमान् सिद्ध परमात्मा बन सकता है। भगवान् महावीर के पट्टशिष्य गणधर गौतम को कई लब्धियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त थीं, किन्तु उन्होंने कभी दुर्बुद्धि से प्रेरित होकर दूसरों को हानि पहुँचाने, या विनष्ट करने का प्रयोग नहीं किया, न ही उन्होंने प्राप्त लब्धियों का चमत्कार दिखा कर प्रदर्शन किया, न ही यशकीर्ति बढ़ाने या प्रशंसा एवं प्रसिद्धि पाने के लिए उनका उपयोग किया। एक बार उन्होंने महानस लब्धि का प्रयोग किया था, वह भी क्षुधापीड़ित साधुओं के प्रति करुणा से प्रेरित होकर। सर्वाक्षरसन्निपाती आदि शेष लब्धियाँ उनके ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की साधना में तीव्रता लाने में स्वतः प्रयुक्त हुईं। यही कारण है कि उन्हें ज्ञानादि-चतुष्टय की साधना के फलस्वरूप लब्धियाँ सहजरूप से प्राप्त हुई थीं। उन सहज प्राप्त लब्धियों का जरा भी अहंकार उनमें नहीं था। इसके विपरीत मंखलीपुत्र गोशालक को जो तेजोलेश्या की उपलब्धि प्राप्त हुई थी, वह चलाकर, दूसरों को पराभूत और पराजित करने के उद्देश्य से उसने भ० महावीर से सीखी थी, और उसके लिए अमुक कामना से प्रेरित होकर तपस्या की थी। अतः गोशालक को प्राप्त तेजोलेश्या की उपलब्धि सहज प्राप्त नहीं थी। वह दुर्बुद्धि से प्रेरित भी थी। उसने उसका उपयोग भी अहंकार-प्रदर्शन, में प्रसिद्धि प्राप्त करने में तथा भगवान् महावीर एवं उनके साधुओं को प्रतिद्वन्द्वी मानकर उनका संहार करने में किया। इसलिए गोशालक ने प्राप्त उपलब्धि का उपयोग रत्नत्रय की एवं परीषहजय की तीव्र साधना करके परमात्मपद प्राप्त करने में नहीं किया। फलतः वही तेजोलेश्या की उपलब्धि उसके स्वयं के लिए घातक बनी।

दुर्बुद्धि के लिए उपलब्धियाँ घातक

वस्तुतः दुर्बुद्धि के रहते उपलब्धियों, लब्धियों या सिद्धियों का पाना खतरे से खाली नहीं है। दुर्बुद्धि और मिथ्यात्व तथा उपलब्धियों या सिद्धियों का संयोग बारूद और चिनगारी के संयोग जैसा उपद्रव खड़ा कर देता है।

इस शताब्दी में वैज्ञानिकों ने अणुबम के बाद लेसर किरण उपलब्ध

की हैं। यह अणुबम प्रक्षेपास्त्र, विमानभेदी टैंकों, तथा तोपों, आदि से भयंकर है। इसका प्रयोग लोकोपकार, जन-सेवा एवं पीड़ितों को राहत पहुँचाना न होकर केवल प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रों या राज्यों का नरसंहार एवं जानमाल को हानि पहुँचाना है। लेसर किरण एक प्रकार की मृत्युकिरण है। बड़े से बड़े क्षेत्र को यह बात की बात में भस्म कर देती है। सैनिकों और नागरिकों को ही नहीं, उनके मकानों, सामानों तथा घासपात तक को जलाकर खाक कर देना, इससे बांये हाथ का खेल है। आशंका यही है कि आश्चर्यचकित कर देने वाली ये वैज्ञानिक उपलब्धियाँ चिरसंचित मानव सभ्यता और संस्कृति का अन्त न कर दें, मानववंश का ही कहीं सफाया न कर दें। इस समस्या का हल दो ही प्रकार से हो सकता है—या तो दुर्बुद्धि रहने तक इन विघातक साधनों के प्रयोग पर पूर्णतया सर्वराष्ट्रसम्मत प्रतिबन्ध लगा दिया जाए, या फिर दुर्बुद्धि को नैतिक दबाव द्वारा मूल से हटाकर मानवों में सद्बुद्धि जगाई जाए, ताकि इन उपलब्धियों का लोकोपकार में, सुख-शान्ति में और मानवहित में प्रयोग किया जा सके। दूसरा मार्ग ही धर्म और अध्यात्म से सम्मत और श्रेयस्कर है। अथवा किसी प्रबल एवं समर्थ प्रेरक द्वारा चिलातीपुत्र, दृढ़प्रहारी, अर्जुन मालाकार,[1] आदि के समान प्रतिबुद्ध होने से अपनी दुर्बुद्धि मिटाकर सहसा सद्बुद्धि जग जाए और अपनी शक्तियों और उपलब्धियों का सदुपयोग स्व-पर कल्याण में एवं रत्नत्रय की साधना से परमात्मपद प्राप्ति में लगे।

अनुपम उपलब्धि अपने हाथों सर्वनाश बनी

यद्यपि कूलबालुक ने स्वपर-कल्याण हेतु तथा परमात्म-पद प्राप्ति के लिए मुनि दीक्षा ली थी। इतनी दुर्लभ उपलब्धि के बाद भी उसने गुरु से अलग होकर पर्वतीय नदी के तट प्रदेश में रहकर तपःसाधना की। पारणा प्रायः १५-२० दिन में होता था, शेष समय में वह कायोत्सर्गस्थ रहता था। एकान्त में तपःसाधना के फलस्वरूप उसे सिद्धि और प्रसिद्धि भी मिली। किन्तु पूर्वकृत कर्मोदयवश अहंकारग्रस्त कूलबालुकमुनि मागधिका गणिका द्वारा की गई सेवा शुश्रूषा एवं हावभाव के कारण वशीभूत हो गया और अपनी अनुपम उपलब्धि से अपने हाथों सर्वनाश कर बैठा।[2]

---

१. चिलातीपुत्र कथा ज्ञातासूत्र १८ में, दृढ़प्रहारी की कथा आवश्यक वृत्ति में, तथा अर्जुन माली की कथा अन्तकृद्दशांग सूत्र में देखिये।

२. उत्तराध्ययनसूत्र लक्ष्मीवल्लभटीका।

आत्मगवेषक उपलब्धियाँ न तो चाहता है, न प्रयोग करता है

वास्तव में जो साधक आत्मगवेषक है—अपनी आत्मा पर लगे आवरणों को हटाकर शुद्ध होकर परमात्मपद की शोध में लगा है, वह किसी लौकिक कामना, वासना, प्रशंसा, प्रसिद्धि, सिद्धि, प्रतिष्ठा या प्रदर्शन करने की चाह से बहुत दूर रहता है। वह अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र की निर्मल, निरतिचार, निष्कामभाव से साधना करता है। भगवान् महावीर के शब्दों में देखिये—

नो सक्कियमिच्छइ न पूयं, नो वि य वंदणगं, कुओ पसंसं ?
से संजए सुव्वए तवस्सी, सहिए आय-गवेसए स भिक्खू ।।[1]

"जो साधक न तो सत्कार और पूजा-प्रतिष्ठा चाहता है, और न ही वन्दना, वह किसी से प्रशंसा और स्तुति की अपेक्षा कैसे कर सकता है ? वस्तुतः जो संयमी है, सुव्रत है, तपस्वी है, निर्मल आचार से युक्त है, और जो आत्मा की खोज में लगा है, वही सच्चा भिक्षु है।"

तथागत बुद्ध एक बार जिस राज्य में विचरण कर रहे थे, उसी राज्य के नरेश ने एक रत्नजटित कमण्डल ऊँचे बाँस पर टंगवा कर घोषणा करवाई—जो इस कमण्डल को नीचे उतार लेगा, उसे मैं सिद्ध योगी मान लूँगा और उसका अनुयायी बन जाऊँगा। कमण्डल को बाँस से उतारना सामान्य व्यक्ति का काम नहीं था। तथागत बुद्ध के एक नवदीक्षित शिष्य-कश्यप ने अपने सिद्धिबल से कमण्डल को उतार लिया। लोग कश्यप के इस अद्भुत कृत्य की सूचना लेकर तथागत बुद्ध के पास गये। लोगों को यह आशा थी कि तथागत यह सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होंगे, क्योंकि कश्यप ने एक राजपरिवार को बौद्ध धर्म का अनुयायी बनाया है। परन्तु बुद्ध ने कश्यप पर अपनी अन्तर्व्यथा प्रगट करते हुए कहा—मैं बार-बार तुम लोगों को इन चमत्कारों का प्रदर्शन करने और इनका अभ्यास करने से रोकता हूँ। यदि मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि सिद्धियों और प्रदर्शनों में ही आकर्षण है तो समझना चाहिए, तुम्हें धर्म की शक्ति के विषय में कोई जानकारी नहीं है। चमत्कार ही अध्यात्म की कसौटी बनने लगे तो फिर बाजीगरों और जादूगरों की बन आयेगी, किन्तु ज्ञानी, तपस्वी, साधु-सन्तों और जनसेवकों की बात कोई नहीं सुनेगा। अतः

१. उत्तराध्ययनसूत्र अ० १५ गा० ५

चमत्कारों और सिद्धियों का प्रयोग एवं प्रदर्शन छोड़कर सम्यग्ज्ञानादि आर्य-सत्यों का आचरण करो।

वस्तुतः ज्ञान, दर्शन, चारित्र की सम्यक्साधना ही अपने आप में चमत्कार है। वह तो स्वतः बोलती है, उसका प्रदर्शन करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। सच्चा आध्यात्मिक व्यक्ति आत्मा में निहित उपलब्धियों और शक्तियों का प्रदर्शन नहीं करता, न ही उसकी कोई इच्छा चमत्कार दिखाने, लौकिक सिद्धियाँ या उपलब्धियाँ प्राप्त करने की होती है। जिन आध्यात्मिक व्यक्तियों में यह सामर्थ्य विकसित होती है, वे न तो इसका ढिंढोरा पीटते हैं और न ही उन चमत्कारों का प्रचार करते हैं; क्योंकि इससे जनसाधारण का ध्यान श्रेय की दिशा में हटकर क्रीड़ा-कौतुकों या तमाशों पर ही चला जायेगा।

अध्यात्मयोगी आनन्दघनजी उन दिनों जंगल और गुफा में रहकर आत्म-साधना करते थे। यद्यपि उन्हें योगसाधना के कारण अनेक सिद्धियाँ प्राप्त थीं, परन्तु वे उनका प्रयोग और प्रदर्शन नहीं करते थे, न ही उनकी इस विषय में रुचि थी। एक बार उनके एक योगी मित्र ने स्नेहवश अपने शिष्य के साथ एक रसकूपिका भेजी, जिससे ढेरों सोना बनाया जा सकता था। आनन्दघनजी ने पहले तो उसे लेने में अनिच्छा दिखाई, किन्तु आगन्तुक के अधिक आग्रह पर उन्होंने रसकूपिका ले ली और वहीं जमीन पर रस को गिरा दिया। यह देख आगन्तुक चिन्तित स्वर में बोला—आपने यह क्या किया ? मेरे गुरुजी ने खास आपके लिए यह बहुमूल्य रसकूपिका भेजी है, उसका आपने उपयोग न करके व्यर्थ ही नीचे गिरा दिया। आनन्दघनजी ने कहा—"मेरी आत्मा ही अनेक सामर्थ्यों की पुंज है, वही रसकूपिका है, फिर इसे रखकर मैं क्या करता ?" यों कहकर उन्होंने सामने पड़ी हुई एक चट्टान पर पेशाब किया, तत्काल वह चट्टान सोने की बन गई। यह देख आगन्तुक भौंचक्का रह गया। सोचा—"जिसके पास स्वयं रससिद्धि है, उसे रसकूपिका की क्या आवश्यकता ?" निष्कर्ष यह है, आत्मा अपने आप में विलक्षण विभूतियों और शक्तियों का भण्डार है। लेकिन उन शक्तियों, उपलब्धियों और सिद्धियों का उपयोग इस तरह बालक्रीड़ाओं के लिए करना न तो आत्मिक विकास के लिए आवश्यक है, और न ही उनसे व्यक्ति या समाज का कोई हित है। इन सिद्धियों या उपलब्धियों से आत्मा की अंशतः सामर्थ्य तो प्रमाणित की जा सकती है,

परन्तु आत्मा में अनन्त आत्मिक शक्तियाँ होने से वह इतने तक ही सीमित नहीं है।

आजकल आये दिन समाचार पत्रों में इस प्रकार की घटनाएँ पढ़ने और सुनने में आती हैं कि अमुक सामान्य व्यक्ति को अतीन्द्रिय ज्ञान हो गया, अमुक भविष्यवक्ता हो गया, अमुक को वस्तु के स्पर्श से उस व्यक्ति का भविष्य बताने की शक्ति प्राप्त हो गई, अमुक जादूगर ने आश्चर्यजनक अनहोनी बातें बताईं इत्यादि। परन्तु इनका अध्यात्म-साधना में कोई प्रयोजन नहीं है। पूर्वजन्मकृत कर्मों के क्षयोपशम से, एवं अभ्यास से व्यक्ति में विलक्षण शक्तियाँ प्रगट होना कोई असम्भव नहीं है। अपितु आध्यात्मिक विकास के लिए तथा श्रेयमार्ग में ये सिद्धियाँ या उपलब्धियाँ विघ्नकारक हैं। जादूगरी तो चमत्कारों एवं हाथ की सफाई से जनसाधारण को प्रभावित एवं देवीप्रकोप से भयभीत करके अविकसित लोगों की बुरी तरह शोषक बनी हुई है। धार्मिक क्षेत्र में प्रविष्ट जादूगरी या अवधानादि विधाओं का प्रयोग-प्रदर्शन अविकसित मस्तिष्कों के शोषण का कारण बन गया है। आज भी अनेक चालाक व्यक्ति, सन्त, महात्मा, ओझा या तान्त्रिक धर्म का अंचल ओढ़कर जादूगरी के अस्त्र का उपयोग करके अविकसित लोगों को अपने चंगुल में फँसाकर धनादि ऐंठ लेते हैं, अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं, तिकड़मबाजी करने में ऐसे लोग सफल हो जाते हैं।

राजनैतिक क्षेत्र में भी जादूगरी ने अपने पंजे फैला दिये हैं। सन् १८८५ में फ्रांसीसियों के विरुद्ध अल्जीरियनों ने विद्रोह खड़ा कर दिया था। उस समय फ्रांस वालों के पैर उखड़ने लगे। फ्रांसीसियों ने अपने देश के एक जादूगर—राबर्ड होडिन को पटाया। उन दिनों अल्जीरियों में जादू-टोना, तन्त्र-मन्त्र, भूत-पिशाच आदि के अन्धविश्वासों का बोलबाला था। तांत्रिक पूरे देश में छाये हुए थे। रावर्ट होडिन ने तांत्रिक का वेष बनाया और अल्जीरिया में जाकर एक से एक आश्चर्य में डालने वाले करिश्मे दिखाये। फिर उस देश के प्रमुख ओझाओं को एक बक्से को उठाने का कहा। परन्तु सारा जोर लगाने पर भी वे उस बक्से को उठा न सके। जबकि होडिन ने उस बक्से को स्वयं उठाकर दिखाया। वहाँ के कबीलों में अफवाह फैल गई कि फ्रांसीसी जादूगर बहुत जबर्दस्त है। उसने अपने देश के भूतों को मार भगाया है। इस अफवाह से विद्रोह शान्त हो गया। अल्जीरियों ने आत्मसमर्पण कर दिया। इतना ही नहीं, अन्धविश्वासी आदिवासी फ्रांसीसी सरकार के समर्थक बन गए। अतः जादूगरी का आध्यात्मिक विकास के

साथ कोई वास्ता नहीं है, बल्कि यह परमात्मप्राप्ति के लक्ष्य में अत्यन्त बाधक है।[1]

भौतिक सिद्धियाँ प्रायः आध्यात्मिक साधना में बाधक बनती हैं। ये सिद्धियाँ दो तरह से प्राप्त होती हैं—एक तो लौकिक सफलताओं के लिए मन्त्र-तन्त्रादि की साधना की जाती है जिसमें मनोकामना की पूर्ति, मनोवांछित कार्य में आने वाली विघ्न-बाधाओं को हटाने-मिटाने और उपलब्धियाँ एवं वरदान प्राप्त करने का उद्देश्य रहता है। इस प्रकार की साधना से मनोवांछित सिद्ध होंगे ही, इसकी कोई गारण्टी नहीं है।

दूसरी भौतिक उपलब्धियाँ तप, संयम, चारित्र आदि के भौतिक विषय भोगेच्छामय फल के विषय में निदान (निकृष्ट संकल्प) करने से प्राप्त होती हैं। किन्तु निदान के फलस्वरूप होने वाली उपलब्धियाँ सांसारिक जन्म-मरण के चक्कर में डालने वाली, पतन को न्यौता देने वाली एवं दुर्गतियों में भटकाने वाली हैं। ऐसे निदान करने वाले को बोधिलाभ होना बहुत कठिन है। चित्त मुनि के साथी सम्भूति मुनि ने पूर्वभव में चक्रवर्ती की रानी के कोमल केशों का चरण से स्पर्श होने के कारण साधना से विचलित होकर अपनी तप-संयम के फल के रूप में चक्रवर्ती की ऋद्धि प्राप्ति का निदान कर लिया। फलतः देवलोक से च्यव कर आगामी भव में वह ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती बना। वह विषयभोगों, विलासिता एवं रागरंग में इतना आकण्ठ डूब गया कि चित्तमुनि के जीव ने मुनिरूप में आकर नीति और धर्म की बहुत-सी बातें समझाने के बावजूद एक भी बात उसके गले नहीं उतरी। उलटे वह चित्तमुनि के जीव (मुनि) को सांसारिक सुख-भोगों में फंसाने का प्रयत्न करने लगा। किन्तु मुनि अपने आदर्श पर दृढ़ रहे। चक्रवर्तीपद की निदानकृत उपलब्धि ब्रह्मदत्त के लिए पतनकारी सिद्ध हुई, वह नरक का मेहमान बना। मुनिजी संयम की सहज प्राप्त उपलब्धि द्वारा अध्यात्म-साधना करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बने।[2]

लौकिक कामनाओं की पूर्ति से ऊपर उठकर कई लोग अति मानवीय भौतिक क्षमताएँ प्राप्त करने के लिए यौगिक साधना करते हैं। उनमें यदा-कदा सफलता मिलती भी है। यदि ठीक ढंग से साधना करते हैं तो

---

१ अखण्डज्योति १९७५ अगस्त से संक्षिप्त

२ उत्तराध्ययन सूत्र अ. २५, गा. ३४–३५

कई सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। परन्तु वे सब सिद्धियाँ कामनामूलक होती हैं, आध्यात्मिक विकास का प्रयोजन उनसे सिद्ध नहीं होता।

एकमात्र आत्मोकर्ष के प्रयोजन से, बिना किसी लौकिक या भौतिक कामना के योगाभ्यासों से अतीन्द्रिय शक्तियाँ और सिद्धियाँ स्वतः अनायास ही प्राप्त होती हैं। महर्षि पतंजलि ने यमनियमों के विशुद्ध पालन से ही पूर्वाभास, दूरबोध, परोक्षदर्शन, दिव्यस्पर्श, आकाशगमन, विकरण, प्रातिभ ज्ञान, दूरश्रवण, वेदन, आदर्श आस्वाद, वार्तालाप, विचारसम्प्रेषण, अणिमा, महिमा, गरिमा प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, मनोजयित्व, कायसम्पत् आदि अनेक सिद्धियों की प्राप्ति बताई है। परन्तु साधक को इनके चक्कर में न पड़ने के लिए सतर्क भी किया है, क्योंकि ये सिद्धियाँ आत्म-कल्याण में, परमात्मप्राप्ति में बाधक हैं। उन्होंने स्पष्ट चेतावनी दी है—

"ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।"[1]

ये सिद्धियाँ समाधि में विघ्नकारक हैं, व्युत्थान (समाधि के अतिरिक्त काल) में भी ये सिद्धियाँ हानिकारक हैं। इसका कारण यह है कि इन सिद्धियों से मिलने वाली प्रशंसा, प्रसिद्धि एवं प्रतिष्ठा से उत्पन्न होने वाला अहंकार साधक को श्रेय-पथ से विचलित कर देता है। वह इन्हीं में अटककर रह जाता है और जब वह इनका प्रदर्शन करता है या आजीविका या स्वार्थ के लिए इनका प्रयोग करता है तो उससे कर्मक्षय में पुरुषार्थ करने के बदले कर्मबन्ध ही करता है। पतंजलि ऋषि ने ऐसे व्यक्ति को भ्रान्त या विक्षुब्ध मनःस्थिति वाला कहा है।

जिन व्यक्तियों ने अध्यात्मविज्ञान का मर्म समझा है, उन्होंने सिद्धियों और चमत्कारों को निरर्थक बताया है। अध्यात्म के सच्चे साधक सहज एवं निःस्पृह निष्काम भाव से परमात्मपद=मोक्षपदप्राप्ति के लिए ज्ञानादि चतुष्टय की साधना करते हैं, उसके आलोक से असंख्य व्यक्ति कल्याण का—श्रेय का मार्ग पा जाते हैं। जैसे कि पातंजल योगदर्शन में कहा है—

"अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।"[2]

---

१ योगदर्शन विभूतिपाद

२ योगदर्शन साधनापद।

जिस आत्मा में अहिंसा प्रतिष्ठित हो जाती है, उसके सान्निध्य में जन्मजात वैरी भी अपना वैरभाव भूल जाते हैं।

इसी प्रकार सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि को जीवन में रमाने वाले साधक के द्वारा होने वाले आध्यात्मिक लाभ का भी वर्णन है। उत्तराध्ययन सूत्र के २९वें अध्ययन—सम्यक्त्व पराक्रम में तो ७२ आध्यात्मिक साधनाओं से होने वाली उपलब्धियों का ही वर्णन है। वे भी अध्यात्म के चमत्कार हैं।

जिन व्यक्तियों की आध्यात्मिक साधनाएँ तथा तपस्याएँ निष्काम निःस्पृह भाव से आत्मशुद्धि (कर्मनिर्जरा) की दृष्टि से होती हैं, उन्हें विशिष्ट लब्धियाँ सहज ही प्राप्त होती हैं। किन्हीं साधकों को पूर्वजन्मकृत तथाविध कर्मों के क्षयोपशम से विभिन्न लब्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जैसे वज्रस्वामी को दीक्षा लेने के बाद अल्प समय में ही पदानुसारिणी लब्धि प्राप्त हो गई थी। कई साधकों को पुलाक, बकुश, कुशील, आदि लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। कई साधकों को शरीर के प्रति अनासक्ति एवं अममत्व के कारण आमर्शौषधि, खेल्लौषधि, जल्लौषधि, सर्वौषधि, विप्रुषौषधि आदि लब्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, उनके मल, मूत्र, पसीने आदि का स्पर्श भी रोगनिवारक औषधि का काम कर देता है। अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, केवलज्ञान आदि भी लब्धियाँ हैं। परन्तु ध्यान रहे इन सब लब्धियों के धनी अध्यात्मसाधक किसी भी प्राणी को हानि पहुँचाने के लिए या अपने स्वार्थ के लिए इनका प्रयोग कतई नहीं करते। कई साधक संघ पर घोर संकट, कष्ट उपसर्ग या विपत्ति आने पर अपवादरूप में लब्धियों या सिद्धियों का लोकहितार्थ प्रयोग करते हैं, परन्तु उसका भी यथोचित प्रायश्चित्त ग्रहण करते हैं। वस्तुतः लब्धियों, उपलब्धियों, सिद्धियों या शक्तियों का रहस्य जानने वाले समझते हैं कि यह उनका लक्ष्य नहीं है। ये सिद्धियाँ तो ठीक उसी प्रकार हैं, जिस प्रकार किसी मंजिल तक पहुँचने के लिए चलते हुए मार्ग में एक से एक सुन्दर सौरभयुक्त पुष्प लगे मिल जायें। उन पुष्पों की सौरभ में ही यदि कोई रम जाये, वहीं ठिठक जाये तो समझ लो, वह लक्ष्य से विचलित या भ्रष्ट हो गया। इसीलिए योगदर्शन के रचयिता महर्षि पतंजलि ने इन्हें साधनामार्ग में विघ्न कहा है तथा इनसे बचते हुए तथा अप्रभावित एवं अनाकर्षित रहते हुए सतत् लक्ष्य की ओर आगे बढ़ते रहने का निर्देश किया है। भगवान् महावीर ने भी इन्हें अनुकूल उपसर्ग बताकर साधकों को इनसे तथा निदान से प्राप्त होने वाली उपलब्धियों से बचने

का कहा है। जीवन के अन्तिम समय में की जाने वाली अपश्चिम-मरणान्त-संल्लेखना (संथारा) के समय तो इन निदानकृत उपलब्धियों तथा सिद्धियों की आकांक्षाओं विशेषतः फलाकांक्षाओं, से बचने का निर्देश भी किया है—

"इहलोगासंसप्पओगे, परलोगासंसप्पओगे, जीविया-संसप्पओगे, मरणासंसप्पओगे, कामभोगासंसप्पओगे ॥[1]

इस लोक में जन्म लेने या इहलौकिक सुखों आदि की आकांक्षा करना, परलोक में जन्म लेने तथा वहाँ के लौकिक सुख-साधनों की आकांक्षा करना, अधिक जीने की इच्छा करना, शीघ्र मरने की इच्छा करना एवं कामभोगों की वांछा करना। ये संल्लेखना व्रत की साधना के पाँच अति-चार—दोष हैं।

वास्तव में देखा जाय तो सर्वसाधारण के लिए सिद्धियाँ और उप-लब्धियाँ न तो कोई लाभप्रद हैं, और न ही उपयोगी हैं। जिन सिद्धियों और क्षमताओं को स्व-परहितों से अज्ञ मानव वरदान-तुल्य समझता है और सोचता है कि अगर ये सिद्धियाँ या उपलब्धियाँ उसके पास होती तो वह और भी महान व्यक्ति बन सकता था। परन्तु ध्यान रहे, इन सिद्धियों की लिप्सा दूसरों का भला करने के लिए प्रायः नहीं होती, वरन् अपना अहंकार पुष्ट करने या कोई स्वार्थ सिद्ध करने के लिए होती है। यदि अपना व दूसरों का भला करना ही अभीष्ट होता तो मनुष्य अपनी सहज प्राप्त क्षमता और वर्तमान परिस्थिति में रहकर भी बहुत कुछ कर सकता है। यदि अहंकारी, क्रोधी, लोभी या तुच्छ स्वार्थी व्यक्ति को ये सिद्धियाँ प्राप्त हो जायें तो न तो वह अपना ही भला कर सकता है और न ही दूसरों का। इन सिद्धियों का सदुपयोग और महत्व न जानने के कारण साधारण अज्ञ मानव को इनसे लाभ उठाने की अपेक्षा अपना अहित कर लेने का ही अधिक भय है। उदाहरणार्थ—यदि किसी को पूर्वाभास की सिद्धि प्राप्त हो जाए तो उसे अपनी मृत्यु का ज्ञान मुद्दतों पहले ही हो जाएगा। फलतः लम्बा जीवन शेष रहने पर वह भयभीत उदास और खिन्न रहने लगेगा। सामान्य जीवन के प्रति दृष्टिकोण में उदासीनता आ जाएगी अथवा मानसिक असन्तुलन के कारण किसी भी सत्कार्य को करने में उत्साहित नहीं होगा। अमुक

---

१ आवश्यक सूत्र संल्लेखना पाठ।

समय से पहले मृत्यु नहीं है, यह जानकर अज्ञ मनुष्य किसी से प्रतिशोध लेने के लिए आक्रमणकारी बन सकता है, या निर्भय होकर दूसरों पर कहर भी बरसा सकता है। मृत्यु का समय पहले से ज्ञात हो जाने पर या तो अज्ञ मानव खिन्न, बेबस या मायूस, निरीह बनकर जिन्दगी जैसे-तैसे काटेगा, अथवा पाप कर डालने अथवा वाला दुर्दान्त दैत्य बन जाएगा। उसका भविष्य बुरा है, ऐसा दूसरों को मालूम हो जाए तो कोई भी उसके साथ सम्बन्ध बनाना या लेन-देन का व्यवहार करना नहीं चाहेगा। यदि किसी अज्ञ मानव को अदृश्य होने की सिद्धि प्राप्त हो जाए तो वह भी बड़ी आसानी से दूसरों के घर में घुसकर चोरी, डकैती या हत्या आदि अनिष्ट कर सकता है। भयंकर अपराध करते रहने पर भी अदृश्य हो जाने वाला व्यक्ति पकड़ा नहीं जाएगा। अतः भविष्य को जानने या अदृश्य होने की सिद्धि अपात्र के लिए खतरनाक है।

ऐसी सिद्धियों का न मिलना ही कुपात्र मानव के हित में है। यदि उसे पात्रता से अधिक कुछ मिल गया तो लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होने की सम्भावना है। अनगढ़ और पागल आदमी के हाथ में बन्दूक थमा दी जाए तो वह अपने अलावा दूसरों को भी उसका निशाना बना सकता है। इसी प्रकार अल्प योग्यता और क्षमता वाले, या अल्पविकास वाले व्यक्ति के हाथ में अधिक अधिकार और अधिक शक्तियाँ सौंप दी जाएँ तो वह अपना और दूसरों का हित करने की अपेक्षा अहित या अनर्थ ही अधिक करेगा। बच्चे के हाथ में विस्फोटक पदार्थ सौंप दिए जाएँ तो वह स्वयं जल मरने के साथ, अन्य हानियाँ भी पहुँचा सकता है। अतः सिद्धियों के सदुपयोग या सारसम्भाल की कला न आती हो तो उनसे वैसे ही विनाश की सम्भावनाएँ हैं, जैसी कि परमाणु शक्ति से होती हैं। परमाणु शक्ति का ध्वंसात्मक उपयोग ही अधिकांश वैज्ञानिक जानते हैं, उसका सृजनात्मक उपयोग का ज्ञान बहुत ही कम लोगों को है।

भगवान् महावीर, भगवान् पार्श्वनाथ आदि के पास लब्धियों और सिद्धियों एवं उपलब्धियों की कमी नहीं थी, किन्तु उन्होंने अनार्य देश में, तथा संगम आदि द्वारा घोर कष्ट, एवं उपसर्ग पहुँचाने पर भी, यहाँ तक कि गोशालक द्वारा उन पर तेजोलेश्या का प्रहार करने तथा उनके दो शिष्यों को उनके समक्ष तेजोलेश्या से भस्म कर देने पर भी उन्होंने कोई भी हिंसक या रोषवश प्रतीकार नहीं किया, क्योंकि वे जानते थे कि लब्धियों का प्रयोग करने पर अपना ही अहित है—कर्मबन्धन में वृद्धि होगी

और दूसरे का भी अहित है, उसकी क्षति होने पर उसमें क्रोधादि कषाय-भाव द्वेषभाव भड़केगा। कष्टों को समभाव से सहकर उन्होंने अपनी आत्मा का अधिकाधिक विकास किया।

अतः जितने भी आध्यात्मिक महापुरुष हुए हैं, उन्होंने सिद्धियों-लब्धियों तथा उपलब्धियों की अपेक्षा आत्म-शक्तियों की महत्ता को समझा और अपनी आत्मा को तप-तितिक्षा, परीषहजय आदि द्वारा तथा रत्नत्रय-साधना द्वारा शुद्ध बना कर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आत्मानन्द और अनन्त आत्मशक्ति की उपलब्धि प्राप्त की जो सीधा परमात्म पद—मोक्षपद को प्राप्त कराने वाली है।

सिद्धियों को सँभालकर रखना अति दुष्कर है। साथ ही उनसे पैदा होने वाले अहंकार, क्रोध, ईर्ष्या, वैर-विरोध, आदि अनिष्टों से आत्मा की रक्षा करना तो अतीव कठिन है। सिद्धियों के प्रयोग में जरा-सी चूक या असावधानी हुई तो अणु-ऊर्जा के बिखर जाने की तरह उससे भी सर्वनाश होने की सम्भावना है। सिद्धियों का दुरुपयोग तथा उनके कारण अहंकारादि विकारों से ग्रस्त होने के कारण ही रावण, कुम्भकरण, भस्मासुर, हिरण्यकशिपु आदि विध्वंसकारी दानव—राक्षस बन गए। अतः परमात्म पद-प्राप्ति के या स्वपर-कल्याण के इच्छुक व्यक्तियों को न तो सिद्धियों-उपलब्धियों आदि के लिए लालायित रहना चाहिए और न ही इनके प्रलोभन या चक्कर में फंसना चाहिए।

अतः ज्ञपरिज्ञा से भौतिक सिद्धियों-उपलब्धियों को जानिये, देखिये, इनके अन्धकार-उज्ज्वल पक्ष का विश्लेषण करिये और प्रत्याख्यान परिज्ञा से इनकी **'मणसा वि न पत्थए'** इस शास्त्रीय भाषा में मन से भी पाने की इच्छा न कीजिए। इसी में मनुष्यजीवन की महान् यात्रा सफल है, परमात्मपद-प्राप्ति सुलभ है।

●

९

अविजित आत्मा : परमात्मभाव में बाधक

विजित आत्मा ही परमात्मभाव को प्राप्त करता है

आत्मा से परमात्मा बनने में निश्चयनय की दृष्टि से कोई बाधा नहीं है, क्योंकि आत्मा का मूलस्वभाव परमात्ममय—शुद्धात्ममय है। किन्तु आत्मा का वह परमात्म-स्वभाव जब तक अभिव्यक्त नहीं होता; सुषुप्त रहता है, तब तक वह परमात्मा नहीं बन सकता। आत्मा परमात्म-भाव को यथार्थरूप से तभी व्यक्त कर पाता है, जब वह परभावों से, कषायों से, इन्द्रियों और मन आदि से विजित न हो। अर्थात्—आत्मा पर जब कषाय, इन्द्रियाँ, मन, राग-द्वेष, काम, मोह आदि हावी न हों, इनका आधिपत्य आत्मा पर न हो। दूसरे शब्दों में कहें तो, आत्मा जब अपने पारिपार्श्विक तन, मन, इन्द्रियाँ, कषाय, राग-द्वेष, मोह आदि विकारों को जीत लेता है, स्वयं विजयी बन जाता है, तब वह परमात्मभाव को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। जब तक वह अविजित अर्थात् पराजित रहता है, तब तक अपने मूलस्वभाव-परमात्मभाव को प्राप्त नहीं कर पाता। भगवद् गीता में इसी तथ्य की ओर इंगित किया गया है—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्ण-सुख-दुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥[1]

शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में तथा मान-अपमान आदि में

---

१ भगवद्गीता अ. ६, श्लो. ७।

जिसकी आत्मा शान्त है; जिसने तन, मन, इन्द्रियाँ, कषाय आदि सब को जीत लिया, ऐसी आत्मा में परमात्मा समाये हुए हैं; अर्थात्—उसकी आत्मा परमात्मभाव में स्थित है।

आत्मा का शत्रु कौन, मित्र कौन ?

प्रश्न होता है, आत्मा का मूलस्वभाव जब परमात्मभाव में स्थित होता है, तब परमात्मभाव में रुकावट डालने वाला बाधक तत्त्व कौन-सा है ? कौन परमात्मभाव में अवरोधरूप शत्रु है, जो परमात्मभाव की प्राप्ति के लिए किये गये प्रयत्नों को विफल कर देता है ? साधारण स्थूल बुद्धि वाले लोग कह दिया करते हैं कि हम परमात्मभाव की साधना करते हैं, उसके लिए जप, तप, नाम-स्मरण, पूजा-पाठ आदि करते हैं, फिर कौन हमारे कार्य में रुकावट डालता है ? ऐसे लोग बाहर के निमित्तों को दोष देने लगते हैं। कोई कहता है—अमुक व्यक्ति हमारे कार्य में बार-बार रोड़े अटकाता है, पत्नी, बच्चे आदि के भरण-पोषण की चिन्ता में हमारा भजन-पूजन सब चौपट हो जाता है। कोई कहता है—'अच्छा शांत एकान्त स्थान नहीं मिला, अथवा पूजा-पाठ के लिए कोई मन्दिर, धर्मस्थान अथवा अमुक साधन नहीं मिले, क्या करें ? हम तो परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहते हैं, परन्तु ये सब अन्तराय आकर हमें कुछ करने-धरने नहीं देते।' कई लोग कर्मों को, भगवान् को, कलियुग या पंचमकाल को अथवा भाग्य या दैव को दोष देने लगते हैं। स्वयं कुछ तप, संयम, त्याग आदि करना-धरना नहीं चाहते, और केवल यह कहते रहते हैं—"जब भगवान् की कृपा होगी या जब प्रभु चाहेगा, तब सब हो जाएगा। हमारे करने से क्या होगा ? भगवान् जब दर्शन देना चाहेंगे, तभी परमात्मा की प्राप्ति हो सकेगी। हम चाहे जितना जोर लगा लें, भक्तिभाव कर लें, बाह्य क्रिया-काण्ड कर लें, कुछ नहीं होगा।" ऐसे लोग आकर्मण्य, आलसी और प्रमादी बनकर बैठ जाते हैं। मूल अवरोधक कौन है ? कौन ऐसा शत्रु है, जो वीत-राग प्रभु-प्राप्ति में बाधक है ? इसका गहराई से चिन्तन-मनन नहीं करते। न ही किसी से पूछते हैं। भगवान् महावीर से जिज्ञासु साधक ने पूछा कि इस आत्मा का कौन मित्र है और कौन शत्रु है ? कौन ऐसा तत्त्व है, जो आत्मा के परमात्मा बनने में बाधक या अवरोधक है ? कौन ऐसा है, जो परमात्म-भाव में सहायक या साधक मित्र बनता है ? उन्होंने दीर्घदृष्टि से अनुभवसिद्ध बात कह दी—

अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ ।[1]

"सत्प्रवृत्तियों में स्थित आत्मा ही अपना मित्र है और दुष्प्रवृत्तियों में स्थित आत्मा ही अपना शत्रु है ।"

वे कहते हैं, तुम्हारे मित्र तुम ही हो, बाहर में कोई भी तुम्हारा मित्र नहीं, जो तुम्हारी परमात्मभाव-प्राप्ति में तुम्हारा सहायक, साधक हो सके या तुम्हारे बदले में साधना कर सके । और न ही बाहर का कोई शत्रु या बाधक है, जो परमात्मभाव को प्राप्त करने में रोड़ा अटका सके, विघ्न डाल सके अथवा तुम्हें चिन्ता, विषाद, दुःख, शोक में डाल सके । तुम्हारी आत्मा ही तुम्हारा मित्र है, और तुम्हारा आत्मा ही तुम्हारा शत्रु बनता है । जब तुम स्वयं अप्रमत्त, जाग्रत, सावधान, सम्यक् संतुलित, स्वस्थ, शान्त आनन्दमग्न और आत्मध्यान में मस्त हो जाते हो, तब तुम सत्प्रवृत्ति में हो, और ऐसी स्थिति में तुम्हारा आत्मा तुम्हारा मित्र बन जाता है, और तुम परमात्म-भावों में तल्लीन हो सकते हो । जब तुम बाहर के क्रोधादि कषायों, इन्द्रियविषयों के प्रति राग-द्वेष, मोह आदि को अपने मानकर उन्हें अपना लेते हो, बाह्य निमित्तों को कोसते हो, लड़ते-झगड़ते हो, विषयवासना, अहंता-ममता में अपने मन और इन्द्रियों को खुला छोड़ देते हो, तब तुम्हारा आत्मा दुष्प्रवृत्ति में होता है, और ऐसी स्थिति में तुम्हारा आत्मा ही तुम्हारा शत्रु बन जाता है । वही तुम्हें परमात्मभाव प्राप्त होने में बाधक एवं विघ्नकारक बनता है ।

भगवद्गीता भी इसी आशय को अभिव्यक्त करती है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥[2]

परमात्मपदप्राप्ति के इच्छुक आत्मार्थी व्यक्ति को चाहिए कि अपनी आत्मा का स्वयं ही उद्धार करे किन्तु आत्मा को अवसन्न—पतित न करे, क्योंकि आत्मा ही आत्मा का मित्र—बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है । बाहर का कोई मित्र या शत्रु नहीं है ।

बहुधा स्थूलबुद्धि वाले लोग किसी सत्कार्य, आध्यात्मिक विकास या धर्माचरण के लिए साथी, सहायक या मित्र को खोजते रहते हैं, वे अपनी

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ. २० गा. ३७

२ भगवद्गीता अ. ६, श्लो.

प्रज्ञा से कोई निर्णय नहीं कर सकते, प्रायः अनुकरणशील होते हैं। जब कोई श्रेष्ठ मार्ग पर जाता नहीं दिखता अथवा परम्परागत रूढ़मार्ग पर अन्धविश्वासपूर्वक अधिकांश लोग चलते दिखते हैं, तब वह स्वयं सन्मार्ग पर चलने के लिए उत्साहित नहीं होता। वह बाहर के मित्र या साथी की खोज करता है। संसार में भिन्न-भिन्न रुचि और प्रवृत्ति के लोग हैं। बाहर के लोग अपनी रुचि, वृत्ति और प्रवृत्ति के अनुसार चलते हैं, इसलिए बाहर के मित्र सन्मार्ग के बदले कुमार्ग, सत्प्रवृत्ति के बदले दुष्प्रवृत्ति की ओर ले जा सकते हैं। इसलिए भगवान् महावीर ने समग्र आध्यात्मिक जगत् के समक्ष अपना क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किया—

पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि ?[1]

'मानव ! तू स्वयं ही अपना मित्र है। फिर तू बाहर में क्यों किसी मित्र (सहायक) की खोज कर रहा है ?'

अभिप्राय यह है कि मनुष्य को किसी दूसरे मित्र या साथी की आशा नहीं रखनी चाहिए, और न ही बाहर के किसी शत्रु या विरोधी की आशंका से डरना है, न ही लड़ना है। उसे डरना या लड़ना है तो अपने ही आत्मा पर छाये हुए, हावी हुए कषाय, विषय-वासना, राग-द्वेष, मोह आदि विकार रिपुओं से या विषयों में आसक्तिपूर्वक भटकती हुई इन्द्रियों से तथा कषायों एवं रागादि विकारों में उलझे हुए मन से डरना, बचना और लड़ना है। उन्हें ही जीतना है। आत्मा पर उनको हावी नहीं होने देना है। प्रत्युत आत्मा के अनुशासन में, नियन्त्रण में उन्हें चलाना है, आत्मा को उन पर विजयी बनाना है। तभी आत्मा आपका मित्र बन सकेगा। विजितात्मा ही परमात्मा बनने की योग्यता रखता है। कषायों और इन्द्रियों से पराजित एवं इनका गुलाम बना हुआ आत्मा अपना ही शत्रु बनकर परमात्मभाव से स्वयं को दूर ठेल देगा। इसीलिए भगवान् महावीर के पट्टशिष्य गणधर गौतम ने परमात्मपदप्राप्ति के इच्छुक आत्मार्थी जनों को सावधान करते हुए कहा—

एगप्पा अजिए सत्तू कसाया इन्दियाणि य।
ते जिणित्तु जहानायं, विहरामि अहं मुणी ॥[2]

---

१ आचारांग सूत्र श्रु. १ अ. ३ उ. ३

२ उत्तराध्ययनसूत्र अ. २२, गा. ३८

हे मुनिवर ! नहीं जीता हुआ (अविजित) एकमात्र अपना आत्मा ही शत्रु है। कषाय और इन्द्रियाँ भी शत्रु हैं। उन्हें जीतकर यथान्याय धर्मानुसार मैं (गणधर गौतम) विचरण करता हूँ।

वस्तुतः आत्मा जब गाफिल होकर मन, तन और इन्द्रियों को खुली छूट दे देता है, तब ये इस पर हावी हो जाते हैं। तब आत्मा विमूढ़ हो जाता है। यदि आत्मा कषायों और इन्द्रियों से पराजित हो जाता है, इनका गुलाम बन जाता है, इनके आगे घुटने टेक देता है तो ऐसा अविजित (पराजित) आत्मा अपना ही शत्रु बन जाता है। इसलिए परमात्मार्थी को सर्वप्रथम इन्हीं के साथ लड़ना है, इन्हें ही पराजित करना है, अपने वश में करना है, अपने अनुशासन में चलाना है। विजितात्मा ही अपना मित्र बन सकेगा।

भगवद्गीता में इसी तथ्य को उजागर किया गया है—

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य, येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मस्तु शत्रुत्वे, वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥[1]

जिस आत्मा ने मन और इन्द्रियों सहित शरीर तथा इनसे सम्बन्धित कषाय और विषयों को जीत लिया है, वह आत्मा ही अपना मित्र है। और जिसके द्वारा मन और इन्द्रियों सहित शरीर आदि नहीं जीते गये हैं, वह अविजितात्मा ही अपना शत्रु बनकर शत्रुता में प्रवृत्त हो जाता है।

आत्मा शत्रु बनकर घोर अहित करता है

वास्तव में अविजितात्मा अपने आप ही अपने पतन का मार्ग अपना लेता है, वही आत्मा का शत्रु बनकर आत्मा को भयंकर दुर्गतियों में परिभ्रमण करवाता है; जहाँ उसे बिलकुल बोध भी प्राप्त नहीं होता। अज्ञान और मिथ्यात्व में तथा नानाविध पापकर्म में पड़ा हुआ आत्मा पतन के गहरे गड्ढे में पड़ जाता है। वह परमात्मा से तो दूरातिदूर हो जाता है।

आत्मा जब मित्र बनने के बदले शत्रु बन जाता है, तब जितना बाह्य शत्रु अपना अहित या विनाश नहीं कर पाता, उतना व उससे भी बढ़कर यह आन्तरिक शत्रु आत्मा का अहित एवं विनाश कर डालता है। उत्तराध्ययन सूत्र में इसी तथ्य को स्पष्ट रूप से समझाते हुए कहा गया है—

---

१ भगवद्गीता अ. ६, श्लो. ६

,,न तं अरी कंठछेत्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते, पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ।।[1]

गला काटने वाला बाह्य शत्रु भी उतना अहित (अनर्थ) नहीं करता जितना अहित दुष्प्रवृत्तिशील दुरात्मा बनकर अपना आत्मा करता है। उक्त तथ्य को निर्दय-संयमहीन मनुष्य जीवनकाल में नहीं समझ पाता, वह जब मृत्यु के मुख में पहुँचता है, तब पश्चात्ताप करता हुआ जान पाएगा।

वास्तव में बाह्य शत्रु तो तलवार या शस्त्र चलाकर थोड़े-से समय में एक ही भव में एक ही बार, मारता है, जबकि दुरात्मा एवं शत्रु बना हुआ आत्मा जन्म-जन्मों तक दुर्गतियों में भटकाता है, वहाँ नाना प्रकार की घोर यातनाएँ, कष्ट एवं दुःख देता है, इतना ही नहीं, अपना आत्मा अज्ञान, मोह, मिथ्यात्व के वशीभूत होकर कषाय, राग-द्वेष आदि के वश नये-नये नाना घोर कर्म बाँध लेता है। उनके उदय में आने पर रो-रोकर उनका कटुफल भोगना पड़ता है।

अविजित आत्मा : दुमुंहे सर्प जैसे चित्त के चक्कर में

वास्तव में, सारा दारोमदार आत्मा पर है। आत्मा चाहे तो चित्त को अपने अनुकूल बना सकता है, और वह अगर चित्त के चक्कर में पड़कर गुलाम बन जाता है तो उसके अनुकूल बन जाता है।

इस प्रकार आत्मा की स्थिति उस दुमुँहे साँप जैसी है, जो न्यूयार्क के अजायबघर में था, उसका नाम 'प्रावेल्टिस' रखा गया था। दर्शकों का प्रमुख आकर्षण यही था। जब संरक्षक उस साँप को दूध पिलाने आते तो उसके दोनों फनों में से प्रत्येक फन उस दूध को खुद पीना चाहता और दूसरे को न पीने देने के लिए वे दोनों फन परस्पर झगड़ते थे। इन दोनों फनों में रस्साकसी चलती रहती थी। संरक्षक को इनका बीच-बचाव करने के लिए दो प्याले दो दिशाओं में रखने पड़ते या फिर दोनों फनों के बीच में एक दफ्ती का टुकड़ा रखना पड़ता, ताकि वे एक-दूसरे को देख न सकें और शान्तिपूर्वक पेट भर लें। इस साँप के दोनों मस्तिष्क अलग-अलग ढंग से सोचते थे। एक पूर्व को चलना चाहता तो दूसरा पश्चिम को। इस खींचातान में शरीर की बुरी तरह दुर्गति होती थी। दोनों फनों की परस्पर विरोधी इच्छाएँ एक समय में कैसे पूरी की

---

१ उत्तराध्ययन अ. २० गा. ४८

जायें, इसका कोई भी हल न निकलने पर शरीर बुरी तरह अकड़ता, खिंचता, टूटता और थककर चूर-चूर होता दीखता था।[1]

अधिकांश मानव शारीरिक दृष्टि से तो इस दुमुँहे साँप जैसी आकृति के नहीं हैं, पर प्रकृति लगभग उसी प्रकार की है। हमारे चित्तरूपी फन दो हैं, वे परस्पर विरोधी हैं। दोनों ही आत्मा पर निरन्तर आक्रमण करते रहते हैं। आत्मा इन दोनों को मनाने में लगा रहता है, प्रायः आत्मा इन दोनों के आक्रमण को सहता रहता है, निर्बल आत्मा इन पर कोई नियन्त्रण नहीं कर पाता। फलतः आत्मा इनके आगे पराजित, गुलाम या दास बन जाता है और अपने हाथों अपनी हानि कर बैठता है। बाह्य शत्रु समझे जाने वाले लोग सब मिलकर एकबारगी आक्रमण करके भी इतनी हानि नहीं पहुँचा सकते, जितनी हानि ये अनेक बार पहुँचाते हैं।

चित्त की स्थिति दुमुँही है। एक ओर तो वह लोभवश या स्वार्थवश अनैतिक कार्य, बेईमानी, ठगी, अन्याय, अत्याचार, शोषण आदि करने के लिए उत्साहित होता है, तो दूसरी ओर वह विवश हो जाता है, उसे राजकीय दण्ड का भय है, सामाजिक जीवन में अप्रतिष्ठा का भय है, धर्मशास्त्रों के अनुसार ऐसा कुकृत्य करने वाले को दुर्गति का मेहमान बनने का डर है, परिस्थितियों का दबाव है, वैसी क्षमता या साहस का अभाव है। वैसा कुकृत्य करने के लिए साधनों के न जुट पाने की विवशता है। विवशता की स्थिति में मनुष्य उन हेय या त्याज्य कार्यों को नहीं कर पाता। यह विवशता का सदाचरण भी रेती के महल के समान है। विवशता समाप्त होते ही वह हेय कृत्य करने को उद्यत हो सकता है। इसलिए विवशताजन्य त्याग या बचाव करने वाले को सदाचारी या त्यागी की पंक्ति में बैठने का अधिकार नहीं मिल जाता। चित्त के भीतर की अभिलाषा या मान्यता तो पूर्वोक्त दुष्कृत्य करने को ठीक मानती है। भीतर से लोभादिवश अकृत्य करने की ललक उठती है, बाहर से विवशता अथवा बनावट-दिखावट के कारण अकृत्य नहीं कर पाते। ऐसे लोग विवशतावश बाहर से सदाचार की चादर ओढ़े रहते हैं, परन्तु भीतर ही भीतर दुष्कृत्य करने का अचिंत्य चिन्तन चलता रहता है। कई लोग दुराचरण में रस लेते रहते हैं, किन्तु इन्द्रियों की शिथिलता, अक्षमता एवं विवशता के कारण दुराचरण में प्रवृत्त

---

१ 'अखण्ड ज्योति' १९७५ अगस्त के अंक से पृ० १८

नहीं हो पाते। ऐसे लोगों के चित्त की स्थिति दुहरी भूमिका निभाती है—बाहर से विरोध और भीतर से समर्थन।

मगधसम्राट् श्रेणिक ने काल सौकरिक कसाई को कसाईपन छोड़ने के लिए बहुत समझाया, डराया-धमकाया भी, किन्तु वह नहीं माना। आखिर उसे कैद में डाल दिया, ताकि वह किसी भी जीव का वध न कर सके किन्तु वहाँ भी उसकी आदत एवं प्रकृति नहीं बदली। बाहर स्वच्छन्द-विचरण की स्थिति में जो जीव-वध सुविधापूर्वक किया जा सकता था, वह तो नहीं हो सका, किन्तु मन ही मन पशु की आकृति की कल्पना करके वह कारागार में भी जीववध का नाटक करने लगा।

यह है चित्त का दुमुँहा रूप और आत्मा की निर्बल, पराजित और दैन्यावस्था। एक व्यक्ति निर्धन है, वह उन खर्चीले विलासी साधनों का उपभोग नहीं कर सकता, परन्तु चित्त के दूसरे हिस्से में उनके उपभोग की ललक, लालसा और लिप्सा निरन्तर बनी रहती है। आत्मा उन दोनों चित्तों पर नियंत्रण नहीं कर पाता। आचारांग सूत्र में कहा गया है—

अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे[1]

—यह पुरुष अवश्य ही अनेक चित्त वाला है।

चित्त के एक खाने में कामुकता भरी हुई है। विलासिता और व्यभिचार की कामना रग-रग में भरी हुई है। परन्तु अत्यन्त वृद्ध, अशक्त तथा इन्द्रियाँ शिथिल होने से वह कामसुख को प्राप्त नहीं कर सकता। फिर भी चित्त का दूसरा खाना चुपचाप कामसुख के ताने-बाने बुनता है।

एक व्यक्ति मिठाई खाने का शौकीन है। डॉक्टर ने कहा—"आपको मिठाई नहीं खानी है, खाओगे तो रोग बढ़ जाएगा।" त्यौहार के दिन घर में मिठाई बनी। सब लोग खा रहे हैं। जिसे मिठाई खाने की मनाही है, वह एक चित्त से मिठाई नहीं खा रहा है, मगर दूसरे चित्त में मिठाई खाने की ललक उठी है। वह मन ही मन मिठाई खाने का अभिनय कर रहा है। यह चित्त के दोगलेपन की निशानी है। अधिकांश लोगों के चित्त पर आत्मा का कंट्रोल नहीं है, अनुशासन नहीं है इसलिए उनका चित्त उस बच्चे की तरह है, जिसके पिता ने कहा—'तुम्हें घर से बाहर नहीं जाना है।' उसका एक चित्त तो रुक रहा है कि पिता के

---

१. आचारांगसूत्र श्रु. १, अ-३ उ-२

देखते वह घर से बाहर नहीं जा सकता। परन्तु दूसरा चित्त बाहर जाने को उत्सुक हो रहा है। ज्योंही पिता आँखों से ओझल हुआ कि वह घर से बाहर चला जाता है। जीवन की प्रत्येक घटना का विश्लेषण करें तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि चित्त के ये दोहरे मुखौटे, पूर्वोक्त दुमुँहे सर्प की तरह परस्पर संघर्ष करते हैं, तू-तू मैं-मैं होती है, इनकी आपस में और आखिर आत्मा विवश और दीन होकर चित्त को मनमानी करने देता है। यही अविजित आत्मा का लक्षण है।

इन दिनों ऐसा बहुत होता है। व्यक्ति बाहर से तो सज्जन एवं सदाचारी बना रहता है, समाज में प्रतिष्ठा रखने, राजदण्ड से बचने एवं अक्षमता के कारण; किन्तु भीतर ही भीतर उसकी मनःस्थिति दुष्प्रवृत्तियों से समझौता कर लेती है। यही दम्भ और मिथ्याचार है। दम्भ का अर्थ है—भीतर और बाहर की स्थिति में भिन्नता होना। छल, असत्य, धोखा-धड़ी, वंचना, ठगी, दिखावा, मत्सर आदि इसी के चट्टे बट्टे हैं। गीता में इसे मिथ्याचार कहा है—

'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा, मिथ्याचारः स उच्यते।'[1]

'जो व्यक्ति हठपूर्वक कर्मेन्द्रियों को रोककर, मन ही मन इन्द्रिय-विषयों के उपभोग का स्मरण-चिन्तन करता रहता है, वह मूढात्मा एवं मिथ्याचारी (दम्भी) है।'

चित्त के दोनों रूप जब आपस में लड़ते हैं, खींचातान करते हैं तो बेचारा आत्मा विवेकमूढ़, विवश और दीन बनकर दुष्प्रवृत्तियों से समझौता कर लेता है। इस प्रकार अविजित आत्मा पर चित्त प्रत्येक परिस्थिति में हावी हो जाता है। ऐसी स्थिति में आत्मा अपने ही लिए घातक शत्रु बन जाता है।

कषायादि विकार आत्मा को कठपुतली की तरह नचाते हैं

आत्मा जब अपने आपको भूल जाता है, अपनी आन्तरिक शक्ति, क्षमता और योग्यता के विषय में अनजान बना रहता है, और प्रमादी एवं गाफिल रहकर अपने पर हावी होने वाले कषायादि विकारों को प्रश्रय देता रहता है, तब वे ही विकार आत्मा पर हावी हो जाते हैं, आत्मा उनकी

---

१ भगवद्गीता अ. ३, श्लो. ६

दुष्प्रवृत्तियों का समर्थन करता रहता है, विवश और पराधीन हो जाता है, उन विकारों की शक्ति के आगे। ऐसी स्थिति में वे क्रोध, मान, माया, लोभ, स्वार्थ, छल, ईर्ष्या, द्वेष, राग, आसक्ति, मोह, ममत्व आदि विकार ऐसी आत्मा को कठपुतली की तरह नचाते रहते हैं। वर्तमान युग में समर्थ-असमर्थ, धनिक-निर्धन, शिक्षित-अशिक्षित सभी मनुष्यों पर इन कषायादि शत्रुओं का धीमा किन्तु प्रबल आक्रमण हो रहा है। लिप्सा, लालसा, तृष्णा, कामसुख एवं कामनाओं के कीचड़ में अधिकांश लोकचेतना गहराई तक धंसी हुई है।

आत्मा को इन्हीं आन्तरिक शत्रुओं से जूझना है

आत्मा को इन आन्तरिक शत्रुओं के साथ जूझना चाहिए, उसके बदले स्थूलबुद्धि मानवात्मा निमित्तों या बाह्य शत्रुओं के साथ लड़ता है। यही कारण है कि भगवान् महावीर ने साधकों को सावधान करते हुए कहा था—

इमेणं चेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ ?[1]

अपने अन्तर् (के इन विकारों) से ही युद्ध कर। बाहर के (शत्रुओं के साथ) युद्ध से तुझे क्या मिलेगा ?'

साथ ही जब उनसे पूछा गया कि युद्ध का समय कौन-सा उपयुक्त रहेगा ? उस पर उन्होंने कहा—

'जुद्धारिहं खलु दुल्लभं'[2]

'विकारों से युद्ध के लिए फिर ऐसा योग्य अवसर मिलना दुर्लभ है।'

विकारों से युद्ध का दायित्व आत्मा पर या परमात्मा पर ?

इस सम्बन्ध में वैदिक विचारधारा का जब हम अध्ययन करते हैं तो ऐसा लगता है – आत्मा अपनी सावधानी रखने और विकारों पर स्वयं विजयी बनने की अपेक्षा, अपने दायित्व से भागकर वीतराग परमात्मा पर यह भार डाल देता है, मानो परमात्मा का ही दायित्व है, कि वह अपने भक्त को काम-क्रोधादि विकारों से बचाए। गोस्वामी तुलसीदासजी की विनयपत्रिका में इसी आशय की पुकार भगवान् राम के समक्ष की है—

---

१ आचारांग सूत्र श्रु० १, अ० ५, उ० ३

२ वही, श्रु० १, अ० ५, उ० ३

मैं केहि कहौं विपत्ति अतिभारी। श्री रघुवीर दीन हितकारी ॥
मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तंह आय बसै बहु चोरा ॥
अति कठिन करहिं बरजोरा, मानहिं नाहीं विनय निहोरा ॥
तम मोह लोभ अंहकारा, मद क्रोध बोधरिपु मारा ॥
अति करहिं उपद्रव नाथा। मरदहिं मोहि जान अनाथा ॥
मैं एक अमित बटमारा, कोऊ सुने न मोर पुकारा ॥[1]

भावार्थ स्पष्ट है। आत्मा जब स्वयं असावधान एवं गाफिल होता है, तभी ये काम, क्रोधादि चोर चुपके से घुस जाते हैं और कमजोर आत्मा को दबोच लेते हैं। वैसे इन विकारों में शक्ति कुछ नहीं है, किन्तु आत्मा इन विकारों के साथ जब हाथ मिला लेता है, उसका विपरीत—अनुशासन-विरुद्ध मन आत्मा की आवाज को ठुकराकर अपनी मनमानी करने लगता है। ऐसी स्थिति में आत्मा विकार-विजयी बनने के बजाय मन और इन्द्रियों का स्वयं गुलाम बन जाता है। अर्थात् आत्मा विजेता बनने के बदले पराजित हो जाता है। अतः जैनदर्शन कहता है कि आत्मा को अपने साथ लगने वाले इन आन्तरिक शत्रुओं से स्वयमेव सतत् युद्ध करके इन्हें अपने अधीन करना चाहिए। इन पर विजय प्राप्त करके ही विजितात्मा स्वयं को मित्र बना सकता है, और परमात्मभाव को प्राप्त कर सकता है।

ये आत्मघाती वृत्तियाँ आत्मा की शत्रु हैं

वैसे तो मानवात्मा दीन-हीन एवं आध्यात्मिक दरिद्र बना रहने के लिए उत्पन्न नहीं हुआ है। परन्तु जब मनुष्य आत्मघाती वृत्तियों के चक्कर में पड़ जाता है, तब विवेकमूढ़, दरिद्र, मूर्ख और लाचार बन जाता है।

ईशोपनिषद् में कहा गया है—

असूर्या नाम ते लोकाः, अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति, ये के चात्महनो जनाः ॥[2]

वे अन्धतमस से आवृत लोक असूर्य हैं—अर्थात् वे लोक घने

---

१ विनय पत्रिका (गोस्वामी तुलसीदासजी)
२ ईशोपनिषद्

अज्ञानान्धकार से आच्छन्न हैं। जो आत्मघाती मानव हैं, वे मर कर परलोक में उन्हीं लोकों में पहुँचते हैं।

भावार्थ यह है कि जो लोग अज्ञान, अन्धविश्वास, वहम, हर बात में आशंका, ईर्ष्या, घृणा, असन्तोष, क्रोधादि कषाय, हीनभावना, अहंकार वृत्ति आदि में जीते हैं, ये आत्मा का हनन करने वाले हैं, आत्मा को उन्नति के बदले अवनति के गर्त में गिराने वाले हैं। नीतिकार भी इस प्रकार के आत्मघाती लोगों को अपने आप दुःखभागी बनने वाले कहते हैं—

ईर्ष्यी घृणी, त्वसन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशंकितः।
परभाग्योपजीवी च षडेते दुःखभागिनः॥'[1]

बात-बात में ईर्ष्या, घृणा और असन्तोष करने वाले, क्रोधी और सदैव शंकाशील तथा दूसरे के भाग्य पर जाने वाले आलसी, ये ६ प्रकार के व्यक्ति दुःख के भागी होते हैं।

आत्मा के ये अन्धविश्वास आदि आत्मघातक शत्रु

अन्धविश्वास सबसे अधिक आत्मघाती शत्रु है। यह जब आत्मा पर हावी हो जाता है तो मनुष्य असम्भव को सम्भव मान लेता है, प्रत्येक बात में शंका-कुशंका, वहम एवं कुतर्क करने लगता है। उसकी विवेक-बुद्धि पर ताला लग जाता है। अन्धविश्वास से उसकी आत्मा शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टिप्रशंसा और मिथ्यादृष्टिसंस्तव, तथा अज्ञान, मोह और मिथ्यात्वरूप विकारों के चक्कर में पड़ जाता है। फिर अन्ध-विश्वास के साथ मिथ्याविश्वास की साठ-गांठ हो जाती है। और वह धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म, पाप को पुण्य और पुण्य को पाप, वीतरागदेव को कुदेव और कुदेव को वीतरागपरमात्मदेव, सुगुरु को कुगुरु और कुगुरु को सुगुरु, संसार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग और मोक्ष के मार्ग को संसार का मार्ग, तथा अष्टविधकर्मों से सर्वथामुक्त परमात्मा को अष्टकर्मयुक्त और अष्टकर्मयुक्त को अष्टकर्ममुक्त सिद्ध परमात्मा मानने समझने लगता है। उसका विश्वास, श्रद्धा, निष्ठा फिर जीव को अजीव और अजीव को जीव समझने लगती है। आत्मा की सर्वशक्तिमत्ता से उसका विश्वास डिग जाता है, और वह आत्महीनता का शिकार होकर स्वयं दीन, हीन, अशक्त, दुर्बल और अमुक देवी-देवों के अधीन समझने लगता है। किसी

---

१ हितोपदेश

भी सत्कार्य को करते समय वह हिचकिचाएगा। ऐसा मिथ्याविश्वासयुक्त व्यक्ति कभी-कभी सर्वथा नास्तिक होकर इन्द्रिय-विषय-सुखों में मग्न हो जाता है, तथा हिंसा, असत्य, चोरी, ठगी, तस्करी आदि कुकर्मों को निःशंक होकर करता रहता है। आत्मा-परमात्मा, या पुण्य-पाप को न मानने के कारण वह व्यक्ति बेखटके पापकर्मों में प्रवृत्त रहता है।

भगवान् महावीर ने आत्मा को विजयी बनाने के लिए कहा—

"नो हीणे, ना अइरित्ते।"[1]

—वह न तो हीन बने, और न अहंकारी व अत्याचारी बने।

उसमें आत्महीनता, आशंका, निराशा, वस्तुस्थिति का सही मूल्यांकन न करके घटा-बढ़ाकर देखना, अस्तव्यस्तता या अति भावुकता असामाजिकता, निष्ठुरता, अतिस्वार्थ, अहम्यन्यता आदि मानसिक रोग घर कर जाते हैं। बात-बात में वह शंका-कुशंका करके किसी भी सत्कार्य को करने का साहस नहीं जुट पाता और हार-थक कर निराश होकर बैठ जाता है।

हताश होना, अपने आप में एक भयंकर व्यथा है। इससे मनोगत उत्साह ठंडा हो जाता है। शरीर का तापमान नीचे गिर जाता है तो स्वाभाविक है कि अवयव शिथिल पड़ जाते हैं, वे निर्धारित कार्य पूरा नहीं कर सकते। ठीक इसी प्रकार मानसिक शिथिलता की प्रतिक्रिया होती है। निराशाजन्य मानसिक शिथिलता मन, बुद्धि, चित्त और हृदय की विविध गतिविधियों को ठप्प कर देती है। इस प्रकार का मानसिक रोगी न तो कुछ विचार या विवेक कर पाता है, और न ही किसी विषय में कोई निर्णय कर पाता है, और न किसी सोचे हुए कार्य को प्रारम्भ कर पाता है। वह एक प्रकार से बर्फ की तरह जम जाता है, ठप्प हो जाता है। वह चुपचाप शान्तिपूर्वक भी नहीं बैठा रह सकता और न ही शून्यता की स्थिति में रह सकता है, उसके विकृत मन-मस्तिष्क में संदेह, आशंका, भय और खतरे की नई-नई अनगढ़ तस्वीरें सामने आने लगती हैं। ऐसी स्थिति में या तो वह किसी निर्दोष व्यक्ति या निमित्त पर तरह-तरह के दोषारोपण करता रहेगा या उसके दिलदिमाग में यह धारणा जड़ जमा लेगी कि अमुक व्यक्ति अवश्य ही मुझे अमुक-अमुक प्रकार की हानि पहुँचाएगा या पहुँचा रहा है। अथवा उसके मन-मस्तिष्क में वहम के तरह तरह के भूत सवार हो जाते हैं।

---

१ आचारांग सूत्र श्रु. १ अ. २, उ. ३

अमुक व्यक्ति ने मेरे पर, मेरे परिवार या घर-दूकान पर जादू, टोना, मंत्र तंत्र कर दिया है; इस प्रकार की मिथ्या धारणा के वशीभूत होकर वह उक्त व्यक्ति से द्वेष, ईर्ष्या या रोष करने लगता है, उसे नुकसान पहुँचाता है। ऐसी स्थिति में अपने पारिवारिक जनों, परिजनों या हितैषियों में से किसी को या किसी सम्बन्धी पुरुष या महिला को दोषारोपण का केन्द्र बना लेता है, अकारण ही उसे कोसता रहता है। उक्त व्यथा या रोग के लिए इनमें से किसी को भी उत्तरदायी ठहरा देता है कि उसने किसी से जादू कराया है, या स्वयं किया है। अथवा अन्धविश्वास से प्रेरित होकर ऐसे अशिक्षित या अज्ञजन किसी भूत-प्रेत, देवी-देव पर इल्जाम लगा देते हैं और ऐसे में तान्त्रिकों या लाल बुझक्कड़ों के चक्कर में पड़कर वहम बढ़ा लेते हैं और पैसा ठगाते रहते हैं।

मस्तिष्कीय रोगों में से सबसे अधिक व्यापक है—'सीजोफ्रेनिया' आशंका का रोग। इसके अन्तर्गत मनुष्य तरह-तरह की आशंकाएँ करता रहता है। सम्बन्धित व्यक्तियों में से प्रायः सभी उसे अपने विरोधी प्रतीत होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति से उसे छल, धोखा, आक्रमण एवं नुकसान की आशंका बनी रहती है। जो उसे प्राप्त है, उसे वह हानिकारक, घटिया या अपर्याप्त, निकम्मा या निरर्थक मानता है। उतने भर से उसे समाधान या सन्तोष नहीं होता। मानो हर दिन उसके लिए कोई न कोई संकट, विघ्न, भय और खतरा लेकर खड़ा है। ऐसा शंकाशील भयभीत मानव अपने लिए दुर्घटना या विपत्ति की शंका के मारे हाँपता-कांपता रहता है। ऐसे व्यक्ति आक्रमणकारी, ईर्ष्यालु, द्वेषी या क्रोधी बन जाते हैं। वे अपनी खीज दूसरों पर आक्रमण के रूप में उतारते हैं। अथवा ऐसा न बन पड़े तो अपने पर ही बरस पड़ते हैं, आत्म-प्रताड़ना करने लगते हैं, अपने आपको कोसते हुए सिर कूटने और पछाड़ने लगते हैं। अथवा आत्महत्यार कर बैठते हैं।

अपने आपकी अवमानना न करो

वे इन मनोविकारों के वशीभूत होकर आत्मघाती बन जाते हैं, अपने आपकी ही अवमानना एवं हानि कर बैठते हैं। इसीलिए भगवान् महावीर ने आत्मार्थी साधक के लिए निर्देश दिया है—

णो अत्ताणं आसाएज्जा, णो परं आसाएज्जा।
णो अण्णाइं पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं आसाएज्जा ॥[1]

---

१ आचारांग सूत्र श्रु० १ अ० ६ उ० ५

"आत्मार्थी साधक अपनी आत्मा की आशातना—अवमानना न करे, न ही दूसरों की आशातना करे, उन्हें संकट में डालकर अवमानना न करे। और न ही प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों की आशातना करे। उन्हें पीड़ा न दे, न ही उनकी अवहेलना करे।"

उदासी जीवन : आत्मा के लिए अभिशाप

उपनिषद् का यह स्वर्णसूत्र है—

'आत्मानं नावमन्येत, आत्मानं नावसादयेत्।'[1]

अपनी आत्मा की अवमानना—अवज्ञा न करो। न ही अपने आपको अवसन्न-विषादमग्न या उदास रखो।

स्थिर उदासी, नीरसता, निराशा, अन्यमनस्कता, आशंका आदि सबसे भयंकर मानसिक रोग हैं, जो आत्मा पर हावी हो जाते हैं। ये सब आत्महीनता, आत्मप्रताड़ना, आत्म-अवमानना हैं। इन्हें भावनात्मक मृत्यु कहा जा सकता है। नीरसता एवं उपेक्षावृत्ति के कारण उत्साह और उल्लास मर जाता है। इनके रहते किसी भी बड़ी ऊपलब्धि की आशा नहीं रहती। उदासी जीवन आत्मा के लिए एक प्रकार का अभिशाप है। स्थिर उदासीनता की स्थिति में उमंगों की उर्वरता नष्ट हो जाती है। ऐसा व्यक्ति तेजस्वी, ओजस्वी और मनस्वी नहीं बन सकता। वह अपने को प्रायः दुर्भाग्यग्रस्त या दैवीप्रकोप का शिकार मानता है। कई बार दार्शनिकता की आड़ में वह संसार में रहता हुआ तथा संसार से गुजारा पाता हुआ भी संसार को माया, मिथ्या, स्वप्न, भ्रांति, भवबन्धन आदि कहकर अपने उत्तरदायित्वों से किनाराकसी करके दूर भागने का उपक्रम करता है। या भवितव्यता या होनहार के चक्कर में पड़कर खिन्नता या निराशायुक्त उदासीनता में डूबा रहता है। ऐसी स्थिति में न तो वह गृह-त्यागी अनासक्त साधु बन पाता है और न ही गृहस्थ जीवन में अनासक्त और व्रतबद्ध रहकर कर्तव्यपालन कर पाता है।

ईर्ष्यावृत्ति-प्रवृत्ति भी आत्मा के लिए घातक

ईर्ष्या की प्रवृत्ति भी आत्मा के लिए वैसी ही घातक और परिवार तथा समाज में विग्रह, कलह एवं द्वेष उत्पन्न करने वाली है। ईर्ष्या मीठी खुजली है। वह मनुष्य को अच्छी लगती है, परन्तु उसका परिणाम दुःखद

---

१ उपनिषद्

होता है। ईर्ष्यालु व्यक्ति को अपनी उन्नति से सन्तोष नहीं होता। वह चाहता है कि उसे कर्तव्यपालन के लिए श्रम कम से कम करना पड़े और और बल, बुद्धि और साधना में उपलब्धि में सबसे महान् रहे। ईर्ष्यालु मनुष्य अनेक शारीरिक रोगों को बुला लेता है, साथ ही वह दूसरों की भी हानि करता है, और अपनी शक्ति और सामर्थ्य को भी बर्बाद करता है। अतः ईर्ष्या भी आत्मा पर हावी होने वाली, आत्मा का पतन करने वाली शत्रु है।

कषायरूपी शत्रु का आत्महानिकर परिवार

लोभ, तुच्छस्वार्थ, आसक्ति, अहंता-ममता, लालसा, निर्दयता आदि वृत्तियाँ भी आत्मा को बन्धन में डालने वाली और आत्मघाती शत्रु का काम करती हैं। लोभ और संकीर्ण स्वार्थ का गठबन्धन है। लौकिक और पारलौकिक दृष्टि से भी लोभ एवं संकीर्ण स्वार्थ मनुष्य की आत्मा को गिराने वाले हैं। लोभ को तो पाप का बाप माना गया है। लोभी मनुष्य अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए निर्दयतापूर्ण व्यवहार करके आत्मा का पतन करता है। ये लोग खाद्य पदार्थों और दवाओं आदि में मिलावट करके जाने-अनजाने न जाने कितने लोगों को भारी क्षति पहुँचाते हैं। इसी प्रकार स्वार्थ और अहंकार के वश मानव दूसरों को नीचा दिखाता है, अपने दोषों और पापों पर पर्दा डालकर दूसरों पर मिथ्या दोषारोपण करता रहता है। आत्म-भावना से शून्य व्यक्ति दूसरों के सुख-दुःख को अपने सुख-दुःख की तरह अनुभव नहीं करता। कई बार मनुष्य क्रोध एवं द्वेषवश कटु-भाषण करने लगता है। समाज एवं परिवार की शान्ति और सुव्यवस्था में गड़बड़ी पैदा करने वाले पापों में कटुभाषण भी प्रबल है। कटुभाषी मानव द्वारा सभी के साथ कठोरता, रूखेपन और अहंकार से बात करने से अप्रसन्नता, खिन्नता और रूक्षता बढ़ती है, मधुर सम्बन्ध बिगड़ते हैं। आत्मीयता और सहानुभूति जैसे सद्गुणों का विनाश होने लगता है।

ये और इस प्रकार के सभी दुर्गुण एक या दूसरे प्रकार से कषाय के ही अंग हैं; जो व्यक्ति और समाज को हानि पहुँचाते हैं, और आत्मा को पतित, निर्बल और पापग्रस्त बनाते हैं। आत्मा इन दुर्गुणों के आगे जब लाचार हो जाता है, तब ये आत्मा पर हावी हो जाते हैं। अविजित आत्मा अपने आपका शत्रु बनकर अपना ही अहित करता है। अतः आध्यात्मिक प्रगति के लिए इन आन्तरिक रिपुओं से विधिपूर्वक जूझना आवश्यक है।

यह तो हुई कषायरूप शत्रु की बात, जिसे विविध रूप में, अपनाकर आत्मा अपना ही अहित करता है।

इन्द्रियाँ मन के द्वारा प्रेरित होकर आत्मघाती

शास्त्रकार ने दूसरे नम्बर में[1] इन्द्रियों को शत्रु बताया है। अनन्त शक्तिमान् आत्मा के साथ मन, इन्द्रियाँ और शरीर का निकटतम सम्बन्ध है। मन बहुत-से कार्य तो अपने आप ही कर लेता है; जैसेकि चिन्तन, मनन, ध्यान, योजना, निष्कर्ष, निश्चय तथा कषाय चिन्तन एवं विषयों के प्रति इष्ट-अनिष्ट का भाव, ये सब क्रियाएं मन स्वयमेव कर लेता है। चलना-फिरना, खाना-पीना, सूँघना, देखना, सुनना, बोलना आदि क्रियाओं को वह इन्द्रियों के द्वारा कराता है।

इन्द्रियाँ देखने भर को स्वतन्त्र हैं। उनका स्थान मस्तिष्क से दूर भी है। तथा उनकी बनावट भी भिन्न-भिन्न है। परन्तु वास्तविकता यह है, कि इन्द्रियाँ मन रूप बाजीगर के इशारों पर चलने वाली कठपुतलियाँ भर हैं। अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो ये मन-महाराज की रखैल नर्तकी-सी हैं, जिन्हें अपने स्वामी (मन) को रिझाने के लिए तरह-तरह के खेल खेलने और स्वांग रचाने पड़ते हैं।

इन्द्रियों की बुरी आदतों से आत्मा की महाहानि

वैसे देखा जाए तो इन्द्रियों की बुरी आदतों से आत्मा को कई प्रकार की हानियाँ होती हैं। इनसे चटोरापन, कामुकता, आलस्य वृद्धि, दुर्व्यसनों में प्रवृत्ति आदि दुष्कृत्यों में आत्मा फँस जाती है। बहुधा इन्द्रियों की आदतें मनुष्य स्वयं ही बिगाड़ता है। आदतें बिगाड़ने पर तो कोई भी अनुपयुक्त आचरण करने लग जाता है। जैसे—घोड़ों को शराब, पक्षियों को अफीम और बन्दरों को भाँग या बीड़ी-सिगरेट पहले थोड़ी-थोड़ी मात्रा में देकर उन्हें ऐसा अभ्यस्त बना दिया जाता है कि वे फिर अपनी बिगड़ी आदत के अनुसार ही चलते हैं। इस प्रकार आत्मा की गफलत से इन्द्रियों की आदतें बिगड़ जाती हैं, फिर वे इतनी ढीठ हो जाती हैं कि अपनी बिगड़ी आदत को पूरा करने के लिए मचलती रहती हैं। कभी उसमें कमी पड़े तो रूठने-मटकने लगती हैं। नवजात शिशु की जीभ पर जरा-सी मिर्च लग

---

१ "एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इंदियाणि य।"

—उत्तराध्ययन अ. २३, गा. ३८

जाय तो वह बेतरह व्याकुल हो उठता है, परन्तु मिर्च खाने की रोजाना की आदत बना दी जाए तो उसे बिना मिर्च भोजन में रस नहीं आता। कई बार तो मिर्च की मात्रा बढ़ाने पर ही उसे सन्तोष होता है। तम्बाकू आदि नशों की भी यही बात है। प्रारम्भ में तम्बाकू के तनिक-से सेवन से मिचली आती है, लेकिन बाद में अभ्यस्त हो जाने से तम्बाकू सेवन किये बिना उसे शौच उतरना तक कठिन हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा भी इन्द्रियों को बुरे विषयों में प्रवृत्त होते देखकर पहले तो स्वयं सुखास्वाद लेता है, स्वयं इन्द्रियों को खुली छूट दे देता है, फिर उन्हें ही कोसता है, डाँटता है, उन्हीं का दोष निकालता है। यह तो अपने पैरों पर स्वयं कुल्हाड़ी मारने जैसा है।

दोष मालिक (आत्मा) का है, सेवकों (इन्द्रियगण) का नहीं

भगवान् महावीर कहते हैं कि तुम्हारी इन्द्रियाँ जब तुम्हारे वश में नहीं है, तुम्हें वे अपने पीछे चलाती हैं, और तुम स्वयं गाफिल होकर उनके पीछे चलते हो, वहाँ तक तुम अविजित हो, तुम्हारी आत्मा के लिए वे शत्रु का काम करेंगी। उसे पतन के गड्ढे में गिरा देंगी। इन्द्रियों के पास बोध नहीं है, बोध तुम्हारी आत्मा के पास है। इन्द्रियाँ तुम्हारी सेविकाएँ हैं, तुम (आत्मा) उनके मालिक हो। अगर तुम अपना होश भूल जाओगे, इन्द्रियों की बात मानकर चलोगे तो वे तुम्हें विषयों के बीहड़ वन में भटका देंगी। वास्तव में मालिक जब विवेक खोकर नौकर के पीछे-पीछे चलता है, तो स्वाभाविक है वह मालिक को उत्पथ पर ले जाएगा। उसमें नौकर का क्या दोष? दोष मालिक का ही है। एक अध्यात्मप्रेमी कवि कहता है—

नौकर का कोई दोष नहीं, जब घर-मालिक को होश नहीं ॥ध्रुव॥
जो कुछ मालिक फरमाएगा, नौकर तो करता जाएगा।
सविनय आदेश निभाएगा, उसका कोई दोष नहीं ॥१॥
अन्तर कहता है—मत खाना, पर मन कहता है—खा जाना।
फिर रोगी बनकर पछताना, इस रसना को सन्तोष नहीं ॥२॥[1]

जीभ स्वाद लेना चाहती है, मन उसे प्रेरित करता है—खाए जाओ। आत्मा भी चुपचाप विवेक खोकर समर्थन करता जाता है—इसे खाने में

---

१ चन्दन मुनि (नव तेरापंथी) रचित भजन।

आनन्द आ रहा है। जीभ के पास यह बोध तो है नहीं कि कब खाना है, कितना खाना है, अथवा बिना खाए रहना है, यह चीज नहीं खानी है। इसकी जरूरत नहीं है। अब जब तुम (आत्मा) बोधवान् होकर अबोध जीभ की गलत प्रवृत्तियों को मानकर चलते हो तो वही हाल होगा, जैसे अन्धे का हाथ पकड़ कर चलने वाले का होता है। इसी प्रकार जननेन्द्रिय के पास भी बोध नहीं। जननेन्द्रिय में उत्तेजना होती है, मन उसे काम-वासना की ओर प्रेरित करता है, तब तुम भी जननेन्द्रिय की हरकतों में रस लेने लगते हो, वह तुम्हें वासना के गड्ढे में डाल देती है।

आँखों की उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता। परन्तु बहुधा आत्मा गाफिल और अविवेकी हो तो आँखें अश्लील एवं कामोत्तेजक दृश्य एवं रूप को देखने के लिए लालायित होंगी। आंखों को स्वयं को कोई बोध नहीं होता। यही हाल कानों का है। उन्हें क्या सुनना चाहिए क्या नहीं ? यह भान नहीं होता। वे प्रायः कर्णप्रिय अश्लील कामवासनावर्द्धक गीत सुनने के लिए ललकेंगे। क्योंकि कानों को कोई बोध नहीं होता। जिह्वा बोलने का काम भी करती है, परन्तु उसे यह बोध नहीं होता कि हित, मित, मधुर शब्द बोलने चाहिए या कर्णकटु, कर्कश, अप्रिय एवं दोषा-रोपक शब्द बोलने चाहिए ? बोध तो आत्मा के पास है। इसी प्रकार अन्यान्य इन्द्रियों का हाल है।

इन्द्रियाँ साधक कब, बाधक कब ?

मतलब यह है कि इन्द्रियाँ अपने-आप में बुरी नहीं है, आत्मा के लिए विकास, उन्नति एवं साधना में सहायक—साधक हैं, परन्तु जब आत्मा इन्द्रियरूपी घोड़ों की लगाम अपने हाथ में नहीं थामता, तब जाकर इंद्रियाँ मालिक (आत्मा) की मालिक बन जाती हैं। वे अपनी मनमानी करती हैं। अधिकांश अविजित आत्माएँ इन्द्रियाँ कुपथ पर जाती हों तो उन्हें रोकना उनसे झगड़ना—संघर्ष करना नहीं चाहतीं। अविजित आत्मा का धनी मानव यह सोचता है—कौन झंझट करे, इन्द्रियों को जहां ले जाना है, ले जाने दो, जो करना है, करने दो तो वे निश्चित ही उस आत्मा को कुपथ पर ही ले जायेंगी। एक व्यक्ति गधे पर सवार होकर कहीं जा रहा था, अपनी मस्ती में। गधा पूरे जोश में भागा जा रहा था। किसी ने उससे पूछ लिया—"कहां जा रहे हो ?" वह बोला—"इस गधे से पूछ लो, जहां यह ले जाएगा, वहीं जाना है। क्योंकि यह गधा मेरा कहना तो मानता नहीं। मैं कहता हूँ, बाँये चल, तो वह दांये जाने लगता है। बाजार में इसके साथ झगड़ा

होता है। मेरी फजीहत होती है। अतः इससे हार कर मैंने सोच लिया, अब मैं कुछ भी नहीं कहूँगा, इसे जहाँ ले चलना हो, ले चले। इस झंझट से बचने का मैंने एक उपाय सोच लिया—जिससे मेरी फजीहत न हो। अब यह जहाँ जाता है, वहीं मैं जाता हूँ।"

यह है अविजित आत्मा की पहचान ! जिस प्रकार उस व्यक्ति का गधा उसके आदेश देने पर अड़ जाता है कि 'क्या कह रहे हो ! मैं जहाँ ले जाऊँगा, वहीं तुम्हें चलना होगा !' नहीं मानने पर गधा संघर्ष कर बैठता है। यही हाल अविजित आत्मा के समक्ष इन्द्रियों का है। इन्द्रियों को उत्पथ पर जाने से रोकने के लिए पर्याप्त संयम, तप एवं विवेक चाहिए। उन्हें पहले से प्रशिक्षण देने के लिए काफी माथापच्ची करनी पड़ेगी। उन्हें अनुशासन में चलाने के लिए बार-बार प्रेरणा देनी होगी, सतर्क रहना होगा। इतना सब करने को जो आत्मा तैयार नहीं होता, वह इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाता। अगर वह एकदम इन्द्रियों को अपने आदेश के अनुसार चलाना चाहेगा, तो वे संघर्ष करेंगी, लड़ेंगी, क्योंकि वे तो उसकी (आत्मा की) मालकिन बनी हुई हैं। कौन अपनी मालकियत इतनी आसानी से छोड़ देगा ? जन्म-जन्मान्तर तक इन्द्रियाँ आत्मा पर मालिक बनकर रहीं, अब वे कैसे तुम्हारी (आत्मा की) बात झटपट मान लेंगी ? वे कहेंगी —जो सदा से होता आया है, वही होगा।

विषयसुखाकांक्षिणी इन्द्रियाँ कैसे आत्मा को ललचाती हैं ?

इन्द्रियां विषयसुखाकांक्षिणी हैं। वे विषयसुखोपभोग की आकांक्षा से अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं। अविकसित और अविजित आत्मा विषय-सुख को इन्द्रियजन्य मानता है। उन्हीं के जरिये वह विषयोपभोग के साधनों को ढूंढने, सँजोने और पदार्थों से सम्पर्क करने में लगा रहता है। जिह्वा को स्वाद चाहिए। मूत्रेन्द्रिय को घर्षण से सुखद संवेदना होती है। वह उसकी तृप्ति अभीष्ट प्रयोजन पूरा करने वाले पदार्थ तथा शरीर के संयोग से मानती है। तृप्ति के क्षण उसे सुखद लगते हैं। परन्तु इससे पूर्व जलन, ईर्ष्या, संक्षोभ तथा प्रतीक्षा की बेचैनी एवं पश्चात् भी पश्चात्ताप की मनःस्थिति बनी रहती है। अविकसित मानव कामसुख को इंद्रिय विषयसुखों में प्रधान मानते हैं। वह जननेन्द्रिय की तृप्ति के लिए लालायित रहता है। सम्भव-असम्भव का, सुकृत्य-अकृत्य का, हिताहित का विचार किए बिना बहुरंगी स्वप्न-ललनाएँ मस्तिष्क में उमड़ती-घुमड़ती रहती हैं। यह जलन, आतुरता और बेचैनी का समय होता है। संयोग के

कुछ क्षण मादक हो सकते हैं। परन्तु उन्माद का आवेश उतरते ही शरीर और मन में शिथिलता, सस्ती, ग्लानि एवं थकान आती है। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन रस की मात्रा इस प्रकार निचुड़ जाने से असमय में ही बुढ़ापा, अशक्ति, रुग्णता एवं अकालमृत्यु का वरण करना पड़ेगा। इस प्रकार जननेन्द्रिय से प्राप्त होने वाला आपातरमणीय कामसुख तत्काल जितना मधुर लगता है, उतना ही अधिक जीवन शक्ति को समाप्त करने का आधार है, और पश्चात्ताप का ही कारण बनता है। फिर वह अपना और पत्नी का स्वास्थ्य खराब करने तथा बच्चों का अनावश्यक भार एवं भरण-पोषण की चिन्ता में बेतरह घुलता रहता है। वासना की गर्मी जीवन-शक्ति को तो जलाती ही है, साथ ही आर्थिक और मानसिक कठिनाइयाँ सामने आती हैं, वे भी ऐसी आत्मग्लानि उत्पन्न करती हैं कि कामसुख के कुछ क्षणों की तुलना में बहुत महँगी पड़ती है।

इसी प्रकार सुख की आकांक्षा में भूली हुई आत्मा जिह्वेन्द्रिय को स्वाद-सुख का आधार मानती है। जब तक अभीष्ट वस्तु नहीं मिलती, तब तक उसकी अभिलाषा इतनी उद्दीप्त रहती है, जिसे बेचैनी ही कहा जा सकता है। स्वादिष्ट एवं गरिष्ठ वस्तुओं को पाने की प्रतीक्षा में उत्सुकता और ललक ही उभरी रहती है, मन अशान्त बना रहता है जितने क्षण वे स्वादिष्ट वस्तुएँ खाई जाती हैं, उतनी देर तक सन्तोष-सा मिलता है, परन्तु पेट भरने के बाद अरुचि हो जाती है, रुग्ण व्यक्ति को तो प्रारम्भ से ही उसके प्रति अरुचि रहती है। स्वस्थ या अर्धरुग्ण व्यक्ति भी स्वाद के लोभ में अधिक खा लेता है, ऐसी स्थिति में पेट खराब हो जाता है। अजीर्ण, गैस, अरुचि आदि हो जाती है। न मिलने से पूर्व आतुरता और मिलने के बाद घृणा, अरुचि और असन्तोष तथा बीमारियों का कष्ट, आर्थिक हानि, शारीरिक शक्ति का ह्रास आदि अनेक अनर्थ स्वाद-सुखासक्ति के कारण होते हैं।

इसी विषयसुख की आकांक्षा में मनुष्य सन्तानोत्पत्ति की लालसा, धनार्जन की लालसा, खर्चीली अमीरी की तथा ठाठ-बाट की लालसा से अधिकाधिक अनावश्यक सुख के महंगे, खर्चीले साधन जुटाने की अभिलाषा करता है। इस प्रकार अविकसित आत्माओं की सुखलिप्सा जिन उपायों—आधारों को अपनाने के लिए बाध्य करती है, वे सभी थोथे सिद्ध होते हैं। उनका आरम्भ अतृप्ति और अशांति के साथ होता है और अन्त ऐसी स्थिति में होता है, जिसे निराशा, खीज, ग्लानि और पश्चात्ताप ही कहा जा सकता है। इस प्रकार अविकसित आत्माएँ इन्द्रियों के चंगुल में फँसकर सुख की

मृग तृष्णा में भटकती रहती हैं। ऐसी आत्माएँ चाहती हुई भी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं कर पातीं विकसित और विजित आत्मा का स्तर ऊँचा उठा होता है, उसे परमात्मा के अनन्त ज्ञान-दर्शन, आनन्द और शक्ति प्राप्त करने की ही धुन रहती है। वह अहर्निश शान्ति, और धैर्य के साथ जागृति और विवेकपूर्वक इसी साधना में संलग्न रहता है।

गाफिल आत्मा : इन्द्रियों के चंगुल में

इसके विपरीत अविकसित आत्मा जानबूझकर इन्द्रियों में बसे विषयों की लपलपाहट के कारण भ्रान्त होकर तृप्ति के लिए दौड़-धूप करता है और बार-बार आत्मिक आनन्द और शक्ति को खोता है। इन्द्रिय-विषयों के प्रति आसक्ति को वे आत्मा का ही विषय मान लेते हैं। इसे वे जीवन की स्वाभाविक प्रक्रिया मान बैठते हैं। फलतः इन्द्रियों को एक बार चस्का पड़ जाने पर वे उस विषय में बार-बार प्रवृत्त होती हैं। सामान्य-तया इन्द्रियाँ निर्जीव दिखाई देती हैं, इसलिए मनुष्य गफलत में रहता है, और आहार-विहार, रहन-सहन और परिस्थितियों में सतर्कता नहीं रख पाता। ज्यों ही खानपान की, आहार-विहार की एवं सहन-सहन की मर्यादाओं में भूलें होती हैं, त्यों ही निष्प्राण लगने वाली इन्द्रियाँ उत्तेजित हो जाती हैं, फिर उनके चंगुल से छूट पाना दुष्कर होता है।

इसलिए विचारशील, जागृत और विकसित मानव सदैव सतर्क रहते हैं, वे संयमित और मर्यादित जीवन जीते हैं, तथा इन्द्रियों को कुमार्ग में जाने से रोकते हैं, अपनी शक्ति और महत्ता सुरक्षित रखते हैं।

वे देखते हैं कि इन्द्रियों को बहकाने, आदेश देने, और चलाने वाला मन है। अनघड़ मन को अगर सुसंस्कारित, अनुशासित और नियन्त्रित कर लिया जाए, उसको प्रियता-अप्रियता, इष्ट-अनिष्ट, मनोज्ञ-अमनोज्ञ आदि का चिन्तन करने से रोका जाए तो इन्द्रियाँ भी आत्मा के अनुकूल मर्यादा में चल सकती हैं। विजित आत्मा अन्तर् से उठने वाली प्रेरणा या आवाज को ग्रहण करके इन्द्रियों और मनोवृत्तियों को परिष्कृत करते हैं। जीवन को पवित्र और विषयसुखों के प्रति अनासक्त रखते हैं।

इन्द्रियों को बन्द कर देने से नियन्त्रण नहीं हो सकता

वस्तुतः कामुकता, स्वादलोलुपता, आलस्य, दुर्व्यसन-प्रवृत्ति आदि के लिए इन्द्रियों को दोष देने और उनका निग्रह करने या उनकी शक्तियों को अवरुद्ध करने की बात सोचना, जड़ को भूलकर पत्तों को सींचने के

समान है। इन्द्रियनिग्रह के बाह्य स्थूल प्रयास निरर्थक सिद्ध होते हैं। मुँह सीं लेने से स्वादलोलुपता घट नहीं जाती, स्वादिष्ट वस्तु का मुँह में जाना रुक सकता है। इसी प्रकार जननेन्द्रिय पर लंगोट बाँध लेने मात्र से कामुकता की वृत्ति बन्द नहीं हो सकती। इसी प्रकार आँखों पर पट्टी बाँध लेने से या आँखें फोड़ लेने से रूपलोलुपता नष्ट नहीं हो सकती। इन्द्रियों पर प्रतिबन्ध से, या उन्हें नष्ट कर देने से प्रत्यक्ष कृत्य रुक सकते हैं। पर अन्तर् में उनकी विषयलिप्सा लपकती रहे तो अन्तःशक्तियों का क्षरण इन्द्रिय-विषयभोग जितना ही होता रहेगा। पानी के स्रोत को रोकने के लिए मेड़ बाँधने से एक जगह रुकते ही दूसरी जगह फूट पड़ता है, इसी तरह इन्द्रियों को रोकने से मन में दूसरी तरह से भोगलिप्सा फूट पड़ती है। अतः इन्द्रियनिग्रह के सात्त्विक उपायों के साथ-साथ लिप्साओं के उद्गम-मन पर नियन्त्रण करना चाहिए।

कुसंस्कारी मन को साधिए, सुसंस्कारी बनाइए

कुसंस्कारी मन कच्चे पारे की तरह है। कच्चा पारा तो शरीर-विस्फोट एवं मृत्यु का निमित्त बन सकता है। इसी प्रकार अपरिपक्व, अवशीकृत मन मनुष्य को विषयों के बीहड़ वन में, कषायों के दलदल में फंसा देता है, जहाँ पतन और आध्यात्मिक मरण के सिवाय कोई चारा नहीं होता। अतः मन को मारना नहीं है, उसकी शक्ति को दबाना नहीं है, किंतु उसे साधना है, सुसंस्कारी बनाना है, मनरूपी घोड़े की लगाम आत्मारूपी सारथी को अपने हाथ में रखना है। मन की गुलामी बुरे किस्म की पराधीनता है। गुलाम को सोने-खाने के समय तो अवकाश मिल जाता है, परन्तु मन के गुलाम को दिन-रात में कभी चैन नहीं पड़ता। स्वतन्त्रतापूर्वक वह कुछ भी कर या सोच-विचार नहीं सकता। अतः मन को सुसंस्कारी और अनुशासित कर लेने पर वह मकरध्वज जैसे पारद रसायनों की तरह विकसित, शक्तिसम्पन्न और गुणकारी बन सकता है।

तब आत्मा की जीत निश्चित

इस प्रकार इन्द्रियों, मन एवं कषायों आदि विकारों को जीत लेने पर आत्मा की जीत निश्चित है। एक आत्मा को जीत लेने पर पाँचों इन्द्रियाँ मन एवं चारों कषाय (अपने समस्त परिवार सहित) जीत लिये जाते हैं। इसीलिए भगवान् महावीर के परम दृष्टा पट्टधर शिष्य गणधर गौतम ने कहा था—

एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तू जिणामहं[1]

"एक मन को जीत लेने पर पांचों इन्द्रियां जीत ली जाती हैं। और पांचों इन्द्रियों को जीत लेने पर दसों (मन, पाँच इन्द्रियाँ और चार कषाय) को जीता जाता है। दसों को जीत कर मैं समस्त आन्तरिक शत्रुओं को जीत लेता हूँ।"

अर्थात्—इन दसों के जीत लेने पर आत्मा जितात्मा हो जाता है। जितात्मा ही परमात्मभाव की शीघ्र प्राप्ति कर लेता है।

●

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ. २३ गा. ३६

१०

समभाव का सम्बल : परमात्मभाव की मंजिल

अन्तिम लक्ष्य : परमात्मभाव, उसे छोटा मत बनाओ

आत्मा की अन्तिम मंजिल परमात्मभाव है। जो अध्यात्म-यात्री—आत्मार्थी मंजिल का निर्णय कर लेते हैं, वे मंजिल की ओर चलने का दृढ़-संकल्प करके आगे से आगे कूच करते जाते हैं। वे अपने अन्तिम लक्ष्य-परमात्मभाव या मोक्ष की ओर तीर की तरह चल पड़ते हैं। न तो वे लक्ष्य को छोटा बनाते हैं, और न लक्ष्य भ्रष्ट होते हैं। जो अपने लक्ष्य को—मंजिल को प्रलोभनों और स्वार्थों के तथा सुख-सुविधाओं के चक्कर में पड़कर छोटा बना लेते हैं या लक्ष्य भ्रष्ट हो जाते हैं, वे अन्तिम मंजिल को प्राप्त नहीं कर पाते।

एक सन्तानविहीन राजा को चिरकाल की प्रतीक्षा के बाद शुभ-कर्मोदय से वन में एक नवजात शिशु मिल गया। राजा ने अपनी चिन्तित व्यथित रानी को वह बालक पुत्रवत् पालन-पोषण के लिए सौंप दिया। उसे अपना राजकुमार घोषित कर दिया। जब बालक कुछ बड़ा हुआ तो राजा ने उस बालक और रानी के समक्ष अपना मनोरथ प्रगट किया—"तुम जब राज्यभार सँभालने योग्य हो जाओगे तो तुम्हें हम सारा राज्य सौंप देंगे, पूरा राजकोष तब तुम्हारे हाथों में आ जायेगा, और सुन्दर राजकुमारी के साथ तुम्हारा विवाह कर देंगे। फिर हम लोग निश्चिन्त होकर वन में तपस्या करने चले जायेंगे।" राजकुमार ने सुना और प्रसन्नता एवं श्रद्धा से वह राजा-रानी की छत्रछाया में रहने लगा। कुछ वर्ष बीते। दरबारियों ने उस राजकुमार नामक लड़के को बहकाया और उसके दिमाग में यह बात ठसा दी कि राजा आज तो तुम पर प्रसन्न हैं, कल तुम

पर नाराज हो गये तो तुमको यों ही निकाल देंगे, क्योंकि तुम राजा के असली पुत्र नहीं हो, तब तुम क्या करोगे ? कहाँ जाओगे ? कैसे घर बसाओगे ? बिना पैसे के कैसे जीवन चलाओगे ?" अतः तुम राजा से दस हजार रुपये, एक स्वतन्त्र मकान, तथा किसी दासी के साथ विवाह करा देने की माँग कर लो।" उस लड़के का राजा पर जो विश्वास था, वह डगमगा गया। सोचा—राजा ने कहा तो है सारा राज्य, समग्र राजकोष और राजकुमारी के साथ विवाह के लिए, परन्तु राजाओं का क्या भरोसा ? अतः उसने अपना लक्ष्य छोटा बना लिया और राजा से पूर्वोक्त धनराशि, मकान एवं दासी से शादी की मांग की। राजा ने सोचा—इसका विश्वास मेरे प्रति नहीं रहा। अपने लक्ष्य को छोटा बना लिया है। अतः अब मेरे काम का नहीं रहा। उसने जो माँगा था, देकर राजा ने पृथक् कर दिया।

अन्तिम लक्ष्य को लोग कैसे छोटा बना लेते हैं ?

इस दृष्टान्त में जैसे राजा के द्वारा उक्त पालित पुत्र को बार-बार बृहद् लक्ष्य की प्राप्ति का विश्वास दिलाने पर भी वह दरबारियों के बहकावे में राजा के प्रति अविश्वासी हो गया और उसने अपना लक्ष्य छोटा बना लिया था, इसी प्रकार वीतराग परमात्मा भी बार-बार विश्वास दिलाते हैं—"हे देवानुप्रियो ! तुम (आत्मा) परमात्मा बन सकते हो। तुम्हारे लिए परमात्मा (मोक्ष) का राज्य है, तुम परमात्मा की अनन्त-चतुष्टय सम्पदा के अधिकारी हो, मुक्तिरमणी तुम्हें वरण करने के लिए वरमाला लिये खड़ी है।" अर्थात्—तुम्हारा अन्तिम लक्ष्य (मन्जिल) परमात्मभाव—मोक्ष है। परन्तु स्थूलदृष्टि वाले लोग इस पर अविश्वास प्रगट करके कहने लगते हैं—मोक्ष या परमात्मा किसने देखा है ? वह तो अदृश्य है। मोक्ष में कुछ हलचल, चहल-पहल या आनन्द नहीं है। हम तो मरने के बाद स्वर्ग मिल जाय तो बस है। वहाँ रमणीय दृश्य, देवांगनाओं एवं इन्द्रिय विषय भोगों की तृप्ति का सुख तो मिलेगा। इस प्रकार उस पालित राजपुत्र की तरह अपने लक्ष्य को अधिकांश लोग छोटा बना लेते हैं। कुछ भौतिकता में डूबे हुए लोग इससे भी छोटा लक्ष्य बना लेते हैं। वे कहते हैं—हमें स्वर्गादि नहीं चाहिए। किसने देखा है—स्वर्ग ? स्वर्ग से लौटकर कोई आया नहीं और न किसी ने कहा कि मैं स्वर्ग में हूँ। अतः हमें स्वर्ग भी नहीं चाहिए। हमें तो इस लोक में ही सभी प्रकार के सुख मिल जाएँ यही बहुत है। प्रचुर धन, अच्छे स्त्री-पुत्र, सुन्दर कार, कोठी,

चमकता व्यवसाय मिल जायें, इसी में सन्तोष है। इस प्रकार अपने लक्ष्य को छोटा बनाने वाला न तो स्वर्गादि प्राप्त करता है और न ही परमात्म-पद या मोक्ष। वह इसी संसार में अनन्त-अनन्तकाल तक लक्ष्यभ्रष्ट होकर विविध गतियों और योनियों में परिभ्रमण करता रहता है। अतः अध्यात्म-यात्री आत्मार्थीजनों को सर्वप्रथम अपने अन्तिम बृहद् लक्ष्य का निश्चय करके उसमें स्थिर होना चाहिए। कोई भी कुछ भी बहकाए, फुसलाए या भय या प्रलोभन देकर लक्ष्य से डिगाना चाहे तो उन्हें डिगना नहीं चाहिए, न ही लक्ष्य को छोटा बनाना चाहिए।

अन्तिम मंजिल के लिए वीतराग प्रभु का आश्वासन है—

'समभाव-भाविअप्पा लहइ मुक्खं न संदेहो'[1]

समभाव से जिसकी आत्मा भावित है, वह निःसन्देह मोक्ष (परमात्मभाव) को प्राप्त कर लेता है।

मंजिल की प्राप्ति के यथार्थ पथ और सम्बल : समभाव

चैतन्ययात्रा की अन्तिम मंजिल परमात्मभाव या मोक्ष पद है। उसकी प्राप्ति के लिए कौन-सा यथार्थ पथ है, जिस पर चलने से मानवात्मा रूप अध्यात्मयात्री परमात्मभाव को आसानी से प्राप्त कर सके? बहुधा अध्यात्मयात्री परमात्मभाव की मंजिल का तो दृढ़ निश्चय कर लेता है, उस ओर चलने के लिए कदम भी बढ़ाता है, परन्तु मंजिल की प्राप्ति के लिए उसे सही मार्ग नहीं मिलता। जिस प्रकार एक भोलाभाला यात्री जहाँ पहुँचना चाहता है, वहाँ का लक्ष्य तय करके चलता है, परन्तु संसार की भूल-भुलैया, विषय सुख की लिप्सा, इन्द्रियों और मन के झूठे प्रलोभन, आकर्षण, आदि उसे उस राह से भटका देते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि विकार उसे अपने जाल में फँसा लेते हैं। उसकी यात्रा को वहीं ठप्प कर देते हैं। यही हाल अध्यात्मयात्री के सम्बन्ध में समझिए। यद्यपि अध्यात्मयात्री के वाहन विशिष्ट मानव-शरीर, मन, इन्द्रियाँ आदि होते हैं, किन्तु ये सब आत्मा के सहयोगी हों, तभी अध्यात्मयात्रा सुचारु रूप से चलती है और यात्री को चरमलक्ष्य—अंतिम मंजिल तक निर्विघ्न पहुँचा देती है। किन्तु तन, मन और इन्द्रियाँ ये तीनों विपरीत दिशा में दौड़ते हों, विशेषतः कषायों और राग-द्वेषादि की ओर खींचते हों और

---

१. आचार्य हरिभद्र सूरि

आत्मा चाहती हो कि ये उसके अनुशासन में रहें; आत्मभाव, आत्मशुद्धि, आत्मविकास, आत्मावलोकन, आत्मोपासना तथा आत्मसाधना की ओर उनका बिलकुल झुकाव न हो, और आत्मा में इतनी तीव्रता, क्षमता, शक्ति और योग्यता न हो कि वह अपने उन भौतिक उपकरणों को अपने अनुगामी एवं सहयोगी बना सके, ऐसी स्थिति में आत्मारूप यात्री ऐसे शरीरादि को साथ लेकर चलता है, तो वह अपनी अन्तिम मंजिल से लाखों कोस दूर रह जाता है। अपनी अध्यात्मयात्रा में ऐसा कौन-सा सम्बल या साधन है, जिससे वह सशक्त, प्रबल सक्षम, तेजस्वी, वर्चस्वी और बलवान् हो सकता है, ताकि शरीरादि आत्मा को सहयोग देने के लिए बाध्य हो जाएँ, उनका झुकाव आत्मा के नेतृत्व में चलने में, तथा मंजिल की ओर गति करने में हो ? किसके सहारे से, आत्मा अपनी अध्यात्मयात्रा निर्विघ्न, निराबाधरूप से कर सकता है ? विघ्न-बाधाओं को परास्त करता हुआ मंजिल की ओर द्रुतगति से आगे बढ़ सकता है ? भगवान् महावीर ने वह सम्बल या साधन 'समभाव' को बताया है। समभाव के माध्यम से आत्मयात्री प्रबल, सक्षम और सशक्त होकर शरीरादि से अपने अनुकूल उपयुक्त सहयोग लेता हुआ परमात्मभावरूपी मंजिल को प्राप्त कर सकता है।

समभाव को साथ लेकर चलने वाला यात्री मंजिल को पा लेता है

सच्चा और सशक्त यात्री मार्ग में आने वाले भयों और प्रलोभनों में नहीं फंसता, अनुकूल संयोग और परिस्थिति आदि को देखकर वहीं ठिठक कर बैठ नहीं जाता, सुख-सुविधाओं के लुभावने जाल में फंस कर अपनी मंजिल तक पहुँचाने वाले सत्पथ से इधर-उधर नहीं भटकता और न ही वह वहीं पड़ाव डालकर बैठता है। अगर मार्ग में कहीं संकट, भय और खतरा उपस्थित होता है तो वह समग्र साहस और आत्मबल बटोर कर समभावपूर्वक उनका सामना करता है। वह साथ में सम्बल लेकर चलता है, ताकि भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी तथा अन्य द्वन्द्वों में उससे काम चला ले, किसी प्रकार की पीड़ा, दुःख एवं सन्ताप महसूस न करे। इसी प्रकार अध्यात्मयात्री भी अपने साथ समभाव का महासम्बल लेकर चलता है। उस सम्बल में उसके पास शास्त्र-स्वाध्याय सद्विचार, सदाचार, सम्यग्-ज्ञानादि रत्नत्रय तथा तप, तितिक्षा, आत्मबल आदि आध्यात्मिक भोजन होता है, जिससे उसे मार्ग में कहीं भी इन्द्रिय-विषय सुखों की पिपासा, सुख सुविधा की क्षुधा, तथा अन्य तृष्णा, भय, लोभ, चिन्ता, शोक, मोह आदि

पीड़ित नहीं कर पाते। आत्मा के द्वारा परमात्मभाव-प्राप्ति की यात्रा के मार्ग में आने वाले उतार-चढ़ाव, विघ्न-बाधा एवं कष्ट-संकटों को वह समभाव के माध्यम से सकुशल पार कर लेता है।

समभाव : अध्यात्मयात्री का सच्चा पथ-प्रदर्शक

समभाव आत्मार्थी साधक की अध्यात्मयात्रा में मार्गदर्शक, गाइड या भोमिया है, जो इस यात्रापथ में आने वाले सारे मोड़ों और खतरों का तथा घुमावदार पगडण्डियों का ज्ञाता है। वह इस अध्यात्मयात्रा में यात्री विषमता बढ़ाने वाले कषाय, विषयासक्ति आदि के जाल में, कर्म-बन्धन के आवरणों में, आस्रव और बन्ध के बीच फंदों में फंसने से बचाता है।

समभाव का सम्बल पापकर्मों से भारी नहीं होने देता

पापकर्मों से भारी होने से अध्यात्मयात्री का मंजिल की ओर चलना कठिन हो जाता है, परन्तु समभाव एक ऐसा साधन-सम्बल है, जो पापकर्मों से यात्री को भारी नहीं होने देता। उसकी इस अध्यात्मयात्रा को समभाव निर्विघ्नतापूर्वक सकुशल पार लगा देता है। यही कारण है कि तीर्थंकर या उच्चसाधक जब अध्यात्मयात्रा के लिए दीक्षित होते हैं, तब इसी की साधना का संकल्प करते हैं—

'करेमि भंते ! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि।"[1]

हे भगवन् ! (सिद्ध परमात्मा) ! मैं जीवनभर के लिए सामायिक (समभाव प्राप्ति का व्रत) ग्रहण करता हूँ, आज से मैं समस्त सावद्य (पाप-युक्त) मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों (योगों) का त्याग (प्रत्याख्यान) करता हूँ।

समभाव के सम्बल के अभाव में मंजिल पाना कठिन

समभाव का सम्बल लिये बिना कोई भी अध्यात्मयात्री, गृहस्थ हो या साधु अन्तिम मंजिल को प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकता। अगर गृहस्थजीवन में समभाव का अभ्यास नहीं होगा, तो जीवन के अटपटे प्रश्न आने पर वह घबरा जाएगा, जरा-सा कष्ट संकट या विपत्ति आने पर, निर्धनता, व्यापार में घाटा, आर्थिक हानि, पुत्र का अभाव, पुत्र का वियोग, कर्कशा पत्नी का संयोग, किसी कारणवश समाज में बदनाम या अपमानित

---

१. आवश्यक, सामायिक ग्रहण करने का पाठ

होने पर अथवा ऐसी ही सांसारिक उलझनें, मुसीबतें और झंझटें उपस्थित होने पर वह अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठेगा, उसके मन में नाना विकल्पों, चिन्ताओं, उद्वेगों और आवेशों के भूचाल उठने लगेंगे। असंतुलित एवं विषमता युक्त मन में तनाव, चिन्ता, क्रोध, शोक, घृणा, द्वेष, ईर्ष्या आदि मानसिक बीमारियाँ पैदा होंगी, जो अलसर, खुजली, गैस, ब्लड-प्रेसर, हार्टट्रबल, अतिसार आदि बीमारियों की कारण बनती हैं।

समभाव के बिना व्रत, तप आदि मोक्षदायक नहीं

जप, तप, व्रत और महाव्रत का आचरण करने वाले तथा किसी प्रकार के त्याग, प्रत्याख्यान, नियम, संयम, अथवा परीषहजय एवं उपसर्ग-सहन करने वाले गृहस्थ वर्ग एवं साधुवर्ग द्वारा यदि समभाव का अभ्यास नहीं किया गया है तो उनका मन-मस्तिष्क, जप, तप, व्रतादि के आचरण से सम्बन्धित अहंकार, मद, ईर्ष्या, मत्सर, प्रतिस्पर्धा, फलाकांक्षा, शंका-ग्रस्तता, एक दूसरे को नीचा दिखाने का, दोष दर्शन का, बदनाम करने आदि हथकण्डों का शिकार हो सकता है। अथवा व्रत, तप आदि में सफलता न मिलने से वह फल में विलम्ब होने से शंका-कुशंका, इनके प्रति अश्रद्धा का भाजन बन सकता है। अथवा समभाव के प्रति निष्ठा न होने से तप, त्याग, नियम आदि के साथ इहलोक परलोक-सम्बन्धी भोगाकांक्षा के निदान सम्बन्धी सौदेबाजी करने लगेगा। अथवा त्याग, व्रत, नियम आदि के साथ उनके विज्ञापन, अहंभाव, और फलासक्ति का विष उसकी की कराई साधना को चौपट और निष्फल कर सकती है। अथवा समभाव के अभाव में व्रती, महाव्रती एवं तपस्वी, त्यागी, क्रियाकाण्डी आदि साधकों में प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि, प्रशंसा, कीर्ति की घुड़दौड़ या होड़ भी हो सकती है।

इसीलिए सामायिक-प्रवचन में कहा गया है—

किं तिव्वेण तवेणं, किं जवेणं किं चरित्तेणं।
समयाइ विण मुक्खो न हु हुओ कहवि न हु होई॥[1]

चाहे कोई कितना ही तीव्र तप करले, जप करले, अथवा मुनिवेष या गृहस्थवेष का धारक स्थूल क्रियाकाण्डरूप या त्याग-प्रत्याख्यान-व्रत-नियम रूप चारित्र का पालन कर ले, परन्तु समभाव के अभ्यास रूप सामायिक के बिना न तो किसी को मोक्ष (परमात्मभाव) प्राप्त हुआ है और न ही होगा।

---

१. सामायिक प्रवचन पृ. ७८

आशय यह है कि धार्मिक जगत् में तीव्र तप, बहुसंख्यक जप, कष्ट सहन, मुनिवेष धारण करके स्थूल क्रियाकाण्ड रूप चारित्र का पालन या श्रावकव्रत ग्रहण करके केवल धार्मिक कियाकाण्ड रूप देश चारित्र का पालन आदि तब तक सफल नहीं हो सकते, जब तक उस साधक में समभाव नहीं आ जाता, परमात्म भाव प्राप्त होना तो बहुत दूर की बात है।

समता होने पर ही श्रमण कृतकार्य हो सकता है

एक श्रमण है उसे अपने साधुवेष का अहंकार है, अपनी जरा-सी निन्दा, आलोचना, टीका-टिप्पणी, नुक्ताचीनी आदि सुनकर झल्ला उठता है, उसमें रोष और द्वेषभाव उभर आता है, तथा दूसरे साधक की या प्रदाय, उपसम्प्रदाय की प्रशंसा, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि, कीर्ति, जाहोजलाली या सम्प्रभाव सुन-पढ़कर ईर्ष्या और मत्सर से जल-भुन उठता है, अपने व्यक्तित्व, सम्प्रदाय, उपसम्प्रदाय पंथ आदि की बढ़ा-चढ़कर प्रशंसा, प्रसिद्धि, प्रशस्ति अतिशय गुणगान करने की धुंआधार प्रचार-प्रसार करने की तथा राजनेताओं, समाजनेताओं प्रतिष्ठित व्यक्तियों एवं पत्रकारों आदि से प्रशंसापत्र, सम्मानपत्र एवं अभिनन्दन पाने की धुन लगी रहती है। अपनी आत्मविकास, आत्मालोचन, आत्म-चिन्तन, आत्मशान्ति, आत्मसंयम आदि आध्यात्मिक बातों को ताक में रखकर अहर्निश प्रचार एवं प्रदर्शन की रट लगी रहती है, वह व्यक्ति श्रमणत्व से कोसों दूर हो जाता है। दशवैकालिकसूत्र इसी तथ्य की ओर इंगित करते हुए कहा गया है—

> कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए।
> पए-पए विसीयंतो, संकप्पस्स वसंगओ ॥"[1]

जो साधक इच्छाकाम (कामनाओं) और मदनकाम (वासनाओं) का निवारण—त्याग नहीं कर सकता, वह श्रमणत्व का, श्रमणधर्म का पालन कैसे कर सकेगा? क्योंकि वह पद-पद पर नाना सकल्प विकल्पों के वशीभूत होकर विषाद मग्न एवं खिन्न होता रहेगा।

वस्तुतः जब श्रमण में सम और उससे सम्बन्धित शम और आध्यात्मिक श्रम नहीं होता, आचरण कम और दिखावा अधिक होता है, अथवा अन्तर्दर्शन कम, प्रदर्शन अधिक होता है, तब वह अन्तरात्मा के बदले बहिरात्मा जैसा बन जाता है और शरीर और शरीर से सम्बन्धित कषायों

---

१ दशवैकालिक अ० २ गा० १

तथा राग-द्वेष, मोह आदि विकारों, सजीव (सम्प्रदाय, एवं पथ के अनुगामी, भक्त-भक्ताओं आदि) तथा निर्जीव (सम्प्रदाय, पंथ, पद, प्रतिष्ठा, स्व-प्रशंसा तथा पर निन्दा आदि) परभावों (आत्मविहीन पदार्थों) में अटका रहता है, उसका चिन्तन, मनन, श्रवण-पठन आदि प्रायः उसी के सन्दर्भ में होता है। इसीलिए भगवान महावीर ने इन आत्मबाह्य, अनुष्ठानों में ही फंसे रहने वाले साधकों को चेतावनी देते हुए कहा—

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥
समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होइ, जवेण हवेइ तावसो ॥[1]

अर्थात्—सिर मुंडा लेने मात्र से कोई श्रमण नहीं हो जाता, ओंकार का जप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता, जंगल में निवास करने से ही कोई मुनि नहीं हो जाता, और कुशचीवर (वल्कल) धारण करने से ही कोई तापस नहीं हो जाता। किन्तु समता के आचरण से श्रमण, ब्रह्मचर्य-पालन से ब्राह्मण, सम्यग्ज्ञानाचार से मुनि और बाह्य-आभ्यन्तर तपश्चरण से तापस होता है।

ज्ञानादि चतुष्टय के साथ भी समत्व का होना अनिवार्य

निष्कर्ष यह है कि समत्व के अन्तर्गत ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चारों का समावेश हो जाता है, क्योंकि ये चारों ही मानसिक, बौद्धिक सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विषमताओं को दूर करने वाले हैं। परन्तु जब इन चारों के साथ कषाओं एवं वासनाओं-कामनाओं, राग-द्वेष मोह आदि का कल्मष आ जाता है, तब ये ही चारों समत्व से हटकर साधक को विषमता के कुपथ पर ले जाने वाले बन जाते हैं। इसलिए इन चारों के साथ समता का होना अनिवार्य है, तभी इन चारों की साधना मोक्ष—परमात्मभाव के द्वार तक ले जाने वाली होती है।

समता का आश्रय लिये बिना कहीं भी शान्ति नहीं

मनुष्य चाहे जितना धन और साधन जुटा ले, सत्ता और प्रभुता प्राप्त कर ले, चाहे जितना बौद्धिक विकास कर ले, चाहे नित नये वैज्ञानिक

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ० २५ गा० ३१-३२

आविष्कार कर ले, अणुबम, उद्जनबम, एवं अन्यान्य आग्नेयास्त्र बना ले, चाहे जल, स्थल और आकाश पर आधिपत्य जमा ले, भौतिक विद्याओं में पारंगत हो जाए, चाहे जितने जप, तप कर ले, सिद्धियाँ और उपलब्धियाँ प्राप्त कर ले, भयंकर से भयंकर कष्ट और उपसर्ग सह ले, चाहे रजोहरण, पात्र आदि लेकर साधुवंश धारण कर ले, समता के बिना उसे न कायिक शान्ति होगी, और न वाचिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक शान्ति ही होगी। उसकी चिन्ता, व्यथा, संकट, कष्ट, विपत्ति, अभाव, उलझन, झंझट, कलह एवं विविध समस्याओं का निवारण एवं निराकरण भी समता का आश्रय लिए बिना नहीं होगा। इसीलिए एक आचार्य से जब पूछा गया कि वास्तविक शान्ति किसमें है ? तो उन्होंने अपने अनुभव की आंच में तपी हुई वाणी में कहा—

'शान्तिश्च समत्वे सदा।'

(सब प्रकार की) शान्ति (विविध जीवन क्षेत्रों में) सदैव समता के धारण करने में है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में समभाव के बिना....

आध्यात्मिक क्षेत्र में समभाव के बिना शरीर और आत्मा का तथा स्व-पर का भेद विज्ञान जीवन में मूर्तरूप नहीं ले पाता। फलतः भेद विज्ञान के अभाव में व्यक्ति के जीवन में शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव प्राणियों एवं निर्जीव पदार्थों के प्रति मोह, महत्व, मूर्च्छा, आसक्ति और मद आदि दुर्गुण पनपते रहते हैं, जिनके कारण व्यक्ति प्रायः दुःखित, चिन्तित, बेचैन, संक्लिष्ट, ईर्ष्या, द्वेषग्रस्त एवं विषय सुख-साधनों को प्राप्त करने की लालसा से अभिभूत रहता है। यही कारण है कि इन दुर्गुणों के कारण आत्मा पर कर्मों का जत्था बढ़ता जाता है, और व्यक्ति पुनः-पुनः नाना गतियों और योनियों में परिभ्रमण करता रहता है, उसके भवभ्रमण का अन्त नहीं आता। यदि समभाव को स्वीकार किये बिना ही प्रचुर-धन-वैभव, सुख-साधन, नृत्य-गीत, रागरंग, परिवार, जमीन, जायदाद, राज्य-सत्ता, पद-प्रतिष्ठा आदि मानव को सुखशान्ति और मुक्ति, या परमात्मपद प्रदान कर सकते तो बड़े-बड़े श्रेष्ठि वर्गों, सेनापतियों, चक्रवर्तियों, राजा-महाराजाओं, धनाढ्यों एवं सत्ताधीशों को इनका त्याग करके समत्वयोग धारण करने की क्या आवश्यकता थी ? जिन लोगों ने समभाव का महत्व और परमलाभ समझा, उन्होंने इन समस्त कामभोगों और सुख साधनों को वैराग्यपूर्वक ठुकराते हुए कहा—

"सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडंबियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥"[1]

'संसार के समस्त गीत विलाप हैं, समस्त नृत्य एवं राग-रंग विडम्बना हैं, सभी आभूषण एवं साजसज्जा के साधन भाररूप हैं, और समस्त कामभोग (के साधन) जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि दुःखों के उत्पादक हैं।'

जितने भी संसारविरक्त, महान् आत्मार्थी एवं मुक्त परमात्मा के अनन्तचतुष्टय की प्राप्ति के लिए साधनाशील व्यक्ति हुए है, उन्हें काम-भोग के साधनों में, धनवैभव और सत्ता में, सांसारिकपद-प्रतिष्ठा में, आभूषणों एवं शरीर प्रसाधनों में, तथा राजमहलों आदि के मोह, ममत्व एवं आसक्ति में शान्ति, सुख, सन्तोष और निश्चिन्तता का आनन्द, उत्तम आत्मिक समाधि और मुक्ति नहीं मिली। वह मिली समभाव के आचरण से एवं समत्व के माध्यम से आत्मभावों में अवस्थित होने से। इस सम्बन्ध में भरत चक्रवर्ती का जीता-जागता उदाहरण है। उन्होंने शीश महल में खड़े-खड़े चक्रवर्ती के वैभव, सुन्दर शरीर और वस्त्राभूषणों आदि पर से ममत्व छोड़कर समत्व का आश्रय लिया। फलतः वहीं उन्हें शीघ्र ही केवल-ज्ञान उपलब्ध हुआ और फिर मोक्ष प्राप्त हुआ। इसीलिए आचार्य कहते हैं—

"जे केवि गया मोक्खं,जे वि य गच्छंति, जे गमिस्संति।
ते सव्वे सामाइय-प्पभावेण, मुणेयव्वं ॥"[2]

"जो भी अतीतकाल मोक्ष गये हैं, वर्तमान में भी जो साधक मोक्ष जाते हैं और भविष्य में जो भी मोक्ष जायेंगे, समझना चाहिए, वे सब सामायिक (समभाव की प्राप्ति) के प्रभाव से ही गये हैं, जाते हैं, और जायेंगे।"

सामाजिक जीवन में समभाव के अभाव में....

सामाजिक जीवन में भी समभाव के बिना परिवार, जाति, संघ, प्रान्त, सम्प्रदाय, ग्राम, नगर, राष्ट्र आदि सब अशान्त हैं, उनमें रंगभेद, राष्ट्रभेद, प्रान्तभेद, ग्राम-नगर-भेद, परिवारभेद, या व्यक्तिभेद, जाति

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ. १३ गा. १६।
२ एक आचार्य।

भेद, सम्प्रदायभेद आदि को लेकर संघर्ष, ऊँच-नीच की मिथ्या मान्यता, अहंकार, घृणा, द्रोह, द्वेष, ईर्ष्या, भेदभाव छुआछूत, अन्धविश्वास, अन्याय, अत्याचार, मोह, अन्धस्वार्थ, मिथ्यामान्यता, मनोमालिन्य, असन्तोष, कलह, युद्ध, उत्पात दंगा-फिसाद, तोड़फोड़, आतंक, हत्या, आगजनी, पथराव आदि अनिष्ट आए दिन पनपते रहते हैं। समाज में आज अधिकांश लोग चिन्ता-ग्रस्त, तनाव, भय, उद्विग्नता, चिन्ता, व्याधि, परेशानी, विपत्ति, कुण्ठा किंकर्त्तव्यविमूढता आदि अशान्तियों से घिरे हुए हैं। एक व्यक्ति के पास प्रचुर धन, साधन, बल, बुद्धि, वैभव अथवा विद्या आदि होते हुए भी दूसरे केप्रति ईर्ष्या, द्वेष तथा अहंकार मद, ममत्व, आसक्ति एवं असुरक्षा के कारण दुःखी और बेचैन होता रहता है, जबकि दूसरा व्यक्ति निर्धन अभाव-ग्रस्त, अल्पबुद्धि, अशिक्षित, निर्बल, अथवा अन्याय पीड़ित आदि होने के कारण दुःखित एवं चिन्तित होकर जैसे-तैसे सतापमय जीवन बिताता है। किन्तु यह सब परिस्थितिजन्य दोष नहीं, मनःस्थितिजन्य दोष है। अगर मनुष्य अपने तन-मन एवं बुद्धि को समभाव के अभ्यास के साँचे में ढाल ले तो निःसन्देह ये सब अनिष्ट, दुःख एवं संकट दूर हो सकते हैं। अज्ञानता, मिथ्यादृष्टि, संकीर्ण दृष्टि, तुच्छ स्वार्थभाव आदि के कारण ये विषमताएँ पनपती हैं, समभाव का जादुई स्पर्श अगर व्यक्ति को तन, मन, वचन, बुद्धि और दृष्टि को हो जाए तो ये सब विषमताएँ उसी क्षण नष्ट हो सकती हैं, और समता के सामान्य स्थापित होते ही सर्वत्र अमनचैन, सुखशान्ति व्याप्त हो सकती है।

इहलौकिक जीवन में समभाव को अभ्यास होने पर

इहलौकिक जीवन में भी समभाव के बिना मानसिक और बौद्धिक शान्ति नहीं हो सकती। समभाव जिसके जीवन में रम जाता है, वह व्यक्ति सुख में फूलता नहीं, दुःख में तड़फता नहीं। इष्टवियोग और अनिष्ट-संयोग में, अथवा इष्टसंयोग और अनिष्टवियोग में शोक और हर्ष से ग्रस्त नहीं होता, इसी प्रकार समभावी व्यक्ति के रहने को महल मिले या जंगल, झोंपड़ी मिले या आलीशान बंगला वह हर्ष-विषाद के झूले में नहीं झूलता, वह शत्रु और मित्र, अनुकूल और प्रतिकूल, अनुरागी और विरोधी दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों के प्रति द्रोह-मोह, या घृणा-आसक्ति नहीं करता, कैसी भी विषम पारिस्थिति हो या समृद्धि-युक्त स्थिति हो, दोनों में वह तटस्थ-शान्त रहता है। यह तो निश्चित है कि जहाँ भी व्यक्ति-व्यक्तियों

में, जाति-जाति में, सम्प्रदाय-सम्प्रदाय में, अथवा राष्ट्रों, प्रान्तों, राज्यों आदि में परस्पर द्वेष, घृणा, वैमनस्य, विरोध, संघर्ष पनपता है, वहाँ विषमता एवं अशान्ति की आग फूटेगी, प्रत्येक क्षेत्र में शान्ति के लिए तो समतादेवी की ही उपासना करनी होगी।

जीवनयात्रा में समभाव से अभ्यस्त व्यक्ति की दृष्टि

मानवजीवन यात्रा के पथ में दूर-दूर तक बिखरे हुए कष्टों, अटपटे प्रश्नों, उलझनों, समस्याओं एवं मुसीबतों के काँटों को सर्वत्र बुहारने-झाड़ने का दुःसाध्य एवं दुष्कर उपक्रम करने की अपेक्षा उस विवेकी पुरुष द्वारा पैरों में जूते पहनकर काँटों से अपनी सुरक्षा कर लेने की तरह समभावी व्यक्ति समभाव से अभ्यस्त होकर सहज ही उन वैषम्य के काँटों से अपनी सुरक्षा कर लेता है। निष्कर्ष यह है कि कोई भी जटिल समस्या, फिर वह इहलौकिक हो, या पारलौकिक हो, अथवा लोकोत्तर हो समभाव के आचरण के बिना हल नहीं हो सकती। इसलिए मानवजीवन में, विशेषतः साधक जीवन में समभाव से आत्मा को भावित करने की पद-पद पर आवश्यकता है। समभाव का आश्रय लेने पर विचार और आचार में अनेकान्त दृष्टि आ जाती है, फलतः परस्पर वैमनस्य, विरोध, द्वेष, क्लेश, समाप्त हो जाते हैं, सभी सम्प्रदायों और पन्थों पर वह सापेक्ष दृष्टि से समभावपूर्वक निष्पक्ष होकर विचार करता है। ऐसा समभावी किसी भी धर्मसम्प्रदाय का साधक हो, उसका मोक्षपद-परमात्मपद निश्चित है। इसी तथ्य को समभावी आचार्य हरिभद्र सूरि ने अभिव्यक्त किया है—

> सेयंबरो वा आसंबरो वा, बुद्धो वा तह य अन्नो वा।
> समभाव-भावियप्पा लहइ मुक्खं न संदेहो।"[1]

कोई भी मानव श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बौद्ध हो या अन्य किसी पंथ या सम्प्रदाय का अनुयायी हो, अगर उसकी आत्मा समभाव से भावित है तो वह निःसन्देह मोक्ष परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है।

धर्म का प्रत्यक्ष रूप : समभाव

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, इस रत्नत्रय को आचार्य

---

१ आचार्य हरिभद्र सूरि

समन्तभद्र ने सद्धर्म कहा है, वही मोक्षपद या परमात्मपद को प्राप्त कराता है। इस रत्नत्रयरूप धर्म का प्रत्यक्षीकरण करना हो तो उसे समत्व में किया जा सकता है। किसी व्यक्ति के जीवन में धर्म रमा या नहीं ? धर्म उसकी हड्डी और मज्जा में, या रग-रग में प्रविष्ट हुआ या नहीं ? यदि इसकी प्रतीति करनी हो तो व्यक्ति के तन-मन-वचन में समभाव के व्यवहार से ही हो सकती है। जिस समय व्यक्ति के जीवन में प्रतिकूल संयोग उपस्थित होता है, संकट, विघ्न और विफलताएँ जीवन के प्रत्येक मोड़ पर मुँह बाए खड़ी रहती हैं, अटपटी समस्या, उलझन और विपत्ति आती है, उस समय यदि वह शान्ति और धैर्य के साथ समभाव में स्थित रहता है, उसकी प्रज्ञा स्थिर रहती है, आर्त्त-रौद्रध्यान के वशीभूत होकर उसका मन चंचल नहीं होता तो समझ लो, धर्म उसकी नस-नस में प्रविष्ट हो गया है। जो व्यक्ति कठिन या प्रतिकूल परिस्थितियों में सम रहता है, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा, मान-अपमान आदि समस्त स्थितियों में अपने चित्त को जो सन्तुलित रखता है, धैर्य और शान्ति नहीं खोता; क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या राग या द्वेष से अभिभूत नहीं होता, सम-स्थिति में तन-मन-वचन को रखता है, जिसके जीवन में समत्व प्रतिष्ठित हो गया है, समझ लो, धर्म उसके जीवन में साकार हो गया है। विश्व इतिहास की दृष्टि से देखें तो जिन लोगों के जीवन में धर्म उतरा है, वे समभाव में स्थित रहे हैं। दस हजार वर्ष पहले भी वे ही व्यक्ति धर्मनिष्ठ कहलाये हैं जिन्होंने अपने जीवन में समता को स्थान दिया है। आचार्य हेमचन्द्र ने भगवान महावीर की स्तुति करते हुए कहा है—

पन्नगे च सुरेन्द्रे च कौशिके पादसंस्पृशी।
निर्विशेष-मनस्काय श्रीवीरस्वामिने नमः॥

एक ओर चण्डकौशिक सर्प डंसने के लिए चरणस्पर्श करता है, दूसरी ओर सुरेन्द्र भी भक्तिवश चरणस्पर्श करता है, किन्तु दोनों पर जिनका मन समान है, ऐसे वीर प्रभु को नमस्कार है।

जिस व्यक्ति के जीवन में धर्म की चेतना जाग जाती है, उसमें समत्व की स्थिति का निर्माण हो जाता है। वह विषमता का निमित्त मिलने पर भी समत्व में स्थित रहता है। इसलिए भगवान महावीर ने अपने अनुभव-पूर्ण उद्गार निकले—

समयाए धम्मे आरिएहिं पवेदिते ।[1]

"समस्त आर्य—श्रेष्ठ पुरुषों ने समता में धर्म कहा है, अनुभव किया है।" शुद्ध धर्म संवर-निर्जरारूप है। धर्म में कर्मों के आगमन (आस्रव) निरोध की, तथा कर्मों के आंशिक क्षय की बात है। समभाव से ये दोनों कार्य सम्पन्न होते हैं। एक ओर से साम्य-समत्व उसे ही कहा गया है, जहाँ इन्द्रिय विषयों, सजीव-निर्जीव पदार्थों शरीर और शरीर से सम्बन्धित व्यक्तियों और वस्तुओं में मनोज्ञ के प्रति राग और अमनोज्ञ के प्रति द्वेष का प्रसंग हो, वहाँ समभाव-भावितात्मा राग-द्वेष के कारण आने वाले आस्रवों (कर्मों के आगमन) को वहीं रोक लेता है। जैसे कि समत्व—साम्य का लक्षण एक आचार्य ने किया है—

इतो रागमहाम्भोधिरितो द्वेष-दवानलः ।
यस्तयोर्मध्यगः पन्थास्तत् साम्यमिति गीयते ॥[2]

संसार सांसारिक पदार्थों के दो छोर हैं—एक ओर रागरूपी महासमुद्र है, तो दूसरी ओर है—द्वेष रूपी दावाग्नि। इन दोनों छोरों का मध्यगामी जो मार्ग है, जिसका राग-द्वेष दोनों से लगाव नहीं है, वह है साम्य—समभाव। वास्तव में, संसार या सांसारिक सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति विषमता राग-द्वेष के कारण होती है। विषमता से कर्मों का आस्रव और बन्ध होता है। समभाव सभी परिस्थितियों, सभी पदार्थों और व्यक्तियों में राग-द्वेष से व्यक्ति को दूर रखता है, इसलिए आस्रव के बदले संवर रूप धर्म का आचरण हो जाता है। समभाव का मन्त्र ही एकमात्र ऐसा है, जो उस अवसर पर या मानवजीवन के सभी विषम एवं अटपटे प्रसंगों पर राग-द्वेष से आत्मा की रक्षा करता है, और आस्रव के बदले संवर रूपी धर्म का उपार्जन करा देता है। साम्ययोग के अभाव में जीव विषम अवसरों पर राग या द्वेष करके कर्मों का भारी जत्था आत्मा से चिपका लेता है जिसका दुष्परिणाम भविष्य में उसे भोगना पड़ता है। इन चिपके हुए कर्मों और जीव (आत्मा) को पृथक्-पृथक् करने वाला सफल उपाय आचार्य ने सामायिक—समत्वप्राप्ति को बताया है—

---

१ आचारांग सूत्र श्रु. १, अ. ५, उ. ३।

२ एक आचार्य।

कर्मजीव च संश्लिष्टं, परिज्ञातात्म-विनिश्चयः ।
विभिन्नीकुरुते साधुः, सामायिक-शलाकया ॥

जिसे आत्मा का परिज्ञान और उसका दृढ़ निश्चय हो गया है, ऐसा साधक चिपके हुए कर्म और जीव दोनों को सामायिक=समत्व-लाभ की सलाई से पृथक्-पृथक् कर लेता है ।

इस प्रकार साधक के द्वारा निर्जरा-धर्म का सहज पालन हो जाता है ।

संसार की विषमताएँ : समभाव के अभाव में

कहा जाता है—संसार विषमताओं का घर है । यहाँ पद-पद पर तथा घर-घर में विषमता छाई हुई है । कहीं पुत्र का जन्म हुआ है, तो खुशी और हर्ष से लोग उछल रहे हैं, तो कहीं पुत्रवियोग का विलाप है, अथवा पुत्र के न होने का आर्त्तनाद है । कहीं विवाह के उन्माद में आदमी मत्त हो रहा है तो कहीं किसी स्वजन के वियोग में मानव शोकाकुल हो रहा है । कहीं साधनों के अभाव में मनुष्य दुःखी हो रहा है । कहीं प्रचुर मात्रा में वस्तुओं के होने पर भी पारस्परिक ईर्ष्या, अहंकार, सुरक्षा की चिन्ता, वियोग की आशंका आदि के कारण मनुष्य असन्तुष्ट, बेचैन एवं दुःखी दिखाई देता है । प्रायः सम्पन्न परिवारों में संघर्ष, असन्तोष, परेशानी बीमारी, उद्दण्ड सन्तान, मानसिक संक्लेश, भाई-भाइयों में पारस्परिक टक्कर, चिन्ता आदि समस्याएँ पाई जाती हैं, उनका मूल कारण है—समभाव का अभाव । भौतिक पदार्थों की प्रचुरता होने से मनुष्य शान्त और सुखी नहीं हो जाता, न ही समता आ जाती है । भौतिकता का काम ही है—विषमता पैदा करना । यदि विषमता न हो तो भौतिकता और यह सृष्टि, टिक नहीं सकती । संसार में सभी व्यक्तियों के समक्ष हर समय परिस्थिति अनुकूल ही हो, ऐसा सम्भव नहीं है । एक व्यक्ति को एक समय में जो परिस्थिति अनुकूल होती है, वहीं दूसरे समय में प्रतिकूल हो जाती है । जो समत्वयोगी होता है वह अनुकूल परिस्थिति में गर्वोन्मत्त, हर्षविशग्रस्त, आसक्त और मोहित नहीं होता; और प्रतिकूल परिस्थिति में उनसे दूर भागता नहीं, न ही किसी को कोसता, या दोषी ठहराता है । प्रतिकूल परिस्थिति में वह समभाव के सम्बल से अपने आपको एवं परिवार या संघ को एडजस्ट कर या करा लेता है ।

सम्भावी : संसार की विषमता को समता में परिणत कर लेता है

यह संसार समसूत्र पर स्थित नहीं है। स्थूल दृष्टि वाले व्यक्ति को विषमता भरे इस संसार में एडजस्ट करना नहीं आता। एक कवि ने संसार की विषमता का चित्र प्रस्तुत करते हुए कहा है—

"दैन्यं क्वचित् क्वचिन्मन्मथजा विकाराः।
कुत्राऽप्यनेकविध — बन्धुजन — प्रपञ्चः॥
क्वापि प्रभूत—धन — कल्पितमीश्वरत्वम्।
इत्यैक - वैकृतमिदं जगदाविभाति॥"[1]

संसार में कहीं दीनता है तो कहीं कामजन्य विकार नंगा नाच कर रहे हैं। कहीं अनेक प्रकार के बन्धुजनों का प्रपंच है, तो कहीं प्रचुर धन होने के कारण अपने को प्रभु एवं ऐश्वर्य सम्पन्न ईश्वर की कल्पना है। इस प्रकार जगत् एकमात्र विकृति और विषमता से भरा हुआ प्रतीत होता है।

स्थूलदृष्टि वाले लोग संसार की विषमता को समता में परिणत करने में उदासीन, निराश, आशंकाग्रस्त, नानाविध खतरों की कल्पना से घिरे हुए, भयभीत अथवा परेशान हैं। परन्तु जिनका मन समभाव में स्थित है, जिनकी समत्वबुद्धि विकसित है, जिनका जीवन और आचरण, व्यवहार और बर्ताव समभाव से ओतप्रोत हैं, वे संसार की विषमता को समता में परिणत कर लेते हैं। उनका कहना है - संसार या संसार के कोई भी सजीव-निर्जीव पदार्थ अथवा परिस्थिति अपने आपमें विषम नहीं है, न ही विकृत है, संसार को विषम या विकृत बनाने वाली मनुष्य की विपरीत दृष्टि अथवा विषमता की ग्रन्थि से जकड़ी हुई दृष्टि है। विषम परिस्थिति में या विषम परिस्थिति में पड़े हुए व्यक्ति को जीवन में अथवा संसार की प्रत्येक वस्तु या संसार के प्रत्येक वाणी के प्रति समभाव की दृष्टि, समत्व-बुद्धि या समता का अभ्यास हो तो समग्र संसार सम हो जाता है। जिसकी प्रज्ञा समभाव में स्थित हो जाती है, उस साधक की मनःस्थिति का विश्लेषण करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—

लाभालाभे सुहेदुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समोणिंदा-पसंसासु तहा माणावमाणओ॥[2]

---

१ सुभाषित रत्न-सन्दोह

२ उत्तराध्ययन सूत्र अ० १९ गा० ९१

'लाभ हो या अलाभ, सुख हो या दुःख, जीवन रहे या मृत्यु आ जाय, निन्दा हो प्रशंसा, तथा सम्मान मिले याअपमान, वह सर्वत्र सम रहता है।' इसी प्रकार समत्व में स्थिर साधक इष्ट वस्तु या व्यक्ति के वियोग में अनिष्ट वस्तु या व्यक्ति के संयोग में, तथैव इष्ट वस्तु या व्यक्ति के संयोग में अनिष्ट वस्तु या व्यक्ति के वियोग में हर्ष-शोक से, लालसा-निराशा से ऊपर उठा हुआ होता है। वह घाटे और नफे में, सम्पन्नता और विपन्नता में, सम्पदा और विपदा में, अनुकूलता और प्रतिकूलता में राग-द्वेष या मोह-द्रोह अथवा ममता-घृणा से दूर रहकर समत्व में स्थिर रहता है। वह संसार के प्रत्येक अटपटे प्रश्न, उलझन, समस्या एवं विकट शंका का समाधान एवं हल समत्वदृष्टि से शीघ्र ही निकाल लेता है। वह ऐसे प्रसंगों पर असमंजस, दुविधा या अनिश्चितता, निराशा एवं खिन्नता में नहीं पड़ा रहता और न हो वह चित्त में आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान के तथा संकल्प-विकल्पों का तानावाना बुनता रहता। उसका मन, बुद्धि, चित्त और हृदय में समत्वयोग के कारण आत्म-विश्वास, आशावाद, आत्मा और परमात्मा के प्रति श्रद्धा-भक्ति, और समस्त जीवों के प्रति मैत्री, करुणा, प्रमोद एवं माध्यस्थ्य से, तथा आत्मौपम्यभाव से ओतप्रोत रहता है। इस कारण उसकी प्रज्ञा एवं चित्तवृत्ति एकाग्र, स्थिर, एवं समत्व में आरूढ़ रहती है। उसके जीवन में समता बाहर भी होगी, अन्दर भी। उसके बाहर का संसार जितना सीमित होता है, भीतर का संसार उतना ही विशाल एवं व्यापक होता है। उसकी आन्तरिक समता का सम्बन्ध आत्मा मन, बुद्धि, चित्त एवं हृदय से होता है, जबकि बाह्य समता का सम्बन्ध पारिवारिक, सामाजिक राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, शारीरिक, वाचिक, साम्प्रदायिक आदि क्षेत्रों से होता है। इन्हीं बाह्य और अन्तरंग क्षेत्रों में व्याप्त होने वाली विषमताओं को वह समता में परिणत कर लेता है, इस प्रकार बाहर के दृश्यमान अथवा सम्पर्कगत संसार के प्रति उसका व्यवहार एवं उसकी बुद्धि, निष्ठा एवं वृत्ति समत्व की होती है। जैसा कि भगवद्गीता में कहा है—

"सुहृन्मित्रार्युदासीन-मध्यस्थ-द्वेष्य-बन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु, समबुद्धिर्विशिष्यते ॥"[1]

---

१ भगवद्गीता अ. ६, श्लो. ९।

जो व्यक्ति निःस्वार्थ-हितैषी, मित्र, शत्रु, विरोधी, उदासीन (उपेक्षा-भाव रखने वाला), मध्यस्थ, निष्पक्ष या पक्षपाती, द्वेषी और बन्धुगुणों पर तथा सज्जनों-दुर्जनों अथवा धर्मात्मा-पापात्माओं पर समबुद्धि रखता है, वही विशिष्ट समत्वयोगी है।

इसी प्रकार जो व्यक्ति संसार की बाह्यवस्तुओं, भोज्य पदार्थों, सुख-जनक अथवा दुःखजनक साधनों, तथा सुखकारी-दुःखकारी क्षेत्रों, या स्थानों, तथा पाँचों इन्द्रियों के अनुकूल प्रतिकूल विषयों तथा पत्थर और स्वर्ण के प्रति समभाव रखता है, न तो गर्व से फूलता है, और न ही खिन्न होता है।

समभावी की उपलब्धियाँ और अर्हताएं

भगवद्गीता के अनुसार समत्वयोगी स्वाभाविक रूप से अनायास ही जो कुछ प्राप्त हो जाता है, उसी में सन्तुष्ट हो जाता है, वह हर्ष शोकादि द्वन्द्वों से परे होता है। तथा किसी को अधिक लाभ मिलने पर वह ईर्ष्या (मत्सर) नहीं करता एवं सिद्धि और असिद्धि में सम रहता है, वह पुरुष कर्म करता हुआ भी बँधता नहीं है। इसी प्रकार जो व्यक्ति प्रिय (मनोज्ञ) वस्तु या व्यक्ति को पाकर हर्षित नहीं होता और अप्रिय (अमनोज्ञ) को पाकर उद्विग्न नहीं होता, ऐसा स्थिरप्रज्ञ, मूढताओं से रहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष परब्रह्म परमात्मभाव में स्थित हो जाता है।[1]

आशय यह है कि सर्वत्र समभाव रखने वाला व्यक्ति स्थितप्रज्ञ, आत्मज्ञानी और परमात्मपद-प्राप्ति के योग्य बन जाता है। अर्थात्—वह समभाव का सम्बल लेकर आत्मा से परमात्मा बन जाता है। भगवद्-गीता में इसे संसारविजेता एवं मुक्त परमात्मा बताते हुए कहा है—

इहैव तैर्जितः स्वर्गो, येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्मस्तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥[2]

---

१ (क) यदृच्छाः लाभ सन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च, कृत्वाऽपि न निबद्धयते॥ ४/२२
(ख) न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य, नो द्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मवित् ब्रह्मणि स्थितः॥ ५।२०
—भगवद्गीता अ. ४/२२, ५/२०

२ भगवद्गीता अ. ५ श्लो. १९।

जिनका मन साम्य में—समत्वयोग में स्थित है, उन्होंने जीते-जी यहीं सारे संसार को जीत लिया अर्थात्—वे जीते-जी जन्म-मरण रूप संसार से मुक्त=पर हो गए, क्योंकि निर्दोष (समस्त दोषों से रहित) शुद्ध आत्मा (ब्रह्म=परमात्मा) स्वयं सम (सममय) है। इसलिए समत्वयोगी परब्रह्म परमात्मा में ही स्थित है, ऐसा समझना चाहिए।

दशवैकालिक सूत्र में ऐसे समत्वयोगी की उपलब्धियों का वर्णन करते हुए कहा गया है—

'सव्वभूयप्पभूयस्स समं भूयाइ पासओ।
पिहिआसवस्स दंतस्स पावकम्मं न बंधइ ॥"[1]

"जो समस्त प्राणियों को आत्मवत् समझता है, समस्त जीवों को समभाव से देखता है, जो आस्रवों का निरोध कर चुका है, जो दान्त है, उसके पापकर्म का बन्ध नहीं होता।"

भगवद्गीता में समत्व को योग कहा गया है। योग का अर्थ होता है—आत्मा को परमात्मा से जोड़ने वाला। आत्मा से परमात्मा बनने के मार्ग में जो भी आरोह-अवरोह, विघ्न-बाधा या उतार-चढ़ाव आते हैं, उन सबको समत्व के माध्यम से पार कराने वाला समत्वयोग है। समत्वयोगी पुरुष की सबसे बड़ी उपलब्धि यही है कि वह विकट से विकट समस्या का भी समभाव के माध्यम से हल निकाल लेता है।

कोई चाहे कि रुपयों-पैसों, साधनों या कोई पद प्रतिष्ठा देकर बदले में समत्वयोग खरीद लूं, अथवा समत्वयोग का फल इहलौकिक, पारलौकिक सुख, समृद्धि, कामभोग आदि के रूप में प्राप्त कर लूं, तो यह असम्भव है। यह भौतिक सम्पदा के रूप में प्राप्त होता तो मगधसम्राट श्रेणिक अपने राज्य के नागरिक पूणिया श्रावक से उसे नहीं खरीद लेता? अतः समत्वयोग भौतिकसम्पदा से प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है। वह बहुमूल्य विशुद्ध आध्यात्मिक सम्पदा है, जिसे पाकर आत्मार्थी साधक इहलोक-परलोक में, प्रत्येक प्रसंग में समभाव से असीम आनन्दरूप लाभ प्राप्त करता है। समभाव से सांगोपांग अभ्यस्त व्यक्ति को भगवद्गीता में परमात्मा का परमप्रिय भक्त बताते हुए कहा गया है–जो व्यक्ति समस्त प्राणियों

---

१. (क) दशवैकालिक सूत्र अ.४ गा.९
(ख) तुलना कीजिए— योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥—भगवद्गीता, अ. ६, श्लो. ७

के प्रति द्वेषभाव-रहित है, जो मैत्री एवं करुणा से ओतप्रोत है, अहंत्व-ममत्व से रहित है, दुःख-सुख में सम रहता है, और क्षमाशील है, तथा जो हानि-लाभ में सतत सन्तुष्ट रहता है, संयम रखता है, दृढ़निश्चयी है, जिसने परमात्मा में मन और बुद्धि को समर्पित कर दिया है, ऐसा समत्व-योगी भक्त मुझे प्रिय है। जिससे न तो लोग उद्विग्न होते हैं, न ही जो लोगों से उद्विग्न होता है, तथा जो हर्ष, अमर्ष (ईर्ष्यायुक्त मनस्ताप), भय और उद्वेग आदि से रहित है, जो किसी से कोई अपेक्षा नहीं रखता, जो अन्दर-बाहर पवित्र है, दक्ष है, उदासीन एवं व्यथारहित है, वही भक्त मुझे प्रिय है। मनोज्ञ वस्तु को पाकर जो हर्षित नहीं होता, और न अमनोज्ञ वस्तु को पाकर द्वेष करता है, तथा जो न शोक करता है, न फलाकांक्षा करता है, जो शुभाशुभ सर्वकर्मों का त्यागी है, वही भक्त मुझे प्रिय है।[1]

जो शत्रु और मित्र पर, मान और अपमान में, शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में सम रहता है, तथा आसक्ति से मुक्त है। निन्दा और स्तुति में तुल्य है, प्रायः मौन रहता है, जो कुछ भी सहज में मिल जाए उसमें जो सन्तुष्ट रहता है, जिसका अपना कोई घरबार नहीं है, तथा स्थिर बुद्धि है, वही भक्त मुझे प्रिय है।[2]

दूसरी दृष्टि से देखें तो समत्वयोगी की ये उपलब्धियाँ ही उसकी अर्हताएँ हैं। इतनी उपलब्धियाँ पाकर वह प्रभु का परम भक्त बन जाता है।

समभाव के अनेक नाम-रूप

समभाव के पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सभी धर्मों और दर्शनों ने समभाव को एक या दूसरे रूप में माना है। कहीं इसे समता कहा गया है, कहीं सामायिक[3], कहीं साम्य या समत्व[4] कहा गया है, कहीं समभाव, कहीं [5]आत्मौपम्य, और कहीं समानता कहा गया है। राजनैतिक क्षेत्र में

---

१ भगवद्गीता अ. १२, श्लो. १३ से १७ तक।

२ भगवद्गीता अ. १२, श्लोक १८-१९।

३ समभावः सामायिकं। —सूत्रकृतांगसूत्रं १/२/२

४ समत्वं योग उच्यते। —भगवद्गीता अ. २, श्लोक ४८

५ आत्मौपम्येन सर्वत्र पश्यति योऽर्जुन !
सुखं वा यदि वा दुःखं, स योगी परमो मतः॥
—गीता अ. ६, श्लोक ३२

इसे 'साम्यवाद' कहा जाता है। परन्तु साम्यवाद प्रायः आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में समानता से सम्बद्ध है। यह सत्ता द्वारा मनुष्यों पर लादा गया साम्यवाद है, मनुष्य की अन्तरात्मा से, स्वेच्छा से स्वीकृत अध्यात्मपरक या आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना पर आधारित समभाव नहीं है। जो समत्व आध्यात्मिक नींव पर प्रतिष्ठित है, वह धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक आदि सभी क्षेत्रों में आत्मौपम्य की भावना को लेकर चलता है। वहाँ विषमता या मन-वचन-काया की सावद्य प्रवृत्ति को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है।

समभाव के मुख्य चार रूप और स्वरूप

इस दृष्टि से समभाव को हम मुख्यतया चार रूपों में वर्गीकृत कर सकते हैं—(१) भावनात्मक, (२) दृष्टिपरक, (३) साधनात्मक और (४) क्रियात्मक।

भावनात्मक समभाव कहीं क्रियात्मक होता है और कहीं नहीं भी होता। परन्तु उसमें भावना प्रधान रहती है। उसे क्रियात्मक रूप अवसर आने पर एक या दूसरे प्रकार से, किसी न किसी निमित्त को लेकर दिया जाता है। दृष्टिपरक में समभाव या समत्व की दृष्टि मुख्य रूप से रहती है, वह व्यवहार में कदाचित् क्वचित् प्रयुक्त होता है। क्रियात्मक समभाव तो समभाव का बिल्कुल सक्रिय और व्यावहारिक रूप है। साधनात्मक समभाव (सामायिक व्रत) में इन तीनों को क्रियान्वित किया जाता है। क्रियात्मक समभाव में समभाव का व्यावहारिक रूप मुख्य होता है। उसके पीछे आध्यात्मिक आत्मौपम्य की पृष्ठभूमि कभी होती है, कभी नहीं भी होती।

(१) भावनात्मक समभाव

चारों प्रकार के समभावों में भावनात्मक समभाव प्रथम है। इसमें भावना की प्रधानता रहती है। विषमता की परिस्थिति में समभाव में स्थिर रहना, भावनात्मक समभाव है।

भावनात्मक समभाव की प्रबलता होने पर साधक शीघ्र ही परमात्मपद को— मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। "भावणाजोगसुद्धप्पा, जले नावा व आहिया" अर्थात्—'जिसकी आत्मा भावनायोग से शुद्ध होती है, वह जल में नौका की तरह भावना की नौका में बैठकर दूर दिखने वाले तट पर पहुँच जाता है, इस सुवचन के अनुसार समभाव की भावना व्यक्ति को

शीघ्र ही अन्तिम मंजिल तक पहुँचा देती है, परमात्मतत्व का तट निकट ही दिखाई देने लगता है।

भावनात्मक समभाव के पांच प्रकार

भावनात्मक समभाव के कई रूप हैं। मुख्यतया उसके पाँच प्रकार हैं—

(१) **समस्त प्राणियों के प्रति समभाव**—आत्मौपम्य भाव। अनुयोग द्वार सूत्र में इसका लक्षण यों दिया गया है—

"जो समो सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं ॥"[1]

जो त्रस और स्थावर सभी प्राणियों पर समभाव रखता है, उसी की सामायिक (समत्वप्राप्ति) होती है, यह केवली भगवान् द्वारा भाषित है। इसी प्रकार 'अप्पसमं मन्निज्ज छप्पिकाए'—षट्कायिक जीवों को आत्मवत् माने-समझे।

(२) **भेदविज्ञानरूप समभाव**—इसी प्रकार शरीर और आत्मा का, स्व और पर का भेदविज्ञान करना, स्वभाव में रमण करना, परभावों के प्रति अहंत्व-ममत्व राग-द्वेष आदि न करना भी समभाव है। मुख्यतया आत्मा को परभावों—विषमभावों से हटाकर स्वभाव में स्थिर करने से समभाव में स्थिति होती है।[2] जैसे कि आचार्य अमितगतिसूरि ने कहा है—

शरीरतः कर्तुमनन्तशक्ति, विभिन्न मात्मानमपास्तदोषम्।
जिनेन्द्र ! कोषादिव खड्गयष्टि, तव प्रसादेन ममाऽस्तु शक्तिः ॥[3]

'हे वीतरागप्रभो ! आपकी स्वभावसिद्ध कृपा से मेरी आत्मा में ऐसी शक्ति प्रकट हो कि मैं शरीर आदि समस्त परभावों से अपनी आत्मा को उसी प्रकार पृथक् कर सकूं। जिस प्रकार म्यान से तलवार अलग की जाती है, क्योंकि मेरी आत्मा अनन्तशक्ति सम्पन्न है, और समस्त दोषों से रहित होने के कारण निर्दोष वीतराग स्वरूप है।

(३) **आत्मभावरमण रूप समभाव**—जैसाकि 'नियमसार' में कहा है—

आवासं जइ इच्छसि, अप्पसहावं कुणदु थिरभावं।
तेण दु सामण्णगुणं, संपुण्णं होदि जीवस्स ॥[4]

---

१ अनुयोगद्वार सूत्र १२८

२ अशेष - पर - पर्यायैरन्यद्रव्यैर्विलक्षणम्।
निश्चिनोति यदात्मानं तदा साम्ये स्थितिर्भवेत्।

३ सामायिक पाठ श्लो. २

४ नियमसार १४७

यदि तू अपने आपमें वास चाहता है, तो आत्मस्वभाव में स्थिरता की भावना कर, उसी से जीव का समत्वगुण (सामायिक) सम्पूर्ण होता है।

इसी प्रकार सामायिक का लक्षण भी समयसार की टीका में इसी प्रकार किया है—

"समयः आत्मा, तेन सहैवैकीभूतेन वर्तनं समायः। तत्प्रयोजनं यस्य तत् सामायिकम्" समय का अर्थ है आत्मा, उसके साथ एकीभूत होकर रहना जिसका प्रयोजन हो वह सामायिक है। अर्थात्— आत्मभावों में रमण करना सामायिक समभाव है।[1]

(४) **मैत्र्यादि भावना मूलक समभाव**—यह समभाव का चतुर्थ प्रकार है। इसमें प्राणियों की भूमिका के अनुसार साधक मैत्री आदि चारों भावनाओं का यथायोग्य संयोजन करता है।

जैसे कि आचार्य अमितगति सूरि ने कहा है—

[2]सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव॥

हे वीतरागदेव! मैं चाहता हूँ कि मेरी आत्मा सदैव प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भावना, गुणिजनों के प्रति प्रमोद भावना, दुःखित-पीड़ित जीवों के प्रति करुणाभावना और धर्म से विपरीत आचरण करने वाले पापी, दुष्ट, दुर्जन या विरोधी जीवों के प्रति माध्यस्थ्य भावना धारण करे।

समभाव का अभ्यासी इन चारों भावनाओं का यथायोग्य प्रयोग करके अपने जीवन में प्रमाद से प्रविष्ट हो जाने वाली विषमताओं को दूर करके समभाव को प्रतिष्ठित कर लेता है। उत्तराध्ययन सूत्र एवं आवश्यक सूत्र में 'विश्वमैत्री' के सूत्र मिलते हैं—

अप्पणा सच्चमेसेज्जा मेत्तिं भूएसु कप्पए।
"मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणइ।"[3]

अर्थात्—'अपने आपसे दूसरे की तुलना करके सत्य को ढूंढो और प्राणि मात्र के प्रति मैत्रीभाव रखो।' 'मेरी समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री है, किसी

---

१ समयसार टीका
२ सामायिक पाठ श्लोक १
३ (क) उत्तराध्ययन सूत्र अ. ६
(ख) आवश्यक सूत्र

के प्रति भी वैरभाव (द्वेष, ईर्ष्या या शत्रुता का भाव) नहीं है।' इसी प्रकार एक आचार्य ने "सर्वजीव मैत्री को समभाव (साम) कहकर, उसके लाभ (आय) को सामायिक कहा है।[1] प्रमोदभावना भी समतारस की पोषक है। गुणीजन, फिर चाहे वह किसी भी धर्म, सम्प्रदाय, जाति, कौम, राष्ट्र, प्रान्त या मत दर्शन के हैं, उनके प्रति दोषदृष्टि, ईर्ष्या, असूया, घृणा, वैरविरोध की भावना रखने से विषमता होती है, कर्मबन्ध होता है, उनके गुणों को देखकर मुदित होने तथा गुणग्राहकता की भावना रखने से समभाव की पुष्टि होती है। 'मेरी भावना' में प्रमोद भावना का रहस्य बताया गया है—

"गुणग्रहण का भाव रहे नित, दृष्टि न दोषों पर जावे।"[2]

इसी प्रकार दुःखित एवं पीड़ित प्राणियों के प्रति करुणा भावना, आत्मौपम्य भाव-आत्मतुल्यभाव-समभाव की पोषक है।

इसी प्रकार माध्यस्थ्य भावना भी समभावपूर्ण चित्त की द्योतक है। मध्यस्थ का भाव माध्यस्थ्य कहलाता है। मध्यस्थ के विभिन्न अर्थों पर दृष्टिपात कीजिए—

(१) मध्यस्थ का अर्थ है—सम, जो अपनी आत्मा के समान ही दूसरों को देखता है। (२) किसी के प्रति रागद्वेषपूर्वक पक्षपात न करना माध्यस्थ्य है। (३) जो अति उत्कट रागद्वेष से रहित होकर समचित्त रहते हैं, वे मध्यस्थ हैं।[3] माध्यस्थ्य भावना की सार्थकता इसी में है कि जो दुष्ट, दुर्जन, विरोधी, निन्दक, दोषदर्शी, पापी, उद्दण्ड एवं असहमत हैं, उनके प्रति द्वेष, विरोध, रोष, पूर्वाग्रह, वैरभाव, घृणा, दोषदृष्टि न रखकर तटस्थभाव, निष्पक्ष भाव या मध्यस्थभाव रखना। राग (मोह या आसक्ति) का कारण उपस्थित होने पर राग न करना तथैव द्वेष का कारण उपस्थित होने पर द्वेष न करना।[4] ये चारों भावनाएँ आगे चलकर भावना न रहकर सक्रिय भी

---

१ सर्वभूतमैत्री-साम, तस्याय-लाभः समायः, समाय एवं सामायिकम्।

२ मेरी भावना।

३ (क) मध्यस्थ समः यः आत्मानमिव परं पश्यति। —आचार्य मलयगिरि

(ख) राग द्वेष पूर्वक पक्षपातामावो माध्यस्थ्यम्।
—तत्त्वार्थ राजवार्तिक तथा सर्वार्थसिद्धि

(ग) अत्युत्कट-रागद्वेष विकलतया समचेतसो मध्यस्थाः। —व्यवहारसूत्र टीका

४ राग कारण सम्प्राप्ते न भवेद् रागयुग्मनः।
द्वेषहेतौ न च द्वेषस्तमास्मान्माध्यस्थ्य गुणः स्मृतः॥

हो सकती हैं, परन्तु इन सबकी बुनियाद में समभाव अवश्य होना चाहिए।

(५) **पारिस्थितिक समभाव**—सुख-दुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा, हार-जीत, शत्रु-मित्र, स्वर्ण-पाषाण, भवन-वन, इष्टवियोग-अनिष्टयोग, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति, प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्वों में या परिस्थितियों में राग-द्वेष की परिणति को छोड़कर ममत्वबुद्धि से रहित होकर मन को समभाव में स्थिर रखना पारिस्थितिक समभाव है। अमितगति श्रावकाचार में इसे ही सामायिक कहा गया है—

जीविते-मरणे योगे-वियोगे, विप्रिये-प्रिये।
शत्रौ मित्रे सुख दुःखे साम्यं सामायिकं विदुः।[1]

जीवन-मरण, संयोग-वियोग, अप्रिय-प्रिय, शत्रु-मित्र, एवं सुख-दुःख में समभाव रखने को सामायिक कहा गया है।

सामायिक पाठ में भी कहा गया है कि हे नाथ! समस्त ममत्वबुद्धि को दूर कर के मेरा मन दुःख में, सुख में, वैरियों में, बन्धुओं में, संयोग में, वियोग में, भवन में, वन में, सर्वत्र रागद्वेष का भाव छोड़कर सम बना रहे।

ये पाँच प्रकार भावनात्मक समभाव के है।[3]

(२) **दृष्टिपरक समभाव**

दूसरा रूप दृष्टिपरक समभाव है। इसमें समत्व की—समभाव की दृष्टि ही प्रधान रहती है। जैसे कि सूत्रकृतांग सूत्र में कहा है—

[3]सव्वं जगं तु समयाणुपेही, पियमप्पियं कस्सवि नो करेज्जा।

समस्त जगत् को समभाव से देखता है, वह न किसी का प्रिय करता है और न किसी का अप्रिय। अर्थात् समदर्शी अपने-पराये के भेदभाव से रहित होता है। भगवद्गीता में समदर्शी को पण्डित बताते हुए कहा गया है—

विद्या-विनय-सम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥[4]

---

१ अमितगति श्रावकाचार

२ दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे योगे वियोगे भवने वने वा।
निराकृताशेष ममत्वबुद्धेः समं मनो मेऽस्तु सदाऽपि नाथ!॥
—सामायिक पाठ श्लो. ३

३ सूत्रकृतांग सूत्र श्रु. १

४ भगवद्गीता अ. ५ श्लो. १८

पण्डितजन विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण में और गाय, हाथी, कुत्तों और चाण्डाल को समभाव=आत्मौपम्यभाव से देखने वाले समदर्शी होते हैं। समवर्त्ती नहीं। इतना ही नहीं, प्राणिमात्र को समदर्शी साधक आत्मवत् दृष्टि से देखता है। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है—

अप्पसमं मन्निज्ज छप्पिकाए।[1]

छह ही काय के जीवों को आत्मवत् मानो-देखो। इतना ही नहीं गीता में दर्शनात्मक समभाव को व्यापक रूप देते हुए कहा गया है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन!।
सुखं यदि वा दुःखं, स योगी परमो मतः॥[2]

हे अर्जुन! जो समत्वयोगी सर्वत्र आत्मवत्—(अपने सदृश सम्पूर्ण प्राणियों को) देखता है, वह दुःख हो चाहे सुख, सब में सम रहता है। वह परमश्रेष्ठ योगी माना गया है।

सर्वभूतस्थमात्मानं, सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग-युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥[3]

अपनी आत्मा को सभी प्राणियों और सभी प्राणियों को अपनी आत्मा में जो योगयुक्तात्मा सर्वत्र देखता है, वह सर्वत्र-समदर्शी है। दशवैकालिक में उस समदृष्टि—समदर्शी की पहचान इस प्रकार बताई गई है—

वियाणिया अप्पगमप्पएणं, जो राग-दोसेहिं समो स पुज्जो।[4]

जो अपने को अपने से जान कर राग-द्वेष के प्रसंगों में सम रहता है, वही साधक पूजनीय होता है।

(३) साधनात्मक समभाव

इसमें समभाव का साधनात्मक रूप है। भगवान् महावीर ने साधु के लिये यावज्जीवन सामायिक साधना (समभाव का अभ्यास) बताई है, और गृहस्थ के लिए एक सामायिक की साधना एक मुहूर्त्त की बताई है। गृहस्थ के सामायिक व्रत को शिक्षाव्रत कहा गया है। शिक्षा का मतलब है—पुनः-पुनः अभ्यास करना। सामायिक साधना के माध्यम से वह बार-बार सम-

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र
२. भगवद्गीता अ. ६, श्लो. ३२
३. वही, अ. ६, श्लो. २९
४. दशवैकालिक सूत्र अ. ९ उ. ३ गा. ११

भाव का अभ्यास करता है। सामायिक साधना का अर्थ एक आचार्य ने इस प्रकार किया है—

"समः—सावद्ययोग-परिहारः निरवद्य-योगानुष्ठानरूप—जीव-परिणामः, तस्य आयः लाभः समायः समाय एव सामायिकम्।[1]

सम का अर्थ है—सावद्य (पापमय) योगों (मन-वचन-काय-जनित प्रवृत्तियों) का त्याग करके, निरवद्य (अहिंसा, सत्य, संयम तप आदि पाप रहित) त्रिविध प्रवृत्तियों (योगों) का अनुष्ठानरूप जीव का परिणाम। उसका लाभ ही समायिक है।

अनुयोग द्वार सूत्र में साधनात्मक सामायिक का लक्षण इस प्रकार बताया है—

जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे णिअमे तवे।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि-भासिअं॥[2]

जिसकी आत्मा संयम में, नियम में और तप में सुस्थिर है, उसी की सच्ची सामायिक होती है—ऐसा केवली भगवान् ने कहा है। साधनात्मक समभाव के मूल में शुभभावना, समदृष्टि, आत्मौपम्य भावना आदि का भी समावेश हो जाता है। जैसा कि सामायिक व्रत का लक्षण दिया गया है—

समता सर्वभूतेषु संयमः शुभभावनाः।
आर्त्त-रौद्र-परित्याग स्तद्धि सामायिकं व्रतम्॥[3]

समस्त प्राणियों के प्रति समभाव, संयम, मैत्री आदि शुभ भावनाएँ तथा आर्त्त-रौद्र ध्यान का परित्याग करना, यह है सामायिक व्रत। सामायिक व्रत की साधना में श्रावक साधु के जैसा हो जाता है।[4] वस्तुतः चारित्र ही समभाव-साधना है।[5]

कई श्रावकों का समभाव यहाँ तक सुदृढ़ होता है कि वे मरणान्त कष्ट आने पर भी अडिग रहते हैं। जैसा कि आचारांग में कहा है—

जीवियं नाभिकंखिज्जा, मरणं नावि पत्थए।
दुहओ वि न सज्जेज्जा, जीविए मरणे तहा॥[6]

---

१ एक आचार्य २. अनुयोगद्वार सूत्र १२७

३ एक आचार्य

४ सामाइयंमि उ कए, समणो सावओ हवइ जम्हा। —आवश्यक निर्युक्ति ८०२

५ चारित्तं समभावो। —पंचास्तिकाय १०७

६ आचारांग श्रु. १, अ. ८, उ. ८

न जीने की आकांक्षा करे और न मरने की कामना करे। वह जीवन और मरण दोनों में ही किसी प्रकार की आसक्ति न रखे, सम रहे।

क्षमता के बिना समता की उत्कृष्ट साधना नहीं हो सकती

समता की इस प्रकार की उच्च साधना का विकास उसी साधक में हो सकता है, जिसमें क्षमता हो, प्रखर आत्म विश्वास हो। जिस व्यक्ति में दीनता-हीनता की भावना होगी, आत्मविश्वास नहीं होगा, वहाँ क्षमता नहीं होगी और क्षमता के बिना समता का विकास नहीं हो सकता।

चंपानगरी के सुदर्शन सेठ को मिथ्यादोषारोपण के कारण शूली पर चढ़ा दिया गया। परन्तु उसके चेहरे पर किसी प्रकार की चिन्ता-व्यथा की रेखा नहीं थी, कुछ ही क्षणों बाद शूली सिंहासन के रूप में परिवर्तित हो गई, तब भी चेहरे पर अहंकार व गर्व भाव नहीं, सहज प्रसन्नता थी। यह था क्षमता के विकास के कारण समता के विकास और आत्म-विश्वास का चमत्कार!

क्रियात्मक समभाव

यह समभाव का अन्तिम प्रकार है। जाति, प्रान्त, राष्ट्र, धर्मसम्प्रदाय, परिवार, समाज, संघ आदि में जो समभाव का व्यवहार किया जाता है, उसे क्रियात्मक समभाव कहते हैं। जातिगत, राष्ट्रगत आदि सक्रिय समभाव कभी-कभी सम्मेलन, प्रेममिलन, एक दूसरे के उत्सवों समारोहों, त्यौहारों आदि में सम्मिलित होने के रूप में दृष्टिगोचर होता है। कभी-कभी सक्रिय समभाव में औपचारिकता आ जाती है, उसके पीछे समभाव की जो आत्मौपम्य एवं मैत्री की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि होनी चाहिए वह नहीं होती। फिर भी यह सक्रिय समभाव कषायों एवं आर्त्त-रौद्रध्यान को मन्द करने में बहुत ही सफल होता है।

सर्वांगीण समभाव का पाथेय : अन्तिम मंजिल तक पहुँचाने में सक्षम

पूर्वोक्त चारों प्रकार के मुख्य समभावों को अपनाने पर ही 'सर्वांगीण समभाव' होता है। सर्वांगीण समभाव का सम्बल लेकर जो अध्यात्मयात्री आत्मार्थी साधक चलता है, वह एक दिन अवश्य ही परमात्मभाव की मंजिल को प्राप्त कर लेता है। मार्ग की विघ्न-बाधाओं, समस्याओं का समाधान एवं हल भी वह समत्वबुद्धि से करता हुआ आगे बढ़ जाता है। अतः प्रत्येक आध्यात्मिक यात्री—आत्मार्थी को सर्वांगीण समभाव का पाथेय अवश्य साथ में लेकर अपनी यात्रा करनी चाहिए, ताकि निराबाध रूप से वह अन्तिम मंजिल तक पहुँच सके। ●

११

निर्विकल्पदशा से परमात्मतत्त्व में लीनता

'अप्पा सो परमप्पा' इस सिद्धान्त को क्रियान्वित करने के लिए आध्यात्मिक जगत् में कई प्रकार की साधनाएँ साधकों की विभिन्न रुचि, गति-मति, परिस्थिति, क्षमता और योग्यता के अनुसार बताई गई हैं।

जैनदर्शन इस तथ्य पर सिर्फ एक ही दृष्टि से प्रतिपादन नहीं करता, वह अनेकान्त दृष्टि से, विभिन्न पहलुओं से, भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं और विविध दृष्टिबिन्दुओं से इस सिद्धान्त को क्रियान्वित करने का निर्देश करता है।

परमात्मतत्त्व में लीनता के लिए सर्वश्रेष्ठ साधना

आत्मा से परमात्मा बनने के लिए परमात्मतत्त्व में लीन होना अत्यन्त आवश्यक है। परमात्मतत्त्व में लीनता के बिना आत्मा परमात्मा नहीं बन सकती। अतः परमात्मतत्त्व में लीनता के लिए सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक साधना निर्विकल्प दशा की साधना है। निर्विकल्प दशा सर्वप्रथम शुद्ध आत्मा में लीन-स्थिर-एकाग्र होने की दशा है। आत्मा की शुद्ध दशा ही निर्विकल्प अवस्था है, इसी का दूसरा नाम परमात्मतत्त्व में लीनता है। परमात्मतत्त्व में लीन होते ही साधक स्वयं सिद्ध-परमात्मा हो जाता है। 'परमानन्द पंचविंशति' में इसी आशय को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

आनन्दरूपं परमात्मतत्त्वं, समस्त-संकल्प-विकल्प-मुक्तम्।
स्वभावलीना निवसन्ति नित्यं, जानाति योगी स्वयमेव तत्त्वम्॥[1]

वह परमात्मतत्त्व समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित आनन्दरूप है।

---

१ परमात्म पंचविंशति, श्लोक १२

सकता है, जो स्वभाव-आत्मभाव में लीन है—आत्मा में ही [illegible] रहते हैं। (निर्विकल्प दशा प्राप्त करके जो एकमात्र आत्मभाव में लीन रहता है) वह अध्यात्म-योगी स्वयमेव उस तत्त्व (परमात्मतत्त्व) को जान लेता है।

यह निश्चित है कि निर्विकल्प—विकल्पों से मुक्त-रिक्त हुए बिना कोई भी आत्मार्थी साधक एकमात्र आत्मा में स्थिर नहीं हो सकता। आराधना सार में स्पष्ट कहा है—

सुण्णीकयम्मि चित्ते णूणं अप्पा पभासेइ।

चित्त को विकल्पों से शून्य करने पर ही आत्मा शुद्ध रूप में प्रकाशित होती है।[1] और एकमात्र आत्मा में स्थिर या लीन हुए बिना वह परमात्मतत्त्व में लीन नहीं हो सकता। इसीलिए आचार्य अमितगति ने कहा है—

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं, संसार-कान्तार-निपातहेतुम्।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो, निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे॥[2]

संसाररूपी अटवी में भटकने के लिए डालने वाले समस्त विकल्पों के जाल का त्याग करके इनसे पूर्णतया भिन्न=पृथक् एकमात्र आत्मा को देखता रहेगा, तो तू परमात्मतत्त्व में लीन हो सकेगा।

विकल्पों के प्रवाह में आत्मा को भी भूल जाता है

विकल्प शुभ हों अशुभ, सुविकल्प हो या दुर्विकल्प आत्मा को परमात्मभाव की ओर गति-प्रगति करने में बाधक हैं। ये मनुष्य के मन को क्षुब्ध, अशान्त, उद्विग्न, परतन्त्र, आवेशग्रस्त, क्रुद्ध, मुग्ध, कामुक, शोकग्रस्त, चिन्तातुर एवं असन्तुलित बना देते हैं। विकल्पों के बादल जब उमड़-घुमड़ कर मनुष्य के मन-गगन पर छा जाते हैं, तो मनुष्य व्याकुल हो उठता है, बात-बात में अपने स्वभाव (आत्म-भाव) से विचलित हो जाता है, उद्विग्न और भयभीत होकर वह अपने आप (आत्मा) को भी भूलकर अपना आपा खो बैठता है। सन्तुलन खोकर न कहने योग्य कह देता है, न

---

१ आराधनासार ७४
२ सामायिकपाठ (अमितगतिसूरि) श्लो. १९

करने योग्य करता है और न सोचने योग्य सोचता है। विकल्पों के प्रवाह में मनुष्य न जाने कहाँ से कहाँ बह जाता है ?

एक बालक की कथा प्रसिद्ध है। वह माँ के कहने से घर से ननिहाल जाने के लिए चला था। रास्ते में एक जगह मेला लगा हुआ था। वहाँ के दृश्यों में वह इतना खो गया कि उसे बिलकुल याद ही नहीं रहा कि मैं घर से क्यों और कहाँ जाने के लिए निकला था ? वह अपने लक्ष्य और उद्देश्य को भूल गया। वह यहाँ तक सुध-बुध खो बैठा कि अपने ननिहाल के गाँव का नाम-पता भी उसे स्मरण न रहा।

यह कहानी विकल्पों की भूलभुलैया में पड़े हुए सभी संसारयात्रियों पर लागू होती है। वे भी विकल्पों की रंगीन दुनिया में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि उन्हें ही अपनी सुख-शान्ति, स्वस्थता, निश्चिन्तता एवं स्वतंत्रता के कर्णधार मानते हैं। विकल्पों के प्रवाह में बहकर वे अपना अता-पता, नाम-ठाम, अपना गन्तव्य लक्ष्य, और अपना स्वरूप तक भूल जाते हैं। वे असमंजसभरी स्थिति में खिन्न, शान्त, उदास एवं निराश होकर खड़े हैं, यह जानने के लिए कि हम कौन हैं ? कहाँ से आए हैं ? कहाँ जाना है ? अभी हम कहाँ पर हैं ? और जब वे इन्हीं प्रश्नों के उत्तर विकल्पों के सहारे से सोचने बैठते हैं तो उन्हें धर्म, जाति, वंश, परिवार, प्रान्त, भाषा, देश, सम्प्रदाय, व्यवसाय, या वर्ण की दृष्टि से भिन्न-भिन्न मिलेंगे, जिनकी उनके शुद्ध आत्मा के साथ कोई संगति या सम्बद्धता नहीं होगी, न ही इन या ऐसे ही विकल्पों के रूप में प्राप्त उत्तरों से किसी प्रकार से आत्मशान्ति आत्मविकास, आत्मशुद्धि या आत्मशक्ति की प्रेरणा मिलेगी, और न ही आत्मभावों या आत्मगुणों में तल्लीन-तन्मय होने की कोई स्फुरणा जागेगी। बल्कि जैन, वैष्णव, ओसवाल, अग्रवाल, हिन्दू, मुसलमान, हिन्दुस्तानी, पाकिस्तानी, राजस्थानी, पंजाबी, बंगाली, हिन्दीभाषी, तमिलभाषी, वस्त्र-व्यवसायी, बर्तन के व्यापारी आदि विकल्पों की भीड़ मन-मस्तिष्क पर इतनी अधिक हावी हो जाएगी कि उन्हें आध्यात्मिक विकास का, या आत्मा से परमात्मा बनने का कोई भी सही रास्ता नहीं मिलेगा। ये विकल्प मनुष्य को विविध कुकल्पनाओं, व्यर्थ की तरंगों, असम्बद्ध विचारों अथवा कामोत्तेजक विकारों के बीहड़ों में भटका-भटका कर थका देंगे। वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर सारी जिन्दगी भर इन्हीं विकल्पों के उत्पथ में भटकता फिरेगा, किन्तु अपनी मंजिल और यथार्थ मार्ग नहीं पा सकेगा।

विकल्प से विरक्त होने पर परमात्मपद की प्राप्ति का ज्ञान

वह अपना, अपने मार्ग और मंजिल का यथार्थ परिचय और निश्चित उत्तर पा सकेगा—विकल्पों के चंगुल से मुक्त होकर, निर्विकल्पदशा अपनाने पर ही। भले ही वह अभी विकल्पों से पूर्णतया रिक्त या मुक्त न हुआ हो, परन्तु विकल्पबुद्धि से विरक्त अनासक्त तो हो ही सकता है, निर्विकल्प अवस्था का सुखद अनुभव तो करने ही लगता है। निर्विकल्पदशा को यत्किंचित् रूप में अपनाने पर भी जिज्ञासु आत्मार्थी सम्यग्दृष्टि साधक को पूर्वोक्त उत्तरों में से एक भी विकल्पात्मक उत्तर नहीं मिलेगा। "मैं कौन हूँ ?" इसका एकमात्र उत्तर 'आत्मा' ही होगा निर्विकल्पदृष्टि से। निश्चय नय की दृष्टि से उत्तर होगा—बाह्य समस्त विकल्पों को छोड़कर-समेटकर एकमात्र शुद्ध आत्मा में लीन होना। मैं कहाँ से आया और कहाँ जाना है ? तथा क्या करना है ? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर भी आत्मा की दृष्टि से होगा। व्यवहारनय की दृष्टि से भी यह आवश्यक उत्तर होगा। कर्मोदय-वशात् नाना गतियों से यह आत्मा मनुष्य-गति में आया है और इसकी अन्तिम मंजिल—मुक्ति या परमात्मपद की प्राप्ति है। जहाँ से वापस नहीं लौटना है।

विकल्पों की आशा और निर्देश में लक्ष्यभ्रष्ट होकर भटकता रहा

परन्तु मंजिल तक पहुँचाने के झूठे सब्जबाग दिखाने वाले विकल्पों और महत्त्वाकांक्षाओं के चौराहों में चलते-चलते चरण भी पथ का आदि और अन्त न पाकर लड़खड़ाने लगते हैं। धरती के रौद्र, भयानक, वीभत्स और शृंगार रस से युक्त रंग-बिरंगे विकल्पों से मनुष्य के मन-मस्तिष्क त्रस्त, अशान्त, व्याकुल, कुण्ठित और व्यग्र हो जाते हैं। विकल्पों के दल-दल में फँसने से प्रकृति के कण-कण से स्फुरित होने वाले जागरण-सन्देश सुनते-सुनते कान बधिर हो जाते हैं, लेकिन कदम अभी तक श्रवण की भूमिका से आगे नहीं बढ़ पाते, साधक की आँखें विकल्पों की चकाचौंध में, अतीत का इतिहास पढ़ते-पढ़ते ज्योतिविहीन हो जाती हैं, वर्तमान की छवि निहारते-निहारते वे ऊब जाती हैं और भविष्य के मोहक सपने संजोते-संजोते तथा भविष्य के गर्भ में छिपी अनन्त सम्भावनाओं की कल्पना करते-करते दिमाग थक जाता है। इन दुर्विकल्पों या व्यर्थ-विकल्पों एवं सुवि-कल्पों के मार्गनिर्देश में भ्रान्त होकर मनुष्य मुक्ति या परमात्मप्राप्ति की आशा में भटकता है। इन्हीं विकल्पों से प्रादुर्भूत कल्पनाओं की मृगमरीचिका

देखकर परमात्मतत्त्व प्राप्ति की पिपासा बुझाने हेतु बतहाशा दौड़ लगाता है, पर उससे अन्त तक अन्तिम लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता।

निर्विकल्प अवस्था की प्राप्ति कब होगी ?

इसीलिए अध्यात्मयोगी आत्मार्थी मुमुक्षुओं ने परमात्मभाव की प्राप्ति के लिए साधक को सभी शुभाशुभ विकल्पों से निवृत्त होने और एकमात्र आत्मभाव (आत्मा) में प्रवृत्त होने की स्वानुभूत प्रेरणा दी है।

उन्होंने बार बार साधक को चेतावनी दी कि विकल्पों पर विजय पाये बिना आत्मसमाधि, आत्मशान्ति, आत्मस्वस्थता अथवा शुद्ध आत्म-लीनता या परमात्मलीनता कथमपि प्राप्त नहीं होगी। इसलिए अगर तुम परमात्मा के अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त आनन्द के खजाने को प्राप्त करना चाहते हो तो तुम्हें विकल्पों और विचारों की दुनिया को छोडकर निर्विकल्प और निर्विचार की भूमिका पर पहुँचना होगा। भले ही साधक की आत्मा अभी नाना विकल्पों के घोड़ों पर मन, इन्द्रियों, विचारों, स्मृतियों, कल्पनाओं और तरंगों के माध्यम से चारों ओर भाग-दौड़ कर रही हो, उसे अपनी छितरती-बिखरती चिन्तनशक्ति और बाह्य पदार्थों के विकल्पों में व्यय होती हुई मनन-दक्षता को उस ओर बर्बाद होने से रोककर एकमात्र आत्मा में, आत्मा के शुद्ध स्वभाव में केन्द्रित करनी होगी। इन्द्रियों के द्वार अवरुद्ध करके, स्वेच्छाचारपूर्वक भटकते हुए विचारों, कल्पनाओं और स्मृतियों की खिड़कियाँ बन्द करके चारों ओर भगदड़ मचाती हुई विचार शक्ति को समेट कर अपनी चेतना के मूल स्थान में स्थापित करनी होगी। तभी आत्मार्थी साधक की बिखरी हुई आत्मशक्ति केन्द्रित और वृद्धिगत होगी। उसे इन्द्रियविषयों के विचार, कषाय-जनित विकल्प, स्मृति और तमाम कल्पनाओं आदि से सर्वथा निवृत्त करके शुद्ध आत्मज्ञान की, शुद्ध आत्मश्रद्धा की, शुद्ध उपयोग की और सहज आत्मानन्द की स्थिति में प्रवृत्त करना होगा। समस्त विकल्पों से मन को निवृत्त किये बिना आत्मा में आनन्द, शान्ति, ज्ञान-दर्शन, आत्म-शक्ति एवं समता फलित नहीं होगी। निवृत्ति का अर्थ निष्क्रियता नहीं, अपितु विकल्पों से विरक्ति—विकल्पों में अप्रवृत्ति है। मन को विकल्पों से निवृत्त-विरक्त किये बिना वह बार-बार विक्षुब्ध, असन्तुलित और व्यग्र होता रहेगा, इन्द्रियाँ मन के इशारे पर अनावश्यक विषयों में भागदौड़ करती रहेंगी। इन्द्रियाँ और मन दोनों ही, शुद्ध चेतना में स्थित होने में बार-

बार विघ्न बाधा उपस्थित करेंगे। अतः साधक को मन की चिन्तन क्षमता से पर्याप्त लाभ उठाने के लिए जागृत, बाहोश, सावधान और अप्रमत्त रह कर उसे आत्मभावों में केन्द्रित करना होगा। उसे बार-बार यह जानना-देखना होगा कि मन कहीं किसी विकल्प में तो नहीं भटक रहा है।

आत्मा का परमात्मा के मूल स्वभाव में स्थिर होना निर्विकल्प दशा है

मनुष्य प्रायः इन्द्रियों और मन के विकल्पों में सुख मानता है, परन्तु जितने-जितने इन्द्रिय-विषयों के और मन के विकल्प वह बढ़ाता है, उतनी-उतनी अशान्ति, चिन्ता, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, लोभादि बढ़ते जाते हैं, अशांति की ज्वाला अधिकाधिक भड़कती है। ज्यों-ज्यों मनुष्य विकल्पों के दलदल में धंसता जाता है, त्यों-त्यों वह सुख-शान्ति से दूर होता जाता है। जिसको वह सुख मानता है, वह सुख नहीं, दुःखाग्नि भड़काने वाला सुखाभास सिद्ध होता है। जिस भौतिक ज्ञान को वह ज्ञान मानता है, वह ज्ञान भी आत्मिक विकास और आनन्द देने वाला नहीं होता, वह कुज्ञान सिद्ध होता है, जो उसे मोह, स्वार्थ, लोभ, हिंसा, एवं अन्धविश्वास, ईर्ष्या, द्वेष की ओर धकेलता है। उसकी श्रद्धा भी विकल्पों के संसर्ग के कारण भौतिकवाद, तथा परपदार्थों एवं विभावों पर होती है, जो विनाशकारी सिद्ध होती है। उसकी शक्ति भी अहिंसादि आचरण के पुरुषार्थ में न लग कर हिंसा, असत्य, चोरी आदि में तथा रागद्वेष मोह, कषायादि विभावों में लगती है। फलतः आत्मा की ये चारों स्वभाव शक्तियाँ—ज्ञान, दर्शन, आनन्द और वीर्य—विकल्पों में बहककर विपरीत मार्ग में बहती है। जबकि निर्विकल्पता या विकल्पों की न्यूनता होने पर जो निर्विकल्प ज्ञान प्राप्त होता है, वह अमृतरस के समान लगता है। जैसा कि **'परमानन्द पंचविंशति'** में कहा है—

निर्विकल्पं समुत्पन्नं ज्ञानमेव सुधारसम्।
विवेकमंजलिं कृत्वा, तं पिबन्ति तपस्विनः ॥[1]

आत्मा में जब निर्विकल्प ज्ञान समुत्पन्न होता है, तब वह अमृत रस के समान स्वादिष्ट और रोचक लगता है। तपस्वी आत्मार्थी पुरुष विवेक की अंजलि बनाकर उससे उसे पीते हैं।

इसी प्रकार निर्विकल्प श्रद्धा भी सुधा के स्वाद की तरह आनन्ददायिनी है। वह आत्मा को अखण्ड, आनन्द, पूर्ण ज्ञान-दर्शन-चारित्र से अभिन्न

---

१ परमानन्द पंचविंशति श्लो. ५।

मानती है। और उस पर विकल्परहित श्रद्धा है। व्यवहार दृष्टि से आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि पर्याय अलग-अलग माने जाते हैं परन्तु निश्चय दृष्टि से आत्मा के चारों मूल स्वभावों को गुण-गुणी अभेद रूप मानना, बुद्धि में लेना निर्विकल्प श्रद्धा है। इसीप्रकार निर्विकल्प सुख (आनन्द) ही वास्तविक सुख (आनन्द) है, वह भी आत्मा के साथ अभिन्न है। जैसे कि बृहत्कल्प भाष्य में कहा गया है—"निव्विकप्पसुहं सुहं।"[1]

आशय यह है कि जब साधक चारों ओर बिखरी-छितरी हुई अपनी आत्मा स्वाभाभिक गुणों को समेट कर एकमात्र आत्मा में स्थापित कर देता है, जहाँ विकल्पों से सर्वथा विरति हो जाती है, आत्मा शुद्ध उपयोग की स्थिति में चला जाता है, तभी निर्विकल्पता की स्थिति प्राप्त होती है। उपयोग का अर्थ है—चैतन्य की ज्ञान-दर्शनमयी शुद्ध प्रवृत्ति। ऐसी शुद्ध प्रवृत्ति में कोई विकल्प या विचार नहीं आता। निर्विकल्पों की स्थिति में आत्मा की शुद्ध अवस्था होती है। जहाँ संकल्प-विकल्पता का तांता टूट जाता है। आत्मा अपने निजस्वरूप में अवस्थित हो जाता है। आत्मा का मन के साथ यानी मन से उत्पन्न विचारों-विकल्पों के साथ तांता टूट जाना ही इस स्थिति को प्राप्त करना है। इस अवस्था में साधक सच्चे माने में अन्तर्मुखी होता है, वह सक्रियता-निष्क्रियता दोनों से पर हो जाता है। वह आत्मा को आत्मा से देखने लग जाता है, और परमात्म तत्त्व में लीन हो जाता है। निर्विकल्प स्थिति तक पहुँचने के लिए मन के साथ सम्बन्ध को तोड़ना आवश्यक है। जहाँ तक मन सक्रिय है, कुछ न कुछ उछल कूद मचाता है, एक शब्द से दूसरे शब्द पर, एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर संक्रमण या विचरण करता है, एक चिन्तन-व्यापार से दूसरे चिन्तन व्यापार पर जाता है, वहाँ तक पूर्ण शुद्ध निर्विकल्प दशा नहीं आती। जब मन की दौड़-भाग बन्द होगी, तभी निर्विकल्प अवस्था आएगी। यदि मन किसी एक विषय में चंचल हो, और शेष विषयों में चंचल न हो, स्थिर हो तो उसे पूर्ण स्थिरता नहीं, आंशिक स्थिरता ही समझनी चाहिए। जब मन विकल्प-विचारों से पूर्णतया निवृत्त हो जाएगा, मन में किसी प्रकार का चिन्तन नहीं चलेगा, तब वह स्व-भाव में स्थिर हो जायगा, यही पूर्ण-शुद्ध निर्विकल्प स्थिति है।

---

१ बृहत्कल्प भाष्य गा. ५७१७।

यह निर्विकल्प स्थिति समतायोग का अन्तिम सोपान है। यह आध्यात्मिक साधना का उत्कर्ष है। योगीश्वर आनन्दघनजी ने निर्विकल्प दशा की साधना करने वाले साधकों को प्रेरणा दी है—

"शब्द-अध्यातम अर्थ सुणीने, निर्विकल्प आदरजो रे।"[1]

इसका तात्पर्य यह है कि अध्यात्मशास्त्र में कथित अध्यात्मशब्द की व्याख्या सुनकर अथवा किसी अध्यात्मतत्त्व-प्रतिपादक आध्यात्मिक से अध्यात्म शब्द सुनकर उसमें से नाम-अध्यात्म, स्थापना-अध्यात्म और द्रव्य-अध्यात्म का त्याग करके यथार्थ भाव-अध्यात्म को अपनाना, जो कि निर्विकल्पदशा प्राप्त करने के लिए आलम्बन है। भाव-अध्यात्म को विश्लेषण-पूर्वक जान लेने पर किसी के भी त्याग या ग्रहण का विकल्प नहीं उठता। उसकी बुद्धि विषयों के विकल्पों के प्रति स्वतः उदासीन या तटस्थ हो जाती है। 'आचारांगसूत्र' में निर्विकल्प साधक की स्थिति का संकेत इस प्रकार मिलता है—

'एवं से उट्ठिए ठियप्पा अणिहे अचले चले अबहिलेस्से परिव्वए।'[2]

इसका भावार्थ यह है कि इस प्रकार वह अध्यात्म-साधक निर्विकल्प-साधना के लिए उत्थित—उद्यत होकर स्थितात्मा (आत्मा को स्वभाव में स्थिर करने वाला) हो जाता है, फिर वह अनीह (विकल्पों की स्पृहा—आसक्ति से या चेष्टा से रहित) (आत्म-ध्यान में) अचल (स्थिर) और ज्ञानस्वरूप में चल (प्रवृत्त), तथा आत्म-बाह्य लेश्या से रहित होकर विचरण करता है।

वस्तुतः शुद्ध आत्मा का सतत् अनुसन्धान करने से निर्विकल्प अवस्था प्राप्त होती है, जो परमात्मभाव प्राप्ति का कारण है। अतः इस अवस्था को प्राप्त करने के इच्छुक साधक को ज्ञानपूर्वक अन्तर्मुख होकर दृश्य के साथ तादात्म्य का अनुभव न करके उसका केवल द्रष्टा बनकर रहना और अपने शरीर और मन को भी दृश्य के एक भाग के रूप में ही देखना चाहिए।[4]

---

१ आनन्दघन चौबीसी श्रेयांस जिनस्तवन गा. ५।

२ (क) आचारांग सूत्र श्रु. १, अ. ७, उ. ५।
(ख) 'चलंचित्तं ज्ञानं, स्थिरं चित्तं ध्यानम्।'

३ तेनाऽऽत्मदर्शनाकांक्षी, ज्ञानेनाऽन्तर्मुखो भवेत्।
द्रष्टृदृग्गात्मता मुक्तिर्दृश्यैकात्म्यं भवभ्रमः॥

—अध्यात्मोपनिषद् ज्ञानयोग ५

अर्थात्—अपने शरीर और मन की प्रवृत्तियों और विशेषताओं से स्वयं गौरव या हीनता (ग्लानि) का अनुभव न करके सिर्फ उसके तटस्थ प्रेक्षक बनकर रहना। इसी प्रकार निश्चयनय से आत्मा अखण्ड आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, ऐसा अखण्ड आनन्द और ज्ञानस्वरूप मैं ही हूँ, मन, वचन, तन आदि पुद्गल भाव मैं नहीं हूँ। मन-वचन-तन से होने वाले कार्य मेरे नहीं हैं; ऐसे भावपूर्वक तन-मन-वचन से होने वाली क्रिया को शान्त भाव से तटस्थ रहकर सिर्फ देखता रहे।[1]

यह निर्विकल्प दशा नहीं

अधिकांश साधक निर्विकल्प दशा को बहुत ही आसान और झटपट सिद्ध करने जैसी साधना समझते हैं। कई स्थूलदृष्टि वाले साधक बेहोशी (मूर्च्छा) की दशा या नशे में चूर होने की दशा को निर्विकल्प दशा समझते हैं। उनकी मान्यता है कि परमात्मा में सूरत लगाने के लिए आत्मा को कुछ त्याग करने की, इन्द्रियों और मन को नियन्त्रित करने या दुर्व्यसनों, हिंसा आदि अशुभ आश्रवों (पापों) का अथवा अपनी आत्मा को स्वभाव-स्वगुणों में स्थित करने की, अथवा बाह्य लोकोपकार की पुण्य प्रवृत्तियों (शुभ आश्रवों) का त्याग करने की, या आत्मशुद्धि के लिए बाह्य-आभ्यन्तर तप करने की कोई आवश्यकता नहीं। केवल इन्द्रियों को निश्चेष्ट करके सीधे ही परमात्मा में लौ लगा लो। इन्द्रियों को निश्चेष्ट करने के लिए अपने आपको भुला दो। अपने आपको भुलाने के लिए ऐसे लोग शराब, भाँग, गाँजा, अफीम आदि नशीले (मादक) पदार्थों का सेवन करते हैं। परन्तु क्या इस प्रकार की मूर्च्छा, बेहोशी या नशे की स्थिति से विकल्प नहीं उठते ? क्या उससे परमात्मतत्त्व में लौ लग सकती है ? जितनी भी नशैली वस्तुएँ हैं, वे बुद्धि को बिगाड़ती हैं।[2] बुद्धि से यथार्थ सोचने-समझने की शक्ति नशैली चीजों के सेवन से विदा हो जाती है। नशे की स्थिति में मनुष्य प्रायः पागल की तरह बड़बड़ाता है, उटपटांग चेष्टा करता है, इन्द्रियाँ निश्चेष्ट होना तो दूर रहीं, वे कामोत्तेजना, प्रलाप, हास्य, मूर्च्छा,

---

१ अण्णे पुग्गलभावा, अण्णो एगो य नाणमित्तोऽहं।
सुद्धो एस वियप्पो, अवियप्प-समाहि-संजणओ॥
—धर्म परीक्षा १०३

२ 'बुद्धिं लुम्पति यद्द्रव्यं मदकारि तदुच्यते।'

उन्माद के वश होकर पहले से अधिक सचेष्ट हो जाती है। मन भी यथार्थ मनन करने के बदले अव्यवस्थित रूप से मनन करने लगता है। बुद्धि भी यथार्थ निर्णय करने—हिताहित विवेक करने में अक्षम हो जाती है। ऐसी स्थिति में न तो आत्मतत्त्व में लीनता होती है, और न ही परमात्मतत्त्व में। जितने भी नशीले पदार्थ हैं, उनके सेवन से मनुष्य परतन्त्र और गुलाम बन जाता है। नशा करने की कुटेव से वह न तो अपने तन, मन, परिवार, समाज आदि के विषय में व्यावहारिक चिन्तन कर सकता है और न ही आत्मा, परमात्मा आदि आध्यात्मिक विषयों का चिन्तन कर सकता है। अतः इसे निर्विकल्प दशा कहना भयंकर भ्रान्ति और विवेक-मूढ़ता है।

निर्विकल्प दशा क्या है, क्या नहीं ?

निर्विकल्प दशा वह है, जहाँ जिसमें कोई भी विकल्प, विचार, विवाद या चिन्तन-मनन न हो। मन को इस प्रकार साध लेना, जिससे वह ऊटपटांग, या असम्बद्ध, सीधी या सम्बद्ध, व्यवस्थित या अव्यवस्थित किसी प्रकार की कल्पना या संकल्प-विकल्प न कर सके। वह एकमात्र आत्मा में स्थिर हो जाए।

विकल्पों का मूल उद्गम स्रोत : मन

निर्विकल्पता की साधना में प्रारम्भ में तन, वचन, इन्द्रियों एवं अंगोपांगों को निश्चेष्ट एवं स्थिर करना होता है। एक ही आसन से सीधा और चेष्टारहित तथा हलन-चलन से रहित होकर इस साधना में साधक बैठता है। इसलिए स्वाभाविक है कि वह निर्विकल्प होने के लिए आँख, कान, और मुँह बन्द रखे। स्थूलदृष्टि वाले लोग कह सकते हैं—इस प्रकार आँख, कान और मुँह के बन्द कर लेने पर देखना, सुनना और बोलना तो बन्द हो जाता है, फिर विकास या विचार कहाँ से उठेंगे या कैसे आएँगे ? इतने मात्र से ही निर्विकल्पता आ जायेगी। गहराई से सोचने पर स्पष्ट प्रतीत होगा कि इन इन्द्रियों या अंगोपांगों को रोक लेने पर भी मनुष्य के अन्तर् में एक के बाद एक विचार उठते या आते रहते हैं। स्वप्न में इन्द्रियाँ और अंग निःस्पन्द रहते हैं, फिर भी मनुष्य के समक्ष एक के बाद दूसरा दृश्य चलचित्र की तरह आते रहते हैं। कानों को बन्द कर लेने पर शब्द भले ही न सुनाई दें, बिना सुने हो एक के बाद एक शब्द अन्तर् में उठते रहते हैं। बिना बोले भी अक्षरों की पंक्तियाँ एक के बाद एक अन्तःकरण

में उतरती रहती हैं। अंग निश्चेष्ट होने पर भी मनुष्य कई बार स्वप्न में भी विविध अंगों से चेष्टा करता दिखाई देता है। ये सब हलचलें या चेष्टाएँ शरीर और इन्द्रियों के स्थिर—निश्चेष्ट होने पर भी कहाँ से आती हैं? कौन इन्हें ले आता है? गहराई से सोचने पर प्रतीत होगा कि आँख, कान, मुँह आदि इन्द्रियाँ बन्द होने पर भी मनुष्य का मन दृश्य, श्रव्य, स्पृश्य, आस्वाद्य आदि की कल्पनाएँ करता रहता है और देखे-सुने-कहे बिना ही शब्द, रूप, रस, स्पर्श आदि से सम्बन्धित विविध पदार्थों को ले आता है, वे वस्तुएँ इन्द्रिय प्रत्यक्ष न होने पर भी मन विविध कल्पनाओं के द्वारा उन पदार्थों को प्रत्यक्षवत् उपस्थित कर देता है। आचारांगसूत्र में स्पष्ट कहा है—"**अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे**"[1] वस्तुतः यह पुरुष अनेक चित्त वाला है, अर्थात् वह विविध विकल्प करता रहता है। वही स्मृतिपट पर अन्तस्तल में, या चित्त, बुद्धि, हृदय आदि अन्तःकरण में स्वयमेव उल्टी-सीधी, सम्बद्ध-असम्बद्ध विकल्प क्रम-व्युत्क्रम से करता रहता है। बिना सधे हुए मन को इससे कोई मतलब नहीं कि वह विकल्प-दुर्विकल्प है, कुविकल्प है, अव्यवस्थित विकल्प है या व्यवस्थित विकल्प है? अतः मन ही समस्त संकल्प-विकल्पों का मूल है।[2] मन और मन के सम्बन्ध के योग से विचार करने में विकल्प होता है। मन ही देखे, सुने और बोले बिना दृश्य, श्रव्य, शब्द आदि को ले आता है। अतः निर्विकल्पता की स्थिति लाने के लिए सर्वप्रथम मन की चोटी पकड़नी पड़ेगी। मन को वश में करने, अथवा आत्मचिन्तन, आत्मभावों और आत्मगुणों पर मनन करने में लगा देने से ही उस पर नियन्त्रण हो सकता है। विकल्पों पर विजय पाने के लिए सर्वप्रथम मन पर पूरी चौकसी रखनी होगी।

मन की बहुमूल्य चिन्तन क्षमता को दुर्विकल्पों में जाने से रोको

वैसे तो मन प्रतिक्षण कुछ न कुछ सोचता-विचारता, चिन्तन-मनन करता या कल्पनाओं की उधेड़बुन करता ही रहता है। कल्पनाओं का जाल ही विकल्प है। यह करना मन का स्वभाव है, क्योंकि मन का लक्षण ही है—'संकल्प-विकल्पात्मकं मनः'—जो संकल्प और विकल्प रूप हो, वह मन है। इस दृष्टि से मन कभी खाली नहीं बैठता। अगर आत्मा

---

१. आचारांग श्रु० १ अ० ३ उ० २।

२. संकल्प विकल्प मूलं वै मनः।

उस पर कुछ भी नियन्त्रण न करे, उसे जिधर जाता हो, जाने दे, आत्मा गाफिल होकर मन के उटपटांग विकल्पों में बह जाये या मन को खाली रहने दे अथवा शुद्ध भावों की ओर न मोड़े तो वह निरंकुश और खाली मन शैतान का कारखाना बन जाता है। जैसे कि पाश्चात्य जगत् में यह कहावत प्रसिद्ध है—

Empty mind is devil's workshop.[1]

—खाली मन दैत्य का कारखाना है।

यदि मन को यद्वा-तद्वा सोचने की—मनन करने की छूट दे दी, तो वह असंगत, अवांछनीय, अस्तव्यस्त, अप्रासंगिक एवं घृणित विचारों के कूड़े-कर्कट से अन्तःकरण को भर देगा, अन्तरात्मा की आत्मभावों में स्थिर होने की क्षमता को कुण्ठित कर देगा; आत्मा की कर्तृत्व शक्ति एवं शुद्ध भावों की क्षमता को थका देगा; निरर्थक विचारों और कुविचारों में भटका कर आत्मा को अपने स्वभाव से च्युत कर देगा।

कुकल्पनाओं के दुष्परिणाम

मन में उत्कृष्ट और निकृष्ट दोनों प्रकार के विचार करने की शक्ति है। वह उत्तम से उत्तम विचार भी कर सकता है, और अधम से अधम विचार भी। मन को असंगत, निरर्थक, अप्रासंगिक एवं असम्बद्ध चिन्तन-मनन में लगाना उसकी बहुमूल्य चिन्तन-क्षमता को अनावश्यक और निरर्थक विषयों के कूड़ेदान में डालना है। यदि मन असंगत और बेतरतीब ढंग से चाहे जिस दिशा में भगदड़ मचाता रहे तो थकान के अलावा कुछ भी पल्ले पड़ना अशक्य है। मन में ऊलजलूल एवं अवांछनीय कल्पनाएँ धुड़दौड़ मचाती रहें, मन कुविचारों और विकारों में डोलता रहे तो उसकी बहुमूल्य चिन्तन-सम्पदा बर्बाद ही होती है। यह तो सभी अनुभव करते हैं कि मन-मस्तिष्क पर कामुकता, या व्यभिचार के अश्लील विचार और बलात्कार आदि विवेकहीन कुकृत्यों के चिन्तन छाये रहें तो प्रत्यक्ष रतिकर्म न हो सकने पर भी परोक्ष रूप से इन दुर्विकल्पों द्वारा ही दैहिक, मानसिक और नैतिक-आध्यात्मिक क्षति बहुत अधिक मात्रा में होती है। अन्य अवांछनीय, कुत्सित और निन्दनीय कुकर्मों और हिंसादि पापों के विचार भी रौद्रध्यान को बढ़ाते हैं, जो केवल चिन्तन क्षमता को ही नहीं, आर्थिक,

1. English proverbs.

नैतिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक पतन को एवं मानसिक-शारीरिक बर्बादी को न्यौता देते हैं। इसी प्रकार निरर्थक, निष्प्रयोजन, असम्बद्ध और ऊट-पटांग चिन्तन करने, शंका-कुशंका की या अपनी स्वार्थ हानि की, व्यर्थ चिन्ता करते रहने से विचार शक्ति तो नष्ट होती ही है, कर्तृत्व क्षमता का भी ह्रास होता है। अपनी बहुमूल्य चिन्तन शक्ति, निर्णय शक्ति, दूर-दर्शी दृष्टि, बौद्धिक क्षमता, आत्मभावों में रमण करने की शुद्ध आत्मशक्ति और योग्यता को व्यर्थ ही नष्ट करना अबुद्धिमत्तापूर्ण, हानिकारक एवं दुष्परिणामकारी है। कौन नहीं जानता कि केवल आर्त्तरौद्र-ध्यान करने से आत्मा उन दुर्विकल्पों के कारण ज्ञानावरणीय और महामोहनीय कर्म तीव्र भाव से बाँधकर नरक और तिर्यञ्चगति का मेहमान बन जाता है।

ध्यानस्थ प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने थोड़ी ही देर के लिए मन ही मन रौद्रध्यान करके अपने राज्य से सम्बद्ध लोगों को विरोधी—शत्रु मानकर मन से ही शस्त्रों का निर्माण तथा विरोधी माने हुए लोगों पर मन से ही शस्त्र-प्रहार करने का उपक्रम करके एक बार तो नरकगति के विनाशकारी सरंजाम जुटा लिये थे, किन्तु कुछ ही क्षणों बाद उनकी विचारधारा ने नया मोड़ लिया, दुर्विकल्पों से सुविकल्पों में आए। घोर पश्चात्ताप के प्रवाह ने पापकर्म के तीव्र बन्ध के द्वार को सहसा रोक दिया और शुभ-भावना की पुण्यसलिला बहा दी, जिससे उत्कृष्ट देवलोक में जाने का उप-क्रम हुआ, लेकिन उन्हें तो संसार के जन्म-मरण से युक्त होना था। देवलोक गमन तो संसार में ही रमण था। अतः उन्होंने शुद्ध आत्मभावों में तीव्रगति से रमण करना प्रारम्भ किया। जिसके परिणामस्वरूप निर्विकल्पदशा प्राप्त हुई, फलतः केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हो गया और वे विकल्पों से सर्वथा मुक्त होकर परमात्मतत्त्व में लीन हो गए।[1]

और उस तन्दुलमत्स्य की कथा तो दुर्विकल्पों के दुष्परिणाम की जीती जागती कथा है[2], जिसने बाह्यरूप से रक्त की एक बूंद भी नहीं बहाई, किसी भी प्राणी को बाह्यरूप से बिल्कुल चोट-खरोंच भी नहीं पहुँचाई, किन्तु विशालकाय मगरमच्छ की भौं पर बैठे-बैठे ही उस सूक्ष्मकाय पंचे-न्द्रियजीव ने मन ही मन जलजन्तुओं को मारने-निगलने और हनन करने का तीव्र रौद्रध्यानपूर्वक दुर्विकल्प उठाया। मात्र उन्हीं दुर्विकल्पों के फल-

---

१ 'तीर्थंकर महावीर' से संक्षिप्त

२ 'तन्दुलवेयालिय : पइन्ना' से संक्षिप्त सार

स्वरूप वह सातवीं नरक का मेहमान बना। इसी प्रकार कई मनुष्य बुद्धिमान और प्रखरप्रज्ञाशील होते हुए भी अपनी मनःशक्ति को गम्भीरतापूर्वक दूरदृष्टि से सोच-विचार कर आवश्यक स्वपर-हितकर एवं नैतिक धार्मिक कार्यों में लगाने के बजाय परिवार, सम्प्रदाय, समाज, जाति, कौम, प्रान्त, भाषा, मान्यता, राष्ट्र आदि के लिए अहितकर, अन्धविश्वासपूर्ण, कुरूढ़िपूर्ण, हठाग्रहबुद्धियुक्त तुच्छ स्वार्थपूर्ण, जैसे-तैसे अनिष्टकारी, अवांछनीय, एवं हिंसा, असत्य, चोरी, ठगी आदि से सम्बन्धित रौद्रध्यान के दुर्विकल्पों में लगाते हैं। वे रात-दिन दूसरों का अनिष्ट करने सताने, मारने आदि दुर्विकल्पों का तानाबाना बुनने में लगे रहते हैं।

हिताहित का विचार किये बिना कार्य करने वाले मूर्ख

सोचना, विचारना, चिन्तन-मनन करना, निर्णय करना, हिताहित-विवेक करना, गहराई से परिणामों का विचार करना, निरीक्षण-परीक्षण करना, स्फुरणा होना आदि सब मन की बहुमूल्य एवं अव्यक्त-अदृश्य क्रियाएँ हैं, किन्तु दृश्यमान व्यक्त सभी कार्य का परिणाम इन्हीं के फलस्वरूप साकार होते हैं। जो कुछ भी अच्छा या बुरा कार्य किया जाता है, वह सहसा अनायास ही नहीं हो जाता, उसका तानाबाना बहुत पहले से ही मन-मस्तिष्क में बुना जाता है। फिर उसके हानि-लाभ, हित-अहित, सम्भव-असम्भव का विचार किया जाता है। तत्पश्चात् उसके लिए साधन, सहायक आदि जुटाये जाने का विचार किया जाता है। तब जाकर कहीं कार्य को प्रारम्भ करने का निर्णय किया जाता है। जैनसिद्धान्त की दृष्टि से इन्हें संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ कहा जाता है। समझदार और बुद्धिमान व्यक्ति वही है, जो हिताहित, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, लक्ष्यप्राप्ति में साधक-बाधक, बलाबल का विचार करके ही किसी अभीष्ट एवं हितकर कार्य को करने का निर्णय करता है। इसके विपरीत बिना विचारे, हिताहित का निर्णय किए बिना ही जो निरर्थक, स्व-पर अहितकर, एवं दुष्परिणामकारी कार्य प्रारम्भ करते हैं, उनकी भर्त्सना एवं निन्दा की जाती है। उसे मूर्ख और नीच समझा जाता है। इससे समय, श्रम एवं कर्तृत्वशक्ति का ह्रास और अपव्यय होता है। ऐसे विवेकमूढ़ व्यक्ति या प्रखरबुद्धि के होते हुए भी ऐसे विवेकभ्रष्ट व्यक्ति अनावश्यक, अनिष्ट, अवांछनीय एवं स्वपर अहितकर कार्यों का विचार करने में उलझकर अपनी बहुमूल्य विचार-सम्पदा को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं।

अदूरदर्शी लोग कैसे-कैसे दुर्विकल्पों का जाल बुनते हैं

कई अदूरदर्शी लोग अपने या अपने परिवार आदि के भविष्य से सम्बन्धित ऊलजलूल अटपटी या अशुभ व अनिष्ट की सम्भावना की कुकल्पनाएँ करते रहते हैं। ऐसी कुकल्पनाएँ करने वाले व्यक्ति बात-बात में शंकाशील, वहमी और संदिग्ध हो जाते हैं और पद-पद पर अनिष्ट की सम्भावना से भयभीत, आतंकित और संशयग्रस्त हो जाते हैं। कुकल्पनाओं के जाल में उलझकर वे अपनी मानसिक और बौद्धिक सुविचार सम्पदा को तो नष्ट करते ही हैं, इससे भी आगे बढ़कर कई बार वे अपने दुर्विकल्पों के पंखों के सहारे दूसरों को अकारण ही विद्वेषी, दुष्ट, विरोधी, दुर्गुणी और दुश्चरित्र मानने के दुर्भावों के आकाश में उड़ते रहते हैं। फिर अपनी कुकल्पना के अनुरूप उनसे घृणा, द्वेष, अलगाव, शत्रुता और वैरभाव बढ़ाते रहते हैं। अतः कुशंका, संदेह, वहम, पूर्वाग्रह, हठाग्रह, अन्धविश्वास आदि ऐसे ही दुर्विकल्प हैं, जिनसे मनुष्य स्वयं अशान्त, उद्विग्न, भयभीत, आतंकित एवं दुःखी बना रहता है, अपने और दूसरों की भलाई की बात वह सोच नहीं पाता तथा अहर्निश आर्तरौद्रध्यान में पड़े रहने के कारण आत्मचिन्तन, या परमात्मभाव में लीनता के विचार से तो वह कोसों दूर रहता है।

इसी प्रकार हर समय अपने आपको किसी न किसी दुःस्थिति, आफत, विपत्ति, संकट, व्याधि में पड़ा हुआ मानना भी दुर्विकल्प है, जो मनुष्य की शुभचिन्तन क्षमता को अत्यधिक क्षीण कर देता है। इस प्रकार का दुश्चिन्तन-राक्षस या दुश्चिन्तारूपी राक्षसी व्यर्थ ही मनुष्य का रक्त चूसती रहती है, उसे शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से बहुत दुर्बल बना देती है। जो आशंका तिलभर थी, उसे ऐसा कुकल्पनाशील मानव ताड़ बना लेता है। ऐसी कुकल्पनाएँ मनुष्य को विभिन्न विभीषिकाओं की भयावह अटवी में अकेला, अशरण, एवं असहाय छोड़ देती हैं। जहाँ उसे अनर्थ, भय, अनिष्ट और संकट के भूत-पिशाच नाचते दिखाई देते हैं। "अमुक परिस्थिति, अमुक व्यक्ति, अमुक बात मेरी अमुक-अमुक प्रकार की क्षति या हानि करेगी, मेरी कुर्सी, पद, प्रतिष्ठा, सत्ता, प्रभुता, कमाई, बड़प्पन,अधिकार अथवा स्वार्थ सिद्धि कदापि नहीं होने देगी। ऐसी-ऐसी व्यर्थ की आशंकाओं को विशालरूप में देखने के आदी शंकाशील मानव को अपने समक्ष संकट के भूत खड़े नजर आते हैं।" ऐसी कुकल्पनाएँ जब निषेधात्मक एवं भयावह दिशा में चलने दी जाती हैं, तब तो विपत्ति की घनघोर काली

घटाएँ उसके इर्दगिर्द उमड़ती-घुमड़ती रहती हैं। वह उनके मारे बेचैन, व्यथित, क्षुब्ध, आतंकित, भयभीत और चिड़चिड़ा बना रहता है। ऐसी अनिष्ट कुकल्पनाएँ मनुष्य के मन-मस्तिष्क को जितना संतप्त, भ्रान्त, दुःखित एवं अशान्त कर डालती हैं, उतनी वास्तविक विपत्तियाँ भी नहीं करतीं। कुकल्पनाएँ मानवमन को अर्ध-मूर्च्छित, उन्मत्त एवं भयभीत-सी बनाकर उसकी प्रसन्नता और प्रगति को नष्ट कर देती है।

विपत्ति, चिन्ता तथा संकट की विभीषिकाएँ मनुष्य को अवसन्न-विषादमग्न कर देती हैं, वैसे ही अहंकार, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, प्रतिशोध, घृणा, मोह, वैरविरोध, कामातुरता, तुच्छ स्वार्थ एवं दुर्लभ आदि उसे आवेशग्रस्त बना देते हैं। आवेश और विषाद ये दोनों मानव-मनःसमुद्र के ज्वार-भाटे हैं। ये दोनों ही मनःस्थितियाँ मानवमन को अशान्त एवं उद्विग्न बनाकर हत्या, दंगा, बेईमानी, ठगी, लूट, डकैती, व्यभिचार, चोरी गुण्डागर्दी, आगजनी, मद्यपान, विश्वासघात, पक्षपात, स्वजनों के प्रति विद्रोह आदि कुकृत्य करने को विवश कर देती हैं। ऐसा मानसरोगी फिर लोकलज्जा, नैतिक-धार्मिक मर्यादा, समाजव्यवस्था, कानून, कर्त्तव्य, दायित्व आदि सभी औचित्य के रक्षास्तम्भों को तोड़ने पर उतारू हो जाता है।

अतः मनःसमुद्र शान्त होने पर ही व्यक्ति आत्मस्थ, स्वस्थ एवं प्रकृतिस्थ हो सकता है। आवेश और विषाद को हम क्रमशः हाईब्लडप्रेशर और लो ब्लडप्रेशर कह सकते हैं। दोनों ही जिंदगी के लिए मौत का पैगाम लेकर आते हैं। आवेश से मनुष्य हाई ब्लडप्रेशर से पीड़ित मानव की तरह तनावग्रस्त होकर सिर धुनता और पैर पीटता है, विषाद से लो ब्लडप्रेशर से युक्त मानव के ठंडे पड़ जाने के समान ठंडा पड़ जाता है। अति-उष्णता मनुष्य को झुलसा कर मार देती है तो अत्यन्त शीतलता भी उसका खून जमा देती है। हानि की दृष्टि से इन दोनों मानसिक अतिक्रमणों के दुष्परिणाम पृथक्-पृथक् होते हुए भी एक दूसरे से बढ़कर है।

कई लोग मन के इतने नाजुक होते हैं कि मामूली-सी दुर्घटना अथवा किसी प्रिय, इष्ट वस्तु या व्यक्ति के वियोग या हानि के समाचार सुनते हैं तो उनके मन में नाना चिन्ताओं के दुर्विकल्पमेघ उमड़-घुमड़ कर आने लगते हैं। मुँह सूखने लगता है, चेहरा फीका पड़ जाता है, चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगती हैं, पसीना छूटने और रोंगटे खड़े होने लगते हैं। दुर्वि-

कल्पों के कारण वे शोक, आर्त्तनाद, एवं विलाप करने तथा छाती-माथा कूटने लग जाते हैं।

कई लोगों का मन विविध कामनाओं, लालसाओं, आशा-तृष्णाओं के दुर्विकल्पों में घुड़दौड़ लगाता रहता है। पदलिप्सा, सत्तालिप्सा, प्रतिष्ठा लोलुपता, स्वादलोलुपता, विषयवासना, विषयसामग्री जुटाने की लालसा आदि इसी प्रकार के दुर्विकल्प हैं, जो मनुष्य को अहंकारी, उद्धत, अशिष्ट और उद्दण्ड तक बना देते हैं। विविध विषयों को ग्रहण करने—पाने की लालसा, आसक्ति, न मिलने पर खीज, क्रोध, क्षोभ तथा उनकी प्रचुरता वालों से द्वेष, ईर्ष्या, असंतोष एवं रोष फिर सम्मोह, स्मृतिभ्रंश, विवेक-बुद्धि और निर्णयशक्ति का ह्रास और सर्वनाश इस प्रकार दुर्विकल्पों का विषचक्र एक से एक बढ़कर अनर्थकर सिद्ध होता है।[1]

इन दुर्विकल्पों के कारण नाना पापकर्म संचित होते रहते हैं, जो स्थायी बनकर जन्म-जन्मान्तर तक चलते हैं। अतः इसी जन्म में संचित दुर्विकल्पों के पापों को धोये-पोंछे बिना कोई भी व्यक्ति निर्विकल्पता की दिशा में आगे कदम नहीं रख सकता।

इन्द्रिय विषयों के साथ मन को न जोड़ना निर्विकल्प दशा में प्रस्थान

प्रश्न होता है—साधक जब तक देहधारी है, तब तक मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ भी रहेंगी; मन तो कुछ न कुछ विकल्प उठाया ही करेगा। अतः क्या निर्विकल्पता प्राप्त करने के लिए सभी इन्द्रियों के द्वार बन्द कर दें, शरीर को निश्चेष्ट स्थिति में रखें और मन से उठने वाले विकल्पों और विचारों पर ताला लगा दें? या उन इन्द्रियों और अंगोपांगों को ही नष्ट कर दें, ताकि 'न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी'?

इसका यथार्थ समाधान यह है कि इन्द्रियों के द्वार सदैव निरन्तर बंद रखना असम्भव है, और उन्हें तोड़ना-फोड़ना या नष्ट करना भी हितावह तथा निर्विकल्पता—कार्य-साधक नहीं है। इन्द्रियों से काम न लेना, या

---

१ ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः, कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः, सम्मोहात् स्मृति-विभ्रमः।
स्मृति-भ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
—भगवद्गीता अ. २/६२-६३

शरीर को निरन्तर निश्चेष्ट रखना भी देहधारी के लिए सम्भव नहीं है। क्या आँख से न देखना, कान से न सुनना, जीभ से न चखना, हाथ-पैरों से स्पर्श न करना सम्भव हैं ? आँखें मूँद लेने, कान में रूई या डाट लगा लेने, नाक के नथुने बन्द कर लेने तथा जीभ को सी लेने या जीभ से नीरस स्वाद हीन भोजन करने से शुद्ध और शुभकार्य भी कैसे हो सकेंगे ? इन्द्रियों का अपना-अपना कार्य है—विषय है,उन्हें शुभ कार्य में आवश्यकतानुसार प्रवृत्त होने दो, यदि सहजभाव से गमनागमन-शयनादि प्रवृत्तियाँ करते समय इन्द्रियाँ अपने विषय की ओर चली गईं तो उनके साथ मन को न जोड़ो। इन्द्रिय विषयों के साथ जब मन को जोड़ दिया जाता है, तब वही मनोज्ञ-अमनोज्ञ की कल्पना करके राग-द्वेष,मोह,घृणा आदि नाना दुर्विकल्प करता रहता है। कभी-कभी विषय उपस्थित न होने पर भी मन भूत,भविष्य और वर्तमान के पदार्थों के विषय में नाना कल्पनाएँ करके आत्मा को विकल्पों के जंगल में भटका देता है। आचारांग और दशवैकालिक (निर्युक्ति)[1] आदि शास्त्रों में यही कहा गया है कि इन्द्रियों से होने वाले रूप-रस आदि विषयों (के ज्ञान) को रोका जाना शक्य नहीं है, किन्तु उनके साथ मन जो राग-द्वेषादि विकल्पों का जाल बुनता है, उसे न बुनने दो। इन्द्रिय-विषयों के साथ राग-द्वेषादि विकल्पों के अंकन को रोकना ही निर्विकल्पता की दिशा में प्रस्थान करना है। त्रैकालिक इन्द्रिय ज्ञान के साथ मन राग-द्वेषादि विकल्पों की उधेड़बुन करता रहता है। उसे उधर से हटाकर आत्मचिन्तन, आत्मनिरीक्षण, आत्मविश्लेषण में तथा अन्त में आत्मसमाधि में अर्थात्—निर्विकल्पदशा में लगा दो।

---

१ (क) न सक्का रूवमदट्ठुं, चक्खुविसयमागयं।
रागदोसाउ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥
—आचारांग अ. २/अ. ३ उ. १५

(ख) सद्देसु अ रूवेसु य गंधेसु रसेसु तह य फासेसु।
न वि रज्जइ, न वि दुस्सइ, एसा खलु इंदियप्पणिही॥
—दशवैकालिक निर्युक्ति २९५

(ग) तुलना कीजिए—
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्नवशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥
—भगवद्गीता अ० ३ श्लो० ३४

प्राथमिक निर्विकल्पता के लिए शुभध्यान का अभ्यास

मन की चंचलता पर काबू पाने के लिए प्राथमिक अभ्यासी के किसी शब्द, ध्वनि, क्रिया या रूप का अवलम्बन लेकर उसमें मन को केन्द्रित करने का अभ्यास करना चाहिए। जैनदृष्टि से ध्यानयोग की साधना में शुभ ध्यान की ४ कोटियाँ बताई गई हैं—(१) पिण्डस्थ ध्यान, (२) पदस्थ-ध्यान, (३) रूपस्थ ध्यान और (४) रूपातीत ध्यान। इनमें प्राथमिक अभ्यासी के लिए प्रथम के तीन ध्यान निर्विकल्पता की साधना के लिए प्रारम्भ में किये जा सकते हैं।

पिण्डस्थ ध्यान में पार्थिवी आदि पंचविध धारणाओं में मेरुपर्वत के सर्वोच्च शिखर पर स्थित स्फटिक रत्न के सिंहासन पर विराजमान चन्द्र-सम उज्ज्वल अरहन्त के समान आत्मा के शुद्धस्वरूप का ध्यान किया जाता है। पदस्थ ध्यान में अर्हं, सोऽहं,'ओम्, हंसोऽहं आदि मंत्रपदों में से किसी एक पद का लगातार चिन्तन-स्मरण किया जाता है, अथवा हृदयकमल में अष्टदल कमल आदि पर किसी पद या नवकारमंत्र के नौ पदों का चिन्तन किया जाता है। रूपस्थ ध्यान में अनन्तचतुष्टययुक्त देवाधिदेव वीतराग, अर्हन्त प्रभु की वीतरागभावयुक्त मुद्रा का ध्यान किया जाता है।

विचार-प्रवाह में मन को मत बहने दो

मन की दौड़ कम करके निर्विकल्पता की दिशा में आगे बढ़ने की कई ऐसी पद्धतियाँ भी हैं, जिनमें कोई बाह्य आलम्बन नहीं लिया जाता। इनमें से एक सरल मार्ग है—विचार-प्रवाह के तटस्थ निरीक्षण का।

इस साधना के अभ्यासी को मन में उठने वाले विचारों पर नियंत्रण करने के किसी प्रयत्न के बिना अथवा उन विचारों के साथ स्वयं जुड़े बिना, मन में बिना रुके बहती हुई विचारों की शृंखला को तटस्थ प्रेक्षक के रूप में देखते रहना है। जिस प्रकार नदी के किनारे बैठकर कोई मनुष्य पानी के आते-जाते हुए प्रवाह को देखता रहता है, उसी प्रकार तटस्थ रह कर आते-जाते हुए विचारों के प्रवाह को देखा करना। परन्तु उस प्रवाह में स्वयं न बहना। प्रारम्भ में तो इस साधना में साधक के मन में निराशा आएगी, परन्तु अभ्यास बढ़ने पर विचारों-विकल्पों के साथ जुड़े-मिले बिना विचारप्रवाह का केवल प्रेक्षक रहने की क्षमता प्राप्त हो जाएगी। साथ ही, मन भी उत्तरोत्तर शान्त होता जाएगा।

अनिष्ट एकाग्रता अभीष्ट नहीं

आत्मार्थी मुमुक्षु को यह भलीभांति समझ लेना चाहिए कि सिर्फ मन को एकाग्र करना ही उसका लक्ष्य नहीं है, अपितु मन की निर्मलता-पूर्वक एकाग्रता उसे अभीष्ट है। राग, द्वेष या मोह से उत्पन्न एकाग्रता आत्मार्थी को कथमपि इष्ट नहीं है।

चूहे पर झपटने के लिए सावधान बैठी हुई बिल्ली, मछली को पकड़ कर गटक लेने हेतु एक टाँग पर एकाग्र खड़ा बगुला, अथवा शत्रु को मारने के लिए खाई (खन्दक) में छिपकर बैठा हुआ, निशाना ताकता हुआ सैनिक एकाग्रता है पर ऐसी एकाग्र तो पापयुक्त—आर्तरौद्रध्यानयुक्त होने से हेय है। दूसरों को हानि पहुँचाने के विचार में एकाग्र मन को आत्मार्थी नहीं अपनाते।

एक अन्य अभ्यास

ऐसा ही एक दूसरा अभ्यास है—वर्तमान क्षण के विचार को पकड़-कर उसके मूल तक वापस लौटने का। विचारों के प्रवाह में बहते-बहते जब ध्यान आये, तब जो अन्तिम विचार हो, उसे पकड़कर इससे पूर्व के विचारों की सांकल जोड़ते-जोड़ते प्रारम्भ के विचार तक जाने का प्रयास करना।

सामान्यतया मनुष्य का मन किसी निश्चित ध्येय के बिना एक विषय पर से दूसरे विषय पर उछलता-कूदता रहता है। एक विचार में आये हुए किसी शब्द या प्रतीक से अन्य-अन्य विषयों की संकलना करती हुई उसकी विचारधारा आगे बढ़ती है। मूल एक विचार में से प्रस्तुत-अप्रस्तुत अनेक विचारों की शाखा-प्रशाखाएँ फूटती जाती हैं और जब साधक को उसका भान होता है, तब 'मूल में मैं क्या विचार कर रहा था ?' उसे याद करना भी कठिन हो जाता है। ध्येयविहीन होकर इतस्ततः भटकने की मन की इस आदत से मुक्त होने के लिए यह अभ्यास सहायक हो सकता है।

कुविकल्पों से मुक्त रहने का अभ्यास

मन को दुर्विकल्पों, निरर्थक विकल्पों और आशंका-आवेश-मोह आदि से युक्त विकल्पों से मुक्त—शान्त करने का एक और उपाय यह है कि ऐसे प्रत्येक उठते-ऊगते हुए विकल्परूपी अंकुर को वहीं के वहीं दबाकर नेस्तनाबूद कर देना। प्रायः प्रमादी मानव विकल्प के साथ जाने-अनजाने

जुड़कर उसका सातत्य बढ़ाता रहता है, तभी वह विकल्प आगे से आगे बढ़ता है। अगर सावधान रहकर साधक उसके साथ मिले-जुड़े नहीं तो मन की पांखें वहीं कट जाती हैं। परन्तु प्रायः मानव इस आशा ही आशा में उस विकल्प को सातत्य या बढ़ावा देता रहता है कि इसमें कुछ प्राप्त होगा। इस भ्रामक आशा को छोड़ देने का साहस कर सके तो वह साधक मनोविजय की दिशा में द्रुतगति से आगे बढ़ सकता है। जागृत रहकर साहसपूर्वक प्रत्येक अनिष्ट-अनिच्छनीय विकल्प को वहीं के वहीं दबा देने के इस अभ्यास को यदि कोई साधक लगातार छः महीने तक करले तो, वह स्वयं अनुभव करेगा कि उसके मन की बहुत-सी अशुद्धि दूर होने से उसके मन की निरर्थक—निष्प्रयोजन उड़ान रुक गई है और मन शान्त, निर्मल और स्थिर होता जा रहा है। जिन्हें मन को एकाग्र करना कठिन प्रतीत होता है, उन्हें इस अभ्यास के अनुसार उगते हुए विकल्प को दबा देने के बाद या चालू विकल्प को अधबीच में ही काटने से प्राप्त हुई अल्प-कालीन निर्विचार-निर्विकल्प स्थिति को शान्त भाव से सिर्फ देखते रहने का अभ्यास अधिक सरल मालूम होता है। वे इस अभ्यास के द्वारा सीधे ही निर्विकल्प स्थिति में पहुँच सकते हैं। पहले का विचार शान्त हो गया हो, और दूसरा विचार उठा न हो, इस स्थिति को पकड़कर उसमें स्थिर होने से निर्विकल्प चैतन्य का अनायास ही बोध हो सकता है, इसके प्रमाण के रूप में प्रस्तुत है आद्य शंकराचार्य का निम्नलिखित श्लोक—

"नष्टपूर्व-विकल्पे तु, यावदन्यस्य नोदयः।
निर्विकल्पं चैतन्यं, स्पष्टं तावत् विभासते॥"[1]

साधक की दृष्टि शुद्ध आत्मतत्त्व में स्थिर हो

जैन सिद्धान्तानुसार निश्चयनय की दृष्टि से पूर्ण निर्विकल्प शुद्ध अवस्था तक पहुँचना प्रत्येक साधक के लिए कठिन है। यथार्थ तत्त्वदृष्टि प्राप्त होने के बाद भी आत्मा सदैव—सतत निर्विकल्पता में स्थिर नहीं रह सकती, व्यवहार रत्नत्रय तथा देव, गुरु, धर्मशास्त्र, प्रभुभक्ति, जप, नाम-स्मरण आदि शुभभावों=विकल्पों में साधक की प्रवृत्ति होती है, वह भी अशुभभाव=विकल्प से=पाप से बचने के लिए। शुभभावों=विकल्पों का आलम्बन लेते समय भी उस साधक की दृष्टि शुभराग के प्रति आदर की

---

१ लघुवाक्यवृत्ति (शंकराचार्य) श्लो. ११

नहीं रहती, अपितु पूर्ण निर्विकारी शुद्ध आत्मभावों—आत्मगुणों या आत्म-स्वरूप पर रहती है।

यह आत्मसाक्षात्कार की उत्कृष्ट भूमिका है। इसमें शुद्ध आत्मदर्शन होता है, वहाँ विकल्प का बिलकुल स्पर्श ही नहीं होता। इसमें कोई विचार, विकल्प, संज्ञा अथवा अन्य अनुभव भी नहीं होता। एकमात्र चैतन्य, चैतन्य और चैतन्य ही रहता है। चैतन्य के सिवाय संसार में कुछ और है इसका अनुभव भी लुप्त हो जाता है आत्मसाक्षात्कार होते ही परमात्मा का साक्षात्कार हो ही जाता है।

पूर्ण शुद्ध निर्विकल्प स्थिति के लिए रूपातीत—निराकार शुक्लध्यान का आलम्बन लेना चाहिए। रूपातीत ध्यान का लक्षण ज्ञानार्णव में इस प्रकार बताया गया है—

"चिदानन्दमयं शुद्धममूर्त्तं परमाक्षरम्।
स्मरेद् यत्राऽऽत्मनाऽऽत्मानं तद् रूपातीतमिष्यते ॥"[1]

जिस ध्यान में चिदानन्दमय, शुद्ध, अमूर्त, परमाक्षर (नित्य), मुक्तात्मा-परमात्मा का या अपनी आत्मा से शुद्ध आत्मा का चिन्तन-स्मरण किया जाता है, वह रूपातीत ध्यान है। वही निर्विकल्पता के लिए इष्ट है।

वस्तुतः मुमुक्षु का अन्तिम लक्ष्य सात्त्विक—शुभ विकल्पों में ही आँकना नहीं है, अपितु तन, मन आदि से ऊपर उठकर मन के उस पार शुद्ध आत्मतत्व में ही स्थिर होता है। मन से पार जाने के लिए साधक को शुभ विकल्पों में एकाग्रता का भी त्याग करना है। उसके लिए साधक को मनःस्थिरता की पगडंडियाँ लाँघकर अन्तर्मुखता और साक्षीभाव (ज्ञाता द्रष्टाभाव) के ध्रुवमार्ग पर चढ़ना आवश्यक है, तभी वह परमात्म-तत्व में लीन हो सकेगा। जैसा कि आचार्य अमितगतिसूरि ने कहा है—

'विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो, निलीयसे त्वं परमात्मतत्वे।'[3]

तन, मन आदि बाह्य पदार्थों से पृथक् शुद्ध आत्मा का ही अवलोकन करता (स्वरूप में स्थिर होता) हुआ तू परमात्मतत्व में लीन हो जा। □

---

१ ज्ञानार्णव सं. ४०

२ सामायिक पाठ श्लो. १९

१२

परमात्मभक्ति से परमात्म-पद-प्राप्ति

परमात्मभक्ति से विस्मृत परमात्मस्वरूप का भान

आत्मार्थी साधक आत्मा से परमात्मा बनने के लिए अपने समक्ष एक आदर्श रखता है, ताकि वह अपने आदर्श के अनुरूप अपने जीवन को ढाल सके। भगवद्गीता में बताया गया है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषः, योच्छ्रद्धः स एव सः[1]

'मनुष्य श्रद्धामय होता है। जो जैसी श्रद्धा रखता है, वह वैसा ही बन जाता है।' अपने श्रद्धेय पुरुष के प्रति श्रद्धा-भक्ति उसी आदर्श की पूर्ति की प्रेरणा लेने हेतु होती है। मनोविज्ञान के नियमानुसार जो मनुष्य जैसी वस्तु का चिन्तन, स्मरण, विचार करता है, जैसी श्रद्धा, भावना करता है, वह कालान्तर में वैसा ही बन जाता है, वैसी ही मनोवृत्ति तथा आत्मशक्ति वह प्राप्त कर लेता है। महाराणा प्रताप का नाम-स्मरण करते ही बहुत-से लोगों के हृदय में वीरता के भावों का संचार हो जाता है, भुजाएँ फड़कने लगती हैं। वहाँ महाराणा प्रताप आकर वीरता के भाव भर जाते हैं या भुजाएँ फड़काते हैं, ऐसा कुछ नहीं है, किन्तु महाराणा प्रताप का ज्वलन्त आदर्श और जीवन मन-मस्तिष्क में चलचित्र की तरह घूमने लगता है। व्यक्ति के हृदय में वह वीरता की बिजली भर देता है। इसी प्रकार अरिहंत और सिद्ध-परमात्मा का नाम-स्मरण, उनके प्रति श्रद्धा, आदरभाव, बहुमान एवं उनके गुणोत्कीर्तन, भजन के निमित्त से

---

१ भगवद्गीता अ. १७ श्लो. ३

आत्मार्थी साधक अध्यात्म के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच सकता है; परमात्म पद प्राप्त कर सकता है, बशर्ते कि वह अपनी आत्मा में वैसे ही आध्यात्मिक आदर्श की भावना भरे, वैसा ही ध्यान करे, उनके जैसे ही स्वभाव में—आत्मगुणों के रमण करने का पुरुषार्थ करे, उसी प्रकार आत्मशुद्धि करे। इसी तथ्य का समर्थन करते हुए उपाध्याय श्री देवचन्द्रजी कहते हैं—

अज-कुल-गत केशरी लहै रे, निजपद सिंह निहाल।
तिम प्रभु-भक्ते भवी लहै रे, आतम-शक्ति संभाल ॥[1]

एक सिंह शिशु अपनी माँ से बिछुड़ कर झाड़ी में दुबककर बैठा था। सन्ध्या के झुटपुटे में एक गड़रिया अपनी भेड़ों को हाँकता हुआ, उधर से आ रहा था। अंधेरे में उसे यह मालूम हुआ कि यहाँ भेड़ का बच्चा छिपा हुआ है। उसने हलके हाथों से दो-चार बार लकड़ी से प्रहार किया। फलतः सिंह का बच्चा भयभीत होकर झाड़ी से बाहर निकला। सामने भेड़ों का झुंड देखकर उनमें मिल गया। भेड़ों के साथ वह भी चलने लगा। गडरिये ने उसे पाल लिया। वह भी स्वयं को भेड़ ही समझने लगा। एक दिन जंगल में उसने बब्बर शेर को दहाड़ते देखा और झरने के पानी में अपनी परछाई देखी तो उसे भी भान हो गया कि मेरी आकृति और प्रकृति तो इस बब्बर शेर की-सी है। उसे अपने स्वरूप का भान होते ही उसका भेड़पन भाग गया और उसमें सहसा सिंह की-सी वीरता आ गई। वह भी सिंह के समान दहाड़ता हुआ जंगल में चला गया।

सिंहशिशु के समान जो आत्मा अनादिकालीन मोह एवं अज्ञान के अन्धकारवश अपने अर्हत्स्वरूप और सिद्धस्वरूप को भूली हुई है, वह उन परमात्मा की भक्ति से अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का भान कर लेती है। ज्यों ही भक्त को परमात्मस्वरूप के समान अपने आत्मस्वरूप का भान हो जाता है, त्यों ही वह अर्हन्त एवं सिद्ध-परमात्मा के गुणों और उनकी स्तुति-भक्ति द्वारा अपनी आत्मा को हर समय जागृत और स्वरूपसाधना में अनवरत प्रयत्नशील रख पाता है। विधिपूर्वक की गई परमात्मभक्ति का फल बताते हुए भगवती आराधना में कहा है—

विधिणा कदस्स सस्सस्स, जहा णिप्पादयं हवदि वासं।
तह अरहदादिग-भत्ती, णाण-चरण-दंसण-तवाणं ॥[2]

---

१ देवचन्द्र चौबीसी, अजित जिन-स्तवन
२ भगवती आराधना ७५१

—विधिपूर्वक बोये हुए बीज को जैसे वर्षा से फल रूप में धान्योत्पत्ति होती है, वैसे ही अरिहन्त इत्यादि की भक्ति से ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूप फल की प्राप्ति होती है।

निष्कर्ष यह है कि भक्त से भगवान् बनने अथवा आत्मा से परमात्मा बनने का मार्ग परमात्मभक्ति है। परमात्मभक्ति आध्यात्मिक जीवन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। भक्ति के प्रभाव से व्यक्ति के जीवन का काया पलट हो जाता है।

वीतराग परमात्मा की भक्ति किसलिए और क्यों ?

कोई कह सकता है कि किसी धनाढ्य या सत्ताधीश की भक्ति की जाए तो व्यक्ति को धन की या किसी पद, प्रतिष्ठा या जागीरी आदि की प्राप्ति हो सकती है, परमात्मा की भक्ति से व्यक्ति को क्या मिलने वाला है? क्योंकि निरंजन-निराकार सिद्ध परमात्मा या जीवनमुक्त अरिहन्त परमात्मा वीतराग होने के कारण कुछ देते-लेते नहीं हैं। वे तो न किसी को आशीर्वाद देते हैं और न ही किसी को शाप। और न ही किसी को सुखी या दुःखी करते हैं, न ही धनी या निर्धन, विद्वान् या मूर्ख, मनुष्य या देव, नारक या तिर्यंच बनाते हैं। वे जगत् के कर्ता-धर्ता और संहर्त्ता नहीं हैं। न ही वे किसी के कर्मफल को देते-लेते हैं। जैनदृष्टि से वीतराग परमात्मा किसी के द्वारा स्तुति या गुणगान करने से न तो प्रसन्न होते हैं और न निन्दा या आक्षेप करने से नाराज होते हैं। वे अपने आत्मस्वरूप में लीन रहते हैं। वे अपनी प्रशंसा या चापलूसी करने से खुश होकर किसी को वरदान, आशीर्वाद या पापमाफी नहीं देते, और न ही निन्दा, आलोचना या आक्षेप से अप्रसन्न —रुष्ट होकर किसी को शाप देते हैं, उसका अहित या हानि करते हैं या उस पर शस्त्र-प्रहार करते हैं; अथवा उसे क्षति पहुँचाते हैं। संसार में जो लोग दुष्टता-दुर्जनता करते हैं, इत्यादि=पापकर्म करते हैं, चोरी, ठगी, लूटपाट आदि अधम दुष्कृत्य करते हैं, उनको वीतराग परमात्मा दण्ड नहीं देते हैं, और न ही सज्जनों, धर्मिष्ठ पुरुषों को पुरस्कार देते हैं, न पद, प्रतिष्ठा, सत्ता या धन देते-दिलाते हैं।

परमात्मा की भक्ति का वास्तविक स्वरूप न समझने वाले बहुत-से लोग यह कह दिया करते हैं—जब परमात्मा हमें संसार के नाना दुःखों से मुक्त नहीं कर सकता, वह धन, धान्य, स्त्री, पुत्र, या कोई पद, प्रतिष्ठा या सत्ता दे या दिला नहीं सकता, सुखी और प्रसन्न नहीं कर सकता, तब उसकी

भक्ति करने से क्या लाभ है ? जब परमात्मा हमारे कुछ काम ही नहीं आता, हमें विपत्तियों और दुःखों से छुटकारा नहीं दिला सकता, हमारे लिए रोटी, रोजी, सुरक्षा और शान्ति का प्रबन्ध नहीं कर सकता, तब उसे मानने, उसकी स्तुति-भक्ति करने या उसकी सेवा-अर्चा करने की क्या आवश्यकता है ? हमसे विमुख ऐसे परमात्मा को अपने स्थान पर ही रहने दो। उसकी भक्ति करने में क्यों हम अपने श्रम, समय और शक्ति का व्यय करें ?

वास्तव में ऐसे व्यक्ति परमात्मा की भक्ति के वास्तविक स्वरूप और उद्देश्य से अनभिज्ञ हैं, अथवा वे अन्धश्रद्धावश लकीर के फकीर बन कर अपनी तथाकथित सकामभक्ति के प्रवाह में बह जाते हैं, न ही वे भक्ति के यथार्थ स्वरूप और उद्देश्य को समझने का प्रयास करते हैं, परम्परा से या अपने-अपने धर्म सम्प्रदाय के प्रवर्तकों या गुरुओं से जो कुछ भी लौकिक कामनाओं से परिपूर्ण भक्ति की पद्धति को प्रेरणा मिली है, उसे ही विवेक-नेत्र मूँद कर पकड़े बैठे हैं। उसमें जरा भी संशोधन, परिवर्तन या विवेक करने का प्रयास नहीं करते। वे भक्ति की परम्परागत बंधी-बंधाई पगडंडी, या खिंची-खिंचाई लीक पर ही चलते रहते हैं।

परमात्मभक्ति का उद्देश्य लौकिक कामनापूर्ति नहीं है

परमात्मभक्ति का उद्देश्य परमात्मा से किसी भी प्रकार के सांसारिक लाभ या सुख पाना, उससे अपने मनःकल्पित सुख के साधन देने की माँग करना नहीं है। ऐसे लोग परमात्मा को एक कर्मकर, सेवक या सौदेबाज से अधिक दर्जे का नहीं समझते, जबकि परमात्मा का दर्जा उससे कई गुना अधिक ऊँचा संसार मार्ग से बिलकुल पृथक्, तथा समता और वीतरागता की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए अनन्तज्ञानादि-स्वभावनिष्ठ शुद्ध आत्मा का है। क्या परमात्मा की भक्ति का उद्देश्य उनसे सांसारिक काम कराना, और लौकिक पदार्थों की मांग करना है ? अथवा वैषयिक एवं पदार्थनिष्ठ सुख के साधन मांगना है ? अगर परमात्मा उनकी लौकिक मनोकामनाओं को पूर्ण नहीं करे तो वे उसकी भक्ति नहीं करेंगे, यह भक्ति नहीं, सौदेबाजी है, व्यापार है। परमात्मा की छवि या प्रतिकृति के सामने केवल नाच-गाकर, या उनके स्तोत्र या भक्ति गीत गाकर उन्हें फुसलाना, उन्हें खुश करना और अपने पाप माफ कराना, यह भी भक्ति नहीं, भक्ति की विडम्बना है, रिश्वत देना है, चापलूसी है। भक्ति निष्काम होनी चाहिए, सकाम नहीं।

वंचकभक्ति, शाब्दिक भक्ति या बकभक्ति परमात्मभक्ति नहीं

कई लोग परमात्मा की भक्ति का दिखावा करते हैं, वे आडम्बर या प्रदर्शन करके समाज में पूजा-प्रतिष्ठा पाने के लिए, प्रभु के सच्चे भक्त कहलाने के लिए बड़े-बड़े समारोह करते हैं। अखण्ड जप, अखण्ड कीर्तन आदि करते-कराते हैं, परन्तु एक ओर तो उनके हृदय में भक्ति का यथार्थ अंकुर फूटता नहीं। दूसरी ओर उनके व्यवहार में बेईमानी, ठगी, जालसाजी, तस्करी, अन्याय, अत्याचार या अनैतिकता का दौर चलता रहता है, उसका जरा भी रंज नहीं होता, उनके हृदय में। वे सोचने का प्रयास ही नहीं करते कि हम परमात्मा के भक्त कहलाते हैं, ये विभाव या अनैतिक व्यवहार तो हमें परमात्मा से विभक्त (पृथक्) करते हैं। बहुधा ऐसे लोग परमात्मभक्ति की ओट में अपना किसी स्वार्थसिद्धि को लेकर चलते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने ठीक ही कहा है—

'वंचक भक्त कहाय राम के, किंकर कंचन कोह काय के।'[1]

जो लोग परमात्मा (राम) के भक्ति कहलाकर भक्त की ओट में काम, क्रोध, और कंचन (लोभ) के गुलाम बने हुए हैं। वे वास्तव में राम के भक्त नहीं, काम (क्रोध लोभादि) के भक्त है। जैनदृष्टि से वे परमात्मभाव के भक्त नहीं, परभावों एवं विभावों के भक्त हैं। विष्णु पुराण में ऐसे व्यक्तियों को भगवद् भक्त नहीं, भगवान् के द्रोही कहा गया है—

अपहाय निजं कर्म, कृष्ण-कृष्णेति वादिनः।
ते हरेर्द्रोहिणः पापाः, परार्थं जन्म यद्धरेः॥[2]

—जो अपने कर्तव्य कर्म को छोड़कर कृष्ण-कृष्ण के नाम की रट लगाते हैं, वे पापात्मा हरि के द्रोही हैं, क्योंकि हरि का जन्म परहितार्थ हुआ था।

अखण्डकीर्तन, जप, स्मरण आदि करना—कराना बुरा नहीं, किन्तु दूसरी ओर दिखावा, प्रदर्शन आदि करके अपना तुच्छ स्वार्थ सिद्ध करना बुरा है। कई लोग मंदिर, प्रार्थनास्थल, धर्मस्थान, उपाश्रय आदि में जाकर प्रभु का भजन, स्तोत्र पाठ आदि करते हैं, माला फेरते हैं, यह बुरा नहीं है, किन्तु भजन, जप आदि करते समय उनका चित्त उसमें एकाग्र नहीं होता, उनका शरीर तो शाब्दिक भक्ति करने के लिए धर्मस्थान, मन्दिर

---

१ रामचरितमानस कलियुग वर्णन।

२ विष्णु पुराण।

आदि में बैठा रहता है, किन्तु उनका मन और कहीं बाजार में, घर के किसी काम में, या अमुक उधेड़बुन करने में दौड़ता रहता है। इसीलिए कवि कहता है—

'भक्ति की यह तो रीति नहीं, तन और कहीं, मन और कहीं।'[1]

प्रायः हम देखते हैं कई लोग प्रभु का भजन या जप करते रहते हैं और इधर-उधर देखते भी रहते हैं कि कोई हमें देख रहा है कि नहीं ? अगर कोई नहीं देख रहा हो, तब तो जल्दी-जल्दी माला घुमाते जाते हैं, या धीरे-धीरे भजन बोलते जाते हैं। और जहाँ कोई देख रहा हो, वहाँ वे जाप भी धीरे-धीरे करते हैं, माला आहिस्ता-आहिस्ता फिराते हैं, और भजन भी जोर-जोर से बोलने लगते हैं। यह दिखावा ठीक नहीं। यह कभी-कभी बगुलाभक्ति हो जाती है। बगुला शुभ्र वेष में एक पैर से निश्चल ध्यानी भक्त-सा नदी तट पर खड़ा रहता है, वह जरा भी हिलता नहीं, और ज्यों ही कोई मछली आती है, झट से वह चंचल होकर उस पर झपट पड़ता है, और चोंच में दबोच कर उसे गटक जाता है। ऐसी बकभक्ति से वीतराग परमात्मा की भक्ति तो सिद्ध होती नहीं, अपनी ही बहुत बड़ी अभक्ति करके व्यक्ति दुर्गतिगमनयोग्य घोरकर्मबन्ध कर लेता है।

उन दिनों अजातशत्रु सम्राट कोणिक वीतराग परमात्मा महावीर का कट्टर भक्त बना हुआ था। इतना कट्टर कि प्रभु महावीर को सुखशांति की खबर न मिल जाए, तब तक कुल्ला भी नहीं करता था, अन्नपानी ग्रहण करना तो दूर रहा। बाह्य भक्ति की यह पराकाष्ठा थी। एक बार भगवान् महावीर की विराट् धर्मसभा में कोणिक ने भगवान् महावीर से पूछा—"भगवन् ! मैं मरकर कहाँ जाऊँगा।" सर्वज्ञ प्रभु ने कहा—"कोणिक! इस बात का निर्णय अपने मन से करो। अन्दर जो सबसे बड़ा आत्मदेवता बैठा है, वही तुम्हारे जीवन के निर्णय का साक्षी है।" कोणिक बोला—"नहीं भगवन् ! मैं तो आपके श्रीमुख से सुनना चाहता हूँ।" प्रखर सत्यवादी प्रभु महावीर ने तथ्य को अनावृत करते हुए कहा—"यदि मुझसे ही पूछते हो तो मैं तुम्हारा भविष्य बहुत ही अन्धकारपूर्ण देख रहा हूँ। तुम मरकर छठी नरक में जाओगे।" कोणिक चाहता था कि भगवान् मेरी बाह्य भक्ति के वश होकर मुझे स्वर्ग का प्रमाणपत्र दे देंगे, और जनता

---

१ उपाध्याय केवलमुनि रचित भक्ति गीत।

में मेरी प्रशंसा हो जाएगी, मेरे पापों पर पर्दा पड़ जाएगा। किन्तु उसका मनचाहा न होकर विपरीत हुआ। अतः विक्षुब्ध होकर बोला—"भगवन् ! मैं आपका भक्त और छठी नरक में ?" भगवान् ने जरा और गम्भीर होकर कहा—"कब से बने हो भक्त ? तुमने जो कर्म किये हैं उन्हें याद करो। क्या वे तुम्हारे द्वारा की गई भक्ति के प्रमाण हैं। तुमने अपने पिता को कैद में डाला। भाइयों का सब कुछ हड़पकर भी उनके प्राण लेने पर उतारू हो गए। अपने नाना चेटक का निर्मम संहार किया। क्या ये काले कारनामे तुम्हें स्वर्ग या मोक्ष दिला सकते हैं ?" कोणिक यह सुनकर बहुत लज्जित और विक्षुब्ध हो गया। परमात्मा महावीर के प्रति भक्ति का उसका यह नाटक सदा के लिए बन्द हो गया। उस दिन से वह भगवान महावीर से पराङ्मुख हो गया। नरक का नाम सुनते ही भक्ति का रंग उड़ गया।[1]

वास्तव में वह भक्ति भक्ति नहीं थी, सौदेबाजी थी, स्वर्ग की सीट रिजर्व कराने, अपने पापों पर गहरा पर्दा डालने और जनता में प्रतिष्ठा पाने की एक चाल थी।

ऐसी भक्ति से प्रभुभक्ति का वास्तविक उद्देश्य सिद्ध नहीं होता

इसी प्रकार परमात्मा की भक्ति के नाम से निर्दोष पशुओं का वध करना, मदिरा आदि मादक वस्तुएँ खा-पीकर नाचना, गाना, देव-दासियाँ बनाकर व्यभिचारलीला फैलाना या निर्दोष मानवों पर अत्याचार करना, खुदा की इबादत के नाम पर जबरन धर्मपरिवर्तन कराना, कत्लेआम चलाना, या स्वर्ग की हुण्डी लिखकर भोलीभाली जनता से धन ऐंठना, ये सब क्रूर-कांड करना और बाहर से प्रभुभक्ति का प्रदर्शन करना भक्ति के नाम से तामसिक कुकृत्य है। ऐसी बकभक्ति, वंचकभक्ति, तामसिकभक्ति या अंध-भक्ति से परमात्मभक्ति का वास्तविक उद्देश्य पूर्ण नहीं होता। व्यक्ति इस अन्धभक्ति के फलस्वरूप परमात्म-प्राप्ति के उद्देश्य को भूलकर संसार की भूलभुलैया में ही भटकता रहता है। सन्त कबीर ने वर्तमान में सस्ती भक्ति से परमात्मा को रिझाने वाले लोगों को भक्ति को सिर का सौदा बताते हुए कहा है—

---

१ 'तीर्थंकर महावीर' से।

"भक्ति भगवन्त की बहुत बारीक है,
शीश सौंप्या बिना भक्ति नाहीं।
नाचना-कूदना, ताल का पीटना,
रांडिया खेल का काम नाहीं॥
कहत 'कबीर' सूरत-एकत्व ह्वै,
जीवता मरै सोई भक्त भाई॥"[1]

भावार्थ स्पष्ट है। परमात्मा परम शुद्ध हैं, उनकी भक्ति लौकिक लाभ, सांसारिक विषयों की प्राप्ति की आशा, तुच्छस्वार्थ सिद्धि की कामना से– कलुषित भावों से नहीं की जाती। जिस प्रकार परमात्मा अनन्तज्ञानादि से परिपूर्ण एवं वीतरागता तथा समता से युक्त पवित्रतम हैं, उसी प्रकार उनकी भक्ति भी पवित्र होनी चाहिए।

सर्वांगीण निरुपाधिक भक्ति ही पवित्रतम भक्ति

भक्ति पवित्र तभी होती है, जब वह निरुपाधिक हो; उसके साथ तुच्छस्वार्थ, क्रोधादिकषाय तथा अप्रशस्त राग-मोह आदि कालुष्यों और विकारों का मिश्रण न हो। जो भक्ति वीतराग परमात्मा (अरिहन्त और सिद्ध) के यथार्थ स्वरूप को छोड़कर मनःकल्पित या स्वार्थप्रेरित तथा-कथित अरिहन्त और सिद्ध की की जाती हो, अथवा वीतरागता के भावों, अनन्तज्ञानादिचतुष्टययुक्त स्वभाव को विस्मृत करके परमात्मा का शृंगार-युक्त, शस्त्रादियुक्त को रागादि भावों की प्रेरणा करने वाला स्वरूप मानकर परमात्मभक्ति की जाती हो, वह स्वरूप-विस्मृतभक्ति परमात्म-भक्ति के पूर्वोक्त उद्देश्य की पूर्ति करने वाली नहीं होती।

अध्यात्मयोगी श्री आनन्दघनजी ने निरुपाधिक भक्ति का माहात्म्य बताते हुए कहा है—

"प्रीत सगाई रे जगमां सहु करे, प्रीत सगाई न कोय।
प्रीत सगाई रे निरुपाधिक कही, सोपाधिक धन खोय॥"[2]

भक्ति का सामान्यतया अर्थ प्रीति होता है। जगत् में माता-पिता, भाई-बहन, पति-पत्नी आदि सांसारिक लोगों का प्रीति-सम्बन्ध होता है। दुनियादारी के इस प्रीति-सम्बन्ध के पीछे विविध कामनाएँ, स्वार्थलिप्सा,

---

१ कबीर की साखी
२ आनन्दघन चौबीसी ऋषभ जिन स्तवन २

भोगैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा, इन्द्रियविषयासक्ति, अहंता-ममता-पोषण इत्यादि दैहिक या पौद्गलिक उपाधियाँ रहती हैं। ऐसा प्रीतिसम्बन्ध प्रायः औपाधिक होता है। किसी न किसी प्रकार की उपाधिरूपी खटाई पड़ते ही वह फट जाता (खण्डित हो जाता) है। ऐसा प्रीतिसम्बन्ध अखंडित नहीं रहता। ऐसे सोपाधिक प्रीतिसम्बन्ध में बाह्य धन, साधन और बल का नाश होता है, वैसे ही भगवान के प्रति सोपाधिक प्रीतिसम्बन्ध (भक्ति में भी तुच्छस्वार्थ, मोह, लौकिक कामना, लोभादिकषाय, अहंता-ममता आदि उपाधियाँ होने से ऐसी सोपाधिक भक्ति कर्त्ता भी आत्मिक धन, (सम्यग्-ज्ञान-दर्शन) आत्मिकशक्ति आदि को या इनके प्राप्त होने के अवसरों को खो देता है। किन्तु सच्चा प्रीतिसम्बन्ध निरुपाधिक ही हो सकता है जो अखण्ड, अविच्छिन्न और उपाधिमुक्त होता है। इसमें प्रीतिसम्बन्ध (भक्ति) के साथ-साथ प्रीतिसम्बन्ध कर्ता (भक्त) और प्रीतिसम्बन्ध का पात्र (भगवान्) तीनों में निरुपाधिकता होनी अनिवार्य होती है। ऐसी प्रीतिसम्बन्ध रूपी भक्ति के पीछे कोई फलाकांक्षा, आसक्ति, तुच्छ स्वार्थलिप्सा आदि नहीं होती, ऐसी प्रीति (भक्ति) जिसके प्रति की जाती है, वह राग-द्वेष, मोह आदि आध्यात्मिक दोषों (उपाधियों) से रहित होता है, उसी प्रकार परमात्मा के साथ प्रीतिसम्बन्धकर्ता भक्त भी पूर्वोक्त स्वार्थ, फलाकांक्षा लौकिक कामना आदि उपाधियों से रहित, आत्मस्वभावनिष्ठ, आत्मार्थी, मुमुक्षु तथा भक्त के गुणों से युक्त होता है तो वह भक्ति सर्वांगीण निरुपाधिक होती है। इसमें आत्मिक धन, शक्ति आदि खोने का कोई खतरा नहीं होता; बल्कि ऐसी निरुपाधिक भक्ति से ही, भक्तिमान आत्मार्थीभक्त अपने आत्मगुणों का विकास और आत्मशक्तियों को अभिव्यक्त कर पाता है। अतः ऐसी निरुपाधिक परमात्मभक्ति ही पवित्र एवं अहैतुकी भक्ति कही जा सकती है।

अनन्य भक्ति ही अव्यभिचारिणी और सच्ची होती है

परमात्मा की सच्ची भक्ति वह है, जिसमें परमात्मा से विभक्ति = पृथक्ता (मन-वचन-काया से अलगाव) न हो। आत्मा को परमात्मा से विभक्त=पृथक् करने वाले जो भी पर-पदार्थ या विभाव हैं, उनके प्रति जब मोह, आसक्ति, ममता, लगाव आदि होता है, तब परमात्मा की अनन्य भक्ति नहीं हो सकती।

अनन्यभक्ति जल में मछली की तरह होनी चाहिए। मछली जल में

रहती है, जल में ही खाती-पीती, सोती और अन्य क्रियाएँ करती है। जल से अलग करके उसे मखमल के बिछौने पर सुलाने लगो तो वह नहीं सोएगी, न ही वह उत्तमोत्तम स्वादिष्ट भोजन एवं पेय खाएगी-पीएगी। जल से बाहर की वस्तुएँ चाहे जितनी कोमल, गुदगुदी, आनन्ददायक एवं आकर्षक हों, मछली को उनमें जरा भी आनन्द नहीं आएगा। उसका ध्यान तो जल में ही लगा रहेगा, क्योंकि जल ही उसका जीवन है। यही बात अनन्यभक्ति के विषय में समझ लीजिए। परमात्मा के प्रति जिसकी अनन्य भक्ति होगी, वह भक्त साधु हो या गृहस्थ उसे पानी के बिना मछली की तरह परमात्मा के ध्यान, श्रद्धाभक्ति के बिना सुखानुभव नहीं होगा। उसका खाना-पीना आदि सारा व्यवहार परमात्मा के ध्यान के अनुरूप होगा। अनुयोगद्वारसूत्र में अनन्यभक्ति का साधनासूत्र इस प्रकार निरूपित किया गया है—

"तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसिए तत्तिव्वज्झवसाणे,
तदट्ठोवउत्ते तप्पियकरणे तब्भावणा-भाविए।"[1]

"परमात्मा की भक्ति के लिए भक्तिकर्त्ता का उसी (परमात्मा) में चित्त हो, मन भी उसी में संलग्न हो, शुभलेश्या भी वहीं लगी हो, अपना अध्यवसाय भी वैसा ही हो, उसी में तीव्रता से समर्पित हो, उसी अभीष्ट में उपयोगयुक्त हो, उसी के प्रति प्रीति हो, उसी (परमात्मा) की भावना भावित हो।" वस्तुतः अनन्यभक्ति में व्यक्ति का तन, मन, इन्द्रियाँ, चित्त, बुद्धि, हृदय आदि अपने प्रियतम प्रभु के सिवाय दूसरे विषय में आसक्ति-पूर्वक संलग्न न हो। भक्त के हृदय में प्रभु के सिवाय किसी दूसरे को स्थान न हो। वाणी से प्रभु का ही गुणगान, स्तुति, प्रार्थना या भक्तिगीत बोला जाए, अथवा मन-वचन-काया से प्रभु की आज्ञा के विरुद्ध, अथवा प्रभु की मर्यादा या आदेश-निर्देश के प्रतिकूल न चला जाए, न बोला जाए, न सुना जाए, न स्पर्श किया जाए, न ही मनन-चिन्तन, निर्णय या विचार किया जाए काया से ऐसा कोई कार्य न किया जाए, जो प्रभु आज्ञा के विपरीत हो। चित्तवृत्तियों को बाहर से हटाकर एकमात्र परमात्मा में जमाई जाए। इस प्रकार की सर्वतोमुखी तन्मयता की स्थिति अनन्यभक्ति है।" इसे ही भगवद्गीता में परमात्मा की अव्यभिचारिणी भक्ति कही है। कहा भी है—

---

१ अनुयोगद्वार २८

"मयि चाऽनन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।"
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥[1]

मेरे (परमात्मा के) प्रति अनन्ययोग (मन-वचन-काया के योगों के एकीभाव यानी इनको अन्य कार्यों, विचारों आदि में न लगाने) से भक्ति अव्यभिचारिणी होती है। इसकी साधना के लिए एकान्त पवित्र स्थान में रहना और जनता के सांसारिक लौकिक कार्यों में अरति-अरुचि या अनासक्ति होनी चाहिए।

प्रभु की अनन्यभक्ति से अलभ्य लाभ

ऐसी (अव्यभिचारिणी) अनन्यभक्ति का अलभ्य लाभ बताते हुए गीताकार कहते हैं—

"भक्त्या त्वनन्या शक्य, अहमेवंविधोऽर्जुन !
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन, प्रवेष्टुं च परन्तप !"[2]

इसका भावार्थ यह है कि इस प्रकार की अनन्यभक्ति (परमात्मा के साथ एकीभाव से युक्त भक्ति) से मैं (परमात्मा) तत्त्वतः—यथार्थ रूप से—जाना-देखा जा सकता हूँ; तथा अन्तर्ध्यान से मुझमें प्रवेश भी किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि अनन्यभक्ति से परमात्मभक्ति का वास्तविक उद्देश्य सिद्ध हो सकता है।

इसका जीता-जागता प्रमाण है—सुलसा श्राविका की प्रभु महावीर के प्रति अनन्यभक्ति की परीक्षा की घटना।

उन दिनों भगवान महावीर चम्पापुरी में पधारे हुए थे। उस दौरान भगवान महावीर के परम उपासक अम्बड़ परिव्राजक ने उनके चरणों में उपस्थित होकर निवेदन किया—"भगवन् ! मैं राजगृही जा रहा हूँ। आपका कोई सन्देश हो तो फरमाइए।"

प्रभु ने कहा—अम्बड़ ! राजगृही में राजा श्रेणिक के रथ के सारथी की धर्मपत्नी सुलसा श्राविका बहुत ही भावनाशील एवं अर्हद्भक्ति के रंग में रंगी हुई है, उसे मेरा धर्मसन्देश कहना।"

अम्बड़ प्रभु का सन्देश शिरोधार्य करके चल पड़ा। उसके मन में एक विचार प्रादुर्भूत हुआ—"देवेन्द्र-नरेन्द्रपूज्य त्रिलोकीनाथ विश्ववन्द्य

---

१ भगवद्गीता अ. १३, श्लो० १०

२ भगवद्गीता अ. ११, श्लो. ५४।

वीतराग परमात्मा महावीर ने एक तुच्छ महिला को धर्मसन्देश दिया। अतः उसमें क्या विशेषता है? कितनी प्रभुभक्ति की तीव्रता है? मुझे उसकी प्रभुभक्ति की परीक्षा करनी चाहिए।"

यह सोचकर अम्बड़-परिव्राजक ने राजगृही पहुँचते ही नगरी के बाहर जाकर अपनी वैक्रियलब्धि से क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश का रूप बनाया। राजगृही में सर्वत्र उसकी शोहरत हुई। हजारों नर-नारी, झुण्ड के झुण्ड उसके दर्शनार्थ पहुँचने लगे। परन्तु सुलसा शान्तभाव से बैठी रही। कई महिलाओं ने तीनों बार उसे चलने के लिए कहा भी; लेकिन वह वहाँ कतई न गई। अन्त में, काफी प्रतीक्षा के बाद अम्बड़ ने साक्षात् महावीर का रूप धारण किया। लोगों ने सुलसा से कहा—"अब तो तेरे महावीर प्रभु पधारे हैं। अब तो चल। दर्शन कर ले।"

इस पर प्रभु के प्रति अनन्यभक्ति के फलस्वरूप प्रभु को तत्त्वतः जानने-देखने और अन्तर्ध्यान से प्रभु में प्रवेश करने (तन्मय होने) में सफल हुई सुलसा ने उत्तर दिया—"महावीर प्रभु नगरी में नहीं पधारे हैं। अगर महावीर प्रभु इस नगरी में ही नहीं, नगरी से दूर-दूर तक पधारे होते तो मेरा अन्तरात्मा अवश्य साक्षी देता। प्रभु के प्रति मेरी अनन्यभक्ति के कारण इतना तो मैं भी जान-देख सकती हूँ कि यह प्रभु महावीर नहीं हैं, कोई और ही है।"

अम्बड़ ने अन्त तक सुलसा की प्रतीक्षा की, किन्तु दर्शनार्थियों की उस भीड़ में सुलसा कहीं भी न दिखाई दी। वह नहीं गई सो नहीं गई। सुलसा श्राविका को अनन्यभक्ति की परीक्षा में उत्तीर्ण देख अम्बड़-परिव्राजक गद्गद हो गया। उसने सुलसा के घर जाकर उसे वीतराग-परमात्मा महावीर का धर्मसन्देश सुनाया। फिर कहा—"सुलसा! राजगृही नगरी में आप ही एक भाग्यशाली महिला हैं कि प्रभु ने आपके लिए धर्मसन्देश भेजा है।" सुलसा ने प्रभु का धर्मसन्देश शिरोधार्य किया।[1]

वस्तुतः जिसके हृदय में परमात्मा के प्रति निष्कम्प श्रद्धा-भक्ति होती है, उसे कोई कितना ही भय या प्रलोभन देकर विचलित करना चाहे, वह विचलित नहीं होता। अनन्यभक्तिमान् व्यक्ति को भौतिक, आर्थिक, शारीरिक या मानसिक दृष्टि से चाहे जितनी हानि सहनी पड़े, चाहे विपत्तियों और संकटों के वज्र ही उस पर टूट पड़े, वह परमात्मा के प्रति भक्ति

---

१ भगवती सूत्र, अम्बड़ परिव्राजक-अधिकार।

को छोड़ता नहीं, और न ही अन्य किसी देव या शक्ति की भक्ति करता है। पूर्ण वीतराग हो, उसी को जीवन्मुक्त या पूर्ण विदेहमुक्त परमात्मा मानता और उनके प्रति अनन्यश्रद्धा-भक्ति रखता है। रागादि परिणामों से युक्त चाहे जैसा समृद्धिशाली, चमत्कारी व प्रभावशाली व्यक्ति हो, उसे भगवान् या परमात्मा नहीं मानता, न ही उसकी भक्ति करता है।

परमात्मा के अनन्यभक्त की गुणों से पहचान

वैसे तो इस युग में कई मनचले लोग तिलक-छापा लगाकर या गले ने कण्ठी माला डालकर या अन्य ऐसे चिह्न धारण करके स्वयं को परमात्मा का भक्त कहने लगते हैं। इसलिए केवल बाह्य चिह्नों से ही परमात्मा के अनन्यभक्त की पहचान नहीं होती। जिसमें अनन्यभक्त के गुणात्मक लक्षण व्यवहार में दृष्टिगोचर हों, उसे ही प्रभु का प्रियभक्त समझना चाहिए।

वैसे तो अनन्यभक्ति के लक्षण जैनशास्त्र अनुयोगद्वार की दृष्टि से बता चुके हैं, वे ही लक्षण प्रभु के अनन्यभक्त के समझने चाहिए। भगवद्-गीता में कतिपय श्लोकों में अनन्यभक्त के गुणात्मक लक्षण दिये गये हैं, वे भी इस सम्बन्ध में दृष्टव्य हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःख-सुखः क्षमी ॥१३॥
सन्तुष्टः सततं योगी, यतात्मा-दृढनिश्चयः।
मय्यर्पित-मनो-बुद्धिः मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥
यस्मान्नोद्विजते लोको, लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्ष-भयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्षः, उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भ-परित्यागी, यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥
यो न हृष्यति, न द्वेष्टि, न शोचति, न कांक्षति।
शुभाशुभ-परित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥१७॥
समः शत्रौ च मित्रे च, तथा मानापमानयोः।
शीतोष्ण-सुख-दुःखेषु, समः संगविवर्जितः ॥१८॥
तुल्य-निन्दा-स्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥१९॥[1]

---

१ भगवद्गीता अ. १३, श्लोक १३ से १९ तक

अर्थात्—समस्त प्राणियों के प्रति द्वेषभाव से रहित, निःस्वार्थ मैत्री और करुणा से युक्त, ममत्वरहित, अहंकार से शून्य, सुख और दुःख में समभावी तथा क्षमावान्, लाभ-हानि में सन्तुष्ट, अध्यात्मयोगी (या सतत कर्मयोगी), इन्द्रिय और मन आदि को दश में किया हुआ, दृढ़निश्चयी, मेरे प्रति जिसने मन और बुद्धि अर्पित कर दिये हैं, ऐसा जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है। तथा जिससे कोई भी प्राणी उद्वेग नहीं पाता और जो स्वयं भी उद्विग्न नहीं होता एवं हर्ष, अमर्ष (सन्ताप या रोष) भय और उद्वेग से जो मुक्त है, वही मेरा प्रिय भक्त है। जो व्यक्ति किसी प्रकार की अपेक्षा आकांक्षा से रहित है, बाहर-भीतर से पवित्र है, नियत-कार्यदक्ष है, पक्षपात एवं व्यथा से रहित उदासीन (विरक्त) है; तथा स्वयं आरम्भ करने का तथा उसके अहंकर्तृत्व का त्यागी है, वही भक्त मुझे प्रिय है। जो व्यक्ति शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख में सम और आसक्तिरहित रहता है, तथा जो निन्दा-स्तुति [प्रशंसा] में सम और यथा-लाभ सन्तुष्ट व मौनी रहता है, जिसका अपना कहा जाने वाला [ममत्व-युक्त] कोई घर नहीं है, जिसकी बुद्धि स्थिर है, वही भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है।

निष्कर्ष यह है कि जिस व्यक्ति की परमात्मा के प्रति आदर-बुद्धि, श्रद्धा-भक्ति या अनन्यनिष्ठा रहती है, उस अनन्यभक्त में परमात्मा के गुणों का अनुकरण करने की भावना जागृत होती है, और शनैः शनैः वे ही गुण उस भक्त में अवतरित हो जाते हैं, जो भगवद्गीता में अनन्यभक्त में बताए हैं। जिसकी निष्ठा-भक्ति परमात्मा में प्रगाढ़ होगी, उसके समक्ष सदैव सतत परमात्मा का आदर्श रहेगा, और वह उसी आदर्श के अनुसार परमात्मा द्वारा परमात्मतत्व प्राप्त करने के लिए आचरित मार्ग का अनुसरण करेगा। इससे उसे भी एक दिन परमात्म-पदप्राप्ति हो सकेगी।

अनन्यभक्तिमान् परमात्मा को अपने से दूर नहीं समझता

इसके अतिरिक्त परमात्मा के प्रति अनन्यभक्ति वाला आत्मार्थी व्यक्ति परमात्मा को अपने से दूर कभी नहीं समझता। इस सम्बन्ध में संत कबीर की परमात्मा के प्रति अनन्यभक्ति प्रसिद्ध है। कबीर से जब किसी दार्शनिक ने पूछा कि आपको अगर अपने प्रियतम परमात्मा का साक्षात्कार न हुआ हो, उनका कोई भी सन्देश प्राप्त न हुआ हो तो आप

उन्हें पत्र लिखिये, वे अवश्य ही मिलेंगे और अपना सन्देश देंगे। इस पर कबीर ने बड़ी मार्मिक उक्ति कही है—

"प्रियतम को पतियां लिखूं, जो कहुं होत विदेश।
तन में, मन में, नैन में, ताकौं का सन्देश ?"[1]

"यदि मेरे प्रियतम (परमात्मा) परदेश-विदेश में होते तो मैं उन्हें पत्र लिखता, उनको बुलाता और सन्देश मंगाता, परन्तु वे तो मेरे तन-मन नयन में समाये हुए हैं, उनको क्या बुलाऊँ, क्या सन्देश भेजूं या मंगाऊँ ? सच्चिदानन्द ब्रह्म मेरे अन्तर् में ही विराज रहे हैं, उन्हें ढूंढ़ने या उनका दर्शन करने कहीं दूर नहीं जाना पड़ता।"

आत्मार्थी परमात्मा की भक्ति ही किसलिए करता है ?

यह तो निश्चित ही समझ लेना चाहिए कि वीतराग परमात्मा को अपनी भक्ति, प्रशंसा, प्रार्थना या गुणोत्कीर्तन की कोई अपेक्षा या आकांक्षा नहीं है। उनकी स्तुति या निन्दा करने से उन्हें कोई भी लाभ या हानि नहीं है। न तो किसी के द्वारा की गई भक्ति से वे प्रसन्न होते हैं और न ही नाराज। भगवान् की भक्ति भगवान् को अच्छा लगाने के लिए नहीं होती, किन्तु अपनी अपनी आत्मा मूल में परमात्मा के समान अनन्त-ज्ञानादि चतुष्टय से पूर्ण, स्वतंत्र, अविनाशी स्वभाव से युक्त है, किन्तु अभी गुण पूर्णतया प्रकट नहीं है, आवृत हैं, उन्हें प्रकट करने के लिए, उन गुणों को बताने वाले, अपने चरित और व्यवहार से आत्मा से परमात्मा बनने के प्रत्यक्ष उदाहरणरूप वीतराग परमात्मा के प्रति श्रद्धा-भक्ति, विनय बहुमान करना आवश्यक है। तथा अपने आत्मगुणों के स्मरण के लिए तथा अशुभ भावों से बचने के लिए भी उनका बहुमान भक्ति एवं स्मरण इत्यादि प्रवाहित हुए बिना नहीं रहते। जैसे अपने एकाकी पुत्र के विवाह-प्रसंग पर हर्ष एवं उमंग की तरंगें उछलती हैं, उसी प्रकार अपने आत्म-गुणों के प्रकट होने तथा परमार्थ की रुचि पुष्ट करने हेतु आत्मार्थी के के हृदय में भक्ति का आनन्द, प्रसन्नता एवं उद्रेक होता है, तब भक्ति-वशात् स्तोत्रपाठ, जप, स्मरण, प्रार्थना, स्तुति आदि के द्वारा मुखर हुए बिना नहीं रहता। भक्तामरस्तोत्र में भी कहा है—

---

१. कबीर की साखी

त्वद्भक्तिरेव मुखरीकरुते बलान्माम ।[1]

तब वह भक्ति के उद्रेक में आकर 'सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु,' तिन्नाणं तारयाणं' इत्यादि कहता है, किन्तु वह समझता है कि परमात्म तत्त्व या मोक्षतत्त्व मेरी आत्मा में से प्रकट होगा, मेरे ही पुरुषार्थ से मैं परमात्मस्वरूप बनूंगा । अन्य किसी धनिक, सत्ताधारी या लौकिक-भौतिकता से सम्पन्न व्यक्ति की भक्ति न करके वह परमात्मा की भक्ति आध्यात्मिक परिपूर्णता के शिखर पर पहुँचे हुए होने से करता है, जिसकी उसे चाह है, जिसे वह अपनी आत्मा के लिए अनुकूल मानता है । परमात्मा की ही भक्ति करने के अन्य कारण भी हम यहाँ दे रहे हैं ।

उभयकोटि के परमात्मा अनन्तगुण सम्पन्न होने से भक्तियोग्य

ऐसी निरुपाधिक भक्ति परमात्मा के प्रति ही हो सकती है । क्योंकि एक तो परमात्मा सर्वथा निरुपाधिक हैं, रागद्वेषमुक्त हैं, अनन्तज्ञानदर्शन, शक्ति और आनन्द से परिपूर्ण हैं, एकमात्र आत्मगुणों में ही लीन हैं । जैन दृष्टि से परमात्मा दो कोटि के हैं—विदेह सिद्ध परमात्मा और सदेह जीवन्मुक्त अरहन्त परमात्मा । सिद्ध द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के सर्व कर्मों से सर्वथा मुक्त हैं, जबकि अरहन्त आत्मगुणघातक चार घातीकर्मों से सर्वथा मुक्त हैं । अनन्तज्ञानादि आत्मगुणों में सिद्ध और अरहन्त समान हैं । सिद्ध आत्मविकास की अन्तिम कोटि पर हैं । उससे आगे और कोई विकास की भूमिका नहीं है । साधक चतुर्थ गुणस्थान से क्रमशः आध्यात्मिक विकास करता हुआ पहले रागद्वेषादि शत्रुओं को जीतकर तथा चार घाती कर्मों का क्षय करके जीवन्मुक्त अरिहन्त बनता है और उसके पश्चात् चौदहवें गुण-स्थान की भूमिका को भी पार कर देहमुक्त सिद्ध हो जाता है । सिद्ध पर-मात्मा सदा के लिए जन्म-मरण से रहित होकर शरीर और शरीर से सम्बन्धित समस्त सुख-दुःखों को पार कर अनन्त एकरस आत्मस्वरूप में स्थित हो जाते हैं । सिद्ध भगवान् अनन्तज्ञानादि चतुष्टय रूप शुद्ध निरा-कुल आनन्दमय आत्मस्वभाव में लीन रहते हैं । सिद्धदशा ही मुक्तदशा है—परमात्मपद प्राप्ति की दशा है । सिद्ध परमात्मा लोक के अग्रभाग में विराजमान हैं । वे जन्म-मरण आदि से सर्वथा रहित होने के कारण वहाँ

---

१. भक्तामरस्तोत्र श्लो० ६ ।

से लौट कर संसार में लौटकर नहीं आते। जहाँ एक सिद्ध है, वहाँ अनेक सिद्ध हैं, ज्योति में ज्योति मिली हुई है।

दूसरे अरिहन्त सदेह परमात्मा हैं। वे राग-द्वेषादि शत्रुओं तथा आत्मगुणघातक चार कर्मों को नष्ट करके वीतराग परमात्मा बने हैं। वे जीवन्मुक्त या भाषक सिद्ध कहलाते हैं। वे महान् आत्मा आत्मिक साधना के बल पर रागद्वेषादि विकारों से जूझकर उन पर विजय पाते हैं। आत्म-गुणों या आत्मस्वभाव में सतत रमण करके घातीकर्मों का क्षय कर डालते हैं। तथा वासनाओं और मनोविकारों से संघर्ष करके उन्हें नष्ट कर डालते हैं। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र और अनन्तशक्ति के धारक तथा अखिल विश्व के ज्ञाता-द्रष्टा-सर्वज्ञ हो जाते हैं। वे संसार-सागर के अन्तिम किनारे पर पहुँच जाते हैं। अरिहन्त परमात्मा समभाव की सर्वोत्कृष्ट भूमिका पर पहुँचे जाते हैं। वे शत्रु-मित्र, हानि-लाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा आदि द्वन्द्वों में समभाव में स्थित रहते हैं। वे कषाय-भाव से अलिप्त रहते हैं। अरिहन्त पद में तीर्थंकर अरिहन्त तथा अन्य सभी केवलज्ञानी अरिहन्त दशा को प्राप्त राम, हनुमान आदि एवं सभी स्त्री-अरिहन्त, पुरुष-अरिहन्त, स्वलिंगी, अन्यलिंगी, गृहलिंगी सभी अरि-हन्तों का समावेश हो जाता है। आत्मविकास की दृष्टि से सभी अरिहन्त समान हैं। उनमें आत्मिक दृष्टि से उनमें कुछ भी अन्तर नहीं है। सबका ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य समान होता है। क्षायिक भाव में कोई तारतम्य नहीं होता। भगवान् महावीर ने केवलज्ञानी अरिहन्त बने हुए अपने सात सौ शिष्यों को अपने समान बताया है। अरिहन्त-दशा-प्राप्त साधकों को तीर्थंकर अरिहन्त वन्दना नहीं कराते।

उभयकोटि के परमात्मा की भक्ति से ही परमात्मभक्ति का उद्देश्यपूर्ण हो सकता है।

इस दृष्टि से आत्मा से परमात्मा बनने का परमात्म-भक्ति का वास्त-विक उद्देश्य तभी पूर्ण हो सकता है, जब सिद्ध-परमात्मा और अरिहन्त परमात्मा की अनन्यभक्ति निष्काम भाव से की जाए, क्योंकि जो अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और वीर्य से परिपूर्ण हैं, उनसे ही साधक को ज्ञानादि की पूर्णता की प्राप्ति, तथा परमात्मभाव प्राप्ति की प्रेरणा मिल सकती है। जो अभी अपूर्ण, अल्पज्ञ, छद्मस्थ तथा अल्पांशतः रागद्वेष आदि से युक्त हैं, उनसे पूर्णता, समता, राग-द्वेष-विजय आदि की प्रेरणा कैसे मिल

सकती है ? अतः उनकी भक्ति से परमात्मभक्ति का पूर्वोक्त उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता ।

एक बार प्रीति सम्बन्ध जुड़ जाने पर टूटता नहीं

परमात्मा की भक्ति इसलिए भी उपादेय है कि सांसारिक लोगों के साथ जोड़ा हुआ प्रीतिसम्बन्ध तो फिर भी टूट जाता है । आर्यनारी अपने पति के साथ प्रीति-सम्बन्ध जोड़ने पर स्वयं प्रायः नहीं तोड़ती, किन्तु वह प्रीति सम्बन्ध भी पति या पत्नी दोनों में से किसी एक का वियोग हो जाने पर अथवा क्रूर-निष्ठुर पति द्वारा पत्नी को छोड़ देने पर अखण्डित नहीं रहता, टूट जाता है । ऐसी लौकिक प्रीति (भक्ति) प्रायः अस्थायी, खण्डित, विपत्तिकारिणी एवं कामनापूर्ण तथा राग-द्वेष-वर्द्धिनी होती है । किन्तु परमात्मा के साथ एक बार प्रीति (भक्ति) से जुड़ जाने पर वे उसे तोड़ते नहीं । वे सदा के लिए अनन्य भक्त का साथ नहीं छोड़ते । महायोगी आनन्दघनजी ने ऋषभजिनेश्वर परमात्मा की स्तुति करते हुए कहा—

'ऋषभ-जिनेश्वर प्रीतम माहरो, और न चाहूँ रे कन्त ।
रीझयो साहेब संग न परिहरे, भांगे सादि-अनन्त ॥'[1]

मेरे सच्चे भक्तिपात्र प्रियतम तो अरिहन्त (ऋषभदेव) परमात्मा हैं । मैं अखंड प्रीति के धनी राग-द्वेष मुक्त अरिहन्त परमात्मा के सिवाय और किसी को अपना प्रियतम नहीं बनाना चाहता । एक बार वे प्रसन्न हो जाएँगे तो फिर मेरा साथ कदापि नहीं छोड़ेंगे, क्योंकि वह प्रीति (भक्ति) सादि-अनन्त है । अर्थात्—उस प्रीति की आदि तो है, मगर उसका अन्त नहीं है । इसका भावार्थ यह है कि अपनी शुद्ध चेतना को परमात्मचेतना में अर्पित कर देने के बाद दोनों की प्रीति (भक्ति) स्थायी हो जाती है । परमात्मा के प्रति आत्मा की ऐसी प्रीति (भक्ति) तभी अखण्ड, अविच्छिन्न, स्थायी और अटूट रह सकती है, जब वह सतत अपनी शुद्ध स्वभावदशा में रहे । यही परमात्मा के प्रति अनन्यभक्ति, अनन्य स्वभावनिष्ठा और शुद्धात्मगुणरमणता है । यही निरुपाधिक भक्ति है ।

ज्ञानी एवं जिज्ञासु भक्त द्वारा परमात्मभक्ति

कोई यह कह सकता है कि शुद्ध पूर्ण निरुपाधिक भक्ति तो क्षीण-मोह नामक बारहवें गुणस्थान पर पहुँचे हुए व्यक्ति ही कर सकते हैं । उससे नीचे के गुणस्थान वाले आत्मार्थी की भक्ति सर्वथा निरुपाधिक कैसे

---

१ आनन्दघन—चौबीसी, ऋषभजिन स्तवन १

हो सकती है, उसमें कुछ न कुछ राग का अंश रहता ही है, भले ही वह राग प्रशस्त (शुभ) हो।

इसका समाधान यह है कि वैसे तो जब तक पूर्ण वीतराग-अवस्था प्राप्त नहीं होती, तब तक शुभ (प्रशस्त राग रहता है; परन्तु वह इस बात को निश्चित रूप से समझ लेता है कि मैं इस समय जो वीतराग परमात्मा की भक्ति करता हूँ, उसके दो कारण हैं—(१) उन्हें शुभराग के निमित्त बनाकर मैं अपनी आत्मा को वीतरागता से ओतप्रोत बनाने, परमात्मभाव प्राप्त करने के लिए सतत जागृत रखना चाहता हूँ। (२) परमात्मा की भक्ति, गुणगान, बहुमान, स्मरण आदि में निमग्न रहकर अशुभ भावों तथा अशुभराग को भी मन से हटाना चाहता हूँ। इस प्रकार ज्ञानी भक्त या जिज्ञासु भक्त[1] इन दो कारणों से परमात्मा की प्रशस्त रागवश भक्ति करता है। परन्तु वह सत्यशोधक है, इस तथ्य को भलीभाँति जान लेता है कि मेरे में परमात्मभाव मेरी ही आत्मा शुद्ध रत्नत्रय में, स्वभाव में, पुरुषार्थ से ला सकती है। दूसरा या भगवान् मुझे तार देगा, सहायता कर देगा या किसी के प्रति शुभराग से परमात्मा की शुभरागयुक्त भक्ति में परमात्मभाव प्राप्त कर लूँगा, ऐसी धारणा या मान्यता उसकी नहीं होती। परमात्मा की भक्ति शुभभाव में तथा वीतराग परमात्मा का स्मरण कराने में निमित्त है, ऐसा मानकर तत्त्वज्ञानी भक्त पूर्ण साध्य (परमात्मभाव=मोक्ष) प्रारम्भ और बीच की स्थिति का सतत भान रखता है।

साधकदशा में प्रशस्तरागयुक्त निरुपाधिक भक्ति

बात यह है कि यथार्थ तत्त्वदृष्टि प्राप्त होने के बाद भी साधकदशा रहेगी, वहाँ तक राग है, इसलिए उसमें शुभराग के निमित्त (परमात्मा) का आदर और बहुमान रहता ही है। किन्तु उसकी दृष्टि में शुभराग का आदर नहीं है, सिर्फ अखण्ड निर्विकारी शुद्ध आत्मगुणों का ही बहुमान है। और वह पूर्ण अविकारी आत्मा की रुचि ही आत्मा को परमात्मभाव की ओर बढ़ाती है। अतः जिसे रजकण के भी राग से रहित निर्विकल्प पूर्ण

---

१ भगवद्गीता में चार प्रकार के भक्त बताए गए हैं—आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ! —आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी। इसमें आर्त और अर्थार्थी भक्त की भक्ति निकृष्ट तथा सकाम होने से उपादेय नहीं है, जिज्ञासु और ज्ञानी भक्त की भक्ति ही उपादेय है। —सं.

वीतराग को—शुद्ध आत्मस्वरूप को पहचानने और तदनुसार स्वयं बनने की रुचि है, उसे उक्त सत् की रुचि का मन्थन-मनन करने में वीतराग परमात्मा की भक्ति निमित्त है। पूर्ण वीतरागी साक्षात् परमात्मा के स्वभाव या स्वरूप में, तथा उनके द्वारा प्ररूपित तत्त्वज्ञान में जिसकी रुचि है, वह उनके विरह (अनुपस्थिति) में उनका स्मरण, गुणगान, बहुमान, श्रद्धा-प्रीति, स्तुति आदि करने में परमात्मभक्ति को निमित्त रूप में अपनाता है। परमात्मभक्ति करते हुए वह स्वयं अपनी रुचि और तत्परता के अनुसार हिताहित भाव करता है, स्वतन्त्र निरालम्बी अकषाय दृष्टि से अपने स्वरूप का चिन्तन एवं भान करता है।

चार ज्ञान के धारक श्री गणधरदेव इन्द्रभूति गौतम की वीतराग परमात्मा महावीर के प्रति अनन्य भक्ति थी। उनमें भी वीतरागदशा प्राप्त न होने तक प्रशस्त राग था। वे निरन्तर निर्विकल्प ध्यान में स्थिर नहीं रह सकते थे, इसलिए अशुभ से बचने और शुद्ध आत्मस्वरूप की जागृति के लिए तथा परमात्मभाव की ओर आगे बढ़ने के लिए साक्षात् तीर्थंकर प्रभु का उपदेश सुनते थे, उनके गुणों का स्मरण, बहुमान, गुणानुवाद आदि करते थे। इसलिए इस भक्ति को पूर्ण निरुपाधिक भक्ति न कहें तो भी आंशिक निरुपाधिक भक्ति कहने में कोई संकोच नहीं है। इस भक्ति का साधक रागभाव को शुभास्रव मानता है, मुक्ति का कारण नहीं।

भेदभक्ति और अभेदभक्ति का रहस्य

सिद्ध परमात्मा या अरिहन्त परमात्मा दोनों में से किसी को अपनी पूर्वोक्त शुभ (प्रशस्त) रुचि (राग) का निमित्त मानकर उनका आलम्बन विविध रूप से लेकर भक्ति करना भेदभक्ति है। उसमें शुभ राग है। रागद्वेष-रहित परिपूर्ण ज्ञानादिरूप परमात्मा का स्वरूप जानकर उनकी भक्ति, बहुमान, गुणगान, श्रद्धा-अर्चादि करना भेदभक्ति है। और अपनी ही आत्मा को परिपूर्ण निर्मल परमात्मस्वरूप जानकर उसकी श्रद्धा, प्रतीति, ज्ञान भक्ति करके उसी में लीन होना अभेद भक्ति है। जैसा कि एक आचार्य ने कहा है—

'मोक्षसाधन-सामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।
स्व-स्वरूपानुसन्धानं, भक्तिरित्यभिधीयते॥'

जितनी भी मोक्ष की साधनसामग्री हैं, उनमें भक्ति ही सबसे बढ़कर है। और आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुसन्धान करना—शुद्ध स्वरूप में लीन होना 'भक्ति' कहलाती है।

अभेदभक्ति ही निश्चयभक्ति है, परमार्थभक्ति है, वह अपनी आत्मा की निश्चय रत्नत्रय में रमण करने की भक्ति है। अभेदभक्ति ही आत्मा पर आये हुए आवरणों का नाश करने का मूल कारण है। विकार और आवरणों का नाश करके सीधा परमात्म-(सिद्धत्व) पद प्राप्त करने के लिए आत्मा की अभेदभक्ति पूर्वक आराधना आवश्यक है। अभेदभक्ति ही मुक्ति का, मोक्षसुख का, साक्षात् कारण है।

परन्तु साधकदशा में बहुधा प्रथम भेदभक्ति होती है। परमात्मा के स्वरूप का विचार करना, अपनी आत्मा की वर्तमान-अवस्था, निर्बलता-सबलता का विवेक-विश्लेषण करना तथा परमात्मा के प्रति उत्साह बहुमानपूर्वक भक्ति करना भेदभक्ति है। ऐसी भेदभक्ति को जान कर 'मैं ऐसा ही परमात्मा हूँ, आत्मा में ही परमात्मा बनने की शक्ति है' यों अपनी आत्मा की पहचान—अनुभूति करके शुद्ध आत्मा की भक्ति में स्थिर हो जाना अभेदभक्ति=परमार्थभक्ति है। अभेद-आत्मा की ओर मुड़ने के लक्ष्य पूर्वक यदि भेदभक्ति होती है, तो उसे व्यवहारभक्ति कहा जाता है। केवल शुभरागपूर्वक भक्ति करना शुभास्रव (पुण्य) का कारण है। जैसे दर्पण पर कोई चन्दन का लेप लगाए तो वह लेप भी दर्पण पर आवरण का ही कारण है, इसी प्रकार आत्मा पर शुभराग से भी आवरण होता है। अतः साधकदशा में भेदभक्तिवश आत्मा में पहले शुभराग अवश्य होता है, लेकिन आत्मा का स्वरूप शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के रागों से रहित है, इसकी सतत प्रतीति एवं स्मृति आत्मा में रहे, ऐसा प्रयत्न अनिवार्य है। नियमसार में बताया है कि अपनी ज्ञानानन्द स्वरूपी रागरहित शुद्ध आत्मा की निर्विकल्प श्रद्धा, ज्ञान और स्वरूपरमणता ही परमार्थभक्ति=अभेदभक्ति है।[1]

नीचे की भूमिका में वीतराग देव, गुरु और धर्म आदि की भक्ति का शुभभाव आता है, परन्तु ज्ञानी और जिज्ञासु भक्त उसे आस्रव समझता है। वह निश्चय से परमभक्ति नहीं है। निश्चय से परम भक्ति तो अपने ही

---

१. देखिए, नियमसार में अभेदभक्ति का प्रकरण

शुद्ध परमात्मा की शुद्ध रत्नत्रयपूर्वक आराधना करना है। वही स्वभाव-रूप-श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध रत्नत्रय की अतुल भक्ति है। इसमें व्यवहार और राग का निषेध स्वतः ध्वनित हो जाता है।

इस प्रकार शुद्ध आत्मतत्त्व के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप पर्याय का प्रकट होना भवभयविनाशिनी अभेदभक्ति है। भेद का विकल्प उठना राग है। राग से या निमित्त से आत्मा को साक्षात् लाभ मानना भूल है। भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद ज्ञान-आनन्द-स्वभाव की भक्ति करना, अर्थात् उस शुद्ध आत्मतत्त्व का आश्रय लेकर उसमें तन्मय होना निश्चय भक्ति है। जहाँ ऐसी भक्ति होती है, वहाँ देव-गुरु की भक्ति के शुभराग को व्यवहार भक्ति कहा जाता है, दूसरे शब्दों में कहें तो, सिद्ध-परमात्मा के समान अपने शुद्धात्मा की अभेद भक्ति करना निश्चयभक्ति है और अपने से भिन्न सिद्ध परमात्मा की भक्ति करना व्यवहार भक्ति है।

जिसे शुद्ध चैतन्यस्वभाव का भाव है, परन्तु अभी तक जिसे पूर्ण वीतरागता प्राप्त नहीं हुई है, वह व्यक्ति शुभराग के समय सिद्ध परमात्मा के गुणों को लक्ष्य में लेकर भक्ति करता है, अतः मेरी आत्मा सिद्ध परमात्मा के समान है, इस प्रकार के भानपूर्वक उस (निज शुद्ध आत्मा) में लीनता, निश्चयभक्ति है, और वहाँ जो सिद्ध परमात्मा की भक्ति का भाव है, वह व्यवहारभक्ति है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ एवं साधु निश्चयभक्ति के भान-पूर्वक ही अर्हद्भक्ति करते हैं। उस समय उनके अन्तर में शुद्ध ज्ञानानन्द-स्वभाव की दृष्टि कायम रहती है।

आत्मा निज कारण परमात्मा की भक्ति से सिद्ध परमात्मा बनता है

निश्चयदृष्टि से अपनी आत्मा ही परमात्मा है। परमात्मपद कहीं बाहर में नहीं, अपनी आत्मा में, आत्मशक्ति में ही भरा है। उसी की श्रद्धा, प्रतीति और ज्ञान करके उसी में लीन होना ही परम (निश्चय) भक्ति है। 'मैं त्रिकाल-ज्ञानानन्द-स्वरूप हूँ, ऐसी श्रद्धा-ज्ञान-स्वरूप रमणता रूप निज शुद्ध आत्मा की भक्ति ही भवच्छेदक है, संसार-छेदक है।

लोकव्यवहार में कहा जाता है—'शक्तिमान् की भक्ति करो।' निज शुद्ध आत्मा ही परम शक्तिमान है। परमात्मपद देने की शक्ति निज शुद्ध आत्मा में पड़ी है। पर में, निमित्त में, शुभराग में या पर्याय में ऐसी शक्ति नहीं कि वह सीधा परमात्मपद दे दे। अतः उस परम शक्तिमान् शुद्ध आत्मा को ही अभेदभक्ति में कारण परमात्म माना जाता है। अपने शुद्ध चिदा-

नन्दरूप ध्रुव कारण परमात्मा को भक्तिपात्र मान कर उसी में लीन होना अभेदभक्ति है। इसी से सीधा परमात्मपद प्राप्त होता है।

प्रत्येक आत्मा का कारण-परमात्मा त्रिकाली शक्ति से परिपूर्ण निज आत्मद्रव्य है। तथा वर्तमान केवलज्ञानादि पूर्ण पर्याय का प्रकट होना, अथवा परमात्मभाव का पूर्ण रूप में प्रकट होना कार्य-परमात्मा है। आत्म-द्रव्य में पूर्ण कार्य प्रकट करने का कारणभूत वह सामर्थ्य त्रिकाल है।

जिस प्रकार अनन्त सन्त सिद्ध-मुक्त परमात्मा हुए। उन्होंने अपने-अपने शुद्ध कारण-परमात्मा की अभेद रत्नत्रय परिणति से आराधना करके सिद्धि प्राप्त की, इसी प्रकार साधक की आत्मा भी समस्त कर्मक्षय के उपायभूत कारण-परमात्मा की अभेद-अनुपचार रत्नत्रय-परिणति से सम्यक् आराधना करके सिद्ध परमात्मा बन सकता है। आत्मा की सिद्धि-मुक्ति का सीधा उपाय यही अभेदभक्ति है, जो शुद्ध रत्नत्रय-से होती है। इसी अभेदभक्ति में ही आत्मा की आराधना, आत्मा की भक्ति, आत्मा की प्रसन्नता, आत्मा की कृपा और आत्मा का अनुग्रह तथा आत्म-स्वभाव की रागरहित साधना है।

१३

परमात्म-ध्यान से परमात्मा की अखण्ड स्मृति

अन्तर्जगत् में दबे हुए खजाने को निकालने के लिए ध्यान आवश्यक

आत्मा, खासतौर से मानव-आत्मा ज्ञान, दर्शन, शक्ति, आनन्द, तथा समता, क्षमा, सहिष्णुता, सत्य, अहिंसा आदि अनन्त गुणरत्नों की राशि से परिपूर्ण है। अन्तर्जगत् में भीतर इतने खजाने दबे पड़े हैं, कि उन्हें खोद कर बाहर निकाल लेने पर भौतिक धन सम्पन्न कुबेर के समान आध्यात्मिक धन-सम्पन्न बना जा सकता है। फिर किसी बाहर वाले से, निज आत्मबाह्य सजीव या निर्जीव पदार्थ से माँगने अथवा प्रार्थना-याचना करने अथवा दीनता दिखा कर आत्म-सम्मान खोने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। प्रश्न होता है, अन्तर्जगत् में जो आत्मिक निधि अस्त-व्यस्त, विश्रृंखलित और अव्यवस्थित स्थिति में दबी पड़ी है, उसे खोद कर बाहर निकालने के लिए कौन-सा ठोस उपाय है? कौन-सी ऐसी साधना है, जिस के माध्यम से आत्मा की अतल गहराई में दबे-छिपे सम्यग्ज्ञान, दर्शन, आत्मशक्ति और आत्मानन्द को जाना-परखा जा सके और उन्हें पूर्णरूप से अभिव्यक्त और विकसित किया जा सके?

जिस प्रकार भूमि के गर्भ में बहते हुए पानी के अखूट स्रोत को ढूंढ कर बाहर लाने में धैर्य और साहसपूर्वक सतह पर जमी हुई रेत, कंकड़ आदि को हटाकर उससे आगे की परत को लाँघकर तथा बीच में आए हुए कठोर पाषाण में छेद करके सैकड़ों मीटर गहरे उतरना पड़ता है, वैसे ही आत्मिकशक्ति, आनन्द, ज्ञान, दर्शन आदि के अखूट झरने को जीवन में प्रवाहित करने के लिए संकल्प बल, धैर्य एवं श्रमपूर्वक तन, मन, प्राण

और हृदय के स्तरों को लाँघ कर गहराई में अन्दर उतरना पड़ता है, सु-ध्यान के माध्यम से। जिस प्रकार समुद्र की अतल गहराई में दबे-छिपे हुए रत्नों और मोती को खोजने, निकालने और बाहर लाने के लिए पानी में गहरे उतरने वाले उत्साही, साहसी और मरजीवा गोताखोर की-सी प्रवीणता प्राप्त करनी पड़ती है, उसी प्रकार आत्म-रत्नाकर की अतल गहराई में दबे-छिपे, सुषुप्त, विकीर्ण, अस्त-व्यस्त आत्मगुण रत्नों और आत्म स्वभाव रूपी मुक्ताफलों को खोजने, ढूंढने, निकालने और प्रगट करने के लिए उत्साही, साहसी, मुमुक्षु आत्मार्थी एवं शुक्लध्यानाभ्यासी साधक की आवश्यकता है। शुक्लध्यान के अभ्यास से ही आत्मा के अन्तस्तल में दबे-छिपे गुणरत्नों को जाना-परखा तथा पूर्णरूप से विकसित एवं अभिव्यक्त किया जा सकता है। शुद्ध आत्मा के ध्यान से ही अनन्त चतुष्टय सम्पन्न परमात्मा का रूप देखा जा सकता है। आत्मध्यान के बिना शुद्ध आत्मा और परमात्मा का स्वरूप जाना देखा नहीं जा सकता। परमानन्द पंचविंशति में इसी तथ्य का समर्थन किया है—

अनन्त ब्रह्मणो रूपं निजदेहे व्यवस्थितम्।
ध्यानहीना न पश्यन्ति, जात्यन्धा इव भास्करम्॥[1]

जैसे जन्मांध व्यक्ति सूर्य को नहीं देख सकते, वैसे ही अपने शरीर में स्थित अनन्तचतुष्टयसम्पन्न परमात्मा या शुद्ध आत्मा के स्वरूप को ध्यानहीन नहीं देख सकते।

ध्यान से ही शुद्ध आत्मा की निधि के दर्शन

वैसे तो ध्यान की प्रक्रिया ही ऐसी है, जिससे साधक को अपनी बहिर्मुखी प्रवृत्ति को समेट कर अन्तर्मुखी बनाना पड़ता है। बाहर की ओर से आँखें बन्द करके ही भीतर में निहित आत्म-निधि दिव्य नेत्रों से देखी जा सकती है। कहा भी है—"देखे नहीं कछु और जब, तब देखे निजरूप।"[2]

अनन्त शक्तियों का स्रोत—विराट् का निकटतम केन्द्रबिन्दु उसी आत्मचेतना के अन्तस्तल में ही सन्निहित है। जिसे खोजने के लिए साधक

---

१ परमानन्द पचविंशति श्लो. ९।

२ समता शतक दोहा ८२

को ध्यान-प्रक्रिया के माध्यम से अन्तरंग में गहरी डुबकी लगानी पड़ेगी। योगीराज पद्मसिंह ने 'णाणसार' में यही कहा है—

पाहाणम्मि सुवण्णाणं, कट्ठे अग्गी विणा पओएहिं।
ण जहा दीसंति इमो, झाणेण विणा तहा अप्पा।[1]

जैसे पाषाण में सोना और काष्ठ (अरणि की लकड़ी) में अग्नि प्रयोग के बिना नहीं दिखती, उसी प्रकार ध्यान के बिना शुद्ध आत्मा का दर्शन या साक्षात्कार नहीं हो सकता, ध्यान से ही शुद्ध आत्मा का प्रतिभास हो सकता है। भगवद्गीता में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति, केचिदात्मानमात्मनि।[2]

हे अर्जुन! उस परमशुद्ध आत्मा (परमात्म) को कई व्यक्ति शुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धि से ध्यान द्वारा शुद्ध आत्मा में देखते हैं।

शुद्ध आत्मध्यान का दूसरा नाम परमात्मध्यान है, अर्हद्-ध्यान है अथवा सिद्ध-ध्यान है। समाधि-विचार में कहा गया है—

जेह ध्यान अरिहन्त को, सो ही आतम-ध्यान।
फेर कछु इण में नहीं, एही ज परम निधान॥[3]

चूंकि शुद्ध आत्म-ध्यान में साधक एकमात्र शुद्ध आत्मा—आत्मिक क्षेत्र पर ही समग्र ध्यान केन्द्रित करता है। तभी साधक अर्हत् के ध्यान से अपनी आत्मा को अर्हत्-रूप में, और सिद्ध के ध्यान से सिद्ध रूप में जगा सकता है। जब साधक सब ओर से अपने मन-मस्तिक की बिखरी शक्तियों और क्षमताओं को तथा चिन्तन को समेट कर एक-मात्र शुद्ध आत्मा पर ही केन्द्रित कर लेता है, एकमात्र आत्मा का ही चिन्तन-मनन करता है, चेतना का शुद्धोपयोग आत्मा में ही करता है, तब परमात्मा के स्वरूप और गुण का ध्यान होना स्वाभाविक है।

परमात्म ध्यान के लिए स्वरूपानुसन्धान आवश्यक

ध्यानसाधना का मुख्य प्रयोजन है—चित्त को अनेक में से एक में लाकर, फिर एकमात्र निज शुद्ध आत्मा (परमात्मा) में लीन कर देना। चित्तवृत्तियां मोह, ममता, अहंता, तृष्णा, वासना आदि भौतिक लिप्साओं—लालसाओं की पूर्ति को ही सुखद मानती हैं। उन्हीं में निरत रहना

---

१ णाणसार
२ गीता १३/२४
३ समाधि विचार, दोहा २२५

और उन्हीं को पाना चाहती हैं। पानी का स्वभाव जैसे नीचे की ओर गिरना है, वैसे ही चित्तवृत्तियों का स्वभाव भी नीचे की ओर गिरना-गिराना है। मन, चित्त, बुद्धि और हृदय की इस पतनोन्मुखी प्रवृत्ति को ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए साधक को शुद्ध आत्मा—परमात्मा का ध्यानाभ्यास करना और शुद्ध आत्मास्वरूप या परमात्मस्वरूप के साथ चित्त अनुसन्धान करना परम आवश्यक है। स्वरूपानुसन्धान के बिना चित्त में पड़े हुए तृष्णा, लालसा, राग-द्वेष, मोह, ममत्व एवं अविद्या के संस्कारों की जड़ उखाड़ी नहीं जा सकेगी। जैसे-अभ्यास से अंगुली के पौर पर लकड़ी को थोड़ी देर तक स्थिर रखा जा सकता है, परन्तु उससे कोई उपयोगी कार्य हो सके, उतने समय तक वह स्थिर नहीं रह सकती; वैसे ही स्वरूपानुसन्धान के बिना केवल बाह्य प्रक्रियाओं से साधी हुई चित्त की एकाग्रता अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकती। वह बीच में ही धोखा दे सकती है। इसीलिए ध्याता के लिए चित्त या मन को निरन्तर अविच्छिन्नरूप से शुद्ध आत्मा=परमात्मा के ध्यान और स्मरण में लगाये रखने का विधान विधान किया गया है; ताकि वह बहिर्मुखी होकर पतन की दिशा में न चला जाए या विषय-वासनाओं और कषाय भावों में न बह जाए। अन्यथा, चित्त या मन को जरा-सा ढीला या खुला छोड़ते ही वह जन्म-जन्मान्तरों से संचित एवं अभ्यस्त पाशविक प्रवृत्तियों तथा कुसंस्कारों के अस्तबल में झटपट घुस जाएगा। जिस प्रकार घड़े से पानी गिरते ही नीचे की ओर बहने लगता है, वैसे ही मन को आत्मघट से बाहर निकालते ही, अथवा परमात्मा के ध्यान व स्मरण से खाली रखते ही वह बाहर निकल भागेगा, निमित्त मिलते ही वह पतन की ओर दौड़ने लगेगा। फिर ध्यान से मन या चित्त को आत्मा या परमात्मा में एकाग्र करने का ध्येय सिद्ध न हो सकेगा। समस्त मलिन-वृत्तियों का बीज है—अहंकार। स्वरूप के साथ मन का अनुसंधान किये बिना एकाग्र हुआ मन जरा-सा निमित्त मिलते ही चंचल—विक्षुब्ध हो जाएगा। अतः मन में मूलभूत परिवर्तन लाने तथा उसमें रही हुई तृष्णा, लालसा, राग-मोह, मद, कुतूहल, मत्सर आदि वृत्तियों का उच्छेद करने के लिए स्वरूप का भान और अनुसन्धान सतत् रखना चाहिए। तभी मन को ऊर्ध्वगामी बनाया तथा अधोगामी बनने से रोका जा सकता है।

स्वरूपानुसन्धानरूप ध्यान क्या है, क्या नहीं ?

आत्मा में डूबकर भी यदि कोई साधक बाह्य पदार्थों तथा उनकी

गतिविधियों का चिन्तन करने लगे, अथवा आत्मा का चिन्तन-मनन-निरीक्षण-समीक्षण करना छोड़कर भौतिक पदार्थों, तन, धन, इन्द्रियों और अन्य अन्य सुख-सामग्री के गोरखधन्धे में लग जाए तो वहाँ भी मन आत्मा-परमात्मा के ध्यान और स्मरण से भग जायेगा। ऐसी स्थिति में एकमात्र आत्मस्वरूप के सम्प्रेक्षण का उद्देश्य पूर्ण न होगा। स्वरूपानुसन्धान का फलितार्थ है—सब ओर का चिन्तन छोड़कर एकमात्र आत्मा का ही चिन्तन-मनन, निरीक्षण-परीक्षण करना। जैसा कि उपाध्याय यशोविजय जी ने कहा है—'सहजं आय-सरूवं, भावेयव्वं जहावसरं।'[1] सहज-अविकृत-शुद्ध अविनाशी आत्मस्वरूप का यथावसर ध्यान करना चाहिए। जैसे—एक वैज्ञानिक अपनी लेबोरेटरी (प्रयोगशाला)में बैठकर एकमात्र अपने अभीष्ट प्रयोग या अन्वेषण के सम्बन्ध में सर्वस्व चिन्तन-मनन, विश्लेषण; निरीक्षण-परीक्षण करता है, वैसे ही अपनी आत्मा की हृदयरूपी प्रयोगशाला में स्थित होकर दिव्यदृष्टि से एकमात्र शुद्ध आत्मा अर्थात् परमात्मा का ही निरीक्षण-परीक्षण, समीक्षण, विश्लेषण, चिन्तन-मनन और स्मरण करे, तभी सतत स्वरूपानुसन्धान, दूसरे शब्दों में कहें तो, परमात्मभाव का अखण्ड स्मरण सिद्ध हो सकेगा। उपाध्याय यशोविजय जी ने इसी को समाधि बताते हुए कहा है—

स्वरूपमात्र-निर्भासं समाधिर्ध्यानमेव हि।[2]

'जहाँ एकमात्र आत्म-स्वरूप का ही अवभास हो, वहाँ आत्मसमाधि प्राप्त हो जाती है, जो उच्चकोटि का ध्यान ही है।' व्यक्ति जब ध्यान की गहराई में चला जाता है, तब समाधिस्थ हो जाता है। जैनाचार्य अमितगति सूरि ने आत्मसमाधि प्राप्ति के लिए इसी तथ्य का समर्थन किया है—

"एकाग्रचित्तः खलु यत्र-तत्र स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम्।"[3]

साधक जहाँ-कहीं भी रहे, एकमात्र आत्मा में ही चित्त को एकाग्र कर ले तो वह आत्म-समाधि प्राप्त कर लेता है।

आशय यह है कि चित्त को सब ओर से रोक कर एकमात्र आत्मा

---

१. सहजमविकृतमात्मस्वरूपं कूटस्थ-स्व-स्वभावलक्षणम् भावितव्य-ध्यातव्यम्।
—उपदेशरहस्य श्लो० १९८ टीका

२. ज्ञानसार, स्वरूपध्यानाष्टक

३. सामयिक पाठ श्लो० २५

में ही एकाग्र एवं स्थिर करने से आत्मसमाधि प्राप्त होती है। और आत्म-समाधि प्राप्त हुए बिना परमात्मभाव की अखण्डस्मृति या उपलब्धि नहीं हो सकती।

शुद्ध आत्मा या परमात्मा की अखण्ड स्मृति कैसे हो ?

छान्दोग्य-उपनिषद् में इस सम्बन्ध में बहुत ही विशद चिन्तन और उपाय प्रस्तुत किया गया है—

"अथान आत्मादेश एव। आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चाद्-आत्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन् आत्मरतिरात्म-क्रीड़ आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति।"[1]

अब यहाँ से आत्मादेश ही है। आत्मार्थी साधक आत्मा को ही नीचे, आत्मा को ही ऊपर, आत्मा को ही पीछे, आत्मा को ही आगे, आत्मा को ही दक्षिण में, आत्मा को ही उत्तर में माने सर्वत्र यह सब आत्मा ही है, इस प्रकार देखता, मानता और जानता हुआ, वह साधक आत्मरति (आत्मा में आत्मभाव में रमण करने वाला), आत्मा में ही क्रीड़ा करने वाला, आत्मा के साथ ही सदा निवास करने वाला, आत्मा में आनन्द पाने वाला स्वराट् (अपने आत्मा का शासक=अनुशासक) हो जाता है। इस प्रकार आत्ममय (ज्ञान-दर्शन-सुख-शक्ति स्वभावमय) बन जाने पर व्यक्ति आत्मसमाधि को प्राप्त कर लेता है। शुद्ध आत्मा के सतत ध्यान व स्मरण से वह विरत नहीं होता।

इस प्रकार अखण्ड स्मृतिदायक शुद्ध आत्मध्यान ही वास्तव में परमात्मा का ध्यान और सतत् अखण्ड स्मरण है। परमात्मध्यान भी आत्मा के शुद्ध स्वरूप के सतत् चिन्तन से होता है। उसी के माध्यम से परमात्मा के स्वरूप से चिन्तन-स्मरण करने के लिए केवल एकाग्रता ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उसमें तल्लीनता, तन्मयता, तच्चित्तता, तल्लेश्यता, तदध्यवसायता, पदात्मता, तद्रूपता, तत्प्रियकरणता, तदिष्टोपयुक्तता, तद्भावभावितता भी होना आवश्यक है। अनुयोगद्वार सूत्र में इसी तथ्य को ध्यानादि प्रत्येक क्रिया या प्रवृत्ति-वृत्ति करते समय मन को (साथ ही तन, इन्द्रियाँ, प्राण आदि को भी) उसी (साध्य=परमात्मभाव या मोक्ष अथवा शुद्ध आत्मा) में ही केन्द्रित करने का निर्देश दिया गया है—

---

१. छान्दोग्य उपनिषद्

"तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसिए तत्तिव्वज्झवसाणे तदिट्ठोव-उत्ते, तप्पियकरणे तब्भावणा-भाविए।"[1]

अर्थात्—परमात्मध्यान या शुद्ध आत्मा के स्वरूपध्यान के समय उसी में चित्त एकाग्र हो, मन भी उसी में केन्द्रित हो, बुद्धि का अध्यवसाय (दृढ़ निश्चय) भी उसी के अनुरूप हो, उसी को उपलब्ध करने का तीव्र अध्यवसाय (निश्चय=संकल्प) हो, उसको जो अभीष्ट हो, उसमें शुद्ध उपयोग हो, उसको जो प्रिय हो वही मन-वचन-काया से करना, उसी के मूल (परमात्म या शुद्धात्म) भावों से भावित हो।

निष्कर्ष यह है कि शुद्ध आत्मा या परमात्मा के ध्यान या अखण्ड स्मरण के लिए इस प्रकार की तन्मयता या एकाग्रता की स्थिति प्राप्त कर लेनी चाहिए।

आत्मा में एक धारावच्छिन्न एकाग्रता से अखण्ड स्वरूपस्मृति

कोरी एकाग्रता से परमात्मभाव या शुद्ध आत्मस्वरूप की अखण्ड-स्मृति का उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकेगा। यों तो महर्षि पतंजलि ने "चित्त-वृत्तियों के निरोध को योग कहा है। उसका तात्पर्य भी विषय-कषाय में फँसाने वाली क्लिष्ट चित्तवृत्तियों के निरोध से हैं। उसका फलितार्थ आत्मबाह्य (परभावों-विभावों) पदार्थों में एकाग्रता करना नहीं है। एक-मात्र आत्मा में चित्त को एकाग्र करना है। सामान्य एकाग्रता तो मेस्मे-रिज्म, हिप्नोटिज्म, त्राटक, मन्त्र-जाप आदि में भी रखी जाती है। प्रार-म्भिक ध्यान में एकाग्रता का उपयोग और औचित्य है, उससे लाभ भी है। किन्तु शुद्ध आत्मध्यान बनाम परमात्मध्यान में केवल एकाग्रता ही पर्याप्त नहीं है, वहाँ उच्चस्तरीय एकधारारूपी एकाग्रता होनी चाहिए। इस प्रकार की उच्चस्तरीय धारावच्छिन्न एकाग्रता होने पर साधक तन्मयता, तादात्म्य, भावसमाधि, निर्विकल्पता या निर्विचारतारूप शुक्लध्यान की स्थिति में पहुँच जाता है। जहाँ शुद्ध-आत्मा या परमात्मा का ध्यान व स्मरण एक-धारावच्छिन्न होता रहता है। इस एकाग्रता के सध जाने पर मोह नहीं रहता, स्वरूप की भी विस्मृति नहीं होती। मोह का आधार नष्ट होते ही

---

१ अनुयोगद्वार २८।

२ योगाश्चित्तवृत्ति-निरोधः। —योगदर्शन सू. १।

स्वरूप की सतत् स्मृति रहती है। 'ज्ञानसार' में इसी तथ्य को अनावृत करते हुए कहा गया है—

"शुद्धाऽत्मद्रव्यमेवाऽहं शुद्ध ज्ञानं गुणो मम।
नान्योऽहं, न ममाऽन्ये, चेत्यदो मोहास्त्रमुल्बणम् ॥"[1]

जब व्यक्ति स्वरूपानुसन्धानरूप ध्यान के दौरान 'अहं' की शुद्ध प्रतीति करता है; अर्थात्—मैं कौन हूँ ? इस प्रश्न के उत्तर में विकल्पों और पर्यायों की दृष्टि से चिन्तन न करके शुद्ध आत्मद्रव्य की दृष्टि से विचार करता है, तब उत्तर आता है—'मैं (निश्चय-द्रव्यार्थिकनय दृष्टि से) शुद्ध आत्मद्रव्य हूँ। शुद्ध ज्ञान मेरा गुण है। इससे भिन्न (शरीरादि) मैं नहीं हूँ, न ही परपदार्थ मेरे हैं। इस प्रकार का आत्मस्वरूप (परमात्मस्वरूप) का अनुसन्धान मोह के नाश के लिए तीव्र अस्त्र है।'

'यह तन, मन और वाणी 'मैं' नहीं हूँ। इस कारण इनसे भोगे जाने वाले विषय तथा समस्त औदयिकभाव मेरे नहीं हैं।' इस प्रकार की निश्चय बुद्धि और प्रतीति हो जाने पर शरीरादि औदयिकभाव और विषयों के प्रति राग-द्वेषभाव छूटते जाते हैं। जितने अंशों में राग-द्वेष कम होते जाते हैं, उतने अंशों में आत्मा स्थिरता, शान्ति और प्रशममुख का अनुभव करती है।

अविच्छिन्न परमात्मध्यान की एक प्रक्रिया

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने भी योगशास्त्र में भी इसी तथ्य की ओर इंगित किया है। शुभचन्द्राचार्य ने ज्ञानार्णव में भी यही कहा है—

"अपास्य बहिरात्मानं, सुस्थिरेणान्तरात्मना।
ध्यायेद् विशुद्धमत्यन्तं परमात्मानमव्ययम् ॥"[2]

परमात्मभाव में तन्मयता शुद्ध आत्मा का ध्यान करने से आती है। इसके लिए कायादि बाह्यभावों में आत्म-बुद्धिरूप बहिरात्मभाव को छोड़ने से एकमात्र आत्मस्वरूप या परमात्मभाव में एकाग्र एवं सुस्थिर हुए अन्त-

---

१ ज्ञानसार, मोहत्यागाष्टक श्लो. २।

२ (क) योगशास्त्र प्रकाश १२, श्लो. ६-१२।
(ख) ज्ञानार्णव सर्ग ३२ श्लो. १०।

रात्मा द्वारा शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप अविनाशी परमात्मा का सतत् ध्यान, स्मरण एवं चिन्तन करना चाहिए।

परमात्मभाव के स्मरण के लिए शुद्ध आत्मध्यान की प्रक्रिया

उपाध्याय यशोविजयजी ने शुद्धात्मा के सतत् अनुसन्धान (स्मरण, चिन्तन एवं ध्यान) को परमात्म-समापत्ति का हेतु[1] बताया है। परमात्मा के ध्यान के लिए शुद्ध आत्मा के भावों एवं गुणों का ध्यान किया जाता है। परमात्मा के सच्चिदानन्दरूप गुणों से भावित होने के लिए भी आत्मार्थी साधक को शुद्ध आत्मा के इन्हीं गुणों का ध्यान करना चाहिए। उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है।

सत् से परमात्मा की शाश्वतता, नित्यता, अविनाशिता, एवं अनन्त-शक्ति (वीर्यत्व) आदि के त्रिकाल स्थायी अस्तित्व का ध्यान करना चाहिए। चित् से परमात्मा के सर्वकाल-सर्वलोकव्यापी, अकेले, शुद्ध एवं परिपूर्ण अनन्तज्ञान-केवलज्ञान का ध्यान करना चाहिए और आनन्द से परमात्मध्याता को परमात्मा के अनन्त सुख—आत्मिक आनन्द अथवा अव्याबाध एवं विषयातीत आत्मसुख का ध्यान करना चाहिए। विषय सुखों से विरक्त—अनासक्त होकर जब आत्मार्थी विषयातीत सुख में निमग्न हो जाता है, तब सहज आनंद—आत्मानंद की अनुभूति होती है। इस प्रकार अर्हत्परमात्मा और सिद्ध-परमात्मा दोनों की अखण्डस्मृति परमात्मा (शुद्ध-आत्मा) के सत्, चित् और आनन्द अथवा अनन्तज्ञानादि-चतुष्टय के सतत अन्तर्नाद से होती रहती है—

सहजानन्दी शुद्धस्वरूपी अविनाशी मैं आत्मस्वरूप

इस प्रकार के परमात्मध्यान से आत्मार्थी साधक परमात्मा के स्वरूप और गुणों के विषय में हुई विस्मृति को दूर कर लेता है, उनका पुनः पुनः स्मरण करता है। अर्थात्—परमात्मध्यान से परमात्मा की सत्ता, स्वरूप, गुण आदि दिव्य दृष्टि से जान-देखकर अपने खोये-भूले हुए आत्म-स्वरूप को पुनः पाकर अपनी मूल स्थिति में आ जाती है। जिस प्रकार एक सिंह शिशु भेड़ों के झुण्ड में रहते-रहते अपने स्वरूप को भूल गया था, किन्तु बब्बर शेर द्वारा बोध पाकर पुनः अपनी मूल स्थिति में आ गया था,

---

१ उपाध्याय यशोविजयजी कृत 'नयोपदेश' की स्वोपज्ञ नयामृततरंगिणी टीका श्लो. १।

उसी प्रकार आत्मार्थी की आत्मा भी परमात्मा के समान अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को भूल गई थी, किन्तु परमात्मध्यान द्वारा स्वरूपबोध पाकर पुनः अपनी मूल स्थिति आ सकती है।

परमात्मा के अन्तर्मुहूर्तभर अविच्छिन्न ध्यान से महोपलब्धि

कोई प्रश्न कर सकता है कि परमात्मा का या शुद्ध आत्मा का सतत अविच्छिन्न स्मरण या ध्यान किसी भी साधक को कैसे रह सकता है ? क्योंकि छद्मस्थों का ध्यान या चिन्तन किसी भी एक विषय पर अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक रह सकता है। यह सत्य है कि अन्तर्मुहूर्त तक ही परमात्मध्यान या स्मरण अविच्छिन्न या एकाग्र रह सकेगा, उसके पश्चात् उस विषय पर से ध्यान हट जाएगा। किन्तु यहाँ परमात्मा के अविच्छिन्न स्मरण या ध्यान (आत्मस्वरूप-चिन्तन) का फलितार्थ यह है कि अन्तर्मुहूर्त तक ध्यान किया जाये, उसमें सतत् परमात्मा के स्वरूप एवं गुणों का स्मरण, चिन्तन किया जाए। इस प्रकार बार-बार स्मरण, चिन्तन-मनन से साधक परमात्मा तक पहुँच जाता है। जैन सिद्धान्त कहता है कि 'दो क्षण के शुद्ध आत्मस्वरूप के ध्यान, से जो आत्मशुद्धि होती है, वह कई उपवासों से नहीं हो सकती।' इस दृष्टि से परमात्मा का अविच्छिन्न रूप से ध्यान करने वाला साधक एक दिन परमात्मा के समकक्ष हो जाता है, परमात्मा बन जाता है।

भगवद्गीता में इस स्थिति को ब्राह्मी स्थिति कहा है—

'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥[1]

हे अर्जुन ! यही ब्राह्मी (ब्रह्म=परमात्मा या शुद्ध आत्मा को प्राप्त हुए व्यक्ति की) स्थिति है। इसे प्राप्त करके वह विमोहित नहीं होता। अन्तकाल तक इस निष्ठा में स्थित होकर साधक ब्रह्मनिर्वाण (आत्मशांति) को प्राप्त कर लेता है।

जैनदृष्टि से 'नियमसार' में भी इस स्थिति की महिमा बताई गई है—

'जो झायइ अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स।[2]

जो शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है, उसे परम समाधि प्राप्त होती

---

१ भगवद्गीता अ. २ श्लो. ७२
२ नियमसार १२३

है। इसी को योगशास्त्र के आचार्यों ने एकीकरण, समापत्ति, समरसीभाव या समाधि कहा है। परमात्मध्यान करने वाला अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए शरीर और मन को शून्य बना लेता है। ऐसा करने पर ही ध्येय (परमात्मा) और ध्याता दोनों में एकात्मता हो सकती है। अर्थात्—परमात्मध्यान के समय ध्याता साधक को परमात्मा में तन्मय, तदात्म, तच्चित्त, तल्लेश्य, तदध्यवसाय और तच्चिन्तनरत तथा उसी के शुद्धोपयोग से युक्त एवं उसी (परमात्म) भाव से भावित हो जाना चाहिए। इस स्थिति में शुद्धचेतना या परमात्मचेतना के अतिरिक्त कोई भी बाह्य आलम्बन नहीं होता। मन शुद्ध आत्मा या परमात्मा में विलीन हो जाता है। वह कषाय, विषयासक्ति, राग-द्वेष, मोह आदि बाह्य विकल्परंगों के कल्पनाजाल से सर्वथा विमुक्त होकर एकमात्र शुद्धोपयोग—शुद्धचेतना में परिणत हो जाता है। यही मन की शुद्धचेतना या परमात्मचेतना में तन्मयता है। मन की इस प्रकार की तन्मयता को त्रिविध मनोगुप्ति भी कहा गया है—

विमुक्त-कल्पनाजालं समत्वेषु प्रतिष्ठितम्।
आत्मारामं मनश्चेति मनोगुप्तिस्त्रिधोदिता ॥[1]

जब मन कल्पनाजाल से विमुक्त हो जाता है, (अपनी वृत्तियों को बाहर के विकल्पों से समेट कर) समत्व में प्रतिष्ठित हो जाता है, और एकमात्र आत्मा में—शुद्ध आत्मभाव में रमण करने लगता है, इसी को त्रिविध मनोगुप्ति कहा गया है। अमुक के द्वारा अपमान से, अथवा अमुक के द्वारा सम्मान से, इत्यादि कारणों से मन में विषमता के भाव आ जाते हैं, मन-चंचल, अस्थिर और विक्षिप्त उत्तेजित हो उठता। इस प्रकार की स्मृतिजन्य, कल्पनाजन्य या आवेशजन्य विषमता के समय साधक तुरन्त सावधान होकर राग और द्वेष दोनों से मन को हटा लेता है और उसे समत्व में प्रतिष्ठित कर लेता है।

भगवद्गीता में भी श्रीकृष्ण ने मनोनिग्रह के लिए अर्जुन को यही परामर्श दिया है—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृति-गृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा, न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥
यतो-यतो निःसरति, मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥[2]

---

१ योगशास्त्र प्रकाश १ श्लो. ४१

२ भगवद्गीता अ० ६ श्लो० २५-२६

धैर्यपूर्वक काबू में की हुई बुद्धि से धीरे-धीरे मन को शुद्ध आत्मा में स्थिर करे—अन्तर्मुख होकर मन को आत्मा में स्थापित करे, उस समय बाहर के विकल्पों का कुछ भी चिन्तन न करे। जैसे-जैसे मन चंचल और अस्थिर होकर वहाँ से बाहर निकलने लगे, वैसे-वैसे उसे वहाँ से लौटा कर पुनः पुनः आत्मा में लाए—वहीं बार-बार स्थापित करे।

इस प्रकार अन्तरात्मा में मन, बुद्धि, चित्त आदि अन्तःकरण को स्थित कर देने से तन्मयता प्राप्त हो जाती है और साधक परमात्म तत्त्व का शुद्ध-निश्चल ध्यान कर सकता है।

निश्चल और अविच्छिन्न परमात्म ध्यान : कहाँ और कैसे ?

अब प्रश्न यह होता है कि इस प्रकार का निश्चल और अविच्छिन्न परमात्मध्यान कहाँ किया जाए, जहाँ कि चित्तवृत्तियाँ शान्त और स्थिर रह सकें ?

दोनों कोटि के परमात्मा का ध्यान हृदयकमल में ही करना श्रेष्ठ बताया है। बाजार के बिकाऊ कमल या कागज अथवा प्लास्टिक के कमल में नहीं, परन्तु हृदय को पवित्र और दोष-निर्लिप्त कमल मानकर, दिव्यदृष्टि से हृदयरूपी कमल की कल्पना करके उसमें ध्यान करना चाहिए। हृदय को कमल की उपमा इसलिए दी गई है कि जैसे कमल कोमल होता है, वैसे ही हृदय स्वभाव से कोमल होता है। कठोरता, क्रूरता तो उसके बाह्य संयोग से जनित हैं। दूसरी समानता है—निर्लिप्तता की। कमल कीचड़ में पैदा होता है, पानी में बड़ा होता है, फिर भी दोनों से अलिप्त रहता है, वैसे ही हृदय भी विषयवासना से कीचड़ और विकल्पों के पानी से दूर रहना चाहिए। वासना और विकल्प दोनों से हृदय अपवित्र होता है। अतः कमल के समान हृदय कोमल, निर्लिप्त और पवित्र होगा, तभी वह हृदयकमल होगा। उसी में परमात्मा का अविच्छिन्न ध्यान करना है।

वस्तुतः सिद्ध परमात्मा का हृदय-कमल में ध्यान ही उन समस्त विकारों को नष्ट कर देता है, जो बार-बार आकर ध्यान में विक्षेप करते हैं। साधक जब परमात्मा के आदर्शों के अनुरूप हृदय-कमल को दुर्ग बनाकर उनका ध्यान करता है, तब कामक्रोधादि विकारों और विकल्पों रूपी

असुरों का उसमें प्रवेश दुष्कर हो जाता है। हृदय-मन्दिर को जब साधक सुविचारों, आत्मभावों, आत्मगुणों तथा शुद्ध रत्नत्रय से सजाता है। उसका संवर्द्धन, पोषण, रक्षण स्वयं करता है। तथा उसमें परमात्मदेव को विराजमान करके उनमें तन्मयता, तदात्मता तथा तद्रूपता का आनन्दानुभव करता है, तब पारिवारिक-सामाजिक मोहग्रस्त वातावरण, शरीरादि के दुश्चिन्तन एवं प्रतिकूल परिस्थितियों को तथा विकल्पवर्द्धक दूषणों को वहाँ प्रवेश करने की कोई गुंजायश नहीं रहती। परमात्मा के सम्यग्ज्ञानालोकपूर्ण तन, मन, प्राण से हृदय-मन्दिर को प्रकाशित करता है, अपनी अनन्त आस्था और श्रद्धा भावना से परमात्मा के साथ तन्मयता स्थापित करता है। आत्मगुणों से हृदयमंदिर को सजाता है।

शान्त एवं पवित्र स्थान में पवित्र आसन बिछाकर उस पर सुखासन से बैठना चाहिए, ताकि ध्यान में एकाग्रता रहे। साथ ही ध्यान में निश्चलता के लिए अचंचल और स्थिर लौ से युक्त दीपक की कल्पना करना चाहिए। जैसे कि भगवद्गीता में कहा गया है—

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यत-चित्तेन्द्रिय-क्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्यविशुद्धये॥
समं काय-शिरो-ग्रीवं, धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥
यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमास्मृता।
योगिनो यढचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः॥[1]

आत्मार्थी ध्यानाभ्यासी साधक आत्मविशुद्धि के लिए मन को नियत वस्तु (आत्मा) में एकाग्र करके, चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं पर नियंत्रण करके आसन पर बैठकर ध्यानयोग का अभ्यास करे। उसकी विधि यह है कि शरीर, मस्तक और गर्दन को सम और निश्चल रखकर तथा नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि टिकाकर और दिशाओं में न देखता हुआ प्रशान्तात्मा, निर्भय, स्थिर और ब्रह्मचर्यव्रत में स्थित साधक मनःसंयम-

---

१. भगवद्गीता अ. ६ श्लो. १२, १३, १४, १९

पूर्वक मेरे (आत्मा=परमात्मा) में दत्तचित्त और प्रभुपरायण होकर ध्यान योग से युक्त हो।

जैसे निर्वात (वायु-रहित) स्थान में रखा हुआ दीपक चलायमान नहीं होता, वैसी ही उपमा परमात्मा के ध्यान में लगे हुए ध्यानयोगी के चित्त की कही गई है।

अर्हत् परमात्मा का ध्यान ही स्वरूप ध्यान है

पहले बताया गया था कि जो अर्हत् का ध्यान है, वही आत्मा का ध्यान है; पूर्णता के ध्येय तक—मोक्ष तक पहुँचाने वाला ध्यान है। मोक्ष पथ के चार चरण हैं—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप। उत्तराध्ययन सूत्र में स्वयं भगवान् महावीर ने इस चतुष्टय मोक्षमार्ग के रूप में प्रतिपादित किया है।[1] अर्हत् और सिद्ध परमात्मा का स्वरूप भी मोक्षमार्ग के इस चरणों को अपने में आत्मसात् किए हुए है। अर्हत् का स्वरूप है—अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र अर्थात् अनन्त अव्याबाध सुख (आनन्द) और अनन्तशक्ति [वीर्यत्व] चारित्र और आनन्द वस्तुतः एक ही है। चूंकि अर्हत् उत्कृष्ट-साधना-काल में जीवन्मुक्त अवस्था में होते हैं, इसलिए उनके जीवन में साधना-काल में जो यथाख्यातचारित्र होता है, वही सिद्ध (विदेह-मुक्त) काल में आनन्द (आत्मिक सुख) बन जाता है। दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अर्हत् का अर्थ है—ज्ञानादि चारों से परिपूर्ण आत्मा। जब तक अपूर्णता है, तब तक अर्हत्स्वरूप प्रकट नहीं होता। ज्ञान और दर्शन की अल्पता अपूर्णता है, आत्मशक्ति की न्यूनता अपूर्णता है, इसी प्रकार वैषयिक [भौतिक] सुख-दुःख की अनुभूति, दूसरे शब्दों में —आत्मिक आनन्द की न्यूनता भी अपूर्णता है। जब तक ये अपूर्णताएँ हैं, तब तक समझना चाहिए आत्मा में अर्हत् स्वरूप का विकास नहीं हुआ है। अर्हत्स्वरूप का यथार्थ अविच्छिन्न रूप से ध्यान करने पर ही ये अपूर्णताएँ दूर हो सकती हैं। इसलिए अर्हत् के ध्यान का फलितार्थ है—ज्ञान की पूर्णता का ध्यान, दर्शन की पूर्णता का ध्यान, आत्मशक्ति की पूर्णता का ध्यान और आत्मिक आनन्द की पूर्णता का ध्यान। यह तो हुआ—अर्हत्-

---

१ "नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गु त्ति पण्णत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं॥"

—उत्तराध्ययन. अ. २८/२

स्वरूप या सिद्धस्वरूप का ध्यान। 'जेह ध्यान अरिहन्त को, सो ही आतम ध्यान'[1] इस सिद्धान्त के अनुसार अर्हत् कोई दूसरा व्यक्तिविशेष नहीं, मैं स्वयं अर्हत्स्वरूप हूँ। इस प्रकार जब ध्याता अपने स्वरूप का अपने अर्हत् का ध्यान करता है, तब ध्याता और ध्येय एक हो जाते हैं। ध्याता पूर्वोक्त चारों पूर्णताओं को अपनी आत्मा का स्वरूप मानकर इस प्रकार ध्यान करता है—

मैं स्वयं अरिहन्त हूँ—मैं अनन्तज्ञानस्वरूप हूँ।
मैं स्वयं अरिहन्त हूँ—मैं अनन्तदर्शनस्वरूप हूँ।
मैं स्वयं अरिहन्त हूँ—मैं अनन्तशक्तिस्वरूप हूँ।
मैं स्वयं अरिहन्त हूँ—मैं अनन्तआनन्दस्वरूप हूँ।

परमात्मा का निश्चल ध्यान : जैनदृष्टि से

भगवती सूत्र एवं स्थानांग सूत्र में कायोत्सर्गपूर्वक सिद्ध परमात्मा का एवं अरिहन्त परमात्मा का निश्चल निःस्पन्द ध्यान करने वाले साधक के लिए कहा गया है—एग-पोगल्ल-निविट्ठ-दिट्ठी अणिमिस-नयणे (एक ही पुद्गल पर दृष्टि को गड़ाकर निर्निमेषदृष्टि से) ठाणेणं मोणेण झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि" (काया की स्थिरता से, वाणी की स्थिरता (मौन) पूर्वक तथा ध्यान मुद्रा में स्थित होकर कायोत्सर्ग (आत्म-व्युत्सर्ग) करता हूँ। तथा 'अणिमिस-णयणेणेगदिट्ठीउ'[2] (अपलक नेत्रों से एकाग्र दृष्टि से से ध्यान करता था।) अर्थात्—किसी भी पर वस्तु के विचारों में न बहना, न चढ़ना तथा आँख की कनीनिका भी चलित न हो, इस प्रकार से दृष्टि स्थिर रखकर ध्यान करना चाहिए। यही निश्चल ध्यान की पद्धति है।

सिद्ध परमात्मा के ध्यान की तरह वीतराग जिनेन्द्र अर्हत्परमात्मा का ध्यान पूर्ण निश्चल न हो सके तो उनके आध्यात्मिक विजेता के रूप का ध्यान किया जा सकता है। अरिहन्त परमात्मा राग-विजेता हैं। राग दो प्रकार के हैं-प्रशस्त और अप्रशस्त। अप्रशस्त राग तीन प्रकार का है-काम-राग, स्नेहराग और दृष्टिराग। देव, गुरु और धर्म के प्रति राग प्रशस्त

---

१. समाधिविचार दोहा २२५
२. [क] भगवती [व्याख्याप्रज्ञप्ति] सूत्र श. ३ उ. २,
[ख] आवश्यक सूत्र कायोत्सर्ग पाठ,
[ग] स्थानांग सूत्रं अ. १ उ. ३ सू. १८२

राग है। परमात्मा इन दोनों प्रकार के रागों से रहित है। साधक में अपूर्ण छद्मस्थ अवस्था तक प्रशस्त राग रहता है। फिर भी वह प्रभु के राग-विजेता रूप का ध्यान करता है।

इसी प्रकार परमात्मा द्वेष-विजेता हैं। द्वेष भी प्रशस्त अप्रशस्त दोनों प्रकार के हैं। साधक के जीवन में अभी काम, क्रोधादि पापों के प्रति प्रशस्त द्वेष (अरुचि) है। परन्तु प्रभु के द्वेष रहित रूप का वह ध्यान करेगा। इसी प्रकार परमात्मा के कषायविजेता, पंचेन्द्रियविजेता, मनो-विजेता, परिषहविजेता, कामविजेता, मोहविजेता, घातिकर्म-विजेता आदि रूपों का भी निश्चल ध्यान किया जा सकता है।

विस्मृत आत्मा या परमात्मा को सतत स्मरण रखना आवश्यक

सामान्यतया मानव का ध्यान बाह्य जगत् को, तथा शरीर और शरीर से सम्बद्ध पदार्थों को जानने-देखने और उसी में आनन्द मानने में इतना अधिक ओतप्रोत रहता है कि वह अपने आपको (आत्मा—परमात्मा को) भूल जाता है। आप विशाल राष्ट्र व्यापी किसी समाचार-पत्र के सम्पादक के कार्यकलाप की कल्पना करिये। तार, फोन, ट्रंककोल, टेली-प्रिंटर, संवाददाता आदि के पत्रों इत्यादि द्वारा उसके कार्यालय में विश्व भर के ढेर के ढेर समाचार सतत आते रहते हैं। उनके वर्गीकरण, कांट-छांट, पसंदगी, अवतरण, संकलन इत्यादि में वह खो जाता है, इसी प्रकार सामान्य मानव भी इन्द्रियों और मन द्वारा आते हुए बाह्य जगत् की घट-नाओं, दृश्यों, विचारधाराओं, क्रियाकलापों के ढेर के ढेर वृतान्तों को सुनने, देखने, जानने तथा उनका मूल्यांकन करने या अपना प्रतिभाव या प्रतिक्रिया उन पर व्यक्त करने में इतना व्यस्त रहता है कि उनकी ओट में स्वयं (आत्मा) को ही भूल जाता है। शुभ ध्यान का उद्देश्य उसी विस्मृत आत्मा=परमात्मा को सतत स्मरण रखता है। जिसके आधार पर सारी प्रवृत्तियाँ चलती हैं, वह आत्मा तो उसकी नजर से ओझल हो जाती है।

एकाग्रता सुदृढ़ हुए बिना स्वरूपानुसन्धान कैसे हो ?

इस स्थिति से बाहर निकल कर स्वरूपानुसन्धान कैसे किया जाये ? स्वरूप की स्मृति टिकाने के लिए सरल प्रक्रिया यह है शरीर, इन्द्रिय और मन आदि की दैनिक प्रवृत्ति चालू हो, तब साधक को एक समय नियत करके अन्य समस्त प्रवृत्तियाँ छोड़कर एकमात्र आत्मनुसंधान का प्रयत्न करना

चाहिए। मन की समस्त भाग-दौड़ को असीम से रोककर इस प्रक्रिया में उसे एक सीमित क्षेत्र में प्रतिबद्ध करना पड़ेगा। मन बार-बार बाहर भागेगा, उसे पकड़-पकड़ कर बार-बार अपनी सुनिश्चित ध्यान-परिधि में लाना पड़ेगा। जैसे अल्हड़ बछड़ा और घोड़ा पहले ही दिन हल या तांगा नहीं चलाने लगते, उनके साथ बार-बार माथापच्ची करके उन्हें अभीष्ट कार्य के योग्य बनाया जाता है, इसी प्रकार मन को बार-बार रोकने का अभ्यास करा कर प्रशिक्षित करना पड़ेगा। उसे बार-बार पकड़कर पहले जप, स्वाध्याय, उपासना, भावना, अनुप्रेक्षा, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की साधना, पिण्डस्थ, पदस्थ, और रूपस्थ ध्यान में लगाकर एकाग्र करना पड़ेगा। शरीर, मन और इन्द्रियों की दैनिक प्रवृत्तियों के समय भी उनके प्रवाह में न बहकर 'सोऽहम्' इत्यादि बीजमंत्रों द्वारा स्वरूप का सतत् स्मरण जारी रखना पड़ेगा। चित्त में कोई भी विचार उठे तो उसके प्रवाह में शामिल न होकर अन्तस्तल में गहरे उतरकर यह प्रश्न पूछें कि यह विचार किसे और कहाँ से आ रहा है ? जो फालतू विचार, वृत्ति, स्मृति या संकल्प-विकल्प मन में उठें, उन्हें टिकने मत दो; परन्तु अन्तर्मुख होकर उन विचारों से किनारा-कसी कर लो। परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक टिकनी कठिन है। पुनः कोई न कोई विकल्प उठेगा, उस समय साधक को हार न मानकर इस अभ्यास को जारी रखना चाहिए।

ध्यानाभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था में

चित्त में उठते हुए विचारों को समूल रोककर उस-उस विचार के उद्भवस्थानरूप विशुद्ध आत्मा के—परमात्मा के स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव करना 'आत्मविचार' का मूल उद्देश्य है। फिर भी अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था में तो भटकते हुए चित्त को चिन्तन की एक धारा में जोड़कर रखना और चित्त के विचाररूपी चर्खायंत्र की गति पर यत्किंचित् नियन्त्रण करना, इतना ही अभ्यास कर लेना पर्याप्त होगा। प्रारम्भिक ध्यानाभ्यासी को तो यह कार्य भी अत्यन्त कठिन प्रतीत होगा। वह एक बाह्य विचार को दूर करने जाएगा, इतने में तो दूसरा विचार घुसने की कोशिश करेगा। परन्तु प्रारम्भिक निष्फलता से साधक को निराश और हताश हुए बिना अपना अभ्यास चालू रखना चाहिए। जब-जब यह ख्याल आए कि चित्त आत्मान्वेषण का आत्मस्वरूप के अनुसन्धान से दूर खिसक गया है, तब-तब तुरन्त उसे वहाँ से वापस खींचकर पुनः-पुनः उसी अन्वेषण में जोड़ते रहने

से चित्त शान्त, अव्यग्र और स्थिर हो सकेगा। इस अभ्यास के बढ़ने से जीवन में सद्वृत्तियों और सद्गुणों का स्वतः विकास होता जाएगा और अशुभवासनाएँ, दुर्वृत्तियाँ, अनावश्यक विकल्प भी अपने आप हट जायेंगे।

ध्यानाभ्यास में निष्ठा और एकाग्रता में रुकावटें

ध्यानसाधना के मार्ग में एक बड़ी रुकावट यह है कि साधक कई बार दार्शनिक चर्चा-विचारणा, खण्डन-मण्डन, साधना-विषयक कोरी बातें या ध्यान पर लिखी हुई किसी पुस्तक के पढ़ने-सुनने-सुनाने आदि में इतना व्यस्त हो जाता है कि चित्त में उठते हुए संकल्प-विकल्पों या दुर्वृत्तियों से छूटने के लिए कोई रचनात्मक ध्यान-साधना पद्धति का अभ्यास नहीं करता। वह कोरे स्वाध्याय-मात्र से या तत्त्वज्ञान बघारने मात्र से इस भ्रम में रहता है कि मेरा जीवन धर्म-शुक्लध्यान में व्यतीत हो रहा है। किन्तु केवल विचार-वाचन, चर्चाविचारणा, तर्क-वितर्क, पठन-पाठन आदि से ध्यानसमाधि में मनुष्य निपुण नहीं हो सकता। तैरने की कला पर नाना ग्रन्थों के पढ़ने-पढ़ाने से या उसके विषय में चर्चा-विचारणा करने मात्र से तैरना नहीं आता, उसी प्रकार केवल वाद-विवाद या चर्चा-विचारणा से ध्यानसाधना में निपुणता हस्तगत नहीं हो सकती। ध्यानसाधना में प्रगति का अधिकांश आधार उसके दीर्घकाल तक दृढ़ श्रद्धा, निष्ठा और आदर-पूर्वक नियमित अभ्यास पर है।

बाह्य प्रवृत्तियों का आकर्षण : ध्यान के प्रति अपकर्षण

दुर्भाग्य से, वर्तमान युग में अनेक बाह्य प्रवृत्तियों में व्यस्त मनुष्य बाह्य भौतिक आकर्षणों से छूटकर अन्तरंग (ध्यान) साधना के लिए समय नहीं निकाल पाता। बाह्य जगत् का खिचाव मन पर इतना प्रबल है तथा इन्द्रियों पर भी उसका इनना जबर्दस्त प्रभाव है कि ध्यानाभ्यास का प्रारम्भ करते समय उसी का ख्याल बार-बार मन पर उभर आता है। साधक ज्योंही मन के बाह्य सतह पर से हटकर घड़ी भर के लिए अन्तर् में प्रवेश करेगा, त्यों ही अनेक बातें एक के बाद एक चित्त के स्मृति पटल पर आ खड़ी होंगी। इसलिए वास्तविक कठिनता तो ध्यानाभ्यास के प्रारम्भ में होती है, फिर उसे नियमित रूप से चालू रखने में भी अनेक विघ्न-बाधाएँ आती हैं। अगर साधक बीच-बीच में कुछ दिन छोड़कर छुटपुट ध्यान का प्रयास करता है तो उसका अभीष्ट परिणाम नहीं आ सकता। कुंआ खोदने वाला निश्चित किये हुए एक ही स्थात पर धैर्यपूर्वक तीस-चालीस

मीटर खोदता है, तब उसे पानी मिलता है। किन्तु वह एक-एक मीटर के ४० खड्डे खोद डाले उससे धरती के अन्तराल में बढ़ते हुए पानी के स्रोत तक नहीं पहुँच सकता। इसी प्रकार शीघ्र अभीष्ट परिणाम के लोभ में ध्यान-साधना की विविध प्रक्रियाओं के बीच घूमते रहने से, अथवा एक साथ अनेक प्रक्रियाओं के प्रारम्भ कर देने से, या बीच-बीच में ध्यानाभ्यास छोड़ देने से भी ध्यानसाधना में प्रवीणता प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसी अनेक प्रक्रियाओं में व्यग्र साधक किसी भी लक्ष्य तक पहुँच नहीं सकता, क्योंकि उसका उत्साह प्रारम्भ में जैसा रहता है, निष्फलता मिलने पर वह मन्द होता जाता है। अधिक समय तक टिक नहीं सकता और धीरे-धीरे वह सारे ही ध्यानाभ्यास को बिलकुल छोड़-छाड़कर बैठ जाता है।

ध्यानसाधना में दीर्घकाल तक धैर्यपूर्वक अभ्यास से सफलता

अतः शुद्ध आत्मा=परमात्मा की अखण्ड अविच्छिन्न स्मृति के लिए ध्येयलक्षी निश्चित ध्यान-साधना के मार्ग पर साधक को दृढ़ संकल्पबल, अटूट धैर्य, श्रद्धा एवं निष्ठा के साथ दीर्घकाल तक नित्य नियमित रूप से बाण में से छूटे तीर की तरह अभ्यास जारी रखना चाहिए। तभी व्यग्रता और चंचलता समाप्त होगी। ध्यान-साधना में भी एक धारावच्छिन्न एकाग्रता, स्थिरता, उत्साह, आनन्द और प्रसन्नता में वृद्धि होगी।

किसी अभ्यासी को थोड़े-से प्रयत्नों के बाद ध्यानसाधना में सफलता मिल जाती है, जबकि किसी को वर्षों तक धैर्य और उत्साहपूर्वक साधना जारी रखनी पड़ती है, तब जाकर सफलता मिलती है। इससे हताश होने की आवश्यकता नहीं। अन्धेरी रात में रास्ते में बत्ती के खंभे का स्पर्श करने पर ही उस बत्ती का प्रकाश उक्त पथिक को मिलता है, ऐसी बात नहीं है। उस मार्ग पर आगे चलते-चलते ज्यों-ज्यों वह प्रकाश के खंभे के निकट आता है, त्यों-त्यों उसके आगे के मार्ग पर अधिकाधिक प्रकाश पड़ता दिखाई देता है, इसी प्रकार ध्यान-साधक भी परमात्मा=शुद्ध अन्तरात्मा की क्षितिज के निकट आता-जाता है, त्यों-त्यों उसके मार्ग में आत्मज्ञान का प्रकाश पड़ता प्रतीत होता है। चित्त की शुद्धि और स्थिरता बढ़ जाने शुद्ध आत्मध्यान में प्रगति का अहसास साधक को होता जाता है।

परमात्मध्यान की उपलब्धियाँ

वस्तुतः देखा जाए तो परमात्मध्यान जब अविच्छिन्न और निश्चल हो जाता है, तब शुद्ध आत्मा का भी ध्यान एवं स्मरण होता जाता है।

इस दृष्टि से परमात्म-ध्यान से दोहरा लाभ हो जाता है, एक ओर से परमात्मा के सतत् स्मरण एवं ध्यान के साथ-साथ आत्मा के शुद्ध स्वरूप का भी अनुसन्धान एवं स्मरण होता है, दूसरी ओर आत्मशोधन भी होता जाता है। अर्थात्—एक ओर से परमात्मा के शुद्ध, निर्दोष, बुद्ध और मुक्त स्वरूप का तथा उनके अनन्तज्ञानादि गुणों का अनवरत स्मरण और चिन्तन किया जाता है, दूसरी ओर अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव किया जाता है, खोये हुए विस्मृत आत्मस्वरूप को उपलब्ध किया जाता है। इस प्रकार परमात्मा के अविच्छिन्न ध्यान से 'यद् ध्यायति तद् भवति' इस तथ्य के अनुसार परमात्म-ध्याता भी एक दिन परमात्मा बन जाता है। जैसे कि परमानन्द पंचविंशति में कहा गया है—

ये ध्यानशीला मुनयः प्रधानास्ते दुःखहीना नियतं भवन्ति।
सम्प्राप्य शीघ्रं परमात्मतत्त्वं, व्रजन्ति मोक्षं क्षणमेकमध्ये ॥[1]

जो ध्यानशील मुनियों में प्रधान मुनि हैं, वे निश्चित ही परमात्मतत्त्व के आनन्द में मग्न होकर समस्त दुःखों से रहित हो जाते हैं। वे शीघ्र परमात्मतत्त्व को प्राप्त कर क्षण भर में मोक्ष चले जाते हैं, पूर्ण परमात्म पद को प्राप्त कर लेते हैं।

परमात्मध्यान को तेजस्वी और प्राणवान् बनाने के लिए जब अपनी समस्त श्रद्धा और उपलब्धियाँ प्रभु-चरणों में समर्पित कर देता है, तब परमात्मा में आत्मसात् हो जाने की गहन आस्था एवं परम-आनन्द की अनुभूति होती है। इस प्रकार के आत्मसमर्पण के फलस्वरूप परमात्मा के निराकार स्वरूप का ध्यान जमता है। जिसे अध्यात्म ध्यान-योग कहा गया है। यह समस्त शास्त्रों का नवनीत है, परमसंवररूप है। इससे आत्मा शुद्ध रत्नत्रयरूप हो जाता है। फिर ज्यों-ज्यों आत्मसात् बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों ध्याता और ध्येय एक हो जाते हैं, ध्याता साम्यसुख का अधिकाधिक अनुभव करने लगता है। आनन्द वृद्धिगत होने पर वह यहीं जीवन्मुक्त-अवस्था के मुक्तिसुख का आस्वादन करने लगता है[2] परमात्मा के

---

१ परमानन्द पंचविंशति श्लो. ११

२ देखिये उपदेशरहस्य [उपाध्याय यशोविजयजी] श्लोक १९१ में—
"एवंमि परिणमंते आणंदस्सावि होइ परिवुड्ढी।
एवं चिय साहूणं जीवन्मुत्ततणं जुत्तं ॥"

साथ तादात्म्य होने से उनके सम्यग्ज्ञान का प्रकाश, सम्यग्दर्शन का विवेक, आत्मशक्ति (वीर्यत्व) एवं अव्याबाधसुख (आत्मिक आनन्द) तथा अन्त में परमात्मपद भी प्राप्त होता है, जिसे पाकर ध्याता अमृतत्व का, मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। इस ध्यान में याचना की नहीं, आत्मदान की भावना होती है।

ध्यानयोग आत्मा को परमात्मा से जोड़ना या मिलाना अथवा मिलन होना है। आत्मा और परमात्मा का यह मिलन (ध्यान के माध्यम से हुआ योग) सिर्फ दो वस्तुओं के संयोग की तरह नहीं, अपितु तादाम्य-पूर्वक मिलन है, एक दूसरे में घुलमिल जाना है। तुच्छता को महानता में परिणत करना है।

यह शंका निराधार है कि परमात्मा जैसे पूर्ण, अनन्त-चतुष्टय-सम्पन्न शुद्ध आत्मा के साथ साधक की अपूर्ण, अल्पज्ञानादि-सम्पन्न अशुद्ध आत्मा का तादात्म्यपूर्वक मिलन या योग कैसे हो सकता है ? इस दुःशक्य या दुष्कर कार्य को सुशक्य या सुकर बनाने के लिए ही तो अविच्छिन्न परमात्मध्यान की प्रक्रिया है। परमात्मा चाहे जितना विराट् या महान् हो, ध्याता साधक की आत्मा भी कम महान् नहीं होती। उसमें भी अनन्तचतुष्टय की विराट्ता छिपी हुई है, सुषुप्त है, अव्यक्त है। वह निर्विकल्प अविच्छिन्न शुक्लध्यान की साधना द्वारा अपनी आत्मा को इतना शुद्ध, परिपक्व एवं परिष्कृत बना चुकता है कि विराट् परमात्मा के साथ उसकी आत्मा का तादाम्य होने में—दूसरे शब्दों में कहें तो—अपनी ही आत्मा के परमात्मपद पाने में कोई बाधकतत्त्व नहीं रह जाता। अतः सामान्य ध्यानसाधक आत्मा के लिए परमात्मा से मिलन इतना दुष्कर या दुर्गम नहीं होता।

ध्यातासाधक की आत्मा भले ही अणुरूप हो, परमात्मा की विराट्-रूप, किन्तु अणु की शक्ति भी कम नहीं होती। छोटा-सा अणु जब तक रेत में मिला रहता है, तब तक उसका कोई महत्व नहीं होता, किन्तु वही अणु जब घिसटते-घिसटते खान में सम्मिलित हो जाता है, तब उसका महत्व उपयोगिता और सामर्थ्य बढ़ जाता है। इसी प्रकार साधक की अशुभ और पृथक् आत्मा जब ध्यानयोग से अपने-आपको घिसते-घिसते शुद्ध स्वर्ण सम (रजकणरहित) हो जाती है, और परमात्मा के निकट पहुँच जाती है तब

उसमें परमात्मतत्व की मात्रा अत्यधिक बढ़ जाती है। परमात्मध्यानी साधक में भी तब परमात्मा की झांकी दिखाई देने लगती है।

अतः परमात्मा तो महान् है ही, ध्याता की आत्मा भी परमात्मध्यान से महान् बन जाती है। और इन दोनों सत्ताओं का मिलन तो और भी महत्वपूर्ण है। ऋण और धन दोनों प्रकार की विद्युत्धाराएँ मिलकर रोमांचकारी विद्युत्शक्ति से सम्पन्न हो जाती हैं, और उनसे अनूठे कार्य सम्पन्न होते हैं, इसी प्रकार ध्याता की आत्मा और परमात्मा दोनों का मिलन भी अद्भुत शक्ति प्रवाह पैदा कर देता है। यह मिलन वर्षों से बिछुड़े हुए माता और पुत्र के मिलन के समान कितना आनन्ददायक, कितना स्फूर्तिजनक और कितना सक्षम होता है? यह तो अविच्छिन्न परमात्मध्यानी ही अनुभव कर पाता है। आत्मीयजन जब कभी बिछुड़ने के वर्षों पश्चात् पुनः मिलते हैं तो उस मिलन का आनन्द अद्भूत ही होता है। इसी प्रकार परमात्मा से अगणित वर्षों से बिछुड़ी हुई ध्यानी साधक की आत्मा जब मिलती है तो उसे असीम आनन्द की अनुभुति क्यों नहीं होगी? आत्मा और परमात्मा के मिलन दिव्यस्मृति परमात्मध्यान के माध्यम से फिर से ताजी हो जाती है। ध्यान साधक मन ही मन यह अनुभव करता है कि जो परमात्मा मेरी आत्मा का सजातीय, सच्चा स्नेही, वात्सल्यी माता, पिता, आत्मीय और परमहितैषी स्वजन आत्मपुरुष हैं, उनसे मैंने क्यों सम्बन्ध विच्छेद-सा कर रखा था? इसलिए अब उनके सान्निध्य में उठने-बैठने में मुझे पूरा आनन्द आएगा। वास्तव में परमात्मा के साथ ऐक्य, तादात्म्य, सामीप्य या सान्निध्य यथार्थरूप में होने पर जिस परमानन्द या ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है, उसे पाकर साधक धन्य हो उठता है।

वस्तुतः ध्यान-साधक की आत्मा और परमात्मा के मिलन से आश्चर्यजनक सच्चिदानन्द की धारा फूटती है, जिसमें से समता, सन्तोष, शान्ति आनन्द, उल्लास एवं आत्मिक सुख-समाधि की तरंगें सतत् उछलती रहती हैं। यह मिलन साधक को धन्य, भाग्यशाली और परमलाभ से युक्त बना देता है। इससे ध्याता की आत्मा, कुछ खोती नहीं, अपितु श्रेयस और अभ्युदय का प्रचुर लाभ पाती है। जिस प्रकार पानी दूध में मिलकर कुछ खोता नहीं, अपना मूल्य ही बढ़ा लेता है, लोहा पारस को छूकर घाटे में नहीं रहता, अपना ओज, तेज और सम्मान ही बढ़ाता है। बूँद समुद्र में मिलकर अपनी व्यापकता ही बढ़ाती है, वह स्वयं समुद्रमयी बन जाती है।

इसी प्रकार ध्याता की आत्मा भी परमात्मा के मिलन से शक्तिशाली शुद्ध और परिष्कृत बन जाती है; वह स्वयं परमात्ममयी बन जाती है।

परमात्मध्यान की एक महान् उपलब्धि है—परमात्मा का ध्यान समस्त विकारों को नष्ट कर देता है। आचार्य अमितगति ने कहा है—"ध्यातो धुनीते सकलं विकारं"[1] आत्मा मूल में सच्चिदानन्दस्वरूप है और वही शुद्ध परमात्मा का स्वरूप है।[2] अतः शुद्ध आत्मस्वरूप का चिन्तन, मनन, श्रद्धा-विश्वास स्वरूपमयी और स्वभावनिश्चय जितनी-जितनी मात्रा में बढ़ता जाता है, उतनी-उतनी मात्रा में परमात्म-तेज बढ़ता है। आत्मा में परमात्मतत्त्व का वास करने के कारण आत्मा में आई हुई कामादि विकृतियाँ—अशुद्धियाँ भी पलायित हो जाती हैं। आत्मा की परिशुद्धि होती जाती है। आत्मा जब स्वच्छ दर्पण के समान निर्मल, शुद्ध, एवं निर्विकार तथा पवित्र होने से उस पर परमात्मा की छवि प्रतिबिम्बित हो जाती है। यही एक प्रकार से आत्म-साक्षात्कार या परमात्म-साक्षात्कार है।

इसके अतिरिक्त परमात्मध्यान एक प्रकार संसार (जन्म-मरणरूप) के छेदन के लिए एक कुठार-सदृश है। क्योंकि सम्यक्ध्यान से अनेक जन्म-जन्मान्तर के कर्म कट जाते हैं।[3]

आचार्य अमितगति ने परमात्मध्यान को मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ वरदान बताते हुए कहा है—

"यैः परमात्माऽमितगति-वन्द्यः, सर्व-विविक्तो भृशमनवद्यः।
शश्वदधीतो मनसि लभन्ते, मुक्तिनिकेतं विभववरं ते॥"[4]

जो व्यक्ति अगाधज्ञानी गणधरों या मुनियों द्वारा वन्दनीय तथा समस्त कर्मजनित रागद्वेषादि दोषों की उपाधि से रहित और परम निरवद्य-विशुद्ध परमात्मा का अपने मन में निरन्तर ध्यान-स्मरण करते हैं, वे मुक्तिधाम का श्रेष्ठ वरदान प्राप्त कर लेते हैं।

---

१. सामायिक पाठ श्लोक १७।
२. सुद्धोऽहं अणंतणाणादिसमिद्धोऽहं।
३. छिंदति भावसमणा झाणकुठारेहिं भवरुक्खं। —भावपाहुड १२२।
४. सामायिक पाठ श्लोक ३२।

भावार्थ यह है कि जो ध्यानी परमात्मा का अविच्छिन्न ध्यान करते हैं, वे जीवन्मुक्ति, कषायों से—रागद्वेषादि विकारों से मुक्ति तथा समस्त कर्मों के सर्वथा क्षयरूप मुक्ति अथवा आत्मा समस्त परभावों की गुलामी-पराधीनता से मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। वे परमात्मध्यान से अपनी आत्म-शक्तियों, गुणों और स्वभाव आदि का स्वरूप जानकर पूर्ण आत्मस्वातन्त्र्य पा लेता है। उस साधक की आत्मा अनन्त शक्तिमान् हो जाती है, उस पर किसी भी हर्ष, विषाद, शोक और मानसिक—शारीरिक कष्टों का कोई प्रभाव नहीं होता, सभी उसके समक्ष निर्वीर्य बन जाते हैं। जैन शास्त्रों में[4] बताया है कि ध्यान कोष्ठ में स्थित साधक बाहरी प्रतिकूल परिस्थितियों, प्रलोभनों, भयों आदि से जरा भी विचलित नहीं होता। न ही सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों से वह बाधित होता है। शीतल-उष्ण वायु, प्रचण्ड अग्नि, जलवृष्टि, विष, प्रचण्ड वेगवती जलधारा, भयंकर कोलाहल आदि प्राकृतिक प्रकोप भी उसका बाल बाँका नहीं कर सकते। न ही सर्पादिहिंस्र प्राणियों के प्रकोप से वह भयभीत होता है। इस प्रकार ध्यानी साधक तन, मन, आत्मा आदि सभी प्रकार की स्वतन्त्रता पा लेता है। यही परमात्मध्यान की सर्वोत्तम उपलब्धियाँ हैं।

□

---

१. भगवती सूत्र तथा स्थानांग सूत्र आदि।

१४

आत्म-साधना से परमात्मभाव की सिद्धि

आत्मिक प्रगति का नाप-तौल आत्म-साधना से

किसी व्यक्ति की भौतिक या सांसारिक उन्नति या प्रगति कितनी हुई है ? इसकी नाप-तौल के लिए उसके तन-मन के स्वास्थ्य, उसके शिक्षण, संस्कार, सभ्यता, कुशलता, परिवार और समाज में उसके सुव्यवस्थित ढंग और व्यवहार की रीति-नीति, कार्य-क्षमता, पद, प्रतिष्ठा, कीर्ति, धन-सम्पत्ति, सुख-सुविधा और सुख-सामग्री आदि की जाँच-पड़ताल करनी पड़ती है। तभी उसकी भौतिक या सांसारिक अभ्युन्नति, सम्पन्नता और प्रगति का पता लग पाता है। इसी प्रकार आत्मिक प्रगति का अनुमान लगाना हो तो उसके लिए उसके जीवन में पवित्रता, शान्ति, क्षमा, दया, सत्य, नम्रता, आत्मोपम्यभावना, मैत्री, करुणा, प्रमोद, माध्यस्थ, समता, निर्भयता, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, संयम, सहिष्णुता, तप आदि आध्यात्मिक गुणों का कितनी मात्रा में विकास हुआ है ? उसमें आत्मा और परमात्मा के प्रति कितनी श्रद्धा है, आत्मगुणों और आत्मस्वभाव में रमण करने की उसकी कितनी तमन्ना है ? आत्मविकास, शुद्ध रत्नत्रय रूप धर्म का आचरण, आत्मपरिष्कार और स्वपर-भेदविज्ञान कितनी मात्रा में उसके जीवन में क्रियान्वित हुआ है ? उसके जीवन में आत्मजागृति और आत्मा से परमात्मा बनने की कितनी तीव्रता प्रस्फुटित हुई है ? और ऐसी ही आध्यात्मिक अर्हताओं का उसके जीवन-व्यवहार में समावेश देखकर ही उसकी आत्मिक प्रगति का नाप-तौल हो सकता है। आत्मा से परमात्मा बनने के लिए आत्मा को ऐसी ही आध्यात्मिक साधना से प्रखर और तेजस्वी बनाना अनिवार्य है। आध्यात्मिक साधना में तीव्रता आये बिना कोई भी साधक

परमात्मा या मोक्ष के द्वार तक नहीं पहुँच सकता है। मोक्ष-प्राप्ति या दूसरे शब्दों में कहें तो परमात्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की साधना करना अनिवार्य है। इसी में आत्मगुणों की, स्वभाव रमणता की, भेदविज्ञान की, तथा तप-संयम की सभी, उपसाधनाओं का समावेश हो जाता है।

शाब्दिक अध्यात्मज्ञान-मात्र से परमात्मप्राप्ति नहीं

कई लोग आध्यात्मिक शब्दावली और पारिभाषिक शब्दों को रट-कर, बार-बार दुहराते हैं। आत्मा और परमात्मा के विषय में गहराई से व्याख्या और विश्लेषण कर देते हैं, आध्यात्मिक जीवन के विषय में तर्क और युक्ति से परिपूर्ण उपदेश और भाषण दे देते हैं। आध्यात्मिक विकास के विषय में तथा इसकी साधना और उपसाधना के विषय में बारीकी से विवेचन कर सकते हैं। ऐसे आध्यात्मिक ग्रन्थों पर व्याख्या लिख सकते हैं, प्रवचन कर सकते हैं। स्वयं आध्यात्मिक विषयों पर समय-समय पर लेख भी लिख सकते हैं। ऐसा करके वे लोग जनता में अध्यात्मतत्त्ववेत्ता, अध्यात्मविशारद या अध्यात्मजीवनजीवी के नाम से प्रसिद्ध हो जाते हैं। कई लोग तो उन्हें भगवान, परमभक्त, कर्मयोगी, आदि नामों से सम्बो-धित करने लगते हैं। वे भी अपने आपको अहंकारवश मान बैठते हैं कि हम परमहंस, अध्यात्मतत्त्ववेत्ता या भगवान हैं। ऐसे बुद्धिजीवी व्यक्ति अपनी आत्मा को आश्वासन दे लेते हैं कि हम आत्मा परमात्मा के विषय में बहुत कुछ जानते हैं, व्याख्यान कर सकते हैं, दूसरों को उपदेश देकर संसार से विरक्त कर सकते हैं। हमारी वाणी का अचूक प्रभाव होता हैं। परन्तु ऐसे वाणी-शूर व्यक्तियों के जीवन में आध्यात्मिक गुणसम्पदा दृष्टिगोचर नहीं होती। उनका व्यवहार आत्मोपम्य से, मैत्री, करुणा, प्रमोद एवं माध्यस्थ्य से युक्त नहीं होता। उनके जीवन में आन्तरिक वैराग्य, तप, संयम एवं विषय-कषायों की उपशान्ति के दर्शन नहीं होते। क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि आत्मोपजीवी गुणों की मात्रा उनके जीवन व्यवहार में बहुत ही मंद नजर आती है। आत्मशुद्धि, आत्मचिन्तन, स्वभावरमणता, आत्मगुणों के विकास की तीव्र उत्कण्ठा, जागृति और जिज्ञासा उनके जीवन में बहुत ही मन्थर दृष्टिगोचर होती है। उनकी अन्तरात्मा में आत्मा-परमात्मा के विषय में दृढ़ प्रतीति, मजबूत श्रद्धाबल, आत्मानुभव की तीव्रता

नहीं होती। ऐसे ही व्यक्तियों के लिए श्रमण भगवान् महावीर ने कहा है—

इहमेगे उ मन्नंति, अप्पच्चक्खाय पावगं।
आयरियं विदित्ताणं, सव्व-दुक्खाण मुच्चइ॥
भणंता अकरेंता य, बंध-मोक्ख-पइण्णिणो।
वाया-वीरियमेत्तेण, समासासेंति अप्पयं॥[1]

इस आध्यात्मिक जगत् में कुछ लोग यह मानते हैं, पापकर्मों का त्याग करने की या रत्नत्रयरूप धर्माचरण की कोई आवश्यकता नहीं केवल आर्यधर्म को जानकर ही व्यक्ति समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति आत्मा परमात्मा सम्बन्धी बातें मुख से उच्चारण करते रहते हैं, तथा बन्ध और मोक्ष का तत्त्वज्ञान बघारते रहते हैं किन्तु जीवन व्यवहार में आध्यात्मिक ज्ञान के अनुसार आचरण नहीं करते। वे केवल वाणी के बल पर अपने आपको (झूठा) आश्वासन देते रहते हैं, तथा अपने आत्मीयजनों या भक्तों-अनुयायियों को भी इसी प्रकार वाणी के जोर से तत्त्वज्ञान बघार-कर आश्वासन दे देते हैं कि इतना तत्त्वज्ञान कर लो इसी से मुक्ति हो जायेगी, इतने से ही भगवान् मिल जाएगा। जैसे कि सांख्यदर्शन के प्रवर्तक कहते हैं—

"पंचविंशति-तत्त्वज्ञो, यत्र कुत्राश्रमे रतः।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नाऽत्र संशयः॥"[2]

'पच्चीस तत्त्वों का ज्ञाता, (ब्रह्मचर्याश्रम आदि चारों आश्रमों में से) चाहे जिस आश्रम में रत हो, वह जटाधारी हो, मुण्डित हो या शिखा-धारी हो, निःसन्देह मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार शाब्दिक ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने मात्र से ही व्यक्ति[3] साक्षात् ब्रह्म या बन्धन से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान् महावीर ने इस विषय में अपना स्पष्ट अभिमत प्रकट किया है—

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेण, कुसचीरेण न तावसो॥"[4]

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ. ६, गा. ९-१०।
२. सांख्यदर्शन-मीमांसा
३. ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति
४. उत्तराध्ययन सूत्र अ० २५ गा० ३०

सिर मुंडा लेने से कोई श्रमण नहीं हो जाता, ॐकार का रटन या जप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता, अरण्य में निवास करने मात्र से कोई मुनि नहीं हो जाता और कुश-चीवर या वल्कल धारण कर लेने मात्र से कोई तापस नहीं हो जाता। उनसे किसी जिज्ञासु ने प्रश्न पूछ लिया—तो फिर सच्चे माने में श्रमण और ब्राह्मण आदि कौन होता है ? इसका समाधान उन्होंने किया—

"समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥"[1]

समता (की साधना) से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य (के पालन) से ब्राह्मण, आत्मज्ञान की साधना से मुनि और बाह्य आभ्यन्तर सम्यक्तपश्चरण से तापस होता है।

सम्यग्पुरुषार्थ से ही आत्मसाधना फलवती होती है

निष्कर्ष यह है कि कोरे तत्त्वज्ञान बघारने से, कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक साधक नहीं बन सकता। उसके लिए तदनुरूप पुरुषार्थ करना आवश्यक है। भौतिक क्षेत्र की साधना ले लीजिए या आध्यात्मिक क्षेत्र की, वह तदनुरूप यथायोग्य पुरुषार्थ के बिना फलवती नहीं हो सकती। अतः आध्यात्मिक साधना केवल बातों से, या कुछ पूजापत्री करने से, आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध में कोरे भाषण-लेखन से या केवल जप आदि से फलवती नहीं हो सकती। और न ही आध्यात्मिक साधना में सफलता किसी से माँगने या याचना करने से मिलती है। जो लोग ध्येय की दिशा में पुरुषार्थ की प्रक्रिया एवं महिमा से अपरिचित हैं, वे ही भाग्य, देव, ईश्वर या किसी चमत्कारी व्यक्ति के सहारे बैठे रहकर अपनी आत्मशक्ति को पंगु बनाकर बैठे रहते हैं।

अनघड़ पत्थर का टुकड़ा मूर्तिकार की छेनी और हथौड़े का प्रहार सहकर ही पूजनीय देव प्रतिमा बन पाता है। असंस्कृत एवं अनघड़ स्वर्णखण्ड भी स्वर्णकार के हाथों में पड़कर बहुमूल्य नयनाभिराम आभूषण तभी बनता है, जब कसौटी पर कसे जाने, काटे जाने, आग में तपने, पिटने छीलने आदि कई प्रकार की चोटें सहता है। परन्तु किसी भी असंस्कृत, अनघड़ पदार्थ को सुघड़, सुसंस्कृत बनाने का कार्य कोई देवी-देव या देवा-

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २५, गा० ३२

धिदेव नहीं करते, वह तो मनुष्य का अपना पुरुषार्थ ही करता है। जिस प्रकार भौतिक साधनाओं में मानव के पुरुषार्थ से भौतिक पदार्थ विकसित, सुसंस्कृत, परिष्कृत एवं चमक-दमक वाले बन जाते हैं, उसी प्रकार आत्मिक साधनाओं में भी आत्मार्थी साधक के पुरुषार्थ से आत्मा सुसंस्कृत, विकसित, परिष्कृत एवं ओजस्वी-तेजस्वी बनती है।

यह आध्यात्मिक प्रगति की निशानी नहीं

भौतिक समृद्धि हो जाना, अहर्निश धन, साधन और सुखसामग्री जुटाने का पुरुषार्थ करना और जनता को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए आध्यात्मिक होने का ढोल करना, जनता को कुछ राहत दे देना, कुछ निःशुल्क चिकित्सा शिविर लगवा देना और इस प्रकार के राहत कार्यों के द्वारा प्रशंसा और प्रसिद्धि पा लेना आध्यात्मिक प्रगति की निशानी नहीं है। ऐसी भौतिक समृद्धि से सम्पन्न लोग कदाचित् इन्द्रियतृप्ति, अहंता एवं धर्मात्मापद की प्रतिष्ठा एवं अन्य शारीरिक सुख-सुविधाओं या भोली जनता द्वारा सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा आदि का लाभ ले लेते हैं परन्तु आत्मतृप्ति, आत्मसन्तुष्टि, मानसिक शान्ति, आत्मविकास की अनुभूति एवं आत्मशुद्धि की प्रसन्नता प्राप्त नहीं हो पाती।

मुख से कुछ श्लोकों या शब्दों, मंत्राक्षरों आदि के उच्चारण और क्रियाकाण्डों में प्रयुक्त की जाने वाली कुछ अंगचेष्टाएँ तथा उपकरणों की हेराफेरी आत्मसाधना में रंग नहीं ला सकती। उतने भर से आत्मशक्तियाँ जागृत नहीं हो पातीं। आत्मा से परमात्मा बनने के लिए चेतना को स्वभाव में स्थिर करने वाली बाह्य-आभ्यन्तर तपस्या, आत्मज्ञान, आत्मदर्शन, आत्मशक्ति और आत्मानन्द तथा आत्मस्वरूप में एकाग्र रखने वाली निश्चयरत्नत्रय की आराधना, परीषह-सहन की सहिष्णुता, तितिक्षारत मन और इन्द्रियों की आवश्यकताओं और विषयों पर स्वेच्छाकृत-संयम, पाँच समिति, तीन गुप्तिपूर्वक अहिंसादि का पालन, कषायों और विषयवासनाओं पर नियंत्रण आदि ही आत्मसाधना को तेजस्वी बनाते हैं।

मनोज्ञ पदार्थों पर आसक्ति, विलासिता, सुखसुविधा और मौज-शौक का जीवन इन्द्रियों और मन को कदाचित् प्रसन्न कर दें, किन्तु उससे आत्मा विकारी, पराधीन, परपदार्थावलम्बी बनती है, फिर अन्तरात्मा कठोर साधना करने से कतराती और शीघ्र थक जाती है। सुखसुविधाओं

से युक्त जीवनक्रम अपनाने वाले आत्मिक प्रगति के मार्ग में सदैव पिछड़े रहते हैं।

साध्य प्राप्ति के लिए उत्साही प्रगतिशील आत्मसाधक

आध्यात्मिक साधना में प्रगतिशील वही माना जाता है, जो इन्द्रिय-विषयों की गुलामी, भौतिक सुख-सुविधाओं और विलासिता की सामग्री की यानी परभावों की पराधीनता के तथा कषायादि विभावों के चंगुल से स्वेच्छा से मुक्त हो और सहज प्राप्त अल्पसाधनों और आत्मसंयम के आश्रय से आत्मगौरवपूर्ण, आत्मसन्तुष्टिसम्पन्न जीवन व्यतीत करता हो। वह आत्मधर्म के पालनार्थ अथवा आत्मा से परमात्मा बनने हेतु शरीर को यथोचित यथालाभ अन्न, जल आदि लेकर टिकाता है। आत्मसाधना में अग्रसर साधक तो, इससे भी आगे बढ़कर अपने तन, मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि को कसता है, उन पर स्वेच्छा से नियंत्रण रखने का अभ्यास करता है। 'आचारांग सूत्र' में वीतराग अर्हत्परमात्मा की प्राप्ति हेतु आत्म-साधक के लिए एक सूत्र बताया गया है—

"इह आणाकंखी पंडिए अणिहे एगमप्पाणं संपेहाए, धुणे सरीरं कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं।"[1]

आत्मार्थी पण्डित साधक आज्ञाकांक्षी और पर-पदार्थों पर अनासक्त या निःस्पृह होकर एकमात्र आत्मा का संप्रेक्षण करे। अपने शरीर (शरीर से सम्बद्ध पदार्थों) पर नियंत्रण रखे, अपने माने हुये शरीरादि पर-पदार्थों एवं कषायादि विभावों को कृश (पतले) करे, उन्हें तपस्या एवं कष्ट सहिष्णुता से जीर्ण करे।

तपस्या और कष्टसहिष्णुता से आत्मा तेजस्वी बनती है

सचमुच, साध्यप्राप्ति के लिए स्वीकृत या आमंत्रित कष्टसहिष्णुता, कठिनाइयाँ एवं बाह्याभ्यन्तर तपस्या आत्मा को अधिक तेजस्वी, सहिष्णु, शक्तिमान और स्फूर्तिमान् बनाती है। रत्नत्रयरूप शुद्ध आत्मधर्म के पालन के लिए, आत्मा से परमात्मा बनने के लिए स्वेच्छा से स्वीकृत कष्टों से आत्मा का बल, वीर्य और तेज निखरता है। उसके चार निजी गुण (ज्ञान दर्शन सुख और आत्मवीर्य) प्रखर एवं विकसित होते हैं। विलासिता और

---

१ आचारांग श्रु. १ अ. ४ उ. ३

सुख-सुविधा आदि अपनाने पर आत्मिक प्रखरता दिनानुदिन क्षीण और कुण्ठित होती चली जाती है, जबकि तितिक्षा, संयम और तपस्या आदि के अपनाने से आत्मा प्रखर और स्वस्थ होती है। आत्मसाधना औजार है तो तपस्या आदि उसे चमकाने और तेजतर्रार बनाने वाली ऊर्जाशक्ति है। तपस्या आदि से घबराने वाले साधक अपने आत्मसाधनारूपी औजार को तेजतर्रार नहीं बना सकते।

आत्मसाधना में प्रगति के लिये आत्मा को परिष्कृत करना आवश्यक

आत्मसाधना की प्रगति साधना के नाम पर प्रयुक्त होने वाले क्रिया-कलापों और अमुक विधि-विधानों पर से नहीं आँकी जा सकती। आत्म-साधना के लिए इन्हें ही सबकुछ समझने वाले लोग आत्मसाधना से पर-मात्मभाव के साध्य को प्राप्त नहीं कर सकते। ऐसे लोग आत्मसाधना का स्वरूप और उद्देश्य को भली-भाँति नहीं समझते। इसी कारण वे प्रायः तथ्य से विपरीत स्तर की मान्यता बना लेते हैं, फलतः वे नये-नये किस्म की भ्रान्तियाँ पाल लेते हैं। और आत्मसाधना में सफलता न मिलने पर विविध संशयों और अन्धविश्वासों के जंगल में भटकते रहते हैं। ऐसे अस-फल तथा भ्रान्त व्यक्ति विधिविधानों या क्रियाकांडों में अथवा मार्गदर्शकों की कोई भूल, त्रुटि या कमी रह जाने की बात सोचते हैं। वे अपनी आत्मा को आसुरी या पाशविक जीवन से मुक्त करने, कषायात्मा बनी हुई आत्मा को ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मा बनाने तथा तप, संयम, कष्टसहिष्णुता समताभाव आदि के द्वारा तेजस्वी और प्रखर बनाने की बात नहीं सोचते। न ही वे असंस्कृत, अनघड़, कषायों और विषयवासनाओं के गर्त में पतित तथा सुखसुविधाओं, भोग-विलास एवं सुखसाधनों की आसक्ति के कीचड़ में फँसी हुई आत्मा को परिष्कृत एवं परिशुद्ध करने की बात भी नहीं सोच पाते। ये लोग आत्मसाधना के उपर्युक्त उद्देश्य को भूले हुए रहते हैं।

सम्यग्दर्शनविहीन व्यक्ति साध्य को पाने में असमर्थ

जैनसिद्धान्त की दृष्टि से सोचें तो ऐसे कई अभव्य जीव होते हैं, जो वाणी से आत्मा-परमात्मा के विषय में खूब बारीकी से पुर्जा-पुर्जा खोलकर समझा सकते हैं, नौवीं आचारवस्तु पूर्व तक का शब्दशः अध्ययन कर लेते हैं, कषायों का उपशमन भी कर लेते हैं। अपने विरक्तिजनक उपदेश से अनेक भव्य जीवों को प्रतिबद्ध विरक्त और संयमी बना देते हैं। इतनी उच्च क्षमता प्राप्त होते हुए भी उनकी अन्तरात्मा शुद्ध श्रद्धा से भीगी हुई नहीं

होती, उन्हें अन्तर में आत्मा-परमात्मा, बन्ध, मोक्ष आदि तत्त्वों पर पक्का विश्वास नहीं होता। इस कारण वे अभव्य मोक्ष (परमात्मभाव) की मंजिल तक नहीं पहुँच पाते। अतः यह निश्चित तथ्य है कि बौद्धिक प्रतिभा, वाणी का चमत्कार, पांडित्य, शाब्दिक अध्यात्म-ज्ञान-विज्ञान-नैपुण्य आदि सब कुछ होते हुए भी आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व, विकास, पूर्ण विशुद्ध स्वरूप मोक्ष आदि पर विश्वास से रिक्त होने के कारण व्यक्ति की अध्यात्मसाधना की जड़ खोखली होने से वह परमात्मभाव (मोक्ष) प्राप्ति रूप साध्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

आत्मस्वरूप के ज्ञान-दर्शन से रिक्त अन्तर्घट कृतकार्य नहीं

आचार्य अंगारमर्दक अपने युग के बहुत बड़े प्रतिभाशाली एवं प्रभावक आचार्य थे। उनकी तर्कशक्ति से प्रभावित होकर अनेक राजकुमार उनके शिष्य बन चुके थे। उनकी शिष्यमंडली और भक्तमंडली भी काफी बड़ी थी। किसी भी विषय पर जब वे गहराई से विश्लेषण करके अनूठे तर्क और युक्तियों सहित व्याख्या करते तो श्रोता चकित और मंत्रमुग्ध हो जाते थे। जहाँ भी उनका पदार्पण होता, जनता उनका नाम सुनते ही बरसाती नदी की भाँति उनके वचनामृत का पान करने के लिए उमड़ पड़ती थी। इतनी विद्या और बुद्धि के वैभव के धनी अंगारमर्दक आचार्य ने अध्यात्मसाधना के नाम पर जप, तप, त्याग भी बहुत किया, किन्तु सम्यग्दर्शन के स्पर्श से रहित होने के कारण वह साधना का एक प्रकार से नाटक था। उनकी साधना का लक्ष्य निर्जरा-कर्मक्षय न होकर प्रसिद्धि, प्रशंसा, यशोलिप्सा और लौकिक सुखसुविधाओं का उपभोग मात्र था। वह आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष की व्याख्या तो बहुत ही सूक्ष्म करते थे, लेकिन थी वह वाचिक ही थी, हार्दिक नहीं। बाहर से चारित्र-पालन का दिखावा तो बहुत करते थे, लेकिन अन्तरात्मा सम्यग्दर्शन से रिक्त होने के कारण वह आत्मसाधना की परीक्षा में खरे नहीं निकले। संसार के अनन्त जीवों (आत्माओं) पर उनका अन्तर्घट सम्यक्श्रद्धा से रिक्त सिद्ध हुआ।

निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति चाहे जितनी उच्च आत्मसाधना का प्रदर्शन कर ले, उच्च क्रियाकाण्डों का पालन भी कर ले, चाहे जितना शास्त्रों का अध्ययन-पारायण कर ले, पूर्वश्रुत का विशाल ज्ञान भी प्राप्त कर ले, किन्तु आत्मा-परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को हृदयंगम

न करने, प्रतीति एवं दृढ़ श्रद्धापूर्वक न जानने के कारण उसे परमात्मभाव (मोक्ष) की प्राप्ति तो दूर रही, सुगति के द्वार तक पहुँचना भी कठिन होता है। षट्खण्डपाहुड में स्पष्ट कहा है—

समत्त-रयण-भट्ठा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं।
आराहणा-विरहिया भमंति तत्थेव ॥[1]

सम्यक्त्व-रत्न से भ्रष्ट साधक अनेकविध शास्त्रों को जानते हुए भी आत्मज्ञानादि की सम्यक् आराधना से रहित होने से संसार में यत्र-तत्र परिभ्रमण करते रहते हैं।

आत्मसाधना का उद्देश्य

अतः आत्मसाधना एक प्रकार का सम्यग्दृष्टियुक्त आध्यात्मिक व्यायाम है, जिससे आत्मशक्तियाँ विकसित हो जाती हैं। आत्मविज्ञान के आश्रय से अन्तश्चेतना को प्रखर बनाना, प्रसुप्त अन्तःशक्तियों को जगाना, उच्चस्तरीय समत्वयोगदृष्टि विकसित करना, अपने मन, तन, इन्द्रियों और बुद्धि की शक्ति और क्षमताओं को व्यवस्थितरूप से आत्मा से परमात्मा बनने के मार्ग में नियोजित करना, आत्मभावों में सुस्थिर होना और आत्मा के अनुजीवी गुणों का विकास करना ही आत्मसाधना का प्रमुख उद्देश्य है। इसके लिए अन्तर में निहित वासनाओं, कामनाओं और कषाय-कलुषों को सम्यक् विवेकपूर्वक तप, त्याग, संयम, परीषहसहन, तितिक्षा आदि से धोकर आत्मा को परिष्कृत-शुद्ध करना और आत्मा को परमात्मभाव की प्राप्ति के योग्य विशुद्ध बनाना अनिवार्य है। ऐसी आत्मसाधना के साथ-साथ आत्मार्थी साधक का जीवन स्वाभाविकरूप से सुसंस्कृत, सुविकसित, सुनियंत्रित एवं सुव्यवस्थित होता जाता है। उसके मन, तन, बुद्धि, हृदय, प्राण और इन्द्रियाँ आदि आत्मा के गुणों को विकसित करने में तथा आत्मसम्पदा प्रदान लग जाते हैं।

आत्मसाधना के विषय में व्याप्त भ्रान्तियाँ

आत्मसाधना के विषय में आध्यात्मिक जगत् में कई भ्रान्तियाँ पनप रही हैं। उन भ्रान्तियों के वश होकर कई लोग अपनी आत्मा को शुद्ध, निर्मल, परिष्कृत, स्वभाव में स्थिरता में सक्षम एवं परमात्मभाव का ध्यान

---

१. षट्खण्ड-पाहुड- दर्शन-प्राभृत ४

करने के योग्य न बनाकर अमुक देवी-देवों से सम्बन्धित मंत्र जप से तांत्रिक यांत्रिक एवं मांत्रिक प्रयोगों से, हठयौगिक अथवा व्यायाम-प्राणायाम-संबंधी कुछ भौतिक उपलब्धियों में तथा सिद्धियों को आत्मसाधना में प्रगति का आधार मानते हैं, जबकि ये सब उपलब्धियाँ आत्मा की निर्मलता, उत्कृष्टता, परमात्म-प्राप्ति की योग्यता की आधारशिला नहीं हैं। यह मान्यता भ्रमपूर्ण है कि देवी-देवों से मंत्रादि के माध्यम से अनुनय-विनय या प्रार्थना करने पर वरदान या आत्मशक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। देवी-देव बिना बुलाये स्वतः ही उस साधक के चरणों में नमन-वन्दन कर स्वयं आते हैं, जिसके मन (जीवन) में आत्मधर्म ओतप्रोत हो।[1] परन्तु देवी-देवता साधक के लिए स्वयं आत्मसाधना कर लेंगे, साधक की आत्मा को शुद्ध, परिष्कृत एवं परमात्मभाव-प्राप्ति के योग्य बना देंगे, यह कथमपि सम्भव नहीं है। देवी-देव स्वयं व्रताचरण, तप, संयम एवं चारित्र का पालन या अध्यात्मसाधना नहीं कर सकते तब वे दूसरों को इस आध्यात्मिक साधना में कैसे सहयोग दे सकेंगे? देवों के पास भौतिक सम्पदाएँ हैं, आध्यात्मिक सम्पदाएँ नहीं। आध्यात्मिक सम्पदा तो स्वयं साधक के द्वारा आत्मसाधना में पुरुषार्थ से प्राप्त की जाती है। सभी साधक एक सी प्रकृति और परिस्थिति, समान क्षमता और योग्यता वाले नहीं होते, अपना अपना अभीष्ट साधनामार्ग गुरु या मार्गदर्शक के आदेश-निर्देश से चुनते हैं, इसी प्रकार आत्मसाधक को चुन लेना चाहिए। उसे साम्प्रदायिक मतभेदों, वाद-विवादों में या चर्चा-विचारणा में उलझना नहीं चाहिए। अपने स्वीकृत साधनापथ पर भय, प्रलोभन या अन्य बातों में बिना बहके चलते रहना चाहिए।

आत्मसाधना में सिद्धियाँ एवं शक्तियाँ अत्यन्त बाधक

कई दिनों तक जमीन में समाधिस्थ होकर डटे रहना, कोई आत्म-विकास की साधना नहीं है। लगातार अट्ठाइस दिनों तक जल समाधि लेने का सफल प्रयोग कर दिखाने वाले ईजिप्त के एक फकीर 'ताहराबे' ने अपनी शक्ति का रहस्य खोलते हुए 'डॉ० पाल ब्रंटन' के समक्ष इस तथ्य को स्वीकार किया है कि आत्म विकास के साथ ऐसी सिद्धि का

---

१. 'देवावि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो'—दशवैकालिकसूत्र अ० १/१

कोई सम्बन्ध नहीं है।[1] अतः आत्मसाधना कोई बाजीगरों की-सी हाथ की सफाई की, भौतिक चमत्कारों या भौतिक सिद्धियों या उपलब्धियों का प्रदर्शन करके लोगों को आश्चर्य में डालने वाली क्रिया नहीं है।

सामान्य भोलेभाले लोगों को अतीन्द्रिय अनुभवों एवं सिद्धियों उपलब्धियों का बहुत आकर्षण होता है। कितने ही धूर्त या चालाक व्यक्ति उनके मन मस्तिष्क की निर्बलता का लाभ उठाकर अतीन्द्रिय शक्तियों या सिद्धियों का चमत्कार बताकर उन्हें प्रभावित करके ठग लेते हैं। ऐसे दम्भी अथवा अज्ञानी नामधारी गुरुओं से आत्मसाधक को सदा सावधान रहना चाहिए। सच्चा आत्मसाधक न तो इन अतीन्द्रिय शक्तियों, सिद्धियों या भौतिक उपलब्धियों के मोहक भ्रमजाल में स्वयं फंसता है, और न ही इनका प्रदर्शन करके अपने अनुयायियों, भक्तों और पुजारियों की भीड़ बढ़ाता है। आध्यात्मिक शक्तियों के विकास का मापदण्ड ये भौतिक सिद्धियाँ, लब्धियाँ या शक्तियाँ नहीं हैं, बल्कि ये सब आत्मसाधना के मार्ग में रोड़े हैं, बाधक हैं। इनसे साधक की आत्मिक प्रगति रुक जाती है, ठप्प हो जाती है। वह साध्य की ओर गति-प्रगति नहीं कर सकता। हवा में से अभीष्ट वस्तुएँ ला देना, धुनी में से तैयार भोजन का थाल हाजिर करना, भावी घटनाओं की भविष्यवाणी करना, कई घंटों और कई दिनों तक मृत कलेवर की तरह जमीन में गड़े हुए रहना आदि सब भौतिक सिद्धियाँ या उपलब्धियाँ योगसिद्ध पुरुष की यथार्थ परिचायिका नहीं हैं।

भौतिक सिद्धियों के प्रदर्शन से जीवन अधोगामी

ये और ऐसी ही अन्य सिद्धियाँ प्रायः उनके प्रदर्शनकर्ता के आध्यात्मिक विकास से नहीं; किन्तु किसी प्रेतात्मा या व्यन्तरदेव के सहयोग से प्राप्त होती हैं। वे व्यन्तर देव या प्रेतात्मा अपनी वासनापूर्ति के लिए या सामने वाले व्यक्ति की सात्विकता से आकर्षित होकर अथवा पूर्वजन्म के किसी ऋणानुबन्ध के कारण या कुतूहल से प्रेरित होकर ऐसी चमत्कारिक घटनाएँ घटित करते हैं। जनसमूह उन चमत्कारों से सम्बन्धित व्यक्ति में दैवी शक्ति या योग-सिद्धि प्राप्त होने का आरोपण कर लेता है। वस्तुतः ऐसी घटना के साथ उस व्यक्ति के आत्मविकास या योगशक्ति का कोई वास्ता नहीं होता। सात्विक वृत्ति के दैवी सम्पदा सम्पन्न साधक ऐसे अनायास

1. A search in Secret Egypt. By Dr. Paul Brunton pp. 104-125 (Ridder and Co. London)

प्राप्त सहयोग का दुरुपयोग नहीं करते। नास्तिक या आसुरी सम्पदा-संपन्न मनुष्य ऐसी असाधारण घटनाओं से प्रभावित होकर कदाचित धर्म के प्रति श्रद्धावान् हो जाए, तो भी उसकी धर्मश्रद्धा अन्धविश्वास और चमत्कार पर आधारित होती है, चमत्कार नहीं दिखने पर वह धर्म के प्रति पुनः अश्रद्धालु बन सकता है। मगर मोहगर्भित वैराग्य वाले तामसी या राजसी वृत्ति के साधक अपनी किसी मलिन स्वार्थवासना की तृप्ति के लिए या जनता में महत्ता प्राप्त करने के लिए मंत्र-तन्त्र की मलिन साधना से प्रेतात्माओं को वश में करके उनकी सहायता से चमत्कार दिखाते रहते हैं। वशवर्ती प्रेतात्मा-व्यन्तरदेव अदृश्य रह कर उस द्वारा माँगी हुई वस्तु किसी की दुकान या घर आदि से झटपट ला देता है। इसी प्रकार प्रश्न कर्ता के हाथ में रखे हुए कोरे कागज पर उसके प्रश्न का सही-सही उत्तर लिखा हुआ मिल जाता है। इसका रहस्य भी प्रायः प्रेतात्माओं द्वारा[1] दिया गया ऐसा सहयोग होता है। कई दफा हाथ की सफाई का प्रयोग दिखाकर भी विविध सिद्धियाँ प्राप्त होने का आभास खड़ा किया जाता है। सिद्धियों के प्रदर्शन से लोगों में आकर्षण पैदा करके कुछ अर्से तक तो ऐसे तथाकथित सिद्ध लोग मौज उड़ाते हैं, लेकिन बाद में अपनी सेवा देने के बदले में उन प्रेतात्माओं की अधम इच्छाएँ और अतृप्त वासनाएँ तृप्त करने के लिए उन तथाकथित सिद्धि प्राप्त पुरुषों को कितने ही अधम प्रवृत्तियों में बलात् पड़ना पड़ता है। फलतः उन तथाकथित सिद्ध पुरुषों का जीवन ऊर्ध्वगामी बनना तो दूर रहा, सात्विक और नैतिक भूमिका से भी नीचे गिर जाता है। वास्तव में, ये तथाकथित सिद्धियों के दावेदार आन्तरिक परिताप से प्रज्वलित रहते हैं,[2] आत्मिकशांति और आत्मतृप्ति की मस्ती के स्वाद से वे कोसों दूर होते हैं।

योग सूत्र के विभूतिपाद में योगसाधना से प्राप्त होने वाली सिद्धियों का वर्णन है। परन्तु वहाँ उन्हें योग सन्तति कहा गया है। योग सन्तति भी भौतिक सम्पत्ति, पारिवारिक सन्तति, सत्ता, कीर्ति आदि की तरह गाफिल साधक को पथभ्रष्ट कर सकती है। शरीर के विनष्ट होने के साथ

---

१ 'गुप्त भारत की खोज' डाक्टर पाल ब्रंटन के 'A Search in Secret India' का हिन्दी अनुवाद।

२ इसके प्रमाण के लिए देखिये—'गुजराती दैनिक मुम्बई समाचार के १९७२ के तथा २२ जुलाई के अंक में प्रकाशित रसिक झवेरी के 'दिलनी वातों' के दो लेख।

ही विनष्ट होने वाली इन भौतिक सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए मेहनत करना तो दूर रहा, अगर ये सामने चलाकर आती हों, तब भी श्रेयार्थी साधक को उदासीन रहना चाहिए। आत्मशुद्धि के साथ जिनका कोई भी वास्ता नहीं है, ऐसी हृदयोग-साधना से या मंत्रजपादि से प्राप्त शक्तियों, सिद्धियों या भौतिक उपलब्धियों की साधना पद्धति के प्रति कुतूहल रखे बिना, अनुत्सुक व निःस्पृह रह कर आत्मार्थी साधक को आत्मसाधना में ही रत रहना चाहिए। सच्चा आत्मार्थी सिद्धियों आदि की प्राप्ति के लिए चलाकर कोई भी प्रयत्न करता नहीं, अनायास प्राप्त सिद्धियों-लब्धियों का भी प्रयोग भी आपवादिक परिस्थिति या संघादि पर घोर विपत्ति या हिंसा कारी उपद्रव शान्ति की परिस्थिति के सिवाय नहीं करता। दशवैकालिक सूत्र में तप और पंचाचार की साधना के साथ किसी भी प्रकार की इहलौकिक पारलौकिक आकांक्षा, लालसा या भोगादि लिप्सा आदि अथवा प्रसिद्धि प्रशंसा कीर्ति आदि से प्रेरित होकर किसी प्रकार की वांछा करना निषिद्ध किया गया है। यहाँ तक कि अन्तिम समय में समाधिमरण की आमरण संल्लेखना-अनशन साधना के साथ इहलोक, परलोक, जीवित, मृत्यु, कामभोग आदि की आशंसा (आकांक्षा) का भी निषेध किया गया है। इसी तरह सामायिक साधना, पौषधोपवास साधना या व्रताचरण की साधना के भी इन सब दोषों से बचने का विधान है।

जैनधर्म के द्वारा विहित जितनी भी निश्चय और व्यवहार की साधनाएँ हैं, वे सब आत्मा से सम्बन्धित हैं, और आत्मा के साथ इन सिद्धियों आदि का लगाव होने से ये आत्मा को अशुद्ध बनाती हैं।

शुद्ध आत्मसाधना से आत्मगुणों का समुचित विकास होता है

आत्मसाधना के मार्ग में साधक ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों पुराने आकर्षण, कुटेवें, व्यसन, वासनाएँ, पूर्वाग्रह और मनोज्ञ-अनमोज्ञ या प्रिय-अप्रिय (इष्ट-अनिष्ट) की पकड़ से वह मुक्त होता जाता है। अपने जीवन में समता, संतुलन, स्वस्थता और क्षमता का संचार होने का अनुभव करने लगता है। दैनिक जीवन में आने वाली विषमताओं, प्रतिकूलताओं और विरोधों-अवरोधों को स्वस्थतापूर्वक पार करने की क्षमता उसमें विकसित होती जाती है। जीवन के प्रति उसके समग्र दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आता जाता है। फलतः दैनन्दिन प्रसंगों में निर्लेपता और सम्पर्क में आने वाले मानवबन्धुओं के प्रति सहानुभूति और आत्मीयता की भावना स्वाभाविक हो जाती है।

आत्मसाधना आत्मौपम्य की आत्मविस्तार की साधना है

आत्मसाधना के विषय में एक भ्रान्ति यह है, कि, कुछ लोग इसे स्वार्थसाधना मानते हैं। अर्थात्—केवल अपने और अपनों के लिए सोचना। अपने शरीर और शरीर के सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थों के विषय में सोचना होता तब तो यह स्वर्थसाधना कहलाती। मगर वास्तविक आत्म-साधना का प्रारम्भ ही आत्मौपम्य भाव, या आत्मभाव के विस्तार से होता है। जिसकी आत्मा ज्ञान से जितनी व्यापक, विभु एवं विस्तृत बनेगी, उतनी ही आत्मसाधना में प्रगति, आत्मा का विकास और उन्नति समझी जाती है। जब अपनी आत्मा में विश्वआत्माओं की झांकी होने लगेगी, व्यक्तित्व में विश्वत्व समा जाएगा, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अनुभूति होने लगेगी तभी आत्मसाधना की परिपक्वता मानी जाएगी।

वस्तुतः रत्नत्रयरूप धर्म और अध्यात्म का सारा तत्त्वज्ञान और जड़-चेतन का भेदविज्ञान इसी आधार भूमि पर खड़ा है कि साधक अपनी आत्मा में तेरे-मेरे या अहंत्व-ममत्व के कारण प्रविष्ट मलिनता और संकीर्णता को कम करता हुआ, अन्तरात्मा को सतत व्यापक बनाता चले। और यह आत्मविस्तार इतना अधिक हो जाए कि विश्वचेतना का कण-कण अपना दिखाई दे, अपनी आत्मा सर्वत्र ओतप्रोत मालूम दे। जिसकी आत्मा इतनी व्यापक एवं सर्वभूतात्मभूत हो जाएगी, उसमें परभाव के निमित्त से होने वाले राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोधादि कषाय स्वतः हटते-घटते जायेंगे, उसकी इन्द्रियाँ और मन का दमन भी स्वेच्छा से स्वतः हो जायेगा, और आस्रव भी—कर्मों के आगमन द्वार भी अनायास ही बन्द हो जायेंगे। दशवैकालिक सूत्र में उस महान् आत्मसाधक की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा गया है—

"सव्वभूयप्पभूयस्स समं भूयाइं पासओ।
पिहिआसवस्स दंतस्स पावकम्मं न बंधइ ॥[1]

'जो समस्त प्राणियों का आत्मभूत हो गया है, सभी प्राणियों को समभाव से देखता है, उसके आस्रव द्वार अवरुद्ध हो जाते हैं, उस शान्त-दान्त आत्मसाधक के पापकर्म का बन्ध नहीं होता।' सर्वभूतात्मभूत होने पर उस साधक की आत्मा निर्मल एवं शुद्ध होती जाएगी। ऐसी स्थिति में

---

१ दशवैकालिक सूत्र अ. ४ गा. ९।

दूसरों के समस्त भाव उसमें प्रतिबिम्बित होने लगेंगे, दूसरों के दुःख और कष्ट देखकर उसका हृदय अनुकम्पित हो उठेगा। मैत्री, करुणा, प्रमोद और माध्यस्थ्य भावना इसी सर्वभूतात्मभूत रूप आत्म-विस्तार का व्यावहारिक रूप है।

तात्पर्य यह है कि आत्म-साधक की आत्मा कषायादि विभावों से कलुषित नहीं होती, वह निष्कलुष एवं निर्मल हो जाती है, जबकि स्वार्थ-साधक की आत्मा कषायों तथा राग-द्वेष-मोह आदि से कलुषित एवं मलिन होती है।

अपनी क्षमता का सदुपयोग आत्म-साधना में करना चाहिए

कई अदूरदर्शी साधक आत्म-साधना शुरू करने से पहले ही मन में शंकाशील रहते हैं कि हममें इतनी क्षमता, समता, दृढ़ता तथा त्याग-वैराग्य कहाँ और कहाँ इतने साधन हैं, हमारे पास कि हम आत्म-साधना विधि-पूर्वक ठीक ढंग से कर सकें ? यह कथन ऐसा ही है, जैसे किसी की तिजोरी में धन भरा रहे, लेकिन उसे या तो पता ही न हो, अथवा उसका उपयोग न करे, या यथार्थ उपयोग करना ही न जानता हो और दरिद्रता का दुःखड़ा होता रहे।

कई बार यह अनुभव किया गया है कि सब तरह से सुयोग्य और सम्पन्न व्यक्ति भी अपनी क्षमता का यथेष्ट उपयोग न कर सकने के कारण कूपमण्डूक और अयोग्य के समान दुर्दशाग्रस्त रहते हैं, जबकि एक निर्धन, किन्तु साधनहीन व्यक्ति अपनी उपलब्ध क्षमताओं का श्रेष्ठतम उपयोग करके लघु से महान् बन जाता है। अध्यात्मविज्ञान का तत्त्वज्ञान पाकर सिद्धियों शक्तियों और चमत्कारों के चक्कर से बचकर चलने वाला आत्मार्थी साधक आत्मसाधना शुरू करता है, तब यदि वह भौतिक साधनों और सहायकों की भी उतनी अपेक्षा नहीं रखता है तो अल्प समय में ही जीवात्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा के स्तर तक पहुँच जाता है। उसकी जागृत चेतना अपनी पूजा प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि, चमत्कार और आडम्बर, प्रदर्शन की चकाचौंध में नहीं उलझकर एकमात्र शुद्ध आत्मा के गुणों का विकास करने में पूरी शक्ति से जुट जाती है, और एक दिन परमात्मा के प्रतिनिधि के स्तर तक पहुँच जाती है।

साधनों के लिए आत्मसाधक चिन्तित नहीं होता

ऐसा आत्मनिष्ठ साधक सदैव इस बात का ध्यान रखता है कि

यह आत्मसाधना है, भौतिक साधना नहीं। भौतिक साधना करने वाले बढ़िया आसन पर बैठकर लोगों को अपने आडम्बर, वैभव-प्रदर्शन और चमत्कार द्वारा प्रभावित करके उनसे धन, यश, प्रशंसा और प्रतिष्ठा बटोरते हैं, लोगों की भीड़ उन्हें घेरे रहती है उनकी जयकार एवं घणीखम्मा के गगनभेदी नारे लगाती है, वे स्वयं अधिकाधिक सुख-सुविधाओं में फँसे रहते हैं। मैं आत्मसाधना करने वाला हूँ, मुझे न तो बढ़िया आसन की अपेक्षा है, न ही लोगों के जमघट की और जयकार के नारों की। वाहवाही, पूजा प्रतिष्ठा एवं प्रशंसा से मेरी आत्मसाधना में कोई चमक आने वाली नहीं। सुख सुविधाएँ मुझे आत्मसाधना में प्रमत्त, आलसी और लापरवाह बना देंगी। मुझे तो अहर्निश आत्मा के स्वभाव में तथा निजी गुणों में लीन रहना है, तन्मय रहना है। जैसे कि आचार्य अमितगति ने कहा है—

न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी।
विधानतो नो फलको विनिर्मितः।
यतो निरस्ताक्षकषाय-विद्विषः
सुधिभिरात्मैव सुनिर्मलो यतः ॥२२॥
न संस्तरो भद्र! समाधिसाधनं;
न लोकपूजा, न च संघ-मेलनम्।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशम्;
विमुच्य सर्वामपि बाह्य वासनाम्[1] ॥२३॥

'आत्मसाधना के लिए विधान के रूप में न तो पत्थर की शिला का आसन बताया है, न ही घास का और लकड़ी के पट्टे का। क्योंकि जिस साधक ने इन्द्रियों और कषायरूपी शत्रुओं को परास्त कर दिया है, उस आत्मार्थी साधक के लिए विद्वानों ने निर्मल आत्मा को ही निश्चयदृष्टि से अपना आसन=आधार माना है। हे भद्र! यदि देखा जाय तो आत्म-समाधि का साधन न तो बढ़िया आसन है, न लोकपूजा और न संघ का मेला है। अतः इन बाह्य साधनों की अपेक्षा न करके संसार की समस्त बाह्य वासना (प्रसिद्धि, प्रशंसा, सुखसुविधा, पद-प्रतिष्ठा आदि की लिप्सा) को मन से त्याग करके अहर्निश आत्मभावों में रत रह।'

जो कच्चे साधक होते हैं, वे आत्मसाधना के लिए इन और ऐसे ही भौतिक साधनों और सुखसुविधाओं को बढ़ाने की ताक में रहते हैं। आत्म-

१ सामायिकपाठ श्लो. २२, २३

साधना के पथ में तीव्र उत्सुकता के साथ प्रयाण करने वाले लोगों को भौतिक साधनों की इतनी अपेक्षा नहीं रहती, जितनी आध्यात्मिक आधारों की रहती है। वह त्याग, वैराग्य, तप और व्युत्सर्ग के परिप्रेक्ष्य में शरीर की अनिवार्य आवश्यकताओं का सन्तुलन और विवेकपूर्वक निर्धारण करता है। वह सुख-सुविधाओं की चिन्ता में नहीं घुलता, किन्तु रत्नत्रय की अथवा आत्मभावों की साधना के लिए शरीर को सक्षम रखने हेतु युक्त आहार-विहार आदि का समायोजन करता है। गीता में भी अध्यात्मयोगी के लिए कहा है—

'युक्ताहार-विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त-स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥'[1]

'जो आत्मार्थी साधक उपयुक्त आहार-विहार करता है, कर्तव्यकर्मों में यथायोग्य चेष्टा करता है, यथायोग्य सोता-जागता है, उसका योग दुःख-नाशक होता है।'

दशवैकालिक एवं आचारांग सूत्र[2] में भी आत्मार्थी साधक को यतना से सभी प्रवृत्तियाँ करने तथा जीवनयात्रा में आहारादि की मात्रा जानकर विचरण करने का विधान है। जिन लोगों ने भौतिक सम्पन्नता और सुख-सुविधाओं की प्रचुरता को महत्त्व दिया है, उनसे सुख-शान्ति, आत्मसमाधि कोसों दूर रही है। भौतिक सुख-सुविधा तथा साधनों की प्रचुरता बढ़ाने पर साधक की आत्मसाधना चौपट हो जाएगी, वह असंयमी, आत्मशक्ति से दुर्बल, परावलम्बी, सुखशील, परतन्त्र, मार्गभ्रष्ट, आलसी, प्रमादी बन जाएगा। फलतः आत्मसाधना के द्वारा आत्मगुणों के उपहार के बदले उसे मिलेगा—असन्तोष, चिन्ता, तनाव, विक्षोभ, अशान्ति और आत्मिक दारिद्र्य का उपहार! उसकी आत्मा-परमात्मा के प्रति दृढ़ श्रद्धा, प्रतीति,

---

१ भगवद्गीता अ. ६ श्लोक १७

२ (क) जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं न बंधइ॥
—दशवैकालिक अ० ४ गा० ८

(ख) 'से भिक्खू कालण्णे बलण्णे मायण्णे खणण्णे विणयण्णे समयण्णे परिग्गहे अममायमाणे कालेणुट्ठाई अपडिण्णे।"
—आचारांग १ श्रु. अ. ८/उ. ३

आत्मशक्ति, आत्मविश्वास एवं संकल्पबल का अत्यन्त ह्रास हो जाएगा। जो आत्मार्थी साधक अपनी आत्मिक शक्तियों और क्षमताओं पर दृढ़ प्रतीति और उत्कृष्टता के कारण अभावग्रस्त परिस्थिति और प्रतिकूलता के बीच रहते हुए भी आत्मानन्द में मस्त रहता हुआ हलका-फुलका जीवन जी सकता है, उसका आत्मिक सौन्दर्य चमक उठता है। अदृश्य रूप से उस पर परमात्मीय कृपा बरसती रहती है। वह आत्मविश्वास, मनोबल, आत्मशक्ति, संयम, तप, तितिक्षा और धैर्य के सहारे आत्मिक प्रगति कर लेता है। उसे साधनों का अभाव खटकता नहीं।

आत्ममाधक को प्राप्त हुई विविध उपलब्धियाँ

ऐसे आत्मनिष्ठ साधक की आत्मा जब साधना द्वारा निर्मल, शुद्ध आत्मभाव (परमात्मभाव) में स्थिर और सूक्ष्मता से एकाग्र होने लगती है, तब सूक्ष्म, अदृश्य और अपार्थिव सृष्टि के निकट सम्पर्क में आता-जाता है, उस समय उसे किसी बाह्य निमित्त के बिना अकस्मात् दिव्य सुगन्ध का अनुभव, नादश्रवण, ज्योतिदर्शन अथवा भ्रकुटि में तेज पुंज का दर्शन आदि असामान्य अनुभूतियाँ होती हैं। किसी साधक के शरीर के अमुक हिस्से में या सारे शरीर में अत्यन्त उष्णता का तथा किसी को अत्यन्त शीतलता का अनुभव होता है। किसी को सूर्य-चन्द्र के बिम्ब तथा रम्य प्राकृतिक दृश्यों का या अपने पूर्वजन्म के प्रसंगों का दृश्य आँखें बन्द होते हुए भी अन्तश्चक्षु के समक्ष चलचित्र की तरह दिखाई देता है। लम्बे समय तक मंत्रजप करने वाले साधकों को सर्चलाइट या ट्यूबलाइट जैसे प्रकाशित, तेजोदीप्त मंत्राक्षर अंकित से दिखाई देते हैं। कई बार स्पष्ट पढ़ सके ऐसे लिखित सन्देश अन्तर्दृष्टि के समक्ष आते हैं। किसी को अनायास ही प्रयत्न के बिना स्वतः श्लोक रचना, शीघ्रकविता आदि स्फुरित हो जाती हैं।

चित्त की शुद्धि और स्थिरता बढ़ने पर कभी-कभी ध्यान के समय साधक ऐसा अनुभव करता है, मानो उसके शरीर का अस्तित्व ही नहीं या उसका शरीर छूट गया है और स्वयं हवा में तैर रहा है। योगशास्त्र में श्री हेमचन्द्राचार्य ने ऐसे अनुभवों का वर्णन किया है।[1]

---

१ विश्लिष्टमिव प्लुष्टमिवोड्डीनमिव प्रलीनमिव कायम्।
अमनस्कोदयसमये योगी जानात्यसत्कल्पम्॥
—योगशास्त्र प्रकाश १२, श्लोक ४२

किसी साधक को ध्यानसाधना के समय अपनी ही आकृति नजर आती है। कभी स्वप्न में महात्माओं के दर्शन, उनसे मार्गदर्शन या आशीर्वाद की प्राप्ति होने का अनुभव कई साधकों को होता है। कई साधकों को ध्यान में भी अपने इष्टदेव के, गुरुदेव के या अन्य सन्तों के दर्शन होते हैं। इतना ही नहीं, कई बार खुली आँखों के समक्ष पूर्ण जागृत अवस्था में साधक के समक्ष अपने इष्ट की आकृति आ जाती है। कई बार ध्यान में चलचित्र की तरह भविष्य की घटना का या वर्तमान में दूर-सुदूर होती हुई घटना का चित्र अन्तर्नेत्रों के समक्ष उभर आता है। बहुत-सी बार स्वयं द्वारा चिन्तित वस्तु या परिस्थिति बाह्यजगत् में साकार होती हुई दिखाई देती है। ध्यान के अवसर पर आत्मसाधक को हृदयभूमि में स्पन्दन, उष्णता या दिव्य तेज दिखाई देता है तो कभी ऐसा मालूम होता है कि कोई अपने भीतर और बाहर सर्वत्र स्वर्णमय आलोक या आसमानी तेज बिखेर रहा है। भक्तिमार्ग के साधक कभी-कभी अपने ईष्टदेव के दर्शन, प्रार्थना उनके स्तवन-कीर्तन करते समय हर्षाश्रु, रोमांच एवं भावसमाधि का अनुभव करते हैं। उस समय वे परमात्मा की भक्ति और आनन्द के सागर में तैरने की सुखद कल्पना का अनुभव भी करते हैं। बहुत-से लोगों को किसी बाह्य निमित्त के बिना मधुर संगीत, भक्ति गीत का या विविध प्रकार के नाद का श्रवण होता है।

चित्त में स्थिरता और गहनता प्राप्त करने पर कतिपय साधकों को स्वप्न में या अन्तः स्फुरणा द्वारा भावी विपत्ति की चेतावनी, या भावी घटनाओं का संकेत मिल जाता है तो किसी को साधना में प्रेरणा, प्रोत्साहन, मार्गदर्शन या उपालम्भ देने वाले सन्देश भी कर्णगोचर होते हैं।

आत्म साधक इनके मोहक जाल में न फँसे

परन्तु ये और ऐसी ही विविध उपलब्धियों, शक्तियों या सिद्धियों के प्रति साधक को लक्ष्य देना हितावह नहीं है, ये सब आत्म-साधना में, तथा एकाग्रता में विक्षेप एवं विघ्न डालने वाले मोहक एवं भ्रामक जाल हैं। इन उपलब्धियों से मुग्ध साधक यह समझ बैठता है कि स्वयं को आत्म-विकास की उच्च स्थिति प्राप्त हो गई है। कभी-कभी अहंकारवश वह इसका प्रदर्शन, प्रकाशन एवं प्रचार भी करता है कि मेरे पास देव या भगवान आते हैं, वे मुझे दर्शन देते हैं। बहुधा ये सन्देश या आदेश भ्रामक सिद्ध होते हैं। ये अपरिपक्व साधक के अपने अजागृत मन की उपज हैं।

ऐसे साधक इस प्रकार के भ्रामक आभासों या दृश्यों की फिल्म देखने में ही ध्यान का समय पूरा करते हैं। कोई कच्चा साधक प्रमादवश इन्हीं के चक्कर में पड़ जाता है और उसे इन शक्तियों और सिद्धियों के विकास एवं प्रदर्शन की धुन सवार हो जाती है। वह आत्मसाधना के लक्ष्य एवं मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है और इन सिद्धियों और शक्तियों के जंजाल में ही अटक कर अमूल्य जिन्दगी बर्बाद कर देता है।

अतः आत्मसाधना के साधक को ऐसे इन्द्रियातीत या मानसिक अनुभव हों, उस समय उनके प्रवाह में न बहकर, उनसे न चिपक कर चित्त को अधिकाधिक अन्तर्मुख करते रहकर साधना में आगे कूच करना चाहिए। अन्यथा, ये अनुभव मनसातीत प्रदेश में पहुँच जाने के लक्ष्य को भुला कर चित्त को मानसिक प्रवृत्तियों में ही प्रवाहित और अवरुद्ध रख कर आत्मसाधना की प्रगति में अवरोध खड़ा कर देंगे। सच्चे साधक ऐसे अतीन्द्रिय अनुभवों को साधना की प्रगति के चिह्न के रूप में देखने से इन्कार करते हैं।

इन शक्तियों, सिद्धियों या उपलब्धियों के लिए चित्त में खोटी उत्सुकता जगना भी ठीक नहीं है। इनके पीछे पड़े रहने से साधक में कभी-कभी हीनता की ग्रन्थी और कभी अहंकार की गौरव ग्रन्थी पैदा हो जाती है। अतः रमण महर्षि ने आत्मसाधकों को चेतावनी दी है कि ज्योतियों का दर्शन या अमुक उपलब्धियों की प्राप्ति होना, आत्मसाधना का लक्ष्य नहीं, आत्मसाधना का लक्ष्य शुद्ध आत्मतत्व या परमात्मतत्व की उपलब्धि है। साधक को विषयी दृष्टा (आत्मा) का दर्शन करना है, विषय का नहीं।

सच्चा आत्मसाधक सिद्धियों के पीछे दौड़ता नहीं

सच्चा आत्मसाधक ज्यों-ज्यों अधिकाधिक अन्तर्मुख एवं अहंता-ममता से शून्य होता जाता है, त्यों-त्यों वह सिद्धियों एवं शक्तियों के प्रलोभन से दूर रहता है। उसे सिद्धियाँ प्राप्त भी हो जाती हैं, तो भी वह इनके पीछे दौड़ता नहीं, और निर्द्वन्द्व होकर आत्मसाधना के पथ पर चलता रहता है, क्योंकि वह जानता है कि सिद्धियाँ मोक्ष या परमात्म तत्व के निकट जाने में विघ्नरूप हैं, अहितकर हैं। वह पूर्व-परिचित बाह्य आधारों को भी छोड़ता जाता है। अन्तःस्थ परमात्मा के प्रति पूर्ण समर्पित होकर पर्याय पर से दृष्टि हटाकर आत्मद्रव्य पर दृष्टि स्थिर करता है।

आत्मसाधना में जनसम्पर्क से दूर रहना आवश्यक

गृहस्थ उपासक हो या मुनिसाधक दोनों को आत्मसाधना के लिए भगवान ने सामायिक (समतायोग) की साधना बताई है। संयमी साधु के लिए तो शास्त्रनिर्दिष्ट चर्या के अनुसार दिन के तीसरे पहर तथा रात्रि के भी तीसरे पहर के अतिरिक्त बाकी का लगभग सारा समय स्वाध्याय, ध्यान (कायोत्सर्ग) और आत्मचिन्तन में ही व्यतीत करने की आज्ञा है।[1] इसी प्रकार गृहस्थ उपासकों के लिए भी अल्पकालिक सामायिक, पौषध आदि आत्मविकास की साधनाएँ बताई हैं। परन्तु न तो साधुवर्ग में इस साधना की ओर लक्ष्य है, और न गृहस्थ वर्ग का ही इस ओर ध्यान है। पूर्वकाल में गृहस्थ श्रावक प्रतिमास लगभग छह पौषध और कई सामायिक की साधना करता था। इसमें आत्मध्यान, आत्मचिन्तन, एवं आत्मभावों एवं आत्मगुणों में तल्लीन हो जाता था। फलतः वह लोकव्यवहार में भी अपने अन्तिम लक्ष्य की ओर दृष्टि रखता था। साधु वर्ग प्राचीनकाल में नगर के बाहर उद्यान आदि में निवास करता था। और जनसम्पर्क से दूर रहकर अपनी समग्रशक्ति आत्मसाधना में लगाता था। एकान्तवास में अपनी आत्मसाधना को परिपक्व बनाकर स्वरूप-जागृतिपूर्वक निःसंगभाव से प्रवृत्ति करने की क्षमता जिन्होंने प्राप्त करली होती थी, ऐसे आचार्य आदि ही समाज के निकट सम्पर्क में आते थे। अपनी आत्मिक-जागृति के बल से वे समाज के अशुद्ध वायुमण्डल के प्रभाव से निर्लिप्त रह सकते थे और अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति में यथार्थ आध्यात्मिक जागृति की चिनगारी प्रकट कर सकते थे और समाज के नैतिक-आध्यात्मिक विकास में प्राण फूंक सकते थे।

किन्तु आज तो बहुधा प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, आहार-विहार, निद्रा आदि के सिवाय बाकी का लगभग सारा समय लोकसम्पर्क (लोकरंजन ?) में व्यतीत होता है। बल्कि मुनि जीवन अंगीकार करने के बाद जनसम्पर्क

---

१ (क) दिवसस्स—पढमं पोरिसि सज्झायं बीयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खायरिय, पुणो चउत्थीइ सज्झायं॥

(ख) रत्तिपि चउरो भागे····पढमं पोरिसि सज्झायं, बीयं झाणं झियायई।
तइयाए निद्दमोक्खं तु, चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं॥
—उत्तराध्ययन अ. २६/१२, १८

से पृथक् रहकर साधनाकाल में आत्मज्ञानसम्पन्न गुरुजनों का सान्निध्य और एकान्तवास पाकर आत्मसाधना में शीघ्र प्रगति एवं विकास करने के बदले लोकसम्पर्क में तथा सामाजिक प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि, पद, प्रशंसादि प्राप्त करने में उपयोगी प्रवृत्ति में ही अधिक मशगूल हो जाता है। लोकसम्पर्क के प्रभाव से ऐसे साधक के अन्तर में सुषुप्त जाने-अजाने लोकैषणादि वृत्तियाँ उभरती हैं। फिर तो वह एक के बाद दूसरी प्रवृत्ति के मोहक जाल में ऐसा फँस जाता है कि उसमें से बाहर निकलने और आत्मिक साधना करने की बात ही भूल जाता है। दीर्घकाल तक इसी ढर्रे पर जीवन व्यतीत होने पर सर्वभूतात्मभावमूलक अहिंसादि तथा आत्मज्ञानादि उच्च आध्यात्मिक भूमिकाओं पर आरूढ़ होकर शुद्ध-आत्मतत्त्व-परमात्मतत्त्व में रमणता का मुनि जीवन का मुख्य लक्ष्य विस्मृत हो जाता है। अतः आत्मरमणता को जीवन का प्रमुख ध्येय बनाकर अन्तर्मुख होकर आत्मार्थी साधक को थोड़ा समय तो आत्मसाधना में डुबकी लगाना ही चाहिए।

आत्मसाधना को गौण करके शासन-प्रभावना या लोकोपकार का मोहक अंचल ओढ़कर तदनुरूप विविध प्रवृत्तियों में पड़ने से आत्मसाधना में व्यतीत किया जाने वाला अमूल्य समय बर्बाद हो जाता है।

सच तो यह है कि कच्ची केरी को पकाने और उसके खट्टे रस को मधुर सुस्वादु आम्ररस में परिवर्तन करने के लिए जिस प्रकार थोड़े समय तक उसे पराल से ढककर एक उपयुक्त जगह रख देना पड़ता है, उसी प्रकार अत्मार्थी त्यागीवर्ग को भी—अपने साधनाजीवन के प्रारम्भिक कुछ वर्ष तक, स्वयं को आत्मज्ञान भली-भाँति प्राप्त न हो, तब तक व्यक्तिगत साधना में रत रहकर अपनी साधना को परिपक्व होने देनी चाहिए। अपनी साधना परिपक्व न हो तब तक साधना में बाधक जनसम्पर्क टाल-कर आत्मार्थी साधक को अन्तर्मुख होकर अजागृत मन में जन्म-जन्मान्तर से पड़ी हुई वृत्तियों के शोधन करने और आत्मजागृतिपूर्वक आत्मविकास करने में अपनी सारी शक्ति लगानी चाहिए।

साध्यप्राप्ति हेतु आत्मसाधना में तन्मयता अनिवार्य

तन्मयता के बिना कोई भी महान् साधना सफल नहीं हो सकती। संगीत कला, साहित्यरचना, शिल्पकला आदि किसी भी क्षेत्र के कलाकार अपनी कृतियों के सर्जनकाल में उसी में खो जाते थे। स्वयं को प्राप्त स्फुरणा या प्रेरणा को मूर्तरूप देने के प्रयत्न में जिस प्रकार एक कलाकार

या आविष्कर्ता अपनी सारी शक्ति उसी में उँड़ेल देता है, दूसरी बातों को अपने चित्त में स्थान नहीं देता, जनसम्पर्क से पृथक् रहकर एकान्त प्रकोष्ठ में अपनी कृति के सर्जन या अपने अन्वेषण व शोधन में तन्मय-तल्लीन हो जाता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक उत्थान हेतु आत्मा से परमात्मा बनने के लिए, प्रबल पुरुषार्थी आत्मार्थी साधक को भी अन्य सब कामनाओं, वासनाओं, लिप्साओं या महत्त्वाकांक्षाओं को पीठ करके एकमात्र अपनी आत्मसाधना में तन्मय बनना और अपनी सारी शक्ति को एक ही लक्ष्य पर केन्द्रित करना अनिवार्य है।

पर्वत पर बरसा हुआ पानी बारह रास्तों से बह जाये तो उससे नदी नहीं बनती। चारों ओर बह जाने वाला पानी सूख जाता है। यदि वह एक ही दिशा में बहे तो नदी के माध्यम से समुद्र में मिल सकता है, उसी प्रकार आत्मार्थी साधक की शक्ति भी अनेक प्रवृत्तियों में बह जाये तो वह शक्ति निरुपयोगी और व्यर्थ चली जाती है, किन्तु वह आत्मशक्ति एकमात्र एक दिशा में आत्मा से परमात्मा बनने के लक्ष्य की ओर बहने लगे तो शीघ्र ही परमात्मभावरूपी समुद्र में मिल सकती है।

एक वैज्ञानिक जैसे अपनी शोध-खोज के अन्तिम तबके के प्रयोग में तल्लीन हो जाता है, वह अपने प्रयोग असम्बद्ध किसी भी अन्य विषय पर लक्ष्य देने से इन्कार कर देता है, इसी प्रकार परमात्मभाव-प्राप्ति की शोध-खोज में तल्लीन आत्मार्थी साधक को अपने लक्ष्य एवं प्रयोग से असम्बद्ध बाह्य परभावों एवं विभावों के प्रति उदासीन हो जाता है, समत्वयोग और इन्द्रिय-मनो-विजय को आत्मसाधना से सम्बद्ध प्रवृत्ति में लगता है। क्योंकि उसे परमात्मदर्शन की उत्कण्ठा लगी होती है। स्वभाव-रमण द्वारा परमात्मदर्शन की अभीप्सा जितनी तीव्र होगी, उतनी ही पर-भावों के प्रति उदासीनता अधिक तीव्र होगी। किसी व्यक्ति को अचानक हार्ट-एटेक हो गया तो तब वह तत्काल उसकी चिकित्सा और राहत चाहता है, उसके लिए वह सब कामों को छोड़कर शीघ्र डॉक्टर के पास पहुँचता है या ऊँची फीस देकर तत्काल डॉक्टर को अपने घर बुलाता है। उस समय वह एक क्षण का भी विलम्ब सहन नहीं कर पाता। इसी प्रकार आत्मा-नन्द और परमात्म-भाव प्राप्ति की तीव्र उत्कण्ठा जागती है, तब संसार की समस्त मधुरता उसे कड़वी लगती है, संसार की रमणीयता उसे कुरूप प्रतिभासित होती है, और आत्मा के स्वाधीन, निराबाध, असीम, निरुपा-

धिक ज्ञान, शक्ति और आनन्द का आस्वाद लेने के लिए उसके प्राण तरसते हैं। तब उसे आत्म-साधना के सिवाय किसी भी अन्य प्रवृत्ति में रुचि नहीं होती।

समाज कल्याण को महत्त्व दें या आत्मसाधना को ?

कई लोग यह शंका उठाते हैं कि जब साधु वर्ग अपने जीवन-निर्वाह की तमाम आवश्यकताएँ गृहस्थ वर्ग से—समाज से लेता है, समाज के श्रद्धा-भक्तिपूर्ण सहयोग से उसकी संयमयात्रा निर्विघ्न होती है, तब समाज को बदले में कुछ न देकर, लोकोपकार या शासनप्रभावना की प्रवृत्तियों से किनाराकसी करके बिलकुल अलग-थलग एकान्त में जाकर साधु-वर्ग द्वारा आत्मसाधना में निमग्न रहना उचित है ? क्या उसे समाजहित के लिए कुछ करना नहीं चाहिए ? पहली नजर में यह तर्क कुछ वजनदार मालूम होता है, परन्तु गहराई से सोचने पर यह तर्क भ्रामक सिद्ध होता है। क्या साधक के एकान्तवास और मौन रहकर आत्मसाधना करने का लाभ सिर्फ एक व्यक्ति तक ही पर्याप्त है ? क्या उससे समाज और समष्टि को मूक प्रेरणा नहीं मिलती ? सच पूछें तो उक्त व्यक्ति की एकान्त आत्म-साधना के पवित्र विचार-आचार के परमाणु सारे ब्रह्माण्ड में फैलते हैं, उससे समाज और समष्टि को परोक्ष रूप से अत्यन्त लाभ मिलता ही है। जब साधक एकान्तवास में अपनी साधना को परिपक्व बनाकर तथा विरक्ति, तितिक्षा, समता और अन्तर्मुखता को दृढ़ करके, परमात्मतत्त्व का जीवन्त संस्पर्श पाकर समाज के बीच आता है, तब उस निर्वैर, निर्भय, निःसंग एवं निःस्पृह सन्त का सहवास समाज को व्यक्त या अव्यक्त रूप से अत्यन्त लाभदायी सिद्ध होता है। भले ही वह उपदेश की झड़ियाँ नहीं बरसाए, फिर भी उसके निर्मल नेत्र सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों में धर्म भावना की प्रेरणा दे देंगे। उसकी पवित्र तेजस्वी दृष्टि सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के अन्तस्तल में पहुँच कर आत्मा की भाषा द्वारा उन्हें मौनरूप से विषयों में सुख की भ्रान्ति और संसार की असारता समझा देगी। उसका एक स्पर्शमात्र भी निकट सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति की जीवन-दृष्टि आमूलचूल बदल सकेगी। संसार के ताप से सन्तप्त जीव घड़ी भर उसके सान्निध्य में बैठकर शान्ति और स्वस्थता प्राप्त कर सकेंगे। आत्मार्थी मुमुक्षुओं का वह स्वानुभव के आधार गच्छ, पन्थ, सम्प्रदाय के भेदभाव एवं विवाद से ऊपर उठकर निष्पक्ष रूप से स्वच्छ साधनामार्ग

बता सकेगा। समाज में स्वस्थ आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करके समाज-जीवन में शुद्ध सद्धर्म की सौरभ फैला सकेगा।

जिसमें ज्योति प्रकाशित हो उठी है, उस दीपक का आलोक जैसे आसपास के अन्धकार को मिटा देता है, वैसे ही जिस साधक के हृदय में आत्मज्योति प्रकाशित हो उठी है, वह दूसरे अनेक व्यक्तियों के मोहान्धकार को मिटाने सहजभाव से सहायक सिद्ध होता है। अतः आत्मनिष्ठ व्यक्ति के सहवास मात्र से जगत् को एवं समाज को लाभ ही है। स्वयं आत्मा में प्रतिष्ठित होना, आत्मसाधना के पुरुषार्थ में निमग्न रहना भी जगत् की महान् सेवा है। इसमें स्व और समाज दोनों का श्रेय निहित है।

अपने कार्य में बाहर का कोई हस्तक्षेप न रहे, विक्षेप न हो, इसके लिए विद्यार्थी, डॉक्टर, वैज्ञानिक आदि वर्षों तक समाज एवं परिवार से अलग रहते हैं, एकान्त, शान्त, नीरव स्थान चुनते हैं। अध्ययन काल के दौरान विद्यार्थी, डॉक्टर, इन्जीनियर या वैज्ञानिक आदि समाज को कुछ नहीं देते, उलटे वे समाज से, परिवार से लेते हैं, परन्तु जब वे अपने-अपने विषय में उत्तीर्ण एवं स्नातक होकर आते हैं, तो अपने अनुभवों, योग्यताओं का लाभ समाज को देते हैं; ऐसे ही साधना काल में एकान्तवास में रहने वाले साधक से समाज को कुछ मिलता न दीखे, पर परिणाम में समाज उसके आचार-विचार से समृद्ध बनता ही है। फिर एकान्तवास में साधक ने जो साधना की है, उसकी कसौटी तो समाज के बीच आने पर ही होती है। मोटर चलाने का प्रशिक्षण लेने वाला प्रारम्भ में एक्सीडेन्ट से बचने के लिए यातायातरहित निर्जन मैदान पसन्द करता है, वैसे ही प्रारम्भिक साधक जनसम्पर्क के कारण साधता में पड़ने वाले विक्षेपों, विघ्नों और खतरों को टालने के लिए साधनाकाल में एकान्तवास और मौन अपनाता है, तो अनुचित नहीं है।

इस प्रकार आत्मजागृति विरक्ति और विरतिपूर्वक आत्मसाधना से साधक शुद्ध आत्मभावों में स्थिर हो जाता है, और एक दिन परमात्म-भाव की सिद्धि उसे मिल ही जाती है।

□□

१५

परमात्मभाव का बीज : भेदविज्ञान

कर्मबन्धरूपी रोग को मिटाने का एकमात्र उपाय : भेदविज्ञान

प्राकृतिक चिकित्सा-विज्ञान का यह सिद्धान्त है कि शरीर में किसी भी विजातीय द्रव्य के प्रविष्ट होने से रोग की उत्पत्ति होती है और जब तक उस विजातीय द्रव्य को जड़मूल से निकाला नहीं जाएगा, तब तक वह रोग किसी न किसी रूप में रहेगा। ये विजातीय द्रव्य शरीर से भी सम्बद्ध होते हैं और मन से भी। जैसे—शरीर में अत्यधिक मल इकट्ठा होने से, कफ वात या पित्त की वृद्धि होने से, प्रकृति-विरुद्ध आहार या पेय वस्तु के सेवन करने से, विषैली, मादक या तामसिक वस्तु का सेवन करने से विजातीय द्रव्य शरीर में एकत्र हो जाते हैं और ज्वर, खांसी, कोष्ठबद्धता, अपच, गैस, लकवा, संधिवात आदि कोई न कोई रोग प्रादुर्भूत हो जाता है। इसी प्रकार अत्यधिक क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, चिन्ता, अहंकार, कपट, द्वेष वैरविरोध इत्यादि मानसिक विकारों के कारण भी शरीर में खाज-खुजली हृदय गति का अवरोध, रक्तचाप, रक्ताल्पता, कैंसर, टी. बी. (राजयक्ष्मा) पक्षाघात (लकवा) आदि रोग फूट पड़ते हैं। ये भी सब विजातीय द्रव्य हैं। ये सब मूल से जब तक नहीं निकाले जाते, तब तक वह रोग जड़मूल से नहीं जाता। इसी प्रकार आत्मा के साथ भी शरीरादि के सम्पर्क—संयोग के कारण जब राग, द्वेष, मोह, अविरति, प्रमाद, अज्ञान, मिथ्यात्व आदि विजातीय द्रव्यों या कषाय आदि विकारों का संयोग हो जाता है, आत्मा उन विजातीय द्रव्यों का, राग या द्वेषवश, मोह या घृणावश स्मरण करता है उनसे आसक्तिपूर्वक सम्बन्ध जोड़ता है, उन्हें अपने मानता है, या अप्रिय

अथवा अनिष्ट मानकर उनसे द्वेष करता है, तब आत्मा को भी परभावों-विभावों के साथ अभिन्नता के कारण कर्मबन्धरूपी रोग लग जाता है। ऐसे जन्म-जन्मान्तर से लगे हुए कर्मरोग को जड़मूल से उखाड़ने का एकमात्र उपाय जैनधर्म के महान् अध्यात्मज्ञानियों ने बताया है—भेदविज्ञान।

भेदविज्ञान की महिमा और गरिमा

यह भेदविज्ञान जिसके मन-मस्तिष्क में बस जाता है, जिसकी बुद्धि में भेदविज्ञान का तत्त्व भलीभाँति ठस जाता है, जिसके हृदय में भेदविज्ञान रूपी मंत्र, शरीर में भेदविज्ञान का तंत्र और मन में भेदविज्ञान का यंत्र सक्रिय रूप से अवतरित हो जाता है, वह व्यक्ति इस कर्मजनित आत्मव्याधि का जड़ से उन्मूलन कर सकता है। भेदविज्ञान का तत्त्ववेत्ता आत्म-वैज्ञानिक ही इस दुःसाध्यरोग का निवारण कर सकता है। भेदविज्ञान ही ऐसा विज्ञान है कि इसके मंत्रों के सिद्ध हो जाने पर व्यक्ति आत्मा को शुद्ध, उज्ज्वल, कर्ममल से रहित, अनन्त शक्तिमान, अनन्त-ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न और अनन्त आत्मिक आनन्द से परिपूर्ण बना सकता है। जैसे सूर्य के उदय हो जाने पर रात्रि का गाढ़ अन्धकार एकदम पलायित हो जाता है, वैसे ही आत्मा में भेदविज्ञानरूपी सूर्य का उदय होने पर मोह, अज्ञान, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, रागद्वेष एवं योग (मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों) से जनित आत्मा पर आवरक एवं आत्मगुण विघातक वर्षों से संचित गाढ़ अन्धकार शीघ्र ही पलायित हो जाता है। भेदविज्ञान की कुंजी मिलते ही मनुष्य अपनी आत्मा के ज्ञान-दर्शन, चारित्र एवं शक्ति के खजाने पर लगे हुए मजबूत ताले को खोल सकता है, भेदविज्ञान के हथौडे से आत्मा पर लगे हुए कर्म बन्धनों को तोड़ सकता है। भेदविज्ञान के विरक्तिरूप तंत्र से जन्म-मरणरूपी संसार का उच्छेद कर सकता है, विमोहरूपी मंत्र से संसार में आवागमन को रोक सकता है, और अनासक्ति (निर्ममत्व) रूपी यंत्र से कर्मों पर नियंत्रण कर सकता है। भेदविज्ञान के प्रथम प्रहार से ही कषायचेतना चूर-चूर होने लगती है। भेदविज्ञान जागृत होते ही कर्म की जड़ें हिलने लगती हैं। राग-द्वेष, कषाय, मोह आदि से लेकर कर्म और उसके कारण से होने वाले जन्म-मरण के सारे चक्र तब टूटने लग जाते हैं, जब व्यक्ति अपने भेदविज्ञान रूपी सुदर्शन (सम्यग्दर्शन) चक्र को चलाने लगता है।

भेदविज्ञान : परमात्मभाव का बीज

भेदविज्ञान से आत्मा अपने स्वभाव में स्थित हो जाता है, स्वभाव में स्थित होना ही स्वस्थता है। परमात्मा का स्वभाव और शुद्ध आत्मा का स्वभाव एक समान है। सिद्ध और अर्हत् परमात्मा सदैव अपने स्वभाव में स्थित रहते हैं। इस दृष्टि से आत्मा जब स्वभावस्थ (स्वस्थ) हो जाता है तब वह परमात्मभाव में स्थित हो जाता है, पूर्णरूप से या अविच्छिन्नरूप से परमात्मभाव से स्थित होने पर वह मानवआत्मा स्वयं सिद्ध-परमात्मा बन जाता है। इसलिए अध्यात्मतत्त्व वेत्ता आचार्यश्री अमृतचन्द्र ने कहा—

"भेदविज्ञानतः सिद्धा ये सिद्धा किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धा, बद्धा ये किल केचन॥"

जितने भी संसारी से सिद्ध परमात्मा बने हैं, वे सब भेदविज्ञान से ही सिद्ध परमात्मा बने हैं। इस संसार में कर्मों से बद्ध होकर जो बद्ध बने हुए हैं, वे भेदविज्ञान के अभाव से ही बद्ध बने हुए हैं।

निष्कर्ष यह है कि संसारी आत्मा (जीव) से सिद्ध आत्मा बनाने वाला भेदविज्ञान है। जिसने कर्मबद्धता और कर्ममुक्ति का अन्तर समझ लिया, जिसने चेतन और अचेतन के संयोग-वियोग का रहस्य जान लिया, आत्मा और शरीर की भिन्नता का तत्त्व सक्रियरूप से हृदयंगम कर लिया, राग-द्वेष, कषाय आदि विभावों से आत्मा-स्वभाव के पृथक्करण का मर्म अन्तस्तल में रमा लिया, आत्मा की स्वस्थता और परस्थता, समता और विषमता, स्वभाव और परभाव के अन्तर का परमार्थरूप से अनुभव कर लिया, वह भेदविज्ञानी निःसन्देह परमात्मभाव को प्राप्त कर लेता है। इसलिए कहना चाहिए भेदविज्ञान परमात्मभाव का बीज है। परमात्मभाव के विशाल तरु का पल्लवित, पुष्पित एवं फलित करने के लिए सर्वप्रथम भेदविज्ञानरूपी बीज का वपन करना अत्यावश्यक है। परमात्मभावरूपी कल्पतरु का फल ही परमात्मा है। अतः आत्मा से परमात्मा बनने के लिए भेदविज्ञान का बीजारोपण करना अत्यन्त आवश्यक है। जिनके अन्तर्हृदय में भेदविज्ञान जागृत हो जाता है, उन्हें अर्हत्परमात्मा के लघुपुत्र कहते हुए कविवर बनारसीदासजी ने उनके गुणों से प्रभावित होकर करबद्ध वन्दन किया है—

भेद-विज्ञान जग्यो जिनके घट, शीतल चित्त भयो जिम चन्दन।
केलि करैं शिव-मारग में, जग मांहि जिनेश्वर के लघुनन्दन॥

सत्य सरूप सदा जिनके, प्रगट्यो अवदात मिथ्यात्वनिकन्दन ।
शान्तदशा तिनकी पहचानी, करै कर जोरि 'बनारसी' वन्दन ।।

इसका कारण स्पष्ट है, जिसके अन्तर्घट में भेदविज्ञान जाग जाता है, उसे देह और आत्मा की भिन्नता का अनुभव हो जाता है। भेदविज्ञान का बीजारोपण हो जाने पर आत्मा में परमात्मभाव अंकुरित हो जाता है और एक दिन वह पल्लवित-पुष्पित-फलित होकर परमात्मभाव का विशाल समृद्ध वृक्ष बन जाता है।

भेदविज्ञानी को ही यथार्थरूप से शास्त्रज्ञ बताते हुए कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है—

यः आत्मानं जानाति अशुचिशरीरात् तत्त्वतः भिन्नम् ।
ज्ञायकरूपस्वरूपं सः शास्त्रं जानाति सर्वम् ।।[1]

जो आत्मार्थी अपनी आत्मा को इस अपवित्र शरीर में तत्त्वतः भिन्न और ज्ञायकरूप-स्वरूप जानता है, वही सर्वशास्त्रज्ञ है।

जैसे—किसी पर्वत पर बिजली पड़ती है, तो उसके सैकड़ों टुकड़े हो जाते हैं। उन टुकड़ों को यदि कोई जोड़कर यदि पुनः पर्वत को पूर्ववत् बनाना चाहे तो वह कथमपि संभव नहीं होता, वैसे ही मानव-आत्मा में एक बार भेदविज्ञानरूपी विद्युत प्रबलवेग से प्रविष्ट हो जाए तो शरीर से भिन्नता की दृढ़ प्रतीति हो जाती है, फिर से वह पुनः पूर्ववत् शरीर से वह अभिन्नता करना चाहे तो नहीं कर पाता है। अर्थात् भेदविज्ञान अविच्छिन्नरूप से दृढ़तापूर्वक भी एक बार हो जाए तो फिर उसकी मुक्ति या परमात्मपद प्राप्ति निश्चित है। मुक्ति होने पर उसे पुनः जन्म धारण नहीं करना पड़ता। ज्ञानी महापुरुषों का यहाँ तक कथन है कि क्षण भर का भी भेद-विज्ञान अनन्त-जन्म-मरण का विच्छेदक है। इसलिए मनुष्य जन्म को सार्थक करने के लिए सतत् भेदविज्ञान का चिन्तन-मनन करना चाहिए। भेदविज्ञान ही इस जगत् में सारभूत है, शेष बातें प्रायः असार हैं। भेद-विज्ञान ही त्याग, वैराग्य, तप, संयम, चारित्र, तथा क्षमा, दया, समता, सन्तोष आदि गुणों का मूल है। क्योंकि भेदविज्ञान के बिना सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता और सम्यग्दर्शन प्राप्त हुए बिना व्रत, नियम, संयम, तप,

---

१. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा श्लोक० ४६४।

त्याग आदि सब मोक्षप्राप्ति के कारण नहीं हो सकते, वे शुभकर्म (पुण्य) बन्धक तो हो सकते हैं, किन्तु कर्मक्षय के कारण नहीं होते, न ही वे अपुनर्बन्धक हो सकते हैं।[1]

भेदविज्ञान का अर्थ और परमार्थ

भेदविज्ञान का शब्दशः अर्थ होता है—शरीर और आत्मा की भिन्नता-पृथक्ता का विशिष्ट ज्ञान। आवश्यक निर्युक्ति में भेदविज्ञान का तात्पर्य समझाते हुए कहा गया है --

"अन्नं इमं शरीरं, अन्नो जीवुत्ति एवं कयबुद्धी।
दुक्ख-परिकिलेसकरं, छिंद ममत्तं सरीराओ॥"[2]

यह शरीर अन्य [पृथक्] है, और आत्मा पृथक् है। इस प्रकार साधक इस तत्त्वबुद्धि के द्वारा [आत्मा के साथ ममत्वबुद्धि के कारण जुड़े हुए] दुःखोत्पादक एवं क्लेशजनक शरीर के प्रति ममत्व का त्याग करे।

देह और देह से सम्बन्धित जितने भी सजीव-निर्जीव पदार्थ हैं, उनसे आत्मा को भिन्न समझना ही भेदविज्ञान का तात्पर्य है। जैसा कि प्रवचन सार में बताया गया है—

णाहं देहो, ण मणो, ण चेव वाणी, ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण कारयिदा, अणुमंता णेव कत्तीणं॥"[3]

मैं न शरीर हूँ, न मन हूँ, न ही वाणी [वचन] हूँ; और न ही इन सबका कारण हूँ। मैं कर्ता नहीं हूँ, न कराने वाला हूँ और न ही कर्ता का अनुमोदक हूँ।'

वास्तव में, जन्म-जन्मान्तर से जो संस्कार पड़े हुए हैं कि यह शरीर मैं हूँ, ये अंगोपांग, मन, वचन आदि या परिवारादि अथवा मकान, दूकान, धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद आदि मेरे हैं। मैं इनका स्वामी हूँ या आत्मीय हूँ। ऐसी ममत्वबुद्धि को तोड़ना—शरीर और शरीर से सम्बन्धित पर पदार्थों को हृदय से-आत्मा से पृथक् समझना ही भेदविज्ञान है। इस प्रकार की भिन्नता का अनुभव होना भेदविज्ञान का फलितार्थ है।

---

१. 'भेदविज्ञानसार' से

२. आवश्यक निर्युक्ति १५४७

३. प्रवचनसार १६०

शरीर को नष्ट कर देना या आत्महत्या करना भेदविज्ञान नहीं है

कई लोग कहते हैं कि शरीर से आत्मा को पृथक् कर देने पर धर्माराधना या ज्ञान-दर्शन-चारित्र की साधना कैसे हो सकेगी ? शरीर के साथ आत्मा के जुड़े रहने पर ही सम्यक्चारित्र, तप, परीषहजय, कषाय-विजय, कर्मक्षय आदि की साधना हो सकेगी ? न ही अकेली आत्मा से कोई भी साधना हो सकती है और न ही अकेले निर्जीव शरीर से भी साधना हो सकती है। ऐसी स्थिति में शरीर से आत्मा को पृथक् कर देने के संकल्प का क्या रहस्य है ?

शरीर से आत्मा को पृथक् कर देने का यह मतलब नहीं है कि शरीर को या शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थों को नष्ट कर दिया जाए। जैसा कि कई प्राचीन या आधुनिक धर्म-सम्प्रदाय या मतपंथ के लोग शरीर को समस्त खुराफातों की जड़ समझकर इसे नष्ट करने की प्रेरणा देते थे। वे चलते-फिरते, सशक्त एवं स्वस्थ, धर्मसाधनायोग्य तथा अध्यात्मसाधना में सक्षम शरीर को दम घोटकर, आत्महत्या करके, झंपापात करके या जलसमाधि या मिट्टी में दबकर पार्थिव समाधि लेकर शरीर का त्याग कर देते थे और कहते थे—इसी प्रकार शरीरत्याग कर देने से सुखप्राप्ति या मोक्षप्राप्ति हो जाएगी। परन्तु इस प्रकार आत्महत्या करके शरीर को त्याग देने से या किसी प्रकार के आवेश, रोष, या अपमान के कारण शरीर को छोड़ देने से शरीर से सदा के लिए न छुटकारा हो सकता; न ही इस प्रकार शरीरत्याग से सुगति ही होती है। जहाँ तक कर्म (शुभाशुभ) जन्य संस्कारों से युक्त कार्मण शरीर है, वासनाएँ हैं, वहाँ तक एक के बाद दूसरा शरीर धारण करना ही पड़ेगा। इन शुभा-शुभकर्मजन्य संस्कारों से युक्त कार्मण शरीर में भी एक सूक्ष्म और गहरी पर्त है—मानसिक भावों की, लेश्याओं की। शरीर छोड़ते समय भी भाव-नाएँ या लेश्याएँ जैसी होती हैं, तदनुसार व्यक्ति अमुक गति या योनि का शरीर प्राप्त करता है। इसलिए पुनः पुनः शरीर निर्मित होने के संस्कार जब तक कार्मण शरीर में पड़े हैं, तब तक शरीर से छुटकारा नहीं मिल सकता। जब तक आयुष्य के क्षण हैं, तब तक भी शरीर को सहसा छोड़ना कठिन है। अतः शरीर को नष्ट कर देना या सशक्त स्वस्थ शरीर को आत्महत्या करके छोड़ देना, आत्मा से शरीर की भिन्नता का परिचायक भेदविज्ञान नहीं है।

भेदविज्ञान का रहस्यार्थ

शरीर और आत्मा की भिन्नता को भलीभाँति समझ कर देहभाव से ऊपर उठना, देहाध्यास, देहासक्ति, देह के प्रति ममता-मूर्च्छा एवं शरीर से सम्बन्धित पदार्थों के प्रति अहंत्व-ममत्व से दूर रहना ही भेदविज्ञान का आशय है।

देहभाव से मुक्त होने का तात्पर्य समझाते हुए परमानन्द पंचविंशति में कहा गया है—

'नलिन्यां च यथा नीरं, भिन्नं तिष्ठति सर्वदा।
अयमात्मा स्वभावेन देहे तिष्ठति सर्वदा ॥'[1]

जिस प्रकार कमलिनी जल के ऊपर रहती हुई भी जल में सदैव भिन्न (पृथक्) रहती है, उसी प्रकार यह आत्मा शरीर में रहती हुई भी (देहभाव में न रहकर) सदैव आत्म-भाव में स्थित रहती है।

आत्मा और शरीर दोनों में अत्यन्त भिन्नता

आत्मा और शरीर दोनों का स्वभाव, धर्म, गुण आदि भिन्न-भिन्न हैं। दोनों में आत्मीयता या तादात्म्य हो ही नहीं सकता। शरीर जड़ है, भौतिक है, पुद्गल है, आत्मा चेतन है, अभौतिक है, (पुद्गलास्तिकाय से पृथक्) जीवास्तिकाय है। शरीर में ज्ञान नहीं, आत्मा ज्ञानमय है; दर्शन-मय है। वह ज्ञाता-दृष्टा है जानना-देखना आत्मा का धर्म है, देह का नहीं। शरीर में जो भी शक्ति है, वह आत्मा के निमित्त से है क्योंकि आत्मा मूल में अनन्त-शक्तिमान है। निर्जीव शरीर में अपने आप में कोई चेतना-शक्ति नहीं होती। न तो वह स्वयं चल-फिर सकता है, न ही उसमें किसी वस्तु को उठाने, रखने, सोचने-समझने, स्मरण या अनुभव करने की शक्ति होती है, न ही उसमें छूने, चखने, सूंघने देखने या सुनने की शक्ति या ज्ञानशक्ति होती है। शरीर अनित्य है, विनाशी है, सड़न-गलन-स्वभाव वाला पुद्गल है, जबकि आत्मा नित्य है, अविनाशी है, यह न पानी से गलता है, न हवा से सूखता है। न ही इसे शस्त्र आदि काट सकते हैं, न ही इसे अग्नि जला सकती है। यह सड़ता या विध्वंस नहीं होता। शरीर मूर्त है, रूपी है इन्द्रियप्रत्यक्ष है जबकि आत्मा अमूर्त है, अरूपी है, इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं है। जड़ पदार्थ इन्द्रियगोचर हैं, आत्मा इन्द्रियगोचर नहीं है। हम शरीर को

---

१ परमानन्द पंचविंशति श्लो. ७

देख सकते हैं, आत्मा को नहीं। आत्मा का लक्षण जड़ में नहीं होता, न ही जड़ का लक्षण आत्मा में होता है। आत्मा के समक्ष जितने भी पदार्थ आते हैं उन सबका ज्ञान आत्मा को हो सकता है, जबकि देहादि जड़ के समक्ष हजारों वर्ष तक पदार्थ पड़े रहें, तो भी उसे ज्ञान नहीं होता क्योंकि जानना जड़ का स्वभाव नहीं है।

शरीर ही खाना, पीना, सोना, उठना, बोलना, छूना, सुनना आदि क्रियाएँ करता है, शुद्ध आत्मा अपने आप में ये क्रियाएँ नहीं करती। शरीर या शरीर से सम्बन्धित पदार्थ—मन, वाणी, इन्द्रियां, प्राण, परिवार, समाज, राष्ट्र तथा मकान, दूकान, धन-सम्पत्ति आदि कर्मजन्य हैं, पूर्वकृत कर्मों के अनुसार सभी प्राणियों को प्राप्त होते हैं। आत्मा कर्मजन्य द्रव्य नहीं है। ये जितने भी लौकिक रिश्ते-नाते या वस्तुओं के साथ स्वामित्व या अपनेपन के सम्बन्ध हैं, वे सब शरीर को लेकर हैं। आत्मा से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

आत्मा का सिर्फ अपने स्वभाव या निजगुणों के साथ अभिन्न सम्बन्ध है। अगर शरीरादि पदार्थ आत्मा के होते तो आत्मा के साथ ही सदा रहते, किन्तु हम देखते हैं, परलोकगमन के समय स्थूल शरीर तथा इन्द्रियाँ आदि, अथवा जिन-जिन सजीव-निर्जीव पदार्थों के साथ जीव ने काल्पनिक तादाम्य सम्बन्ध जोड़कर मैं और मेरेपन की छाप लगाई थी, वे सब यहीं पड़े रह जाते हैं। कोई भी परपदार्थ साथ में नहीं जाते। केवल तैजस्-कार्मण शरीर (पुण्य-पापरूप सूक्ष्मसंस्कार शरीर) साथ में जाते हैं। परन्तु वे आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। जब आत्मा कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाता है, तब वे भी उसके साथ नहीं जाते।

अतः आत्मा और शरीर दोनों पृथक्-पृथक् हैं; स्वभाव से भी, गुणों से भी, धर्म से भी। जब शरीर के साथ आत्मा का ऐक्य किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है, तब शरीर से सम्बन्धित पुत्र-मित्रादि के साथ आत्मा का ऐक्य कैसे हो सकता है? इसी तथ्य का समर्थन आचार्य अमितगति करते हैं—

"यस्यास्ति नैक्यं वपुषाऽपि सार्धं, तस्यास्ति किं पुत्र-कलत्र-मित्रैः।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः, कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये॥"[1]

---

१. सामायिकपाठ श्लो. २७

जिस (आत्मा) का शरीर के साथ भी ऐक्य-तादात्म्य नहीं है,उसका शरीर से सम्बन्धित पुत्र, मित्र एवं पत्नी आदि के साथ कैसे हो सकता है ? चमड़ी को शरीर पर से उधेड़ कर अलग की जाने पर उसमें रोमकूप ठहर ही कैसे सकते हैं ? आधार के बिना आधेय कैसे टिक सकता है ? किन्तु शरीर आत्मा के सबसे निकटवर्ती होने से देहाध्यास के कारण जीव अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

देहाध्यास क्या है, क्यों होता है ?

संसारी जीव को सबसे बड़ा अध्यास देह का ही है; दूसरे अध्यास तो फिर भी वह भूल सकता है, किन्तु स्वयं देह है, यह बात भूलता नहीं है। इसका कारण यह है कि आज तक इस जीव ने अनन्त जन्म ग्रहण किये है।

प्रत्येक जन्म में इसे शरीर तो मिला ही है। आँख, नाक, कान या जीभ मिले भी हैं, नहीं भी मिले। इन्द्रियाँ कभी दो, कभी तीन, चार या पाँच मिलीं, लेकिन ऐसा एक भी जन्म नहीं हुआ, जिसमें उसे शरीर के बिना रहना पड़ा हो। इस कारण जीव को अनादिकाल से देह के साथ सम्पर्क और उसे अपना अथवा स्वयं को देहरूप मानने का अभ्यास रहा है। अनन्तकाल से जीव देह के साथ जिन्दगी बिताता रहा है,जीता रहा है, एक क्षण भी देह को वह भूला नहीं। निद्रा में भी देह का स्मरण रहा है। जिस वस्तु को अपनी मानने का गहरा संस्कार रहता है, बार-बार जिसका रटन, स्मरण, सम्पर्क और परिचय होता है, वही होता है—अभ्यास। और अभ्यास की निरन्तरता, एक क्षण भी अविस्मृति या अविच्छिन्नता ही अध्यास बन जाती है। इसलिए देह पर अध्यास=ममत्व का बैठ जाना, देहाध्यास है।

अर्थात्—देह के प्रति आसक्ति, ममता-मूर्च्छा, मेरापन, देह ही मैं (आत्मा) हूँ, इस प्रकार का भ्रम देहाध्यास है। देहाध्यास क्यों होता है ? इस विषय में आत्मनिष्ठ श्रीमद् राजचन्द्रजी के उद्गार पढ़िए—

देह जीव (आत्मा) एकरूपे भासे छे अज्ञानवड़े।
क्रियानी प्रवृत्ति पण तेथी तेम थाय छे॥
जीवनी उत्पत्ति अने, रोग, शोक दुःख मृत्यु।
देहना स्वभाव जीव-पदमा जणाय छे॥

एहवो जे अनादि एकरूपनो मिथ्यात्वभाव ।
ज्ञानीना वचन वड़े दूर थई जाय छे ॥
भासे जड़-चेतन को प्रगट स्वभाव भिन्न ।
बन्ने द्रव्य निज-निज रूपे स्थित थाय छे ॥

वस्तुतः अज्ञान और मोह के कारण देह और आत्मा एकरूप प्रतिभासित होते हैं, इसे ही देहाध्यास कहते हैं। इसी देहाध्यास के कारण रोग, शोक, जन्म, जरा, मृत्यु, शारीरिक-मानसिक दुःख आदि सब देह के धर्म होते हुए भी आत्मा अपने मान लेता है। अनादिकाल से देह का परिचय होने से शरीर को ही मैं समझ लिया जाता है। परन्तु शरीर और आत्मा भिन्न हैं, ये दोनों भिन्न कैसे हैं ? इसे स्पष्ट करते हुए आत्मसिद्धि में कहा गया है—

"भास्यो देहाध्यासथी आत्मा देह-समान ।
पण ते बन्ने भिन्न छे, जेम असिने म्यान ॥"[1]

भावार्थ स्पष्ट है। किसी पुरुष के कमर में लटकती हुई तलवार म्यान में डाली हुई होने से म्यानरूप ही दिखाई देती है। वास्तव में तलवार और म्यान ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं। परन्तु अज्ञानवश तलवार म्यान में समाई हुई होने के कारण दोनों एक दिखाई देती हैं, बल्कि म्यान सोने की होने के कारण दोनों सोने की मालूम होती है। समयसार नाटक में कविवर बनारसीदासजी कहते हैं—

"खांडो कहिये कनक कौ, कनक-म्यान-संयोग ।
न्यारो निरखत म्यानसों, लोह कहे सब लोग ॥"[2]

सोने की म्यान के संयोग से तलवार को लोग सोने की कहने लगते हैं, परन्तु जब वे म्यान से तलवार को अलग करके देखते हैं, तो उसे सब लोहे की कहने लगते हैं। अतः तलवार स्वर्ण-म्यान के संयोग के कारण भले ही सोने की मालूम होती हो, लेकिन वह अपना स्वरूप छोड़कर म्यानरूप नहीं हो जाती। इसी तथ्य को भेदविज्ञान के सन्दर्भ में वीतराग प्रभु से प्रार्थना के रूप में प्रस्तुत करते हुए आचार्य अमितगति कहते हैं—

---

१ आत्मसिद्धि गा. ५०
२ समयसार नाटक (कविवर बनारसीदास)

"शरीरतः कर्त्तुमनन्तशक्तिं, विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम् ।
जिनेन्द्र ! कोषादिव खड्गयष्टिं, तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥"[1]

'हे वीतराग-परमात्मन् ! आपकी स्वभावसिद्ध कृपा से मेरी आत्मा में ऐसी शक्ति प्रगट हो कि मैं अपनी अनन्तशक्तिमान् तथा समस्त दोषों से रहित (वीतरागस्वरूप शुद्ध) आत्मा को उसी प्रकार पृथक् कर सकूँ, जिस प्रकार म्यान से तलवार अलग की जाती है ।' अतः देहभाव से मुक्त होने के लिए शरीर को तलवार के लिए म्यान की तरह आत्मा के रहने का द्रव्य-प्रदेश (स्थान) समझना चाहिए । तलवार समय पर ठीक ढंग से काम दे सके, इस प्रयोजन से, तलवार को सुरक्षित रखने के लिए होती है । म्यान युद्ध में जौहर नहीं दिखा सकती, जौहर तलवार ही दिखाती है । इसी प्रकार शरीर या शरीर से सम्बद्ध वस्तुएँ, कर्मों के साथ युद्ध में जौहर नहीं दिखा सकते, वह जौहर आत्मा ही दिखा सकती है, क्योंकि तन, मन, वाणी, इन्द्रिय, बुद्धि आदि में अपने-आप में कोई शक्ति नहीं है, जो कुछ भी शक्ति है, वह आत्मा की ही है ।

भेद-विज्ञान में शरीर को त्यागने या नष्ट करने की बात नहीं

अतः भेदविज्ञान में कहीं भी सशक्त-सक्षम शरीर को नष्ट करने या त्यागने की बात नहीं है, अपितु शरीरभाव में—देहाध्यास में ओतप्रोत आत्मा को भेदविज्ञान के चिन्तन से शरीर से पृथक्=भिन्न करने की—हृदय से दृढ़ निश्चयरूप भिन्न मानने की बात है । इसका कारण बताते हुए कहा गया है कि आत्मा स्वभाव से अनन्तशक्तिसम्पन्न और दोषरहित (शुद्ध) है, किन्तु देह के अत्यधिक सम्पर्क में रहने से, स्वयं को देहरूप मान-कर देहाध्यास (देहभाव) वश अपनी अनन्तशक्तिमत्ता और दोषरहितता को विस्मृत हो चुकी है । शरीर और शरीर से सम्बद्ध सजीव-निर्जीव पदार्थों की ममता-अहंता एवं आसक्ति में फंसकर आत्मा अपनी शक्ति, गुण और विशेषता को भूल गई है, इसे अपनी विशेषताओं और ज्ञानादि की शक्ति का भान कराने के लिए शरीरादि से इसकी भिन्नता-पृथक्ता करना आवश्यक है ।

शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान न हो तो क्या हानि ?

प्रश्न होता है—शरीर और आत्मा जब साथ-साथ रहते हैं, तब

---

१ सामायिक-पाठ श्लो. २

उन्हें साथ ही रहने दिया जाये, पृथक् न किया या समझा जाये, संक्षेप में, भेदविज्ञान न किया जाये तो क्या हानि है ?

इसके समाधान के रूप में कुछ बातें तो हम पहले कह आये हैं। सबसे बड़ी हानि तो भेदविज्ञान न करने से यह होगी कि तब व्यक्ति सर्व-प्रथम प्रत्यक्ष दृश्यमान शरीर को ही 'मैं' और सर्वस्व समझने लगेगा, जिसका नतीजा यह होगा कि आत्मा-परमात्मा की ओर उसकी दृष्टि जायेगी ही नहीं। फिर वह आत्मा को भूलकर अपने-आपको मरणधर्मा-विनश्वर समझकर पुण्य-पाप (शुभाशुभ कर्म) धर्म और अहिंसा-सत्यादि धर्म के अंगों को, तथा सुगति-दुर्गति, स्वर्ग-नरक आदि को मानने से इन्कार कर देगा, वह तो इस शरीर के अवसान होने के साथ ही सब कुछ समाप्त होने की—चार्वाकदर्शनमान्य बात को मानने लगेगा। इस कारण वह न तो आत्मा का विकास कर सकेगा, न ही आत्मा को राग-द्वेष-कषायादिजन्य भावकर्मों तथा तज्जनित द्रव्यकर्मों से मुक्त होने का पुरुषार्थ करके परमात्म-पद को प्राप्त कर पाएगा। वह अहर्निश इन्द्रिय सुखों में विषय-वासनाओं, कामनाओं आदि की पूर्ति में ही लगा रहेगा। अर्थ और कामपुरुषार्थ को ही मुख्यता देगा। जिस मोक्षपुरुषार्थ के लिए या धर्मपुरुषार्थ से बन्धनमुक्त होने के लिए मनुष्य जन्म मिला है, उसे जो इस जन्म में सार्थक नहीं करेगा, अनन्त जन्मों तक फिर उसे जन्म-मरणरूप संसार में परिभ्रमण करना पड़ेगा। कई व्यक्ति आत्मा-परमात्मा, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक आदि को तो मानते हैं, किन्तु आत्मा के विकास के लिए कुछ भी न सोचकर अहर्निश प्रत्यक्ष दृश्यमान शरीर को ही महत्त्व देने लगते हैं, शरीर को सर्वस्व मानते हैं। वे शरीर को पुष्ट करने, सुखी बनाने और शरीर की नाना इष्ट-अनिष्ट आवश्यकताओं और मन एवं इन्द्रियों की फरमाइशों को पूरी करने में ही सारा जीवन खपा देते हैं। बहुधा ऐसे व्यक्ति शरीर के लिए ही अपना जीवन न्यौछावर कर देते हैं। सुबह उठने से लेकर रात को सोने तक के कार्य-कलापों पर दृष्टिपात किया जाए तो प्रतीत होगा कि वे शरीर और शरीर से सम्बन्धित इन्द्रियों की गुलामी और नौकरी करने में ही सारा समय बर्बाद कर देते हैं। पेट की भूख-प्यास और इन्द्रियों की विभिन्न लालसाओं की पूर्ति करने में ही वे प्रायः अपना सारा जीवन ही झोंक देते हैं। यहाँ तक कि शरीर और शरीर से सम्बन्धित परिकरों, परिजनों तथा वैषयिकसुख-सामग्री के साधनों को जुटाने में, तथा पेट और प्रजनन की चिन्ता में अपनी जवानी और बुढ़ापा, यहाँ तक कि जिन्दगी की अन्तिम

घड़ी तक व्यस्त रहते हैं। उन्हें आत्मविकास की, आत्मचिन्तन की, एवं आत्मा से परमात्मा बनने की कुछ भी सुध नहीं रहती। केवल शरीर ही नहीं, वचन और मन भी, जो शरीर के ही अंग हैं, उसी प्रकार का भौतिक राग अलापते हैं। शरीर और मन दोनों में सिर्फ स्थूल और सूक्ष्म का ही अन्तर है। हैं दोनों एक ही थैली के चट्टे-बट्टे ! मन में जो भौतिक सुख-समृद्धि के विचार उठते हैं, शरीर और इससे जुड़ी हुई वाणी और इन्द्रियाँ, प्राण, और बुद्धि उन्हें क्रियान्वित करने में लग जाते हैं। आत्मा भी अज्ञानवश इन्हीं के साथ घुलमिल जाती है। इन्हीं को अपने मानने लगती है। मन की जो आदतें, माँगें या महत्वाकांक्षाएँ होती हैं, उन्हें पूरी करने के लिए शरीरसज्जा से लेकर अमीरी के खर्चीले ठाठबाठ की पूर्ति में ये सब लगे रहते हैं। बड़प्पन के अहंकार की धुन में मन में दूसरे के प्रति ईर्ष्या, द्वेष, वैर-विरोध, छल, कपट, मोह, मद, मत्सर आदि की लहरें उठती रहती हैं। कभी मन में विषय-सुखलिप्सा एवं कामवासना जागती है, तो इन्द्रियाँ मन के आदेशानुसार येन-केन-प्रकार उसकी पूर्ति में जुट जाती हैं। मन चौबीसों घन्टे प्रायः इसी उधेड़बुन में लगा रहता है कि किसी भी तरह से शरीर विषय-सुख का स्वाद ले ले, या कामवासना का सुख प्राप्त कर ले। परन्तु इन्द्रियसुख का क्षणिक अनुभव बहुत ही मँहगा पड़ता है; क्योंकि वह क्षणिक सुख अपने साथ अनेक दुःखों को लेकर आता है। दूसरे शब्दों में कहें तो इन्द्रियसुख पाने की कीमत कई गुनी दुःखप्राप्ति के रूप में चुकानी पड़ती है। ऐसे शरीरासक्त मानव की जिन्दगी का अधिकांश समय वासना, कामना, लालसा, तृष्णा और मोह-ममता की इन गहरी खाइयों को पाटने में ही लगा रहता है। शरीर को 'मैं' समझाने वाले व्यक्ति की जिन्दगी की गाड़ी शरीर ही अपने अवयवों को लेकर ढोता रहता है। शरीर की आसक्ति से उपार्जित धन आदि अधिकांश अशुभकर्मों की कमाई शरीर ही अपने और अपने से सम्बन्धित परिकर के लिए खर्च करा डालता है। फलतः आगे इससे भी बदतर दुर्गतिप्रापक शरीर और शरीर से सम्बन्धित परिकर मिलते हैं।

शरीर से सम्बन्धित क्षेत्र भी काफी विस्तृत है। शरीरासक्त, शरीर-मोही, देहभाव से ग्रस्त, देहाध्यास-परायण बहिरात्मा शरीर से सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु पर 'मैं' और मेरेपन की छाप लगाता जाता है। फिर शरीरा-सक्त मानव अपने माने हुए तथा शरीर यात्रा की परिधि में आने वाले धर्म-सम्प्रदाय, जाति, परिवार, प्रान्त, नगर, भाषा या राष्ट्र आदि शरीर से

सम्बन्धित परिकर के लिए अहंकार एवं अज्ञानवश लड़ता-झगड़ता है, मरने मारने को तैयार हो जाता है। न्यायसंगत बात के लिए नहीं, किन्तु अन्याय-अनीतियुक्त बात के लिए, अपने अहं के पोषण के लिए, अपनी झूठी शान-शौकत, एवं मिथ्या प्रतिष्ठा आदि के लिए तथा अपनी मूंछ ऊँची रखने के लिए मोह-ममत्ववश, हिंसा, असत्य, चोरी, ठगी, परिग्रह, अब्रह्मचर्य, अनाचार और भ्रष्टाचार करते हुए भी नहीं हिचकिचाता। धन, सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, राजसत्ता, वस्त्राभूषण, मकान-दूकान आदि शरीर से सम्बन्धित समस्त भौतिक वस्तुओं को पाने के लिए शरीरवादी मानव क्रोध, मान, माया, लोभ, स्वार्थ, राग, द्वेष, मोह, वासना आदि विकारों के वश होकर अहर्निश भाग दौड़ करता रहता है। इस प्रकार शरीराधीन जीव अपने और अपनों से सम्बन्धित परपदार्थों की ही सेवा-शुश्रूषा करने में, नाना चिन्ता, विषाद, संक्लेश, दुःख, संताप, शोक, विलाप, पश्चात्ताप आदि में ही पाप-दोषों की गठरी बांधे जिन्दगी बिताता है।

शरीर और आत्मा को अभिन्न समझने वाले व्यक्तियों के जीवन का समग्र चिन्तन और कर्तृत्व, क्षमता और शक्ति, बौद्धिक निर्णय और मानसिक अभ्यास तन-मन-वचन की आकांक्षाएँ पूरी करने में लगे रहते हैं। उन्हें इन्द्रियगत विषय-वासनाओं और मनोगत लालसाओं की पूर्ति करने के अतिरिक्त कुछ सूझता ही नहीं। वस्तुतः ऐसे लोगों की जानकारी शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं तक ही सीमित रहती है। शरीर मोटा हो गया तो वह कहता है—मैं मोटा हो गया, दुबला होने पर दुबला। शरीर की विविध अवस्थाओं को वह (बहिर्आत्मा) अपनी समझता है और कहता है—मैं बालक, युवक या वृद्ध हूँ। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि शरीर सम्बद्ध तरंगों को अपनी तरंग मानकर आत्मा उनके तथा मन-वचन-काय आदि उनके कर्ता के साथ एकाकार हो जाता है। जब शरीर के साथ आत्मा तादात्म्य सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब इस शरीर की कोई निन्दा-प्रशंसा या सम्मान-अपमान करता है या शरीर या शरीर-सम्बद्ध पदार्थों की कोई क्षति करता है, उनमें इष्ट का वियोग होता है या अनिष्ट का संयोग होता है, तो शरीरवादी, देहाध्यासग्रस्त व्यक्ति हर्ष-शोक मनाता है या प्रसन्न-खिन्न होता है। इस प्रकार जो शरीरभाव को मजबूत करते जाने वाले व्यक्ति को इन सब पर रागद्वेष-कषायादि के कारण भावकर्मों का और फिर द्रव्यकर्मों का बन्ध होता है। जिसके फल-स्वरूप उसे नाना गतियों और योनियों में बार-बार भटकना पड़ता है।

उनमें नाना दुःख, कष्ट और यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। भेदविज्ञान न होने की स्थिति में शरीर, मन, वचन तथा इन्द्रियाँ, बुद्धि आदि सब आत्मविकास में बाधक बन जाते हैं। देहाध्यास न छूटने के कारण मनुष्य जाति आदि का मद करता है, अहंकार-ममकार से लिप्त होता है। देहभाव के कारण ही मनुष्य सात भयों से भयभीत होता है, वह निर्भयता की स्थिति प्राप्त नहीं कर पाता। वह शरीर के ही प्रपंचों तथा शरीर सम्बद्ध मन इन्द्रिय आदि की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में जिन्दगी भर व्यस्त रहने के कारण आत्मा के स्वभाव, निजी गुणों और शक्तियों की - ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना-साधना नहीं कर पाता। आत्मविकास का अमूल्य अवसर देहाध्यासग्रस्त मानव भोग-विलास तथा अर्थ-काम के उपार्जन आदि में लगा देता है। शरीर की सेवा-सुश्रूषा के कारण आत्मविकास खटाई में पड़ जाता है। भेदविज्ञान का दीपक जले बिना शरीर के प्रति मोहादि विकारों का अंधेरा दूर नहीं हो सकता। भेदविज्ञान के अभाव में बहिरात्मा बना हुआ शरीरदृष्टि मानव शरीर को ही प्रधानता देगा, उसी को पुष्ट बनाने में तथा भोग-साधना करने में ही सारा जीवन लगा देगा, आत्मा उसके लिए गौण व नगण्य हो जाएगी। भेदविज्ञान का रहस्यार्थ जानने वाला आत्मार्थी ही वास्तव में शास्त्रज्ञ है, अन्यथा सही माने में शास्त्रज्ञ या स्वाध्यायी नहीं है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है—

यो नाऽपि जानाति आत्मानं ज्ञानस्वरूपं शरीरतः भिन्नम्।
स न जानाति शास्त्रं आगमपाठं कुर्वन्नपि ॥४६४॥

जो स्वाध्यायी शरीर से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा को नहीं जानता, वह भले ही अनेक शास्त्रों का पाठ करता हो, परन्तु वह सच्चा शास्त्रज्ञ या आगमपाठी स्वाध्यायी नहीं है।

शरीर को ही आत्मा समझने के दुष्परिणाम

शरीर को ही आत्मा समझने का क्या दुष्परिणाम आता है? इसके लिए वैदिक पुराण का एक ज्वलन्त उदाहरण लीजिए—

एक बार प्रजापति ने घोषणा की—'तुम अजर-अमर अविनाशी आत्मा हो। आत्मा को पाने, समझने और उसका तत्त्व जानने पर ही तुम सुखी हो सकोगे। समस्त समस्याओं का हल करने वाला एकमात्र आत्मदेव है, उससे विमुख मत होना।' इस घोषणा को सुनकर देव और असुर दोनों

आत्मा को जानने के लिए प्रजापति के पास आए। दोनों के यमनियम-पालन की अवधि पूर्ण होने पर प्रजापति ने कहा—दर्पण में या जल में अपनी छवि देखना, छवि देखने वाले नेत्रों को देखना। आँखों की पुतलियों के बिन्दु के भीतर प्रविष्ट होकर यह पहचानना कि भीतर कौन, कैसे और क्यों देखता है ? यह जो देखता है, वही आत्मा है, जो शरीरादि में सर्वत्र व्यापक है।' दोनों आत्मा को जानने की साधना करने लगे। असुरों के प्रतिनिधि विरोचन ने अपना चेहरा, वेषभूषा केशविन्यासादि एवं साज-सज्जा कई बार बदल-बदलकर दर्पण में देखा, उसे सुन्दर सुडौल एवं वस्त्राभूषणसज्जित देहयष्टि ही नजर आई। अतः उसने मन में निश्चित कर लिया कि यह शरीर ही आत्मा है। इसे ही सजाना-संवारना, पुष्ट करना तथा भोगोपभोग के साधनों से सन्तुष्ट करना ही सुख का राजमार्ग है। इसी मान्यता को लेकर वह अपने असुरदल के पास पहुँच गया। दल के सभी सदस्यों से उसने कहा—'यह शरीर ही आत्मा है। इसे खिलाओ-पिलाओ, पुष्ट करो, वस्त्राभूषण आदि से इसे सजाओ, मौज उड़ाओ, सुखोपभोग करो, इसी की आराधना करो।'

तभी से असुरगण शरीर को ही आत्मा समझकर इसे पुष्ट करने और सुखोपभोग करने लगे; शरीर और शरीर से सम्बन्धित परिवार एवं सुख-साधन आदि सजीव-निर्जीव वस्तुओं की चिन्ता करने लगे। असुरों का जीवन तभी से विषयसुखलिप्सा, स्वार्थसिद्धि और अन्याय-अत्याचारादि में प्रवृत्त है।

किन्तु इन्द्र ने दर्पण में चेहरा देखा,नेत्रों की पुतलियों में उसे कुछ न दिखाई दिया। अतः इन्द्र को दूसरी और तीसरी बार भी प्रजापति के द्वारा किए हुए समाधान से सन्तोष न हुआ। चौथी बार जब श्रद्धा-भक्तिपूर्वक इन्द्र उपस्थित हुआ तो प्रजापति ने कहा—'इन्द्र ! यह शरीर आत्मा नहीं है। यह तो आत्मा का अस्थायी निवास-स्थान है। मृत्यु के बाद शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। आत्मा की अभिव्यक्ति के लिए शरीर तो दर्पण-मात्र है। शरीर से सदा के लिए मुक्त होने पर आत्मा ज्यों का त्यों रहता है। वह परमज्योति में विलीन हो जाता है। वहाँ उसका नाम, रूप, आकार आदि सब खो बैठता है। साधक के लिए अन्तिम सत्य और साध्य आत्मा ही है।' इन्द्र आत्मसम्बन्धी ज्ञान पाकर सन्तुष्ट हुआ। देवों को भी उसने यही उपदेश दिया। तब से इन्द्र और देव असुरों की भाँति शरीरा-सक्त नहीं होते। कहते हैं, इसी कारण वे 'अमर' कहलाए। गीता

निम्नोक्त श्लोक के अनुसार भेदविज्ञानी आत्मा शरीरादि में आसक्त—मोहित नहीं होती—

'देहिनोऽस्मिन् यथा देहे, कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तर-प्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।।'[1]

जिस प्रकार इस देही (आत्मा) के (निवासस्थानरूप) देह में कौमार्य यौवन और बुढ़ापा आता है, उसी प्रकार दूसरे देह की प्राप्ति भी होती है, अतः धीर [भेदविज्ञानी] [इस देह के प्रति] मोह नहीं करता ।

समयसार आत्मख्याति व्याख्या में शरीरादि परद्रव्य और आत्मा को पृथक्-पृथक् बताते हुए कहा गया है कि परद्रव्य और आत्मद्रव्य का कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर इन दोनों में कर्ता-कर्म-सम्बन्ध नहीं है, तब आत्मा परद्रव्य का कर्ता कैसे हो सकता है ?[2] शरीर समस्त परद्रव्यों का प्रतीक है । इसलिए कहा जाता है कि भेदविज्ञान के लिए समस्त परद्रव्यों [विभावों या परभावों] से आत्मा का जो तादात्म्य—[मोहजनित] सम्बन्ध जोड़ रखा है, उस अध्यास, भ्रान्ति या माया [अविद्या] को तोड़े । देहभाव को छोड़े । देहाध्यास छूटने पर आत्मा कर्मादि परभाव का कर्ता, भोक्ता या कर्म नहीं होता ।

भेदविज्ञान की विविध अभ्यास-प्रक्रियाएँ

जहाँ एक बार भेदविज्ञान हो जाता है, व्यक्ति के जीवन में अद्भुत प्रकाश हो जाता है । वह शरीर और शरीर से सम्बद्ध वस्तुओं से होने वाले कार्यकलापों को तटस्थदृष्टि से ज्ञाता-द्रष्टा बनकर देखता है, इन्द्रिय-विषयों की प्रियता-अप्रियता या इष्ट-अनिष्ट अथवा मनोज्ञता-अमनोज्ञता

---

१ भगवद्गीता अ. २ श्लो. १३

२ [क] नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मद्रव्ययोः ।
कर्म-कर्तृत्व-सम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः ।।
—समयसार आत्मख्याति टीका

[ख] आत्मसिद्धि में भी यही कहा है—
कर्ता-भोक्ता कर्मनो विभाववर्ते ज्यां य ।
वृत्ति वहे निजभावमां थयो अकर्तात्यां य ।।१२१।।
छूटे देहाध्यास तो, नहि कर्ता तुं कर्म ।
नहि भोक्ता तुं तेहनो एज धर्मनो मर्म ।।११५।।

का निर्णय करने हेतु मन को नहीं जोड़ता। जब भी किसी महिला को देख कर कामुकता का, सुन्दर दृश्य को देखकर मोह का, मनोज्ञ कर्णप्रिय संगीत को सुनकर आसक्ति का, किसी स्वादिष्ट वस्तु को खाने के लोभ का, भीनी भीनी सुगन्ध पाकर सूंघ लेने की लिप्सा का, अथवा किसी भी कोमल वस्तु का स्पर्श करते ही उसे बार-बार स्पर्श करने या पाने की तृष्णा, वासना, आकांक्षा आदि का अप्रशस्त राग, भाव आए कि तुरन्त सम्भल जाए और सोचे कि क्या यह आत्मा का स्वभाव या गुण है ? यदि नहीं है तो फिर शरीर केइस स्वभाव या गुण में मुझे क्यों फंसना चाहिए ? ये गुण या स्वभाव मेरी आत्मा के नहीं हैं ? मुझे इनसे दूर ही रहना चाहिए। 'ये मेरे नहीं हैं, मैं इनका नहीं'—इस प्रकार विश्लेषण भेदविज्ञान की प्रक्रिया है।

भेदविज्ञान की एक प्रक्रिया यह भी है—देहभाव आए तब साधक आत्मभावों में तल्लीन हो जाए अथवा आत्मगुणों के चिन्तन में तन्मय हो जाए। भूख या प्यास लगने पर देहभाव के बदले आत्मचिन्तन में मन और बुद्धि को लगा दे, अथवा परमात्मा या शुद्ध आत्मा के प्रति अनन्यभक्ति में मन को संलग्न कर दे तो निःसन्देह मनुष्य देहभाव से ऊपर उठ सकता है।

श्रमण भगवान् महावीर ने इतनी लम्बी-लम्बी तपस्याएँ कीं। उन्हें दीर्घतपस्या के दिनों में भूख-प्यास ने क्यों नहीं सताया ? उनका भी शरीर तो हमारे समान ही औदारिक [स्थूल] तथा, तैजस् कार्मण शरीर से युक्त था। इसका कारण आचार्यों ने बताया कि वे देहभाव से ऊपर उठ कर आत्मभावों या आत्मगुणों में इतने तल्लीन हो जाते थे कि उन्हें शरीर की भूख-प्यास या अन्य आवश्यकताओं का संवेदन ही नहीं होता था, और न ही अनार्य देश में उनके शरीर पर किये हुए अपशब्दों, प्रहारों या उपसर्गों का उन पर प्रभाव पड़ा; क्योंकि वे देहभाव से ऊपर उठ गए थे। आज की भाषा में कहें तो वे आत्ममय [Soul proof] हो चुके थे।

काशीनरेश के शरीर में हुए भयंकर रोग का ऑपरेशन डॉक्टरों को करना था। डॉक्टर जब उन्हें बेहोशी के लिए क्लोरोफार्म सुंघाने को उद्यत हुए तो भगवद्गीताप्रेमी काशीनरेश ने उन्हें कहा—"मुझे ऑपरेशन के समय बेहोशी की दवा सुंघाने की जरूरत नहीं, मैं स्वयं अपनी गीता-माता के चिन्तन में तल्लीन हो जाऊँगा।" उनके कथन पर विश्वास करके डॉक्टरों ने दवा सुंघाये बिना ही ऑपरेशन शुरू किया, तत्काल

काशीनरेश गीता के विचारों में इतने खो गए कि उन्हें पता ही न लगा कि शरीर में कहाँ क्या हो रहा है ? पीड़ा हो रही है या नहीं ?

अतः जिस प्रकार एक पक्के खिलाड़ी को खेल में अचानक चोट लग जाए और असह्य दर्द हो जाए, उस समय वह चोट या दर्द की परवाह किये बिना खेल की तथा खेल में विजय पाने की धुन में मस्त हो जाता है, इसी प्रकार भेदविज्ञान का खिलाड़ी भी शरीर पर कष्ट, संकट या उपसर्ग आने पर भी अपने मन को देहभाव से हटाकर आत्मा-परमात्मा में तल्लीन कर लेता है तो उसके मनोभावों का तार शरीर से कट-सा जाता है, यानी शरीर-सम्बन्ध टूट-सा जाता है, शरीर से दूरी बढ़ जाती है। इसी प्रकार शरीर या शरीर से सम्बन्धित पदार्थों के सम्बन्ध में विचार करना छोड़-कर अति तीव्रता से आत्मा से सम्बन्धित विचारों में तन्मय हो जाए तो शरीर से आत्मा का सम्बन्ध टूट-सा जाता है, और शरीर की पीड़ा, कष्ट, चिन्ता या इन्द्रियों या मन की वासनाओं का उसे बिलकुल पता नहीं चलता। भेदविज्ञान की एक व्यावहारिक प्रक्रिया यह है—जिस प्रकार पानी को तेजाब वाला बना कर उसमें से विद्युत पास कराने से एकरूप [पानी हो गए हाइड्रोजन और ऑक्सीजन अणुओं को वैज्ञानिक अलग-अलग कर सकते हैं। उसी प्रकार आत्मा और कर्म को पृथक्-पृथक् करने के लिए व्रत, नियम, संवर, स्वाध्याय आदि तेजाब हैं, ध्यानरूप विद्युत् ये दोनों व्यावहारिक दृष्टि से भेदविज्ञान के उपाय हैं।

भेदविज्ञान के लिए एक प्राचीन प्रक्रिया यह है कि साधक देहभाव या देहाध्यास आने के अवसर पर चिन्तन करे कि मैं न देह हूँ, न मन या बुद्धि हूँ, ये आँख, कान, नाक, जीभ, हाथ-पैर आदि भी मैं नहीं हूँ। न ही मैं अहंकार, काम, क्रोधादि हूँ, न ही ये मेरे हैं। मैं तो 'सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा हूँ।[1] देह, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, काम, क्रोध, अहंकार आदि सब परभाव हैं, ये आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। आत्मा से ये भिन्न हैं, परन्तु आत्मा इन्हें अभिन्न मान कर इन्हीं के कारण अनादिकाल से नाना शरीरों, गतियों और योनियों में जन्ममरण करता और कष्ट पाता आ रहा है। अतः आत्मा देहादिरूप नहीं है, तब इनका अथवा इनसे होने वाली क्रिया का (निश्चय दृष्टि से) कर्ता भी नहीं है। इस प्रकार शरीर की विभिन्न

---

१. देखिये शंकराचार्य (आद्य) की उक्ति—

"चिदानन्दरूपः शिवोऽहं, शिवोऽहम्।"

अवस्थाओं में होने वाले रोग, शोक, पीड़ा, संताप, चिन्ता, आदि दुःखों के समय आत्मा को शरीर से पृथक् समझने वाले भेदविज्ञानी साधक को कष्ट नहीं होगा।

भेदविज्ञान के अभाव में व्यक्ति बहिरात्मा बनकर शरीर को पौष्टिक दवाइयों एवं खाद्यपदार्थों से तथा व्यायाम आदि से शरीर को पुष्ट एवं सशक्त बनाना चाहता है, किन्तु मरणधर्मी शरीर की बार-बार चिन्ता करने से वह आत्मशक्ति न बढ़ा पाने के कारण शारीरिक शक्ति भी नहीं बढ़ा पाता। फलतः शरीरमोह के कारण परीषहों, उपसर्गों, आफतों संकटों और विपत्तियों के झंझावात आने पर उसके पैर लड़खड़ाने लगेंगे। बचपन से लेकर बुढ़ापे तक शरीर को जीर्ण-शीर्ण, ह्रासशील एवं उत्तरोत्तर अशक्त देखने का आदी व्यक्ति जरा-सा संकट या कष्ट आते ही घबराने लगेगा, स्वीकृत धर्मपथ से डगमगा जाएगा। जबकि भेदविज्ञानी आत्मा की अनन्त शक्तियों को, अनन्तज्ञानादि गुणों को हृदय से जानने-देखने तथा दृढ़ निश्चय करने का अभ्यासी होने के कारण आत्मशक्ति प्राप्ति होने से बड़ी से बड़ी विपत्ति, उपसर्ग या संकटापन्न स्थिति में भी नहीं घबराएगा, समभाव से सह लेगा। मरणान्त कष्ट आने पर भी समभाव से सहेगा।

क्योंकि उसे आत्मा की अजर-अमरता एवं अविनाशिता पर दृढ़ विश्वास है। उसका भेद-विज्ञानमूलक प्रेरणासूत्र होता है—

'देह भले मरे, मैं नहीं मरता, अजरामर पद मेरा।'

भेदविज्ञान की प्रेरणा

अन्तर में भेदविज्ञान जगाने के लिए समयसार कलश में एक श्लोक अतीव प्रेरणादायक है—

अयि ! कथमपि मृत्वा तत्त्व-कौतूहली सन्।
अनुभव भयमूर्तेः, पार्श्ववर्ती मुहूर्त्तम्॥
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन।
त्यजसि झटिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥[1]

इसका भावार्थ यह है कि हे भाई ! तू किसी भी प्रकार से मरकर या मारणान्तिक कष्ट भी सहकर भेदविज्ञान का तत्त्व समझने के लिए कौतूहली हो जा, अर्थात्—उत्सुक और तीव्र जिज्ञासु बन जा। आशय यह

---

१ समयसार कलश २३।

है कि जगत् की परवाह न कर। दुनिया एक बार तो कदाचित् तुझे पागल कहे या सनकी कहे। संसार की ओर से अनेक प्रकार की प्रतिकूलताएँ आयें, तो भी उसे सहन करके अथवा उसे नजरअंदाज करके भगवान् आत्मा के स्वरूप को जानने के लिए एक बार तीव्र उत्सुक तो हो जा। अगर तू दुनिया की अनुकूलता या प्रतिकूलता देखकर अपने लक्ष्य से विचलित हो जायेगा, या वहीं ठिठक-अटक जायेगा तो तू चैतन्य भगवान् को तत्त्वतः नहीं देख सकेगा। अतः दुनिया के लक्ष्य से विरत होकर द्रव्य या भाव से अकेला होकर भी, महान् मारणान्तिक कष्ट, परीषह एवं उपसर्ग (कष्ट) सहकर भी शुद्ध आत्मतत्त्व को पहचानने के लिए उत्सुक (कौतूहली) हो जा।

तू अब तक आत्मा और शरीर को एक मानकर देहभाव के कारण चौरासी के चक्कर काटता रहा। अब मनुष्यजन्म मिला है तो देह और आत्मा का भलीभाँति भेदविज्ञान करके, संसार-सागर से पार हो जा। इसके लिए चाहे जितने परीषह और उपसर्ग आयें, यहाँ तक कि मरणान्त कष्ट भी आयें तो भी शरीरादि मूर्तद्रव्यों—परभावों या पुण्य-पापादि राग-द्वेषरूप विकारभावों को दो घड़ी के लिए पड़ौसी होकर अपनी आत्मा से पृथक् (भिन्न) देखेगा तो शरीरादि मूर्त्त पुद्गल द्रव्यों के साथ एकत्व के मोह को झटपट छोड़ देगा। साथ ही शरीरादि तथा पुण्य-पापादि शुभाशुभ भाव मेरे से पृथक् हैं, और मैं भी उनसे भिन्न हूँ, केवल पड़ौसी हूँ। ऐसा पड़ौसी बनकर शुद्ध आत्मा का अनुभव कर। जैसे—पड़ौसी निकटवर्ती होते हुए भी अपने से भिन्न होता है, व्यक्ति उसे पड़ौसी के रूप में जानता-देखता है, उसी प्रकार तन, मन, वचन, इन्द्रियाँ, बुद्धि आदि पदार्थ पड़ौसी हैं आत्मा के निकट हैं, फिर भी आत्मा इनसे पृथक् हैं, केवल ज्ञाता-द्रष्टा है। आत्मतत्त्व को जानकर उसमें जिसकी श्रद्धा, ज्ञान और लीनता हो जाती है, वह परद्रव्यों को पड़ौसी मानता है, वह अन्तर्मुहूर्त के लिए शरीरादि से अलग होकर चैतन्य मूर्ति आत्मा को देखता है। भेदविज्ञान की यह एक प्रक्रिया है।

प्रियजन की मृत्यु पर भी आत्मभाव की गहराई में

भेदविज्ञानी अपने प्रियजन की मृत्यु के समय भी शोकग्रस्त न होकर आत्मा और शरीर के स्वभावभेद का चिन्तन करता है, और आत्मभावों में अधिकाधिक गहराई से डूब जाता है।

श्रीमद्‌जी को भेदविज्ञान की झाँकी

आत्मसिद्धि शास्त्र के रचयिता श्रीमद् राजचन्द्रजी उस समय सात वर्ष के नन्हें बालक थे। उनके ववाणिया गाँव में अमीचन्द भाई नामक एक सद्‌गृहस्थ की मृत्यु हो गई। बालक रायचन्द अपने दादाजी पंचाणभाई के पास गये और पूछने लगे—"दादाजी ! क्या अमीचन्दभाई मर गये ?" "हाँ, बेटा ! वे मर गये।" दादा ने कहा। 'मर गये का अर्थ क्या ?' बालक रायचन्द ने पूछा। दादाजी ने इस अबोध बालक को सरल भाषा में समझाने के लिए कहा—"बेटा ! अब वे किसी से बोलेंगे,चालेंगे नहीं, न ही खायेंगे-पीयेंगे, कुछ भी नहीं करेंगे।"

कुतूहलवश बालक रायचन्द ने पूछा—"वे कुछ क्यों नहीं करेंगे ? शरीर तो ऐसा का ऐसा है ? फिर क्या बात है ?"

"बेटा ! जो मर जाते हैं, वे कुछ भी नहीं किया करते।"

इस उत्तर से रायचन्दभाई को सन्तोषजनक समाधान न हुआ। वे इस पर ऊहापोह करते-करते मृत व्यक्ति के घर पहुँच गये। वहाँ देखा कि कई लोग अमीचन्दभाई को अर्थी पर लिटाकर जोर से कसकर बाँध रहे हैं। यह देखकर उनके हृदय में करुणा जागी। सोचने लगे—अरे रे ! ये क्यों इन्हें पीड़ा पहुँचा रहे हैं ? देखते ही देखते लोग अर्थी उठाकर चलने लगे। जिज्ञासावश रायचन्दजी मना करने पर भी उनके पीछे-पीछे चलने लगे। श्मशान में पहुँचकर वे एक पेड़ पर चढ़कर कुतूहलवश देखने लगे। लोगों ने अर्थी चिता पर रखी, अंगूठे में आग लगाई। शव धांय-धांय चलने लगा।

यह देख रायचन्दभाई के विचारों ने पलटा खाया। ये लोग जिस देह को जला रहे हैं, उस देह में पहले क्या था, जिसके कारण सारी क्रियाएँ हो रही थीं, और अब वह तत्त्व कहाँ गया, जिसके कारण एक भी क्रिया इसमें नहीं हो रही है ? चिन्तन में गहरे उतरने पर उन्हें समझ में आया कि पहले शरीर में एक अद्‌भुत शक्ति थी, आत्मा की, जिसके कारण सब क्रियाएँ होती थीं, अब वह शक्ति चली गई, इस कारण कोई भी क्रिया इस शरीर में नहीं होती। शरीर और वह चैतन्यतत्त्व (आत्मा) एक होता तो दोनों साथ ही रहते, किन्तु दोनों भिन्न-भिन्न स्वभाव के हैं। इसीलिए आत्मा के शरीर से अलग होते ही शरीर निश्चेतन हो गया, उसे जलना पड़ा। अतः शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार के भेदविज्ञान की झाँकी बाल्यावस्था में रायचन्दभाई को हो गई।

दृढ़ भेदविज्ञानी को भयंकर दुःख भी विचलित नहीं कर सकते

जो भेदविज्ञान में दृढ़ हो जाता है, उस पर तीनों काल और तीनों लोक की प्रतिकूलता के पहाड़ टूट पड़ें, फिर भी केवल ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहने की अद्भुत शक्ति उसमें आ जाती है। शरीरादि से आत्मा को दृढ़-निश्चयपूर्वक जिसने भिन्न जान लिया है, परीषहों के पर्वत उसे विचलित करने में समर्थ नहीं होते। आशय यह है कि भेदविज्ञानी अपने चैतन्य-स्वभाव-रमणता से जरा भी नहीं डिगता।

कल्पना करिये, अत्यन्त सुकुमार शरीर वाले राजकुमार को कोई जीते-जी जमशेदपुर की लोहा गलाने वाली आग की भट्ठी में झोंक दे, उसे जो दुःख होता है, उससे भी अनन्तगुना दुःख पहली नरकभूमि में है। पहली से दूसरी, तीसरी यावत् सातवीं नरकभूमि में एक-एक-से बढ़कर उत्तरोत्तर अनन्तगुना दुःख है। ऐसे अनन्तगुने दुःख से संतप्त, महाभयंकर पापकर्म करके वहाँ गया हुआ तथा तीव्रवेदना भोगता हुआ नारक भी सम्यग्दृष्टि प्राप्त करके भेदविज्ञान के बल से सातवीं नरकभूमि की तीव्रपीड़ा को समभाव से सहन कर सकता है। सातवीं नरकभूमि की महातीव्र वेदना भी उस पर कोई असर नहीं कर सकती, क्योंकि उसे यह निश्चित भान हो जाता है कि मेरे ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा पर कोई भी परपदार्थ असर नहीं कर सकता। जब ऐसी अनन्त वेदना में पड़ा हुआ सम्यग्दृष्टि नारकीय जीव भी भेदविज्ञान के बल से आत्म-भाव में मग्न और मस्त रहकर समभाव से उस घोरवेदना को सह सकता है, तब मनुष्यजन्म को प्राप्त मनुष्य, जिसे सत्समागम का, तथा सुशास्त्र श्रवण करने का सु-अवसर मिला है, वह यदि भेदविज्ञानी बन जाए तो इस लोक के नगण्य दुखों और परीषहों-उपसर्गों को समभाव से अनायास ही सहन कर सकता है और संसार दुःखों से परिमुक्त, सिद्धबुद्ध परमात्मा बन सकता है। भेदविज्ञान ही वस्तुतः आत्म ज्ञान है। जो भेदविज्ञानी होता है, उसकी देह में आत्मबुद्धि नहीं होती, मन, प्राण और इन्द्रिय को आत्मा मानने की अज्ञानता वह नहीं करता। इस अज्ञान को मिटाने हेतु वह अनेक प्रकार से भेदविज्ञान को सुदृढ़ कर लेता है। भेदविज्ञान के कुछ प्रकार हैं—(१) शरीर-आत्मा भेद विज्ञान, (२) शरीर से सम्बन्धित परभाव और स्वभाव का भेदविज्ञान, (३) कषाय, रागादि विभाव और ज्ञानादि आत्म-स्वभाव का भेदविज्ञान, (४) क्षणिक स्वभाव पर्याय और त्रैकालिक स्वभावगुण का भेदविज्ञान, (५) जड़-चेतन् भेदविज्ञान, (६) ज्ञानादि आत्मगुण और गुणी आत्मद्रव्य का भेद-

विज्ञान। ये और इस प्रकार के अन्य भेदविज्ञानों का दृढ़ निश्चय करके सम्यग्दृष्टि आत्मभावों में स्थिर परमात्मभाव को प्राप्त कर लेता है।

भेदविज्ञान की साधना में दृढ़ता के लिए

श्रीमद् राजचन्द्रजी अपना अनुभव आत्मसिद्धिशास्त्र में लिखते हैं—

भास्यो देहाध्यास थी, आत्मा देह-समान।
पण ते बन्ने भिन्न छे, प्रगट लक्षणे भान ॥[1]

शरीर और आत्मा में स्वभावभेद होने के कारण भिन्नता होना स्वाभाविक है। आत्मा का स्वभाव है—अन्दर से—आत्मभावों से जोड़ना। जब आत्मभाव का जोर होगा तो आत्मा आन्तरिक भावों (स्वभावों) से जोड़ेगी; जबकि शरीर और उससे सम्बद्ध मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि का स्वभाव बाहर से जोड़ने का है, क्योंकि ये सब बाहर से आए हैं। शरीर आदि पूर्वकृत-कर्मों के कारण, पंचभूतों से, प्रकृति से तथा माता-पिता के संयोग से बना है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि ये बाहर की ओर खींचें, धकेले या प्रभावित करें। किसी मोहक, मनोज्ञ, अभीष्ट वस्तु के प्रति आकर्षण, सुखसाधन और धन आदि पुद्गलों की ओर खिचाव, मोहोद्रेक आदि सब पौद्गलिक हैं, आत्मबाह्य हैं, शरीर से सम्बन्धित है।

भेदविज्ञान की साधना तीव्र होने पर

भेदविज्ञान की साधना तीव्र होने पर साधक यह अनुभव करता जाएगा कि मैं देह नहीं हूँ। और तब शरीर से सम्बद्ध धन, धाम, पुत्र, स्त्री, मकान आदि परपदार्थों के प्रति आकर्षण बिलकुल कम हो जाएगा। इन पदार्थों का ह्रास या विकास, उन्नति या अवनति में उसका मन जरा भी विचलित नहीं होगा। कोई भी आकर्षक, मोहक या रमणीक वस्तु या व्यक्ति पास से निकलेगा, या पास में स्थित होगा, तो भी उसके प्रति उसका खिचाव या लगाव न होकर, उससे विरक्ति या उदासीनता होगी। आत्मभावलीन साधक ज्ञाता-द्रष्टा या साक्षी बनकर तटस्थ खड़ा रहेगा। इस प्रकार भेदविज्ञानी साधक शरीर और आत्मा के स्वभाव और गुणों के अन्तर का निष्पक्षता से, तटस्थतापूर्वक विश्लेषण करके दोनों के तादात्म्य की ग्रन्थी का भेदन कर डालता है।

---

१ आत्मसिद्धि गा. ४९

नमि राजर्षि जब प्रव्रज्या ग्रहण करने जा रहे थे, तभी एक विप्र ने उनके भेदविज्ञान की परीक्षा लेने के लिए पूछा--"राजन्! आप प्रव्रजित हो रहे हैं, पर आँख उठाकर देखिये तो सही, आपके ये राजमहल, अन्तःपुर, मिथिला आदि धू-धू करके जल रहे हैं, पहले इन्हें व्यवस्थित कीजिए। बाद में कोई विचार कीजिएगा। नमि राजर्षि अन्तर में बड़े शान्त, निश्चित और स्वभाव में स्थित थे। उनका वैराग्य और त्याग केवल देखा-देखी, गतानुगतिक या औपचारिक नहीं था। उनकी अन्तरात्मा आत्मा और देह के भेदविज्ञान के रंग में रंगी हुई थी। वे देहभाव से ऊपर उठे हुए थे। अतः उन्होंने गम्भीरतापूर्वक कहा—'मिथिला[1] जल रही है, राजमहल या अन्तःपुर आदि जल रहे हैं, इसमें मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है। मैं जहाँ हूँ, वहाँ कुछ जल नहीं रहा है। मैं सुख से रह रहा हूँ, जी रहा हूँ, मेरी सम्पदा को कोई जला नहीं सकता।'

राजर्षि के उत्तर से ब्राह्मण विस्मित, चकित होकर उनकी ओर देखने लगा, उसने और भी कठोर परीक्षा लेने हेतु प्रश्न पर प्रश्न पूछे, किन्तु नमि राजर्षि के नपे-तुले, श्रमण-संस्कृति-मूलक भेदविज्ञान सम्पृक्त एवं त्यागवैराग्य से सने उत्तर पाकर विप्र उन्हें धन्य-धन्य कह उठा। विप्र परीक्षा लेने से पूर्व यह सोच रहा था कि राजर्षि सचमुच ही सर्वस्व छोड़कर प्रव्रजित हो रहे हैं या भावावेश में आकर त्याग का बहाना कर रहे हैं? ये कहीं लोगों को भावुक बनाकर इससे भी अधिक प्रतिष्ठा, प्रशंसा और प्रसिद्धि बटोरने या अधिकाधिक भोगोपभोग के चक्कर में तो नहीं हैं? जो लोग केवल लोक-व्यवहार को लेकर जीते हैं, वे निश्चयदृष्टि की अतल गहराई में जाकर नहीं सोच सकते। वे बाह्य त्याग को ही त्याग मान कर अन्तर में भोगों का तानाबाना बुनते रहते हैं। परन्तु नमिराजर्षि लोक-व्यवहार के निर्णय पर जीने वाले नहीं थे। अगर वे व्यवहार के धरातल पर या देहभाव में जीने वाले होते तो मिथिला आदि के दहन का नाम सुनते ही उनके मन में प्रतिक्रिया होती, वे आँख उठाकर देखते और वाणी द्वारा अपनी तदनुरूप प्रतिक्रिया भी व्यक्त करते, किन्तु वे मन, वाणी और इन्द्रियों को देहभाव में न लगाकर आत्मभाव में संलग्न किये हुए थे। इसी

---

१ सुहं वसामो जीवामो जेसिं मो नत्थि किंचणं।
मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किंचणं॥

—उत्तराध्ययन सूत्र अ. ९ गा. १४

भेदविज्ञान में ओतप्रोत होने के कारण वे साधारण मानवात्मा से परमात्मा बन सके।

इसे ही विदेहदशा कहते हैं, जो निरंजन-निराकार सिद्ध-परमात्मा की दशा है। इसमें देह होते हुए भी देह के धर्मों के प्रति उदासीनता होती है। इसके विपरीत यदि साधक देह में आत्मभावना करता है तो वह देहान्तर-प्राप्ति (भवभ्रमण) का बीज बोता है, और यदि वह आत्मा में ही आत्मभावना करता है तो विदेहनिष्पत्ति के अर्थात्—मुक्ति के—परमात्मभाव के बीज बोता हैं।[1] आत्मा में आत्मभावना करने के लिए साधक देहधारी होते हुए भी देह में आत्मबुद्धि छोड़कर दृढ़ निश्चय करता है कि मैं अखण्ड-ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, मन, वाणी, शरीर मैं नहीं हूँ, तथा मन-वाणी-काया से होने वाले कार्य या इनसे भोगे जाने वाले विषय एवं समस्त (कर्मज) औदयिक भाव मेरे नहीं हैं।[2] इस प्रकार के भानपूर्वक जागृत होकर मन-वाणी-काया से होने वाली क्रियाओं को तटस्थ एवं अप्रतिक्रियापूर्वक शान्तभाव से देखता रहता है, उनमें लिप्त नहीं होता। ऐसा करने से शरीरादि औदयिक भावों और विषयों से रागद्वेषादि छूटते जाते हैं, आत्मा अपने शुद्धभाव=परमात्मभाव में स्थित होकर प्रशमसुख का अनुभव करता है।

---

१. देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना॥

एजन श्लोक ७४

२. कर्मजेभ्यः समस्तेभ्यो, भावेभ्यो भिन्नमन्वहम्।
ज्ञस्वभावमुदासीनं पश्येदात्मजमात्मना॥

—तत्त्वानुशासन अ० ५ श्लोक २४

१६

कर्मों से भिन्न ही परमात्मभाव से अभिन्न

आत्मा और परमात्मा : स्वरूप, स्वभाव और गुणों में समान

'अप्पा सो परमप्पा' इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा और परमात्मा का मूल में स्वभाव समान है। निश्चयनय की दृष्टि से कहा गया है कि 'सव्वे सुद्धा हु सुद्ध णया'[1]—शुद्ध (निश्चय) नय से सभी आत्माएँ शुद्ध हैं। 'एगे आया'[2] इस सूत्र के अनुसार भी स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माएँ एक सी हैं। मूलतः आत्मा के स्वरूप और स्वभाव में कोई भिन्नता नहीं है। आत्मा का जो स्वरूप निगोद जीवों में है, वही नारकों, तिर्यंचों, मनुष्यों और देवों की आत्मा का है। और वही स्वरूप मोक्षप्राप्त सिद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्माओं तथा अर्हत् जीवन्मुक्त वीतरागों (दोनों कोटि के परमात्माओं) का है। इसमें जरा भी भेद नहीं है। आध्यात्मिक जगत् के प्रसिद्ध कवि द्यानतरायजी भी इसी तथ्य को उजागर करते हैं—

"जो निगोद में सो मुझ माँही, सोई है शिवथाना।
'द्यानत' निहचे रंच-भेद नहीं, जाने सो मतिमाना॥
आपा प्रभु जाना, मैं जाना॥"

निष्कर्ष यह है कि सैद्धान्तिक दृष्टि में निश्चयनय की अपेक्षा मूल-रूप में सभी आत्माएँ एक (समान) हैं, एक स्वरूप हैं, शुद्ध हैं।

---

१ द्रव्यसंग्रह

२ स्थानांगसूत्र स्था. १ सू. १

सांसारिक आत्माओं में विभिन्नता तथा अशुद्धता का कारण क्या है ?

परन्तु विश्व के विशाल क्षेत्र में सभी धर्मों, दर्शनों, मत-पन्थों के व्यक्तियों एवं आध्यात्मिकों से लेकर, सामान्य जनता तक सभी की प्रत्यक्ष अनुभूति यह है कि सभी आत्माएँ एक-सी नहीं है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के इन्द्रियगत भेद तो प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर हो रहे हैं। फिर गतियों और योनियों का अन्तर भी हम देखते हैं। चार गतियों और चौरासी लाख जीवयोनियों की परिस्थिति भी एक समान नहीं है। कोई तिर्यञ्च (पशु-पक्षी या कीट-पतंगे आदि) के रूप में है, तो कोई मानव के रूप में है, कोई देव-दानव के रूप में है, कोई नारकजीव के रूप में है। इतना ही नहीं, इन गतियों और योनियों में हजारों-लाखों विचित्रताएँ—विभिन्नताएँ हैं। इससे भी आगे बढ़कर कहें तो एक ही योनि के जीवों में भी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, वाचिक, प्रकृतिगत तथा प्रभावगत भेद भी असंख्य असंख्य रूप से प्रतीत होते हैं। एक मनुष्य जाति को ही ले लें—उसमें भी शरीर, अंगोपांग, निर्माण, रचना, आकृति, शरीर-सौष्ठव, सौन्दर्य, रूप, रंग, वजन, परिमाण, लेश्या, प्रकृति, स्वर, वाणी, मन, प्राण, बुद्धि, हृदय, आयु, ऊर्जा, शक्ति, इन्द्रियाँ, रुग्णता-अरुग्णता, आदि नाना विभिन्नताएँ नजर आती हैं। कोई शरीर से दुबला-पतला है तो कोई हृष्ट-पुष्ट है, कोई शरीर से स्थूल (मोटा) है, बेडौल है, तो कोई शरीर से सशक्त एवं बलिष्ठ व सुडौल है। कोई जन्म से ही बीमार है और कोई बिलकुल नीरोग और स्वस्थ है। कोई अत्यन्त कुरूप एवं कालाकलूटा है तो कोई अत्यन्त सुरूप एवं गोरा है। कोई अत्यन्त बोना है तो कोई अत्यंत लम्बा है। कोई अंगहीन है तो कोई सर्वांग सुन्दर है, कोई अन्धा या काना है तो कोई सुनेत्र है। कोई दीर्घायु है तो कोई अल्पायु है। कोई सरल, निश्छल एवं निष्कपट है तो कोई कठोर, ठग और कपटी है। कोई अहंकारी है तो कोई नम्र एवं निरभिमानी। कोई मूर्ख एवं बुद्धू तथा निरक्षर है तो कोई बुद्धिमान, प्राज्ञ एवं शिक्षित है। कोई अत्यन्त धनिक है तो कोई बिलकुल निर्धन है।[1] कोई क्रूर एवं कुटिल है तो कोई दयालु एवं प्रेमल है। कोई लोभी और अतिस्वार्थी है तो कोई सन्तोषी एवं उदार है। कोई राग-

---

१ आत्मसिद्धि शास्त्र में भी कहा है—

एक रांक ने एक नृप, ए आदि जे भेद।
कारण विना न कार्य ते, तेज शुभाशुभ वेद ॥८४॥

द्वेषादि आदि विकारों में अत्यन्त लिप्त है तो कोई मन्दरागादि से युक्त है और कोई-कोई रागादि से सर्वथा रहित हैं। कोई अत्यन्त प्रभावशाली है, विरक्त है तो कोई प्रभावहीन एवं विषयों में अत्यासक्त है। कोई सहनशील एवं क्षमाशील है तो कोई असहिष्णु एवं क्रोधी व निष्ठुर है। कोई सांसारिक सुखों से सम्पन्न है तो कोई अत्यन्त दुःखों की भट्टी में तप रहा है।

प्रश्न होता है, जब सभी आत्माएँ सिद्ध परमात्मा के समान हैं, शुद्ध हैं, आत्मा और परमात्मा के स्वभाव और निजगुणों में कोई अन्तर या भेद नहीं है, तब फिर यह अशुद्धता और विभिन्नता किस कारण से आ गई ? कौन-सा ऐसा पदार्थ है, जो आत्मा और परमात्मा के बीच में भेद डालता है ?

सजातीय आत्मा का विजातीय कर्म के साथ संयोग ही कारण

इसका समाधान यह है कि संसार में दो कोटि के पदार्थ हैं, दोनों के पृथक् पृथक् अपने-अपने गुणधर्म, क्रिया तथा स्वभाव हैं। इनमें से एक को चेतन (जीव या आत्मा) कहते हैं और दूसरे को अचेतन (जड़, अजीव या पुद्गल)। दोनों कोटि के पदार्थों के लिए अपने-अपने गुणधर्म, क्रिया और स्वभाव से मेल खाने वाले पदार्थ सजातीय होते हैं, और जिस कोटि के पदार्थ के साथ जिसके स्वभाव, क्रिया एवं गुणधर्म मेल नहीं खाते, वह पदार्थ विजातीय होता है। चेतन के लिए अचेतन कोटि का पदार्थ विजातीय है, इसी प्रकार अचेतन (अजीव पुद्गल) के लिए सचेतन पदार्थ विजातीय है। सजातीय पदार्थों का जब संयोग होता है तो विकृति या अशुद्धि नहीं आती। विकृति या अशुद्धि तब आती है, जब सजातीय पदार्थ के साथ विजातीय पदार्थों का संयोग होता है। आत्मा के लिए परमात्मा सजातीय सचेतन पदार्थ है, किन्तु आत्मा के लिए कर्म नामक अजीव (अचेतन-पुद्गल) पदार्थ विजातीय है। जब कर्म नामक विजातीय अजीव पुद्गल का आत्मा के साथ संयोग होता है, तब उसकी शुद्धता भंग कर देता है, आत्मा में विकृति पैदा कर देता है, उसे अपने असली स्वरूप में नहीं रहने देता। यह कर्म ही है, जो आत्मा के साथ घुल-मिलकर उसके मूल स्वभाव में विकार पैदा कर देता है। सांसारिक आत्माओं में जितनी भी विरूपताएँ या विभिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे उनकी अपनी मौलिक नहीं हैं, वे कर्मरूप विजातीय द्रव्य के संयोग के कारण हैं। अतः विभिन्न आत्माओं

(जीवों) की ये विभिन्नताएँ या विरूपतायें स्वरूपगत नहीं हैं। प्रत्येक आत्मा अपने आपमें अपने सजातीय परमात्मा के समान ही स्वरूप, स्वभाव और गुणधर्म वाला शुद्ध है। परन्तु शुद्ध आत्माओं के साथ कर्म नामक विजातीय अजीव पुद्गल के मिल जाने के कारण उन आत्माओं में अशुद्धता विरूपता या विभिन्नता उत्पन्न होती है। आचारांग सूत्र में इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है—

'कम्मुणा उवाही जायइ।'[1]

कर्म के कारण ही आत्मा को नाना उपाधियाँ—विभिन्न अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं।

अर्थात्—आत्मा की विभिन्न सांसारिक अवस्थाओं या परिणतियों—अथवा पर्यायों के लिए सभी अध्यात्मवादी दार्शनिकों ने कर्म को ही कारण माना है।

कर्मसिद्धान्तमर्मज्ञ सर्वज्ञ भगवान् महावीर ने व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में इसी शंका का अनुभवसिद्ध समाधान दिया है। गौतम गणधर ने पूछा—"भगवन्! क्या जीवों की सुख-दुःख आदि से सम्बन्धित विभिन्न अवस्थाएँ (पर्यायें) कर्म के कारण परिणत होती हैं, अकर्म के कारण तो नहीं?"

भगवान् का उत्तर था—"गौतम! समस्त संसारी जीवों के कर्म बीज भिन्न-भिन्न होने से कर्म के कारण उनकी विभिन्न अवस्थाएँ हैं, अकर्म के कारण नहीं।"[2]

कर्मशास्त्र व्याख्याकार आचार्यश्री देवेन्द्र सूरि ने भी इन पूर्वोक्त विभिन्नताओं, तथा भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का कारण 'कर्म' को बताते हुए कहा—

क्ष्माभृद-रंकयोर्मनीषि-जड़योः सद्रूप-नीरूपयोः।
श्रीमद्-दुर्गतयोर्बलाबलवतोर्नीरोग-रोगार्त्तयोः॥
सौभाग्याऽसुभगत्व-संगम-जुषोस्तुल्येऽपि नृत्वेऽन्तरम्।
यत्तत्कर्म निबन्धनं, तदपि नो जीवं बिना युक्तिमत्॥[3]

---

१ आचारांग सूत्र १/३/१।

२ "कम्मओ णं भंते! जीवे, नो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमई?
गोयमा! कम्मओ णं जओ, णो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमई।"
—भगवती सूत्र अ. १२, उ. ५

३ प्रथम कर्म ग्रन्थ टीका।

'राजा और रंक, बुद्धिमान और मूर्ख, सुरूप और कुरूप, श्रीमान और दरिद्र, बलवान और निर्बल, रोगी और नीरोग, भाग्यशाली और अभागा, इन सबमें मनुष्यत्व समान होने पर भी जो अन्तर दिखाई देता है, वह सब कर्म के कारण है और वह कर्म भी जीव (आत्मा) के स्वयं संयुक्त हुए बिना नहीं हो सकता।' आत्मा अपने आप में परमात्म स्वभाव के सदृश शुद्ध होते हुए भी विजातीय रूप रागद्वेष कषायादि भावकर्म (विभाव) और पुद्गल रूप द्रव्य कर्म से संयुक्त होने के कारण अशुद्ध और मलिन हो जाता है, इस कारण परमात्मभाव से दूर होता जाता है। जैसे—सौटंची सोना शुद्ध होता है, स्वर्णरूप से तो सभी प्रकार का सोना उसके समान है, किन्तु उसमें विजातीय तत्त्व—खोट मिल जाने से वह विसदृश, विरूप और विभिन्न हो जाता है। स्वर्ण में मिट्टी मिल जाने पर वह अशुद्ध कहलाता है, मिट्टी आदि का संयोग दूर करने पर शुद्ध सोना हो जाता है। सूर्य पर बादलों के छा जाने से उसका प्रकाश ढक जाता है, परन्तु बादलों के हटते ही सूर्य पूर्णरूप से प्रकाशित हो उठता है, इसी प्रकार आत्मा पर भी कर्म-रूपी बादलों के आच्छादित हो जाने से ज्ञानादि का प्रकाश आवृत हो जाता है, किन्तु कर्मों के हटते ही परमात्मा के समान आत्मा भी ज्ञानादि से पूर्ण-तया प्रकाशित हो उठती है। जिस प्रकार पानी का मूलस्वभाव शीतल है, किन्तु तैजस्-पदार्थों के संयोग से वह अपने शुद्धस्वभाव को छोड़कर उष्ण—(विकृत अशुद्ध) हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी अपने आप में मूलतः शुद्ध है, किन्तु कर्म-पुद्गलों के संयोग से वह अशुद्ध, विकृत और विपरीत स्वभाववाली बन जाती है। जैनदर्शन कहता है—सामान्य आत्मा और परमात्मा के बीच विषमता एवं विभिन्नता का औपाधिक कारण कर्म है। आत्मा में कर्ममल बाहर से आया हुआ है, अन्दर से नहीं। वह आत्मा का मूलस्वभाव नहीं है। जैसे, सोने में से मैल (खोट) निकाल दिये जाने पर वह मलिन सोना भी शुद्ध सौ टंची सोना बन जाता है, इसी प्रकार आत्मा में से कर्ममल को दूर कर लेने से वह मलिन आत्मा भी शुद्ध-आत्मा =परमात्मा बन जाता है। इसी तथ्य को एक कवि ने अभिव्यक्त किया है—

'आत्मा परमात्मा में कर्म ही का भेद है।
काट दे गर कर्म को, फिर भेद है ना खेद है॥'

आत्मा और परमात्मा दोनों चेतन हैं, सजातीय हैं, मूलरूप में शुद्ध हैं। दोनों में भेद केवल इतना ही है कि आत्मा (जीव) अपने कर्मों से बंधा

हुआ है और परमात्मा उन समस्त कर्मों के बन्धनों से सर्वथा मुक्त हो चुका है, अथवा आत्मगुण-विघातक चार कर्मों से सर्वथा मुक्त जीव-मुक्त अर्हत्परमात्मा हो चुका है। इसी भाव को लक्ष्य में रखते हुए कहा गया है—

'कर्म बद्धो भवेज्जीवः, कर्म-मुक्तस्तथा जिनः।'

जो कर्मों से बंधा हुआ है वह जीव (सांसारिक जीवात्मा) है और जो कर्मों (आत्मगुणघातक कर्मों) से सर्वथा मुक्त है, वह वीतराग अर्हत्-जीव-मुक्त परमात्मा है।

कर्मबद्ध आत्मा कर्मों से मुक्त होने पर परमात्मा बन जाता है।

परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि जो आज कर्मों से बद्ध जीवात्मा हैं, वे कभी कर्मों से मुक्त परमात्मा नहीं हो सकेंगे। जैसा कि ईश्वर-कर्तृत्ववादी दार्शनिकों का जैनदर्शनमान्य कर्मवाद पर आक्षेप है कि जब कर्मबद्ध सभी आत्माएँ कर्मों से सर्वथा मुक्त होकर परमात्मा (ईश्वर) के समकक्ष हो जाएँगी, तब तो जीवात्मा और परमात्मा (ईश्वर) में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा। अगर जीवात्मा और परमात्मा में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा, तब कौन जीवात्मा परमात्मा की स्तुति, भक्ति, प्रार्थना, वन्दना, उपासना या आराधना करेगा ? अतएव कर्मवादी जैनों को मानना चाहिए कि साधारण कर्मबद्ध जीवात्मा कर्म काटने के चाहे जितने उपाय कर ले, वह अधिक से अधिक स्वर्ग तक जा सकता है। किन्तु कर्मों से सर्वथा मुक्त परमात्मा तो नहीं हो सकता। वह अतिशय पुण्य राशि संचित करके अवतारी या भगवान् बन सकता है।ईश्वर तो एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए, जो सदा से ही मुक्त हो। मुक्त जीवों की अपेक्षा उसमें कुछ विशेषता हो।

परन्तु कर्मवाद पर यह आक्षेप सर्वथा युक्तिविरुद्ध है। जैनदर्शन में कर्मों से मुक्त आत्मा परमात्मा बन सकता है, यह बात युक्तिसिद्ध है। क्योंकि जीवात्मा भी चेतन है और परमात्मा भी चेतन है। जीवात्मा की सभी शक्तियाँ आवरणों से घिरी हुई हैं, परमात्मा की नहीं; परन्तु जब जीवात्मा अपने शुद्ध (निश्चय) रत्नत्रय की साधना में पुरुषार्थ से अपने आवरणों को हटा देता है, तब तो उसकी सभी शक्तियाँ पूर्णरूप से प्रगट हो जाती हैं। फिर जीवात्मा और परमात्मा में किसी प्रकार की विषमता या भिन्नता नहीं रहती। यदि विषमता और भिन्नता के कारणभूत औपाधिक कर्मों के हट जाने पर भी विषमता या भिन्नता बनी रही तो फिर मुक्ति ही क्या ? मुक्ति (मोक्ष) का लक्षण भी तो तत्त्वार्थसूत्र में यही बताया है—

'कृत्स्न-कर्म-क्षयो मोक्षः'[1]

'सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना ही मोक्ष है—मुक्ति है।' और मोक्ष प्राप्त आत्मा को परमात्मा न कहें तो और क्या कहें ? जैनदर्शन पहले और पीछे हुए सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा में किसी प्रकार का अन्तर नहीं करता, न ही श्रेणीभेद करता है। मुक्तात्मा बनने के बाद सभी का दर्जा, गुणवत्ता अनंतज्ञानादि चतुष्टय आदि एक समान हो जाते हैं। मुक्तात्मा (परमात्मा) तो स्वयं कृतकृत्य हो जाता है। फिर उसे किसी अन्य परमात्मा की स्तुति, भक्ति, प्रार्थना, उपासना, वन्दना या आराधना करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। न ही वह वहाँ से लौटकर पुनः संसार के जन्म-मरणादि के पचड़े में पड़ता है। जैसा कि दशाश्रुतस्कन्ध में कहा गया है—

जहा दड्ढाणं बीयाणं, ण जायंति पुण अंकुरा।
कम्मबीएसु दड्ढेसु, न जायंति भवंकुरा॥[2]

जैसे बीज जल जाने पर उनसे पुनः अंकुर पैदा नहीं होते, वैसे ही कर्मबीज जल जाने पर भव—(जन्म-मरण-परम्परा) रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होते।

आशय यह है कि जो सर्वकर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाता है, वह स्वयं सिद्ध-बुद्ध कृतकृत्य परमात्मा बन जाता है। वह सृष्टि-रचना के प्रपंच में पड़कर कर्मबन्धन और जन्म-मरण की परम्परा बढ़ाने हेतु अवतार या भगवान् बनकर नहीं आता। जो भी जीवन्मुक्त अर्हत् वीतराग-परमात्मा होते हैं, वे आत्मगुणघातक सुकर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं शेष चार भवोपग्राही अघाती कर्म जब तक आयुष्य है, तब तक रहते हैं, उन चार कर्मों तथा नोकर्मों को सर्वथा नष्ट करके वे भी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बन जाते हैं[3] इसे मानने में कोई अड़चन नहीं। केवल कल्पना या गतानुगतिकता के बल पर यह कह देना उचित एवं युक्तिसंगत नहीं है कि परमात्मा (ईश्वर) एक ही होना चाहिए। अप्पा सो परमप्पा सिद्धान्त के

---

१ तत्वार्थसूत्र अ. १० सू. १

२ दशाश्रुतस्कन्ध ५/१५

३ द्रव्यकर्मविनिर्मुक्तं भावकर्म-विवर्जितम्।
नोकर्म-रहितं विद्धि निश्चयेन चिदात्मनः॥

—परमानन्द पंचविंशति ८

अनुसार तात्त्विक दृष्टि से तो सभी आत्माएँ परमात्मा (ईश्वर) हैं। यह सिद्धान्त सभी को अपना परमात्मपद (ईश्वरत्व) प्रकट करने तथा उसके लिए सम्यक् पुरुषार्थ करने की पूर्ण प्रेरणा और बल देता है। केवल पुण्य वृद्धि करने मात्र से तो जीव स्वर्ग तक जा सकता है जो कि संसार ही है, मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। जो भी मोक्ष (परमात्म पद) प्राप्त करना चाहता है, वह तदनुसार शुद्ध रत्नत्रयसाधना में पुरुषार्थ के बल से कर्मों का सर्वथा क्षय करके ही प्राप्त कर सकता है। किसी मुक्तात्मा या जीवन्मुक्त परमात्मा अथवा देवी-देव या शक्ति के वरदान से नहीं। न ही वह किसी के आशीर्वाद या वरदान से अपने कर्म काट सकता है।

दूसरी बात—कर्मों के कारण शुद्ध आत्मा में आई हुई अशुद्धता या परमात्मा से विभिन्नता अथवा विरूपता अहेतुक या आकस्मिक होती, तब तो माना जा सकता था कि वह कदापि दूर नहीं हो सकेगी, सदा ही रहेगी। अथवा एक बार आत्मा अशुद्ध हो जाने के बाद पुनः कभी भी अकस्मात् शुद्ध हो जाएगी। यदि अकारण ही ऐसी स्थिति हो जाए, तब तो आत्मा के अनन्तज्ञानादि प्रकाश को आवृत करने वाले आवरणों से मुक्ति पाने की साधना—शुद्ध रत्नत्रय की साधना का तथा तप, त्याग, संयम, वैराग्य, धर्म आदि की आराधना का कोई अर्थ ही नहीं रह जाएगा और बन्धन से मोक्ष की व्यवस्था भी बिगड़ जाएगी। फिर तो एक तरफ तप, संयम आदि से कर्म-मैल को धोकर आत्मा को शुद्ध किया जाएगा, दूसरी ओर उस विशुद्ध आत्मा पर कर्म चिपकते जाएँगे। फिर तो आत्मा और कर्म का यह चक्र अनन्तकाल तक चलता ही रहेगा। कर्म और आत्मा का यह द्वन्द्वयुद्ध कभी समाप्त ही नहीं होगा। परन्तु आत्मा में आई हुई वह अशुद्धता, विरूपता या विभिन्नता सहेतुक है—सकारण है। उन कारणों के दूर होते ही आत्मा पूर्णरूप से शुद्ध, बुद्ध, मुक्त परमात्मा बन जाती है। एक बार पूर्णतया शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, स्वभाव-स्थित परमात्मा बनने के बाद फिर कभी वह अशुद्ध या सामान्य आत्मा नहीं बनती। निष्कर्ष यह है कि पानी में आई हुई औपचारिक उष्णता की तरह आत्मा में आई हुई अशुद्धता सहेतुक है, अहेतुक नहीं।

कर्म का त्रैकालिक अस्तित्व माने बिना कोई चारा नहीं

कुछ पंचभूतवादी, प्रकृतिवादी अथवा चार्वाकदर्शन के अनुगामी लोग कहते हैं—'कर्म को मानने की क्या आवश्यकता है? पहले तो कर्म

को मानो, फिर कर्म को काटने की चिन्ता करो। फिर कर्मों से मुक्त परमात्मा बनने का प्रपंच करो, यह सब झंझट क्यों पाला जाए और फिर न तो कर्म को किसी ने देखा है और न ही कर्मयुक्त परमात्मा को, अतः अदृश्य और प्रपंचकारक कर्म को मानने से क्या लाभ ? हम तो वही कहते हैं कि जो कुछ अच्छा-बुरा होता है, वह यहीं (इसी लोक में) पंच महाभूतों के संयोग से हो जाता है। इसके आगे न तो कोई परलोक है, और न कोई कर्म है। यहीं शरीर जलकर राख हो जाता है।[1] उसके बाद न तो कोई लौटकर आता है और न कहीं जाता है।'

चार्वाक आदि पंच भौतिकवादियों के कथन का निराकरण तो यहीं हो जाता है—एक ही माँ-बाप से एक साथ उत्पन्न हुए दो बालकों में साधन और पंचमहाभूत एक-सरीखे होने पर भी उनकी शक्ति, योग्यता, बुद्धि, अंग-रचना आदि में अन्तर क्यों पाया जाता है ? उस अन्तर का कारण दोनों के पृथक्-पृथक् पूर्वकृत कर्म को माने बिना कोई चारा नहीं है। विशेषावश्यक भाष्य में इसी तथ्य को उजागर करते हुए कहा गया है—

"जो तुल्ल-साहणाणं फले विसेसो ण सो हेउं।
कज्जतणओ गोयमा! घडोव्व हेऊ य सो कम्म ॥"[2]

एक सरीखे साधन होने पर भी फल में जो तारतम्य या अन्तर दृष्टिगोचर होता है, वह बिना कारण के नहीं हो सकता। एक ही कुम्भकार द्वारा एक ही सरीखी मिट्टी से बनाये हुए घड़ों में जैसे विभिन्नता पाई जाती है, वैसे ही एक सरीखे साधन होने पर भी मनुष्यों की आकृति, प्रकृति, बुद्धि, शक्ति आदि में जो विभिन्नता पाई जाती है, उसका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। हे गौतम! उस अन्तर का कारण कर्म ही है।

उदाहरणार्थ—कई छात्र एक ही कक्षा में पढ़ते हैं, एक ही छात्रावास में रहते हैं। सबको एक-सी अध्यापक मण्डली, पुस्तकादि साधन, पढ़ाई तथा अन्य सुख-सुविधा तथा देखरेख एवं परिस्थिति एक-सी मिलती है। उन्हें पढ़ने-पढ़ाने का समय भी एक सरीखा मिलता है। फिर भी हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि कई छात्रों की प्रतिभा, शक्ति, स्फुरणा तथा बौद्धिक क्षमता विलक्षण होती है, जबकि कई छात्र बौद्धिक क्षमता, प्रतिभा और

---

१ भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः। —चार्वाकदर्शन

२ विशेषावश्यक भाष्य (जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण)।

स्फुरणाशक्ति में बहुत ही पिछड़े हुए तथा पढ़ने में अत्यन्त कमजोर होते हैं।

यह भी प्रत्यक्ष देखा जाता है कि एक ही साथ उत्पन्न दो बालकों को एक सरीखी परवरिश, देखभाल और साधन-सुविधा मिलने पर भी दोनों की प्रकृति, बुद्धि और शक्ति में अन्तर होता है। एक बहुत ही क्रोधी और अभिमानी प्रकृति का मन्दबुद्धि या शरीर से अत्यन्त दुर्बल, अथवा सदा रोगी होता है, जबकि दूसरा बहुत ही शान्त, विनम्र, तीव्र-बुद्धि या शरीर से हृष्टपुष्ट एवं सदा स्वस्थ होता है। एक शीघ्र ही मरण-शरण हो जाता है, दूसरा दीर्घजीवी होता है।

कई माता-पिता बिल्कुल अशिक्षित, निरक्षर और मूर्ख होते हैं, जबकि उनका पुत्र सुशिक्षित, योग्य, प्रतिभाशाली विद्वान होता है। इसके विपरीत भी कहीं-कहीं देखने में आता है। माता-पिता बहुत ही योग्य, विद्वान, सुशिक्षित एवं बुद्धिमान हैं, मगर उनका पुत्र महामूर्ख है, बहुत प्रयास करने पर भी वह पढ़-लिख न सका। इस अन्तर का क्या कारण है? जबकि माता-पिता के रजवीर्य से ही उनके पुत्र का शरीर बना है, फिर उनमें अविद्यमान या विद्यमान ज्ञानतन्तु उनके पुत्र में कैसे आए, अथवा कैसे नहीं आ पाए? इतिहास-विशेषज्ञ जानते हैं कि जो शक्ति महाराणा प्रताप एवं शिवाजी आदि में थी, वह उनके पुत्रों में नहीं थी। जितनी बौद्धिक शक्ति एवं प्रतिभा कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य में थी, उतनी उनके माता-पिता में नहीं थी। जितनी आध्यात्मिक ज्ञान की सम्पदा योगीराज आनन्दघनजी तथा श्रीमद् रायचन्द्रजी में थी, उतनी उनके माता-पिता में नहीं थी।

एक ही माता के उदर से पैदा हुए दो भाइयों में एक धनाढ्य और दूसरा दरिद्र है, एक अत्यन्त विषयभोगी है तो दूसरा परमयोगी है, एक विद्वान् है तो दूसरा मूर्ख है। ये सब विलक्षणताएँ कर्म को माने बिना सिद्ध नहीं हो सकती। 'पंचाध्यायी' में भी इसी सिद्धान्त को व्यक्त किया गया है—

'एको दरिद्र एकोहि श्रीमानिति च कर्मणः।'[1]

इस संसार में एक दरिद्र है और एक धनिक है, यह अन्तर कर्म ही

---

१ पंचाध्यायी २/५०

के तो कारण है। दोनों ही चार्वाक के मतानुसार पंचमहाभूतों से उत्पन्न हुए हैं, फिर इसी जन्म में इन दोनों में यह अवस्था भिन्नता क्यों ?

कर्म को यदि इस जन्म या इहलोक तक ही माना जाए तो भी पूर्व-जन्म की या पुनर्जन्म की घटनाएँ सिद्ध नहीं हो सकती। यदि शुभ-अशुभ कर्म को नहीं माना जायेगा, या इस जन्म तक ही उनका सुफल-दुष्फल माना जायेगा, तब तप, संयम, त्याग, नियम या रत्नत्रय की व्यवहार-निश्चय-साधना आदि का कोई अर्थ नहीं रह जायेगा। कौन कठोर तप-संयम की आराधना करेगा ? आध्यात्मिक विकास के लिए कर्मों का क्षय करने की कठोर साधना में कोई क्यों जुटेगा ? इसी दृष्टि से आचारांगसूत्र में आत्मा को मानने के साथ ही आत्मा के सर्वोच्च अध्यात्मविकास के लिए तीन बातें और बताई गई है—

'से आयावादी लोयावादी कम्मावादी किरियावादी'[1]

जो आत्मवादी (आत्मा का त्रिकाल अस्तित्व तथा उसके आध्यात्मिक ह्रास एवं विकास में श्रद्धा रखने वाला) होता है, वह लोकवादी (इहलोक-परलोक यानी स्वर्ग-नरक-तिर्यंच लोक आदि को मानने वाला) अवश्य होता है। जो लोकवादी होता है, वह कर्मवादी (शुभ-अशुभ कर्म और उनके अनुसार शुभाशुभफल प्राप्ति को मानने वाला) अवश्य होता है और जो कर्मवादी होता है, वह क्रियावादी (कर्मक्षय करके मुक्ति परमात्म-पद प्राप्ति करने की आध्यात्मिक साधनारूप क्रिया को मानने वाला) होता है।

आत्मा की विभिन्न गतियों एवं योनियों में जन्म-मरण करने की, पूर्वजन्म की तथा पुनर्जन्म की प्रत्यक्षदर्शियों द्वारा जानी-देखी घटनाएँ कर्म-तत्त्व के त्रिकाल अस्तित्व को मानने को बाध्य करती हैं। कर्म को न मानने पर जन्म-जन्मान्तर का एवं इहलोक-परलोक का सम्बन्ध घटित नहीं हो सकता।

बालक जन्म लेते ही माता का स्तनपान करने लगता है, भूख-प्यास लगने पर रोता है, अंधेरे आदि में जाने से डरता है तथा एक जगह बैठी हुई सौ महिलाओं में अपनी माँ को पहचान लेता है। ये सब चेष्टाएँ बालक को इस जन्म में किसी ने नहीं सिखाई, फिर भी उसे स्वतः सूझ जाती हैं

---

१ आचरांगसूत्र श्रु. १/अ. १/सू. ३

अतः बालक की ये सब चेष्टाएँ पूर्वजन्मकृत कर्म के ही कारण माननी ही पड़ेगी।

और भी लीजिए—माँ के गर्भ में आने से लेकर जन्म लेने तक शिशु को जो पीड़ा होती है, कई बार गर्भ में ही शिशु की मृत्यु हो जाती है। इन सबको शिशु के इस जन्म के कर्मों के फल तो नहीं कह सकते, क्योंकि गर्भ में रहते हुए शिशु ने कोई भी शुभ या अशुभ कार्य नहीं किया। यदि कहें कि माता-पिता के पूर्वकृत कर्मों के कारण अथवा गर्भावस्था में माता-पिता के आचार-विचार, आहार-विहार, वृत्ति-प्रवृत्ति या संस्कारों के असर के कारण शिशु को दुःखद कर्मफल भोगना पड़ता है। तब फिर यह प्रश्न उठेगा कि उस शिशु को ऐसे माता-पिता मिले ही क्यों ? अतः घूम-फिरकर सबका उत्तर यही होगा कि शिशु के जैसे पूर्वजन्मकृत कर्म थे, तदनुसार उसे वैसे माता-पिता, अनुकूल-प्रतिकूल वातावरण, संयोग, संस्कार या सुख-दुःख मिले। इस प्रकार वर्तमान जन्म में दृश्यमान कतिपय विलक्षणताएँ देखकर पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्मों को मानना पड़ता है। पूर्वजन्म को मानने पर अनेक पूर्वजन्मों की कर्मश्रृंखला सिद्ध हो जाती हैं। कर्मों की श्रृंखला को जानकर भव्य मनुष्य सूर्य के प्रकाश से चिरकालीन अन्धकार के नष्ट हो जाने के समान अपने जन्म-जन्मान्तर में बँधे हुए कर्मों को शीघ्र नष्ट कर सकता है और परमात्मरूप बन सकता है। जैसा कि उपाध्याय यशोविजयजी ने कहा है—

'अनिच्छन् कर्मवैषम्यं, ब्रह्मांशेनसमं जगत्।
आत्माऽभेदेन यः पश्येदसौ मोक्षंगमी शमी ॥'[1]

जो व्यक्ति जगत् को कर्म की विषमता का कारण जानकर भावकर्मों को नहीं करना चाहता और आत्मा को परमात्मभाव से अभिन्न देखता है, वह शान्तकषायी वीतराग होकर मोक्षगामी बन जाता है।

कर्मसिद्धान्त की उपयोगिता

कर्मसिद्धान्त में विश्वास होने पर मनुष्य पर बड़ी से बड़ी विपत्ति आने पर भी वह अपना साहस और आत्मबल नहीं खोता। वह चिन्तन करता है कि उपस्थित संकट रोग या दुःख का मूल कारण कोई बाहरी निमित्त है मेरा अपना उपादान (आत्मा) ? कोई भी संकट चाहे वह

---

१ ज्ञानसार ६/२

व्यक्तिगत हो या समूहगत, आकस्मिक या परनिमित्तक नहीं होता, वह संकट उसके या समूह के किसी न किसी अशुभकर्म का फल है। चाणक्य नीति में भी स्पष्ट कहा गया है –

"आत्मापराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम् ।
दारिद्र्य-दुःख-रोगानि, बन्धन-व्यसनानि च ॥"

'दरिद्रता, दुःख, रोग, शोक, विपत्तियाँ या संकट आदि ये सब देहधारी प्राणियों के आत्मा के (अपने) अपराधरूपी वृक्ष के फल हैं।'

इस प्रकार के चिन्तन से व्यक्ति निश्चिन्त हो जाता है कि ये विपत्तियाँ, विघ्नबाधाएँ या प्रतिकूलताएँ सिर्फ मेरे पर ही नहीं आईं, भगवान् महावीर, भगवान् श्रीराम, पाण्डव आदि बड़े-बड़े महापुरुषों पर आई हैं, उन्हें दर-दर भटकना पड़ा है। परन्तु कर्मसिद्धान्त पर उनका अटल विश्वास होने से शान्ति से, समभाव से निमित्तों पर किसी प्रकार का दोषारोपण किये बिना उन्होंने कटु कर्मफल भोगे। जिससे उन्होंने पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय किया, और नये कर्मों का आगमन (आस्रव) रोक दिया। इस प्रकार मैं भी उदय में आए कर्मों का फल समभाव से भोगकर पूर्वकृत कर्मों को क्यों नही काट सकता, और नये कर्मों के आगमन को भी क्यों नहीं रोक सकता ?

कर्मसिद्धान्त पर दृढ़ आस्था से मनुष्य निश्चिन्त हो जाता है। वह संकट या दुःख आ पड़ने पर न तो हाय तोबा मचाता है और न ही रोता-बिलखता है। प्रत्युत वह सोचता है—जो कुछ होना है वह तो होकर ही रहेगा। कर्मों का ऋण तो आगे-पीछे चुकाना ही पड़ेगा। तब फिर मैं उसे हंसते-हंसते क्यों नहीं चुका दूं ? क्यों व्यर्थ आर्त्तध्यान करके और नये कर्म बांधू ? सूत्रकृतांग सूत्रानुसार वह चिन्तन करता है—

"जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तमेव आगच्छति संपराए।"[1]

'मैंने अतीत में जैसा भी कर्म किया है, भविष्य में वह उसी के फल के रूप में मेरे सामने आया (उपस्थित हुआ) है।'

इस प्रकार कर्म सिद्धान्त मनुष्य को सिंहवृत्तिपूर्वक यथार्थ दिशा में सोचने की और दैन्यभाव या हीनभाव छोड़कर साहसपूर्वक हंसते-हंसते कर्म ऋण चुकाने की प्रेरणा देता है। सुख-दुःख, संपत्ति-विपत्ति, अनुकूलता

---

१. सूत्रकृतांग सूत्र १।५।२।२३

प्रतिकूलता आदि को जो पूर्वकृत कर्म का कारण समझकर समभाव से भोग लेता है, वह शीघ्र ही मुक्त हो सकता है। सचमुच प्रतिकूलता में शान्तभाव में स्थिर रहने की, तथा विघ्न, संकट या कष्ट आदि का वास्तविक कारण स्वयं को जान कर कटु कर्मफलों को समभाव से भोग कर उन कर्मों को क्षय कर डालने की तथा आत्मा को कर्ममलरहित शुद्ध करके परमात्म-भाव में रमण करने की प्रेरणा कर्म सिद्धान्त से ही मिल सकती है। यहाँ तक कि समस्त कर्मों को क्षय करके परमात्मा बनने का दृढ़ आश्वासन भी कर्म सिद्धान्त से मिल जाता है।

शुद्ध आत्मा कर्मों से लिप्त कब हुआ, क्यों हुआ ?

अब प्रश्न यह होता है कि जैन दर्शन निश्चयदृष्टि से आत्मा को अनादि और विशुद्ध मानता है। जब आत्मा अनादिकाल से शुद्ध है तो उस पर कर्म-कालिमा कैसे लगी ? यदि विशुद्ध आत्मा पर भी कर्ममल का लगना मानेंगे, तब तो सिद्ध-मुक्त परमात्मा पर भी कर्ममल लग सकता है। क्या कर्म बिना कुछ किये ही शुद्ध आत्मा के चिपट गए ? क्या वे पहले से ही शुद्ध आत्मा के साथ लगने की ताक में बैठे थे ? कर्म और आत्मा का संयोग कब से हुआ ? अनादिकालीन आत्मा के कर्म कब से लगे ? कैसे लगे ?

कर्म का आत्मा के साथ कब से संयोग हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर में सर्वज्ञ तीर्थंकरों तथा कर्मशास्त्र मर्मज्ञ विद्वानों का कहना है—आत्मा अनादि है, और कर्म भी प्रवाहरूप से अनादि है।[1] आत्मा के साथ सुख-दुःख का, जन्म मरण का, तथा अन्य अनेक अवस्थाओं और परिवर्तनों का हेतुभूत कर्मचक्र भी अनादिकाल से चला आ रहा है। अतः आत्मा पहले है या कर्म ? इस प्रश्न का उत्तर है—मुर्गी पहले है या अण्डा पहले ? यदि अण्डे को पहले मानते हैं तो प्रश्न होता है—मुर्गी के बिना अण्डा कैसे पैदा हुआ और मुर्गी को पहले मानते हैं तो वही प्रश्न होता है—अण्डे के बिना मुर्गी कैसे आई ? इसी प्रकार यदि आत्मा को पहले मानते हैं तो प्रश्न होता है—कर्म की अविद्यमानता में शुद्ध आत्मा कर्म से कैसे लिपट गई ? और कर्म को पहले मानते हैं तब भी सवाल उठता है—आत्मा के बिना कर्म किसके लगे ?

---

१ देखिये पंचाध्यायी में—

यथाऽनादिः स जीवात्मा, यथाऽनादिश्च (कर्म-) पुद्गलः।
द्वयोर्बन्धोऽप्यनादिः स्यात्, सम्बन्धो जीवकर्मणोः ॥ २।५

जब आत्मा पहले था ही वहीं, तब कर्म के साथ संयोग किया किसने ? आत्मा के द्वारा किये जाने के कारण ही तो कर्म कहलाते हैं।

कर्म को पहले और आत्मा के पीछे मानने पर, आत्मा भी उत्पन्न-विनष्ट होने वाला पदार्थ हो जाएगा। भारतवर्ष के प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों को यह सिद्धान्त अमान्य है कि आत्मा उत्पन्न और विनष्ट होता है। उन्होंने युक्ति एवं अनुभवपूर्वक यह सिद्ध किया है—'एगो मे सासओ अप्पा।'[1]

एकमात्र मेरी आत्मा शाश्वत है, जन्म-मरण से रहित है।

भगवद्गीता में भी इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है—

"अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।"[2]

यह आत्मा अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है और पुरातन—अनादि है। शरीर के नष्ट होने पर भी यह नष्ट नहीं होता।

आत्मा और कर्म के संयोग की गुत्थी समझाते हुए योगीराज आनंदघनजी ने पद्मप्रभ जिनेन्द्र की स्तुति करते हुए कहा है—

कनकोपलवत् पयडी पुरुषतणीरे, जोड़ी अनादि स्वभाव।
अन्यसंजोगी जिहाँ लगी आत्मा रे, संसारी कहेवाय ॥पद्म०॥[3]

सोना और मिट्टी के सम्बन्ध की तरह आत्मा और कर्म का संबंध है। सोना मिट्टी में मिला हुआ है, परन्तु वह कब से उसके साथ मिला हुआ है ? यह ठीक से कहा नहीं जा सकता। परन्तु यह निश्चित है कि मिट्टी मिला सोना एक दिन मिट्टी से अलग किया जा सकता है, भले ही वह (प्रवाहरूप से) अनादिकाल से—अनिश्चित काल से हो। इसलिए मिट्टी और सोने का संयोग-सम्बन्ध है, तादात्म्य सम्बन्ध नहीं।[4] इसी प्रकार आत्मा का कर्मों के साथ संयोग सम्बन्ध है, तादात्म्य सम्बन्ध नहीं। यह संयोग कब से है ? इसका उत्तर यह है कि प्रवाहरूप से तो वह अनादि है,

---

१ संथार पइन्ना

२ भगवद् गीता अ. २ श्लो. २०

३ आनन्दघन चौबीसी, पद्मप्रभ जिनस्तवन गा. ३।

४ न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः —सामायिक पाठ

किन्तु एक आत्मा (व्यक्ति) की दृष्टि से उसकी आदि है। मगर आत्मा पहले कर्मों से मिली थी या कर्म पहले आत्मा से मिले थे ? यह अतिप्रश्न है, जिसका समाधान बीज-वृक्ष-न्याय से भी दिया जाता है कि बीज पहले था या वृक्ष पहले ? दोनों की प्राथमिकता सापेक्ष है, अन्योन्याश्रित है। अतः इस पर अधिक गौर न करके यही निश्चय माना जाए कि आत्मा और कर्मों का सम्बन्ध प्रवाहरूप से भले ही अनादिकालीन हो परन्तु व्यक्तिगत रूप से उसकी आदि है, और एक दिन उसका अन्त भी आ सकता है। जिन कारणों से संयोग हुआ है, उन कारणों को मिटा देने पर आत्मा स्वर्णवत् शुद्ध कर्ममलरहित हो सकती है।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा भी अनादि है और कर्म भी अनादि है तथा आत्मा और कर्म का सम्बन्ध भी अनादि है। आत्मा जब तक कर्म-वर्गणात्मक कर्मों के साथ बद्ध है, तब तक वह संसारी कहलाता है। प्रवाह-रूप से यानी समष्टि की दृष्टि से—कर्म अनादि है। पुराने कर्म अपनी-अपनी स्थिति (अवधि) पूरी होने पर आत्मा से पृथक् होते जाते हैं। और नये-नये कर्म बँधते जाते हैं। आत्मा से पूर्वकृत कर्मों के अलग होने को जैन-दर्शन की भाषा में 'निर्जरा' और आत्मा के साथ नये कर्मों के आबद्ध होने को 'बन्ध' कहते हैं। यहाँ यह विचारणीय है कि आत्मा के साथ विभिन्न कर्मों के संयोग का प्रवाह अनादिकालीन है, न कि किसी एक कर्म-विशेष का संयोग, और न ही व्यक्तिरूप से कोई भी कर्म अनादि है। आशय यह है कि प्रवाहरूप से कर्म के अनादि होने पर भी व्यक्तिशः वह अनादि नहीं है और तप-संयम द्वारा कर्मों का प्रवाह नष्ट होने से और पुनः नवीन कर्मों का बन्ध न होने से (अर्थात्—कर्मों के 'आस्रव'—आगमन को रोक लेने= संवर करने से) कर्मों से सर्वथा मुक्त आत्मा सिद्ध परमात्मा हो सकती है।

कर्मों का कर्ता कौन ?

यह तो समझ में आ गया कि आत्मा को परमात्मा से दूर करने वाला कर्म है। कर्म का आत्मा के साथ संयोग ही आत्मा को अशुद्ध विकृत एवं परमात्मा से विसदृश बनाता है। अब प्रश्न यह है कि कर्म कौन करता है, दूसरे शब्दों में कहें तो आत्मा का कर्म के साथ संयोग कौन करता है ?

आत्मा कर्मों का कर्ता है या नहीं ? इस पर निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों दृष्टियों से कर्ममर्मज्ञों ने उत्तर दिया है—(१) परमशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा अकर्ता है। आत्मा अपने सहज स्वरूप में

अखण्ड और अविकृत एवं असंग रूप से अवस्थित है। स्वभाव त्रैकालिक सत्य है, उसे कुछ करना-धरना नहीं पड़ता। पानी में शीतलता स्वाभाविक होती है। शीतलता के लिए पानी को कुछ भी करना नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा में रहा हुआ त्रैकालिक स्वभाव परमपारिणामिक भाव है। उसके लिए आत्मा को कुछ भी करना-धरना नहीं होता। यह परमशुद्ध निःसंग परमात्मदशा है। इसमें श्रीमद् रामचन्द्रजी के शब्दों में—

'एक परमाणुमात्रनी न मले स्पर्शता,
पूर्ण कलंकरहित अडोल स्वरूप जो।'[1]

इस प्रकार की असंगदशा अर्थात् सर्वथा निर्ग्रन्थदशा आत्मिक विकास की सर्वोच्च अवस्था है। इसमें कर्मसहित समस्त परमाणु छूट जाते हैं। मन, वचन, काया और कर्म, जो सब पुद्गलरूप हैं, चैतन्य आत्मा से सर्वथा पृथक् हो जाते हैं। आत्मा को सर्वथा कलंकरहित, अखण्ड, निश्चलस्वरूप की प्राप्ति हो जाती है।

(२) शुद्ध निश्चयनय से आत्मा निजस्वभावरूप अनन्त ज्ञानादि का कर्ता है। अनन्त ज्ञान आत्मा का गुण है। गुण में पर्यायें होती हैं। आत्मा (जीव) ज्ञान की पर्यायों में परिणमन करता रहता है, इस दृष्टि से शुद्ध निश्चयनय से आत्मा ज्ञानादि का कर्ता है।

(३) अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा भावकर्मों का कर्ता है। राग-द्वेष कषाय आदि विभाव आत्मा के ही वैभाविक भाव हैं। वास्तव में द्रव्य कर्म तो जड़ हैं। आत्मा जब परपदार्थों पर रागादिभाव करता है, तब आत्मा के वैकारिक (वैभाविक) भावों की अपेक्षा से उन्हें चेतनकर्म (भाव-कर्म) कहा जाता है। वस्तुतः रागादि या कषायादि भाव आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, अपितु उसके विकार भाव हैं। अतः अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा रागादि भावकर्मों का कर्ता है। आत्मा इन भावकर्मों का अकर्ता तभी बन सकता है; जब वह अपने (आत्मा के) अनन्त-ज्ञान, दर्शन-सुख-वीर्य आदि गुणों में रमण करता हो, अपने स्वभाव में स्थिर हो, अपने भान में हो। ऐसी स्थिति में आत्मा अपने स्वभाव का ही कर्ता होता है, कर्म का नहीं। स्वभावदशा में जो स्थिर होता है, उसके कर्मबन्ध नहीं होता। आराधक भाव (अर्थात्—अपने आत्मधर्म की आराधना के भाव) में रहा हुआ जीव

---

१. अपूर्व-अवसर पद्य १८।

रागादि से मुक्त होता है, तब भावकर्म का बन्ध नहीं होता, द्रव्यकर्म का बन्ध तो असम्भव है। क्योंकि जहाँ रागादि या कषायादि भाव होते हैं, वहीं कर्मबन्ध होता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

'रागो य दोसो विय कम्मबीयं।'[1]

राग द्वेष ये दो ही मुख्यतया भावकर्म बन्ध के बीज हैं।

श्रीमद् राजचन्द्र ने भी कहा है—

चेतन जो निजभान मां, कर्ता आप स्वभाव।
वर्ते नहि निज भानमां, कर्ता कर्म-प्रभाव॥[2]

आत्मा यदि रागादि भावों में न रहकर अपने (आत्मस्वभाव) में ही होता है, तब उसमें स्थिरता होती है। जहाँ रागादि भावों का कर्तृत्व होता है, वहाँ अस्थिरता-चंचलता होती है। वही चंचलता आत्मप्रदेशों में कम्पन पैदा करती है और कम्पन के कारण ही कर्म-परमाणु का ग्रहण होता है।

तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—

'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः।'[3]

'कषाय (रागद्वेषादि) के कारण जीव (आत्मा) कर्म के योग्य पुद्गलों (द्रव्यकर्मों) को ग्रहण कर लेता है, वही बन्ध है।'

(४) इसीलिए व्यवहारनय की अपेक्षा से आत्मा को द्रव्य (जड़) कर्मों का कर्ता कहा जाता है। कर्मयुक्त आत्मा राग भी करता है, द्वेष भी। जब वह मूल (द्रव्य) आत्मा का पर्यायरूप कषायात्मक बन जाता है, तब रागद्वेष में स्वयं घुल मिलकर राग-द्वेष रूप में परिणत होने लगता है। उससे आत्मप्रदेशों में स्पन्दन होता है और वह स्पन्दन वातावरण में रहे हुए कर्म-योग्य पुद्गल-परमाणुओं को उसी प्रकार आकर्षित करता या ग्रहण कर लेता है। जिस प्रकार शरीर पर तेल लगाया हुआ मनुष्य (स्निग्धता के कारण) धूल को ग्रहण एवं आकर्षित कर लेता है।

---

१ उत्तराध्ययन अ० ३२ गा० ७

२ आत्मसिद्धि गा० ७८

३ तत्त्वार्थसूत्र अ० ८ सू० २-३

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है—

'अत्ता कुणदि सभावं, तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं ।
गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढ़ा ।।"[1]

आत्मा जब अपने स्व-भावों— रागादि वैभाविक भावों को करता है, तब वहाँ रहे हुए पुद्गल अपने अनुरूप भावों से जीव के साथ अन्योन्य अवगाहरूप से प्रविष्ट होकर कर्मभाव को प्राप्त होते हैं। इसके पश्चात् कर्मरूप में परिणत हुए वे पुद्गल द्रव्य जब अपना फल देते हैं, तो उनके निमित्त से आत्मा भी रागादिरूप में परिणमन करता है। इसलिए रागादि रूप भावकर्म का उपादानरूप कर्ता आत्मा ही है। मगर आत्मा चैतन्य होने से जड़ कर्मपुद्गलों का उपादानरूप कर्ता अथवा साक्षात्कर्ता नहीं है। फिर भी परोक्षभाव से कार्मण जाति के सूक्ष्म पुद्गलों के विकाररूप द्रव्य कर्म का निमित्त कर्ता माना जाता है।

कर्म-संयोग से आस्रव और बन्ध की प्रक्रिया

निष्कर्ष यह है कि आत्मा के उपादान और कर्मपुद्गल के उपादान अलग-अलग हैं। एक के उपादान में दूसरा परिवर्तन नहीं ला सकता। किन्तु दोनों का संयोगकृत या सम्बन्ध कृत परिवर्तन हो सकता है। इसमें दोनों एक दूसरे के निमित्त बन जाते हैं। कर्मपुद्गलों का संयोग सम्बन्ध आत्मा से होता है—कषाय से (राग और द्वेषादि से)। इनसे भावकर्म बनते हैं, और भावकर्म द्रव्यकर्म पुद्गलों को आकर्षित करते हैं। भावकर्म को आश्रव भी कहा गया है, अतः कर्मचक्र इस प्रकार चलता है— मूल (द्रव्य) आत्मा कर्म कर्ता नहीं होती। क्योंकि कर्म पुद्गल (जड़) है, और आत्मा चेतन है। आत्मा का चैतन्य स्वभाव होने से वह स्वभाव की कर्ता हो सकती है, परन्तु अचेतन कर्मपुद्गल की नहीं। द्रव्यात्मा की पर्यायरूप भावकर्ममय कषायात्मा से कर्मपुद्गलों का आकर्षण, फिर कषाय की पुष्टि। यों कषाय से कर्म और कर्म से कषाय का चक्र चलता है। यद्यपि कषाय के अतिरिक्त मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद (आत्म विस्मृति) और योग (मन-वचन-काया की प्रवृत्ति) भी आत्मपर्यायरूप कषायात्मा के ही अंग हैं। इसलिए ये भी कर्म के कर्ता हैं। यद्यपि कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्ति (योग) भी कर्म की कर्ता है। जैसे कि तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है—काय-वाङ्-मनः कर्म योगः,

---

१ पंचास्तिकाय ६५

स आस्रवः ।[1] ये आस्रव कर्मों के कर्ता होते हुए भी इनमें कर्मपुद्गलों को बांध कर रखने की क्षमता नहीं हैं। कषायों के क्षीण हो जाने पर केवल योगों (मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों) के कारण जो कर्मपुद्गलों का प्रवाह आता है, वह पहले क्षण कार्मण शरीर से जुड़ता है, दूसरे क्षण भोगा जाकर तीसरे क्षण में निर्जीर्ण हो जाता है। वह स्थिति ठीक वैसी ही है, जैसे–कोई सूखी रेत को दीवार पर गिराता है। वह रेत उसको छूती है और दूसरे ही क्षण नीचे गिर जाती है।[2]

पहले बताया जा चुका है कि ज्ञान आत्मा का मूल स्वभाव है, स्वभाव की स्थिति में आत्मा रहे, तब तो उस पर विजातीय तत्त्व का कोई प्रभाव, प्रवेश या संक्रमण नहीं होता, क्योंकि वहाँ एकमात्र ज्ञान के सिवाय दूसरे किसी विजातीय द्रव्य के स्वीकार की स्थिति नहीं है। उस अस्वीकार की स्थिति में अवकाश में रहे हुए कर्मवर्गणा के पुद्गल वातावरण में भले ही विचरण करते हों, पर रागादि तरंगों को आत्मा संवेदन करके जब नहीं खींचता, स्वीकार नहीं करता, तब वे उसके शरीर, मन और आत्मा पर कोई भी प्रभाव नहीं डाल सकते। यहाँ तक कि आत्मा में रहे हुए जड़ कर्मपुद्गल उदय में आने पर यदि वह आत्मा रागादि भाव नहीं करता है, तो केवल जड़ कर्मों के उदय से अन्य कर्मों का आस्रव (आगमन) नहीं होता। आत्मा में पड़े हुए अनन्त-अनन्त कर्म अपने आपमें चाहे जितने शक्तिमान् हों, लेकिन उनमें स्वयं में कोई प्रेरक शक्ति नहीं है कि बाहर रहे हुए कर्मपुद्गलों को प्रेरित करें और अपनी ओर खींचे। यह प्रेरक शक्ति आत्मा में ही है। आत्मा जब आत्मा के रागादिभावों की तरंगें, शरीर से बाहर आकर कर्मवर्गणा के पुद्गलों को आत्मा के साथ जोड़ने को प्रेरित करता है, तब वे कर्मपुद्गल आत्मा की प्रेरणा से आकर्षित होकर आत्मा के साथ लग जाते हैं। आत्मा की प्रेरणा के बिना यह नहीं होता। इस दृष्टि से आत्मा कर्म की प्रेरक हो सकती है, कर्ता नहीं। कर्म आदि जड़ पदार्थों में यह प्रेरकशक्ति नहीं है कि किसी चेतन को किसी प्रकार की प्रेरणा कर सके। 'समयसार' नामक आध्यात्मिक ग्रन्थ अलमारी में पड़ा है, अगर आप उसे अलमारी में से निकाल कर स्वयं विचार (भाव) करके

---

१ तत्त्वार्थसूत्र अ० ६ सू० १-२

२ णेहो उपिदगत्तस्स रणुओ लगादे जधा अंगे ।
एसो जिणोवएसो समासदो बंध-मोक्खाणं ॥ —मूलाचार २४७

स्वाध्याय नहीं करेंगे तो वह ग्रन्थ आपको प्रेरणा नहीं करेगा कि तुम मुझे अलमारी में से निकाल कर पढ़ लो। अतः कर्मबन्ध आत्मा की प्रेरणा शक्ति से ही होता है, यह प्रेरकशक्ति जड़ कर्मों में नहीं होती। इसलिए आत्म सिद्धि में कहा गया है—

जो चेतन करतुं नथी, नथी थतां तो कर्म।
तेथी सहज स्वभाव नहीं, तेम ज नहीं जीव-धर्म ॥[1]

आशय यह है कि आत्मा रागादि भाव रूपकर्म करता है, तभी द्रव्य कर्म आकर्षित होते हैं। अर्थात्—रागादि भावकर्म कारण हैं, द्रव्यकर्म उसके कार्य हैं। रागादिभावरूप कर्म आत्मा करता है, तभी कर्म पुद्गलरूप द्रव्यकर्म आकर्षित होकर ज्ञानावरणीयादिरूप में परिणत होते हैं। अगर आत्मा रागादिभावरूप कर्म न करे तो अनायास ही कर्म आकर आत्मा से नहीं चिपटते। जो जीवात्मा मोक्ष पधारे हैं, वे भी जब तक रागादिभावों का संवेदन करते रहे, तब तक नये कर्म बाहर से आकर उनसे जुड़ते रहे, और उन विजातीय कर्मपुद्गलों का बन्ध होता रहा। परन्तु जब से आत्मा के द्वारा रागादिभावों की प्रेरणा (संवेदन का स्वीकार) बन्द हुआ, आत्मा अपने ज्ञानरूप मूल स्वभाव में ही स्थित रहा, तब बाहर के कोई भी द्रव्य कर्म या भावकर्म उन पर प्रभाव न डाल सके।

इस सम्बन्ध में गजसुकुमार मुनि का ज्वलन्त उदाहरण[2] हमारे समक्ष है। उन्होंने शीघ्र ही कर्मों से सर्वथा मुक्त होने के लिए तीर्थंकर अरिष्ट नेमिनाथ से आज्ञा ली, और उनके आदेशानुसार समस्त परभावों-विभावों का त्याग करके एकमात्र आत्मस्वभाव—केवलज्ञानमय स्वभाव में ही वे ध्यानस्थ हो गये। अपने-आपको एकमात्र ज्ञानचेतना में ही तल्लीन कर लिया। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का रंचमात्र भी विचार नहीं किया। जरा भी रागद्वेषादि की भावना न करके अपनी प्रेरणाशक्ति को अपने स्वभाव में रोक ली। परन्तु आत्मा में पहले के पड़े हुए कर्म कैसे चुप रहते ? वे उदय में आये। उन्होंने अपना प्रभाव बताया। असह्य वेदना शरीर में उत्पन्न कर दी। साधारण आत्मा तो ऐसे कर्मोदय के समय अपना ज्ञान स्वभाव छोड़कर शरीर पर राग करती तथा निमित्त पर द्वेष

---

१. आत्म-सिद्धि गाथा ७४

२. अन्तकृद्दशांग सूत्र में गजसुकुमार का अधिकार

करती, परन्तु मुमुक्षु महामुनि गजसुकुमार ने न तो शरीर पर राग किया, और न ही निमित्त पर द्वेष। वे अपने ज्ञानस्वभाव से इंच भर भी नहीं हटे। भयंकर कर्मोदय की भी परवाह नहीं की। उस ओर ध्यान ही नहीं दिया। वे एकमात्र आत्मध्यान में,—ज्ञानस्वभाव में ही दृढ़तापूर्वक स्थिर रहे। फलतः वे समस्त पूर्वकृतकर्म अपना प्रभाव दिखाकर विसर्जित—नष्ट हो गये, नये कर्म बिलकुल भी न बँधे। और गजसुकुमार समस्त कर्मों का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध मुक्त परमात्मा हो गये।

कर्म-सिद्धान्त को यथार्थरूप से समझने के लिए आस्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष, इन पाँच तत्त्वों को जान लेना आवश्यक है। आत्मा का अपने स्वभाव—एकमात्र ज्ञान (चैतन्य) में रहना संवर है। संवर में केवल आत्मा की अनुभूति या ज्ञान की उपस्थिति रहती है। विजातीय तत्त्व का आकर्षण बन्द हो जाता है। मन, वचन, काया में स्पन्दन, हलचल गति या क्रिया को 'योग' कहते हैं। इन तीनों योगों की क्रिया से कर्म होते हैं या आते हैं। इसे आस्रव कहते हैं। इन क्रियाओं के साथ जब तक केवल योग रहता है, कषाय (रागादि) भाव नहीं होता, तब तक केवल प्रकृति-बन्ध हो सकता है,[1] स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध नहीं होता। आशय यह है कि जिस प्रवृत्ति के मूल में रागद्वेष या कषाय की वृत्ति है, वही प्रवृत्ति (क्रिया) गाढ़ कर्मबन्ध की हेतु होती है। जो प्रवृत्ति उदासीन या अनासक्त-भाव से की जाती है, जिसके मूल में रागद्वेषात्मक मलिनवृत्ति नहीं होती, केवल कर्त्तव्यरूप निर्मल बुद्धि है, वह प्रवृत्ति या क्रिया होते हुए अप्रवृत्ति-सी या अक्रिया-सी है। ऐसी प्रवृत्ति या क्रिया से गाढ़ कर्मबन्ध की शक्ति नहीं होती, उसे केवल नाममात्र को कर्मबन्ध कहते हैं। वस्तुतः उस कर्मबन्ध में कोई स्थिति या फलप्रदानरूप रस नहीं होता। प्राणी की अन्तरात्मा में जब भी रागद्वेष (कषाय) आदि के भाव होते हैं, तभी तत्क्षण आत्मक्षेत्रावगाही कार्मणवर्गणा के पुद्गल कर्मरूप में परिणत होकर कार्मणनामक सूक्ष्मशरीर के माध्यम से आत्मा के साथ बद्ध हो जाते हैं। यही बन्धन है। पूर्वबद्ध कर्मों को जब तप, संयम, व्रत, नियम ज्ञानादि साधना या प्रयत्न के द्वारा

---

१. (क) स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्तः, स्थितिः कालावधारणम्।
अनुभागो रसो ज्ञेयः, प्रदेशो दल-संचयः॥ —कर्मग्रन्थ टीका
(ख) 'जोगा पयडि-पएसं, ठिइअणुभागं कसायओ कुणइ॥'
—पंचम कर्मग्रन्थ गा. ९६

आत्मा से विलग कर दिया जाता है, उस विलग करने के प्रयत्न को 'निर्जरा' कहते हैं। निर्जरा का ही चरमबिन्दु 'मोक्ष' है, जिसमें सर्वकर्मों से सर्वथा मुक्त शुद्ध निर्मल स्वभावस्थ आत्मा का अस्तित्व होता है। इसमें पुद्गल का योग बिल्कुल नहीं होता। योगों का सर्वथा निरोध हो जाता है।

कर्म की शक्ति अधिक है या आत्मा की ?

एक ओर तो यह कहा जाता है कि आत्मा में अनन्त शक्ति है, वह परमात्मा बन सकती है, दूसरी ओर कर्मों को भी इतना बलवान बताया गया है कि जब तक मोहकर्म का उदय रहता है, तब तक प्रति समय इसका बन्ध होता रहता है। अमुक कर्मों का फल भोग लेने के बाद कर्म पुद्गल आत्मप्रदेशों से अलग हो जाता है किन्तु फल भोग के समय राग-द्वेषात्मक भाव हों तो फिर जीव नये कर्म बांध लेता है। इस प्रकार कर्म-बन्ध, फल भोग फिर कर्मों के वशवर्ती होकर नाना गतियों और योनियों में जन्म-मरण, तथा सुख-दुःख-वेदन, करता रहता है। इस प्रकार संसारी जीव में जब तक राग-द्वेष-वृत्ति रहती है, तब तक यह कर्मचक्र आत्मा को जकड़े रहता है। इसी दृष्टि से 'भगवती आराधना' में कर्म की बलवत्ता बताते हुए कहा है—

'कम्माइं बलियाइं बलिओ कम्मादु णत्थि कोइ जगे।
सव्व-बलाइं कम्म मलेदि, हत्थीव णलिणिवनं ॥[1]

'जगत् के सभी बलवानों से कर्म बलवान् हैं। कर्म से बढ़कर संसार में कोई बलवान् नहीं है। जैसे हाथी नलिनी वन का नाश कर देता है, वैसे ही कर्म सब बलों का नाश कर देते हैं।

ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है—आत्मा और कर्म दोनों के अनादि-काल से चल रहे इस द्वन्द्वयुद्ध में अन्त में किसकी विजय होती है ? दोनों में कौन प्रबल है, कौन निर्बल ?

बाह्य दृष्टि से देखने पर तो कर्म की शक्ति प्रबल मालूम होती है, किन्तु अन्तर की गहराई में उतरकर देखा जाए तो आत्मा की शक्ति ही अपराजेय और प्रबल प्रतीत होती हैं। लोहा जल की अपेक्षा कितना कठोर

---

१. भगवती आराधना १६२१

होता है ? लेकिन लोहे पर जल बार-बार लगकर उसे जंग लगाकर धीरे-धीरे काट देता है। इसी प्रकार पाषाण स्थूलदृष्टि से देखने पर कठोर प्रतीत होता है, किन्तु उस पर तीव्र धारा से सतत गिरता हुआ पानी उसके भी टुकड़े-टुकड़े कर देता है।

अतः कर्म चाहे जितने सघन एवं कठोर हों आत्मा की प्रबल शक्ति के आगे वे टिक नहीं सकते। यदि कर्मों की शक्ति आत्मशक्ति से प्रबल होती तो भगवान् महावीर अपनी आत्मा पर जन्म-जन्मान्तर से छाये हुए सघन कर्मों को काटकर कैसे कर्मविजेता—जिनवर बनते। अनन्त तीर्थंकरों ने तथा अगणित मुक्तिगामी साधकों ने अपनी आत्मा पर लगे हुए पहाड़ जैसे प्रबल और कठोर कर्मों को अपनी आत्मशक्ति से भेदन करके मुक्ति-सिद्धि प्राप्त की है। पूज्यपाद आचार्य ने उनकी स्तुति करते हुए कहा है—'भेत्तारं कर्मभूभृताम्'[1]—जो कर्मरूपी पर्वतों को भेदन करने वाले हैं। आत्मा की शक्ति कर्मशक्ति से प्रबल है, यह दृढ़ प्रतीति जिन महर्षियों को हो जाती है, वे क्या करते हैं ? इसके लिए उत्तराध्ययन सूत्र का प्रबल प्रमाण प्रस्तुत है—

'खवित्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो ॥'[2]

संयम और तप के द्वारा पूर्वकर्मों का क्षय करके उन्हें पछाड़कर समस्त दुःखों का अन्त करने के लिए अर्थात् मोक्ष या परमात्मपद पाने के लिए महर्षिगण पराक्रम—पुरुषार्थ करते हैं।

अगर कर्मशक्ति से आत्मशक्ति प्रबल न हो और आत्मा को सदैव कर्म पछाड़ते ही रहें, तब तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र की साधना और तप, संयम की आराधना का कोई अर्थ ही न रह जायगा। वर्षों तक की गई आत्मभावों या स्वरूपरमण की साधना सिद्धि के तट तक न पहुँचकर पुनः कर्मप्रवाह में बह जायगी। परन्तु कर्मशक्ति को आत्मा तभी परास्त कर सकता है, जब आत्मा अपनी शक्ति से अनभिज्ञ हो। जब आत्मा अपनी अनन्तशक्तियों का पूर्ण भान करके भेदविज्ञानरूपी महाशस्त्र उठा ले; तथा आत्मा यह विवेक जाग्रत कर ले; कि यह सब कर्मजाल मकड़ी द्वारा फैलाए हुए जाल की तरह मेरी अपनी ही मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद (आत्मविस्मृति),

---

१ तत्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि टीका श्लोक १

२ उत्तराध्ययन सूत्र अ. २५ गा. ४५

कषाय (राग-द्वेष-मोहादि) तथा शुभाशुभ त्रियोगजन्य भूलों या त्रुटियों—स्खलनाओं के कारण फैलाया हुआ है। अगर मैं पूर्ण साहस और आत्मबल बटोरकर इन कर्मों से भिड़ जाऊँ तो इनके छिन्न-भिन्न होते देर न लगेगी।

यों देखा जाए तो कर्म और आत्मा का द्वन्द्व युद्ध प्रवाहरूप से अनादि काल से नाना गतियों और योनियों के मैदान में चला आ रहा है। एक क्षण के लिए भी इन दोनों का यह द्वन्द्वयुद्ध या संघर्ष रुकता नहीं। एक ओर कर्मों के दल के दल आत्मा पर छाते रहते हैं, तो दूसरी ओर आत्मा उनका उदयकाल आने पर भोगकर उन्हें क्षीण भी करता जाता है।[1] कर्म और आत्मा के इस द्वन्द्वयुद्ध में जब आत्मा अपनी शक्ति और ज्ञानादि स्वभाव के स्रोत को भूल जाता है, तब कर्म जीत जाते हैं, आत्मा हार जाती है और जो व्यक्ति पूर्वबद्ध कर्मों के उदय में आने पर समभाव, धैर्य और शान्ति से भोग लेते हैं, उन कर्मों के फलभोग के समय रागद्वेष, कषाय, मोहादि नहीं करते, नये कर्मों को आने से रोक देते हैं, नये कर्मबन्ध नहीं करते तब उनकी आत्मा जीत जाती है, कर्म हार जाते हैं। इस प्रकार हार-जीत का क्रम बना रहता है। कर्म और आत्मा की इस लड़ाई में कभी कर्म विजय पाते हैं, कभी आत्मा विजयी होती है।

क्या कर्म करने, कर्मफल भोगने तथा कर्मक्षय करने में जीव स्वतन्त्र है ?

ईश्वरकर्तृत्ववादी दर्शनों एवं धर्म-सम्प्रदायों का कहना है कि ईश्वर ही सृष्टि का कर्ता-धर्ता है, इसलिए वही जीव से कर्म करवाता है और फल भी वही भुगवाता है। परन्तु यह कथन युक्तिविरुद्ध है; क्योंकि यदि ईश्वर जीवों के कर्म का कर्ता बनता है, तब वह एक को शुभ और दूसरे को अशुभ कर्म करवाने वाला होने से पक्षपाती सिद्ध होगा, और जो कर्म को करता है, वही उसके फल का भोक्ता बनेगा। उनके मतानुसार जीव तो स्वतः स्वतन्त्र कर्मकर्ता नहीं है, तब उसे फल क्यों भोगना चाहिए ? यह कहाँ का न्याय है कि करे कोई, भरे कोई ? इसीलिए सामायिक पाठ में कहा है—जीव अपने द्वारा पूर्व में किए हुए शुभाशुभ कर्मों का फल स्वयं ही पाता है। यदि कर्मफल दूसरे के द्वारा देने पर मिलता है; तब तो स्वयं

---

१ जहा रागेण कडाण कम्माणं पावगो फलविवागो।
तह य परिहीणकम्मा सिद्धा सिद्धालयमुवेति ॥

—औपपातिक सूत्र

द्वारा कृतकर्म निरर्थक हो जाते हैं।[1] अतः जीव ही स्वतन्त्र रूप से कर्मों का कर्ता है।[2]

गीता में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥[3]

जगत् के जीवों का कर्तृत्व तथा उनके कर्मों का सृजन प्रभु [ईश्वर] नहीं करता और न ही वह कर्मफल का संयोग कराता है। यह सब [जीव अपने स्वभाव के अनुसार कर्म करता है तथा कर्म अपने स्वभावानुसार फल प्रदान करता है] यों स्वभावतः चलता रहता है।

कतिपय दार्शनिक कर्म करने में जीव को स्वतन्त्र मानते हैं, परन्तु कर्मफल भोगने में ईश्वराधीन मानते हैं। उनका कहना है—(१) जीव स्वयं अज्ञानी एवं असमर्थ है, इसलिए अपने बुरे कर्म का फल स्वयं भोगना नहीं चाहता। इसलिए ईश्वर (परमात्मा) उसे फल भुगवाता है। (२) अज्ञ जीव को अपने पूर्वकृत कर्मों का ज्ञान भी नहीं होता। इसलिए किस कर्म का कौन-सा फल भोगना चाहिए? यह ज्ञान न होने से ईश्वर को ही कर्म फलदाता मानना चाहिए। (३) जीवकृत कर्मों का फल कई बार निष्फल प्रतीत होता है। जो इस जन्म में अच्छे कर्म करता है, वह दुःखी और बुरे (पाप) कर्म करने वाला सुखी और सन्तुष्ट देखा जाता है। इसलिए कर्मों का यथार्थ फल कई बार मिलता नहीं। इसलिए ईश्वर को ही कर्म फलदाता मानना ठीक है।[4]

ईश्वर को कर्मफलदाता मानने पर वह पक्षपाती, अन्यायी, राग-द्वेषलिप्त तथा अनन्त जीवों के कर्म और उनके फल का हिसाब-किताब

---

१ स्वयंकृतं कर्म यदात्मना पुरा फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयंकृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥

२ जीवाणं चेयकडा कम्मा कज्जंति नो, अचेयकडा कम्मा कज्जंति।
—भगवती० १/६२

३ गीता ५/१४

४ (क) अज्ञो जन्तुरनिशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वर प्रेरितोगच्छेत् स्वर्गं वाश्वभ्रमेव वा ॥
(ख) ईश्वरः कारणं, पुरुषकर्मफलस्यादर्शनात्। —न्यायदर्शन

करने में ही चौबीसों घण्टे सतत् लगा रहेगा, उसे अपने स्वभाव में रमण करने की फुर्सत कब मिलेगी ? ऐसी स्थिति में उसका परमात्मपद भी निरर्थक सिद्ध होगा। वह पुनः संसार के प्रपंच में पड़कर स्वयं जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहेगा।

अतः कर्मों में स्वतः ऐसी शक्ति होती है, कि वे अपना शुभाशुभ फल प्रदान करते रहते हैं। फल तभी मिलता है, जब आत्मा राग-द्वेषवश भाव-कर्मों को करता है, और उनसे जीव के साथ द्रव्यकर्मों का संयोग हो जाता है। और यह भी कोई नियम नहीं है कि कर्मों का फल तत्काल मिले। कई बार इस लोक में किये हुए कर्मों का फल अगले जन्मों में मिलता है, कभी कई पूर्वजन्मों में किये हुए कर्मों का फल इस जन्म में मिलता है।[1] परन्तु यह निश्चित है कि कर्मों का फल देर-सवेर भोगे बिना कोई छुटकारा नहीं है।[2] आज का जमाया दूध, तुरन्त दही नहीं बन जाता। किसान बीज बोता है, उसकी फसल तुरन्त तैयार नहीं होती। दवा खाते ही रोगी तुरन्त स्वस्थ नहीं हो जाता। एक ही दिन के व्यायाम से कोई पहलवान नहीं बन जाता। एक ही दिन या वर्ष के अभ्यास से कोई विद्यार्थी स्नातक नहीं बन जाता। इसी प्रकार कर्म का फल चाहे तत्काल न मिले, मिलता अवश्य है।

पुद्गलों में ऐसी फल प्रदान शक्ति है, कि वे कभी तत्काल और कभी अमुक अवधि के पश्चात् फल प्रदान करते ही हैं। इसीलिए कर्मशास्त्र में कर्मों का वर्गीकरण करके, उनके आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मुक्ति (कर्मों से छुटकारा पाने) के कारणों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।[3]

इसलिए जीव जैसे कर्म करने में स्वतन्त्र है, उसी प्रकार वह आते हुए नये कर्मों को रोकने तथा पूर्वबद्ध कर्मों को क्षय करने में स्वतन्त्र है। कर्मों का यथायोग्य फल भी उसे स्वतः देर-सबेर मिलता रहता है। एक प्राणी के कर्मों का फल दूसरा व्यक्ति भोग ले, या प्राणी अपने शुभाशुभ

---

१ परलोगकडा कम्मा इहलोए वेइज्जंति, इहलोगकडा कम्मा परलोए वेइज्जंति।
—भगवती सूत्र श. १६

२ 'कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि।' —उत्तराध्ययन ४/३

३ इसके लिए देखिये कर्मग्रन्थ, गोम्मटसार, कम्मपयडी, पंचसंग्रह आदि ग्रन्थ।

कर्मों का फल भोगे बिना ही छुटकारा पा ले, ऐसा हो नहीं सकता।[1] स्वयं के कर्मों का फल स्वयं को भोगना पड़ता है। इसी प्रकार प्राणी स्वयं ही पुरुषार्थ करके कर्मों का क्षय कर सकता है।[2] कर्मों के फलभोग के मामले किसी देवी-देव, शक्ति, भगवान् ईश्वर या परमात्मा की सिफारिश, प्रार्थना, क्षमायाचना, पाप माफी का फतवा, रियायत, या मिन्नत नहीं चलती। इन और ऐसी ही चेष्टाओं से कर्मों के फल भोगने से छुटकारा नहीं हो सकता। इसलिए विश्व में जितने भी कर्म मुमुक्षु साधक हुए हैं, उन्होंने कर्मप्रवाह को रोकने के लिए आस्रवनिरोधरूप संवर की, तथा पूर्वबद्ध कर्मों को क्षय करने के लिए निर्जरा की साधना को अनिवार्य माना है। संवर के लिए व्यवहार दृष्टि से समिति, गुप्ति, महाव्रत, अणुव्रत, क्षमादि दशविध धर्म या रत्नत्रयरूप धर्म, अनुप्रेक्षा (भावना) परीषह-जय एवं सामायिक आदि चारित्र का पालन आवश्यक है और कर्मों की निर्जरा के लिए भी इनकी, तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और सम्यक्तप की निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से साधना करना आवश्यक है।[3]

कर्मों से भिन्न होकर परमात्मा से अभिन्न होने की प्रक्रिया

अतः यह निश्चित है कि कर्मों से सर्वथा मुक्त या घातिकर्मों से सर्वथा मुक्त जीव ही परमात्मा बनता है और एक बार कर्ममुक्त परमात्मा बनने के बाद वह पुनः संसार में लौटकर नहीं आता। जिस प्रकार पका हुआ फल वृक्ष से टूटकर नीचे गिरने के बाद पुनः वृक्ष का वृन्त से नहीं लग सकता, उसी प्रकार कर्म भी आत्मा से सर्वथा वियुक्त होने के बाद उस मुक्तात्मा को पुनः नहीं लगते।

जितने भी जीवन्मुक्त अर्हत्—परमात्मा हुए हैं, उन्होंने सर्वप्रथम मोहनीय कर्म का क्षय किया है, उसके फलस्वरूप उन्हें क्षायिक सम्यक्त्व और यथाख्यात चारित्र की उपलब्धि हुई है। तदनन्तर ज्ञानावरणीय,

---

१ अप्पणा चेव उदीरेइ, अप्पणा चेव गरहइ, अप्पणा चेव संवरइ।
—भगवती सूत्र

२ स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयं तस्माद् विमुच्यते॥ —वेदान्तदर्शन

३ आस्रवनिरोधः संवरः। स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजयचारित्रैः।
—तत्त्वार्थ ९. १-२

दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म का क्षय किया। इन चारों आत्मगुणघाती कर्मों के समूल क्षय से क्रमशः अनन्तज्ञान (सर्वज्ञत्व), अनन्तदर्शन (सर्वदर्शित्व) और अनन्त आत्मशक्ति प्रकट हो गई। उन्होंने दसवें गुणस्थान में मोहनीय का, तथा बारहवें गुणस्थान में क्रमशः शेष तीन घाती कर्मों का क्षय करके तेरहवें गुणस्थान में भगवान् ने वीतराग-अर्हत्-अवस्था प्राप्त की। वे जीवन्मुक्त अर्हत्-परमात्मा हुए। इसके पश्चात् शेष चार अघाती-कर्मों का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त अवस्था प्राप्त करने की प्रक्रिया यह है—

चौदहवें गुणस्थान में त्रियोगों का सर्वथा निरोध करके सर्वोच्च आत्मसमाधि द्वारा वेदनीय कर्म का क्षय किया; इससे वे समस्त सांसारिक सुख-दुःखों से रहित होकर अनन्त अव्याबाध सुख (आत्मिक आनन्द) से सम्पन्न हुए। साथ ही आयुकर्म का क्षय करके जन्म-मरण से रहित हुए। नामकर्म का क्षय करके आत्मा का स्वाभाविक अमूर्त्तगुण प्राप्त किया। फिर गोत्रकर्म का क्षय करके अगुरुलघुत्व गुण प्रगट किया। इस प्रकार आठों ही कर्मों का क्षय करके वे जीवात्मा से सिद्ध परमात्मा हुए। अपनी आत्मा में परमात्म (ईश्वरीय) तत्त्व प्रगट किया।

इससे स्पष्ट है कि अर्हत्परमात्मा और सिद्धपरमात्मा भी एक दिन हमारी ही तरह कर्मों से युक्त थे किन्तु उन्होंने जैसे स्वयं पुरुषार्थ द्वारा घातीकर्मों को तथा सर्वकर्मों को नष्ट किया और अर्हत् या सिद्ध परमात्मा बने, वैसे हम भी घाती कर्मों या सर्वकर्मों का सर्वथा क्षय करके अर्हत्परमात्मा या सिद्धपरमात्मा बन सकते हैं। कर्मों से सर्वथा भिन्न होने पर ही जीवात्मा परमात्मा से अभिन्न हो सकता है।

१७

आत्म-स्व-भावनिष्ठ ही परमात्मभावनिष्ठ

आत्मा और परमात्मा का मूल स्वभाव समान है

आत्मा और परमात्मा का मूल स्वभाव और गुण-धर्म एक समान है। उसमें रत्ती भर भी अन्तर नहीं है। इन दोनों का मौलिक स्वभाव या गुण-धर्म समान है, इसीलिए कहा जाता है—अप्पा सो परमप्पा। अर्थात्—आत्मा ही परमात्मा है, अथवा आत्मा परमात्मा हो सकता है।

मिट्टी और घड़े के स्वभाव में साम्य है, इसलिए कहा जाता है—मिट्टी से घड़ा बन सकता है। घट और तन्तु में या पट और मिट्टी के स्वभाव में साम्य नहीं; इसलिए तन्तु से घट अथवा मिट्टी से पट नहीं बन सकता। इसी प्रकार शरीरादि के स्वभाव से परमात्म स्वभाव में बहुत अन्तर है। किन्तु सच्चिदानन्दघनरूप शुद्ध आत्मा और परमात्मा के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं जो परमात्मा का स्वभाव है, वही आत्मा का स्वभाव है। कहा भी है—

'सिद्धस्य स्वभावो यः, सैव साधक-योग्यता।'[1]

जो सिद्ध परमात्मा का स्वभाव है, वही स्वभाव प्रगट करने की साधक की योग्ता है। आशय यह है कि वर्तमान में जो आत्मा स्व-स्वरूप में स्थित नहीं है, अथवा सतत स्वभाव में रत नहीं रह सकता, वह यदि चिन्तन करे तो स्वभाव में रत रह सकता है—

"सिद्धोऽहं सुद्धोऽहं अणंत-णाणादि-गुण-समिद्धोऽहं ॥"[2]

---

१ अध्ययनसार २ प्रवचनसार

मैं सिद्ध परमात्मा हूँ, मैं अनन्त ज्ञानादि गुण से समृद्ध शुद्ध (निर्विकार) आत्मा हूँ। मैं परभावों से रहित हूँ।

विभिन्नता या अपूर्णता आत्मा का स्वभाव नहीं

प्रत्येक आत्मा परमात्मा के समान सच्चिदानन्द-मूर्ति है। शुद्ध है, पवित्र है, निर्विकार है, ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण है। बाह्यरूप से शरीरादि में तथा वर्तमान स्थिति में अन्तर दिखाई देता है, परन्तु मूल स्वभाव से तो समस्त आत्माएँ परमात्मा हैं। अपूर्णता आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है। जैसे—सोने की १०० पाट हैं। उन पर विभिन्न प्रकार के वस्त्र लपेटे हुए हैं; मगर उन सबके भीतर सोना तो एक समान है। इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा भिन्न-भिन्न चैतन्य का पिण्ड है। बाहर में छोटा-बड़ा शरीर और वर्तमान काल की क्षणिक अवस्था में अपूर्णता है, उसे लक्ष्य में न लेकर आत्मा को त्रैकालिक स्वभाव की दृष्टि से देखें तो प्रत्येक आत्मा का स्वभाव परमात्मा के स्वभाव के समान परिपूर्ण है। जितनी शक्ति सिद्ध परमात्मा में है, उतनी ही शक्ति प्रत्येक आत्मा में है।

स्व-भाव के विषय में ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि में अन्तर

अज्ञानी जीव इस तत्त्व को भूलकर शरीरादि और विकारभावों को ही अपने मानता है। इसके कारण वह संसार में परिभ्रमण करता है। ज्ञानी आत्मार्थी अपने परिपूर्ण आत्मस्वभाव को पहचान कर उसके आश्रय से मोक्ष (परमात्मपद) पाने का साधन करता है, और एक दिन संसार-सागर को पार कर लेता है। अतः शक्तिरूप से आत्मा ही परमात्मा है; इसका भान करके आत्म स्वयं प्रकटरूप से परमात्म बन जाता है। वह भली-भाँति समझ लेता है कि परमात्मदशा प्रकट करने का अवसर इस मनुष्य शरीर में ही है। फिर वह आत्मा के प्रति रुचि और उत्सुकता से सत्पुरुषों के समागम से आत्म-स्वभाव की पहचान करता है कि मैं शुद्ध-पवित्र हूँ, ज्ञानानन्द से परिपूर्ण हूँ। जो भी विकारी भाव (रागादि विभाव) होता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है।

वह भविष्य की अपेक्षा से साक्षात् सिद्ध परमात्मा है।

वर्तमानकाल की क्षणिक अपूर्णता को न देखकर सिद्ध परमात्मा के समान पूर्णता का निश्चय करें और ऐसा विश्वास अन्तरंग में लाए तो एक दिन वह सिद्ध परमात्मा हुए बिना नहीं रहता। जैसे सिद्ध परमात्मा में किसी

उपाधि का अंश नहीं है, वैसा ही मेरा स्वरूप है। जैसे सिद्ध परमात्मा के संकल्प-विकल्प या रागादिक कोई उपाधि नहीं होती, वैसे ही मेरे भी नहीं है। मैं अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआत्मिकसुख और अनन्तबलरुप अनन्तगुणों से सम्पन्न स्वाभाविक तत्त्व (आत्मद्रव्य) हूँ, क्योंकि मैं सिद्ध परमात्मा की जाति का हूँ। वे अनंतज्ञानानंद के रसकन्द हैं, वैसा ही मैं हूँ।" जिसके ज्ञान में तथा अन्तःकरण में ऐसी दृढ़ता हो जाती है, जो सिद्ध परमात्मा को भाव से अपनी आत्मा में स्थापित कर लेता है, उसके विरुद्धभाव का नाश होकर ही रहता है। जो दृढ़श्रद्धापूर्वक परमात्मा के स्वभाव के समान अपने आत्म-स्वभाव का निश्चय कर लेता है कि मैं पूर्ण, अशरीरी, अबन्ध परमात्मा हूँ, तत्पश्चात् उसमें रागद्वेष और अस्थिरता बहुत ही अल्प रह जाती है; क्योंकि मूल में सब आत्माओं की आन्तरिक दशा तो निश्चयनय की दृष्टि से सिद्ध परमात्मा के समान ही है। जिसे यह दृढ़श्रद्धा हो जाती है कि मैं शुद्ध, बुद्ध, नित्य, निरावलम्बी, पुण्य-पाप आदि जन्य उपाधि से रहित, असंग, सिद्ध परमात्मा के समान हूँ; सिद्ध भगवान् की आत्मा जितनी महान् है, उतनी ही महान् मेरी आत्मा है। मेरी भी अन्तरंगदशा परमात्मा के समान हैं; उसके अन्तरंग (आत्मा) में परमात्मा के समान स्वभाव की बात जम गई है। इसलिए वह भविष्य की अपेक्षा से साक्षात् सिद्ध-परमात्मा ही है। परमात्मानन्द पंचविंशति में भी इसी तथ्य को उजागर किया है—

आकाररहितं शुद्धं स्व-स्वरूपे व्यवस्थितम्।
सिद्धमष्ट-गुणोपेतं निर्विकारं निरंजनम्॥[1]

तत्समं तु निजात्मानं यो जानाति स पण्डितः।
सहजानन्द-चैतन्यं, प्रकाशयति महीयसे॥[2]

शुद्ध, निरंजन, निराकार, निर्विकार तथा स्व-स्वरूप में सदैव स्थित अष्टगुणों से युक्त जो सिद्ध परमात्मा हैं। उनके समान जो साधक अपनी आत्मा को जानता है; वह सत्-असत्-विवेकशालिनी बुद्धि से युक्त पण्डित है। उसका सहजानन्द, ज्ञानघन चैतन्य परमात्मा के समान महान् रूप से प्रकाशित होता है।

निष्कर्ष यह है कि मन, वाणी, देह, कर्म तथा रागादि परभावों एवं

---

१ परमानन्दपंचविंशति २०
२ परमानन्दपंचविंशति २१

विभावों की उपाधि से रहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का जो स्वभाव है, वही परमात्मा का स्वभाव है; इस सिद्धान्त को हृदयंगम करके जो दृढ़विश्वास कर लेता है कि अपना (आत्मा का) शुद्ध स्वभाव ही मेरे लिए उपादेय है, वह साधक भविष्य में आत्मस्वभाव में स्थिर होकर परमात्मभाव को प्राप्त कर लेता है।

आत्मा में ही परमात्मा बनने की शक्ति है, शरीरादि में नहीं

कोई व्यक्ति अपने घर में पाँच किलो सोना रखता है, तो उसकी पत्नी को यह विश्वास हो जाता है कि भविष्य में इस सोने से आभूषण बनेंगे। आभूषण अभी बने नहीं हैं, किन्तु उस सोने से आभूषण बनाने की सारी योजना उसके मन-मस्तिष्क में दृढ़-प्रतीतिपूर्वक बैठ जाती है, क्योंकि उस सोने में आभूषण बनने की पूरी शक्ति है। इसी प्रकार सच्चिदानन्दघन शुद्ध आत्मा को वर्तमान में, ज्ञान, दर्शन, आनन्द (अव्याबाध आत्मसुख) और आत्मशक्ति में अपूर्ण होते हुए भी अनन्त-ज्ञान-दर्शन-सुख-शक्तिरूप परमात्मस्वभाव से अभिन्न माने और यह दृढ़विश्वास रखे कि मेरी आत्मा में भी परमात्मा बनने की शक्ति मौजूद है; उस साधक के मन-मस्तिष्क में अभेद ध्रुव-दृष्टि (परमात्मा और आत्मा की शक्ति में साम्यता होने की अखण्ड परमार्थ दृष्टि) होने से अन्य विकल्प या शंका-कुशंका उठती ही नहीं और उसे निश्चित प्रतीति हो जाती है कि मैं परमात्मा के समान अनन्त-ज्ञान-अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त आत्मानन्द से सम्पन्न हो जाऊँगा क्योंकि उसे आत्मा में अनन्तज्ञानादिचतुष्टय वर्तमान में शक्तिरूप में प्राप्त हैं, उनकी अभिव्यक्ति कब और कैसे होगी ? इसकी चिन्ता अखण्ड ध्रुव-दृष्टि वाले को नहीं होती।

आत्मा में परमात्मा बनने की यह शक्ति कहीं बाहर से, या पर-पदार्थों से नहीं आती, वह उसके भीतर ही भरी है। प्रत्येक आत्मा परमात्म शक्ति से परिपूर्ण है। उसी में से परमात्मशक्ति प्रगट होती है। जैसे पिप्पल को चौंसठ प्रहर तक घिसते रहने से उसमें से तीक्ष्णता (विशिष्ट शक्तिमत्ता) प्रगट होती है। वह तीक्ष्णता कोई बाहर से नहीं प्रगट होती, खरल में से भी नहीं प्रगट होती। परन्तु पिप्पल में ही चौंसठ पहरी तीक्ष्णता शक्ति-रूप से विद्यमान थी, वही प्रगट होती है। वह तीक्ष्णता बाहर से नहीं आती इसी प्रकार वह चौसठ पहरी तीक्ष्णता एक से लेकर तिरसठ पहर तक की तीक्ष्णता से भी नहीं आती। वास्तव में उस अधूरी तीक्ष्णता का अभाव होकर पिप्पल की पूर्ण शक्ति में से ही वह पूरी तीक्ष्णता (तिक्तता) आती

है। चूहे की मींगनी भी पिप्पल जैसे ही आकार की होती है, परन्तु उसको घिसने से उसमें से तीक्ष्णता प्रगट नहीं होती, क्योंकि उसका स्वभाव ही वैसा नहीं है। पिप्पल में ही तीक्ष्णता का स्वभाव है, इसलिए उसमें से ही तीक्ष्णता प्रगट होती है। वह किसी बाह्य (अन्य) वस्तु के संयोग से भी अभिव्यक्त नहीं होती। इसी प्रकार आत्मा परिपूर्ण परमात्मशक्ति से भरा है, उसी की श्रद्धा एवं उसके यथार्थ ज्ञान की एकाग्रता से तथा शुद्ध रत्नत्रय के अभ्यास से आत्मा में ही परमात्मशक्ति या परमात्मदशा प्रगट हो जाती है। किन्तु शरीर आदि बाह्य पदार्थों को घिस डालने से परमात्मशक्ति या परमात्मदशा प्रगट नहीं होती, क्योंकि उनका वैसा स्वभाव ही नहीं है। इसी प्रकार अपूर्णदशा में से भी परिपूर्ण परमात्मदशा नहीं आती। आत्मा में परमात्मा के समान जो ध्रुवस्वभाव त्रिकाल भरा है, उसी के आलम्बन से अपूर्णदशा का क्षय (व्यय) होकर परिपूर्ण परमात्मदशा प्रकट हो जाती है। और वह होती है—अपनी आत्मा में सिद्ध-परमात्मत्व स्थापित करने से ही।

इस प्रकार परिपूर्ण परमात्मदशा शुद्ध आत्मा में से ही प्रगट होगी। यही सिद्धि, मुक्ति या परमात्मपदप्राप्ति का ठोस उपाय है।

आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता भी है

मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता है, तभी कुम्भकार उस मिट्टी को लाता है, मन ही मन दृढ़ निश्चय करता है, इससे घड़े, कुंजे, सुराही, सकोरे, हँडिया, धूपदान आदि बनेंगे। फिर वह अपने निर्णयानुसार मिट्टी को रौंदने-गूंथने लग जाता है, और घड़ा आदि वस्तुयें बना लेता है। इसी प्रकार आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता है। इसीलिए जो भी सामान्य आत्मा से परमात्मा बने हैं, उन्होंने आत्मा और परमात्मा के स्वभावसाम्य की अभेद निश्चयदृष्टि की, तथा आत्मा के शुद्ध स्वभाव की ही सतत लौ लगाए रखी, वे परभावों के ज्ञाता-द्रष्टा भले ही बने रहे। फलतः उनकी परिणति आत्मा के शुद्ध स्वभाव की ओर ही रही। आत्मा को उन्होंने अखण्डित रूप से सतत परमात्मस्वभाव के स्मरण, चिन्तन और ध्यान में लगाए रखा। पुण्य या रागादि परभावों या विभावों में नहीं जाने दिया। इसी प्रकार जो साधक संसार के सजीव-निर्जीव पदार्थों को परभाव तथा कषायादि भावों को विभाव समझकर उनसे दूर रहता है, उनकी इच्छा भी नहीं करता। जो कर्मोदय से प्राप्त शुभाशुभ भाव—परभाव है तथा राग-

द्वेष, मोह कषायादि शुभाशुभ विभाव हैं, वे आत्मा के असली स्वभाव नहीं हैं। जो साधक इस प्रकार आत्मा की विभिन्न पर्यायों पर दृष्टि नहीं रख-कर एकमात्र आत्मद्रव्य पर अखण्ड ध्रुवदृष्टि रखता है, वह पर्यायों को जानता-देखता है, पर उनका आलम्बन नहीं लेता, आत्मा के शुद्ध सच्चि-दानन्दस्वभाव का सतत भान रहने से, विकारों को अपने में आरोपित अनुभव करता है, तथा कर्मजन्य शरीरादि परभावों पर रागद्वेषादि से दूर रहता है, मात्र उनका ज्ञाता-द्रष्टा रहता है, वह साधक विकार से विमुख होकर शुद्धस्वरूप की ओर मुड़ जाता है, अर्थात्—स्वभाव और विभाव का भेदविज्ञानरूपी दीपक उसकी अन्तरात्मा में सतत प्रज्वलित रहने से वह रागादि परिणति को शुद्धस्वभाव के रूप में कभी स्वीकार नहीं करता। उसे परभावभूत उपाधि जानकर छोड़ता जाता है। रागादि परिणति छूट जाने से कर्मबन्ध की अनादि परम्परा टूट जाती है। नये कर्मों का संवर (निरोध) होता जाता है, तथा पूर्वबद्ध प्राचीन कर्म झड़ते जाते (निर्जरा होती जाती) हैं। इस प्रकार स्वभाव में अखण्डित रूप से स्थिर रहने से वह क्रमशः सर्वकर्मों से विमुक्त होकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा हो जाता है।

योग्यता होते हुए भी अभेद ध्रुवदृष्टि न हो, वहाँ तक परमात्मा नहीं हो सकता

आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता होते हुए भी जब तक आत्मा स्वभाव को छोड़कर परभावों या विभावों में रमण करता है परभावों से रागादि सम्बन्ध रखता है, पुण्यादि परभावों को या कर्मजनित शरीरादि या स्त्रीपुत्रादि परभावों को ममत्वपूर्वक अपने मानता है, तब तक परमात्मा नहीं बन सकता। मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता होते हुए भी उसके साथ बालू (रेत) मिली हुई हो तो वह घड़ा नहीं बन सकती। वह घड़ा तभी बन सकती है, जब मिट्टी के साथ मिश्रित बालू रासायनिक मिश्रणों द्वारा चिकनी बना दी जाती है इसी प्रकार शुद्ध आत्मा के साथ जब तक रागादि विभाव-जनित कर्मों की रज नहीं झड़ जाती तथा अपने सच्चिदानन्द रूप शुद्ध स्वभाव पर अभेद ध्रुव दृष्टि नहीं रहती, तब तक वह आत्मा भी परमात्मा नहीं बन सकती।

आत्म-स्वभाव से भिन्न सभी सजीव-निर्जीव परभाव हैं

अपनी आत्मा से या आत्मगुण-धर्म से भिन्न जितने भी बाह्यभाव हैं, वे परभाव हैं। वे परभाव सजीव भी होते हैं, निर्जीव भी, और रागादि विकारीभाव (विभाव) के रूप में भी होते हैं। अपनी आत्मा के अतिरिक्त

माता-पिता, भाई-बहन कुटुम्ब परिवार, ग्राम-नगर, समाज राष्ट्र या विश्व के समस्त प्राणी सजीव परभाव है, तथा तन, मन प्राण, वचन, इन्द्रियाँ, धन, मकान, दूकान, मोटर, बंगला, वस्त्र, आभूषण आदि सब निर्जीव परभाव हैं। ये सब शुभाशुभ कर्मोदय से प्राप्त होते हैं। इसलिए शुभाशुभ (पुण्य-पाप) द्रव्यकर्म होने से पुद्गल हैं, वे भी निर्जीव परभाव हैं। ये शुद्ध आत्मा के स्वभाव या आत्मिक गुणधर्म से जनित या प्राप्त नहीं है। इसी प्रकार इन्हीं परभावों पर राग, द्वेष, क्रोधादि कषाय, मोह, कामना, वासना आसक्ति, ममता आदि होना विभाव हैं, जो भावकर्म के जनक हैं, ये भी परभाव हैं। ये भी आत्मा के स्वभाव से, आत्मगुणों से भिन्न हैं।

स्वभाव की निश्चय प्रतीति कैसे हो ?

वस्तुतः स्वभाव की निश्चित प्रतीति ही परमात्म-भाव की साधना का प्रारम्भ हैं। स्वभाव की निश्चित प्रतीति कैसे हो ? इस सम्बन्ध में सीधा और सरल उपाय है—आत्म-स्वभाव की यथार्थ ज्ञान। पानी जब उबल रहा हो या गर्म हो, तब उसके मूल शीतल स्वभाव का ज्ञान हाथ-पैर, आँख, कान, नाक, जीभ आदि इन्द्रियों से नहीं होता, तथैव आकुलता, राग, द्वेष, हठाग्रह पक्षपात, स्वार्थ आदि संकल्प-विकल्प से भी उसके शीतल स्वभाव का निर्णय नही होता। परन्तु पानी के स्वभाव-सम्बन्धी त्रैकालिक अनुभावज्ञाव से ही उसका निर्णय होता है। इसीप्रकार आत्मा की पर्यायों में विकार होते हुए भी सर्वज्ञ वीतरागदेवों ने आत्मा का स्वरूप शुद्ध चैतन्यस्वभाव—ज्ञानमयस्वभाव वाला बताया है तथा ज्ञानी-पुरुषों ने वैसा अनुभव भी किया है। अतः आत्मा के शुद्ध स्वभाव का निर्णय भी इन्द्रियों से या मन के रागद्वेषादि संकल्पविकल्प से नहीं होता, अपितु ज्ञान को अन्तर् में स्थिर करने पर स्वभाव का स्पर्श होते ही ऐसी निश्चित प्रतीति हो जाती है कि सिद्ध परमात्मा का जो स्वभाव या स्वरूप है, वही मेरा स्वभाव व स्वरूप है।[1] भूल या अशुद्धता, रागादिजनित या कर्म-जनित पर्याय मेरा स्वरूप नहीं, वे सब औपाधिक हैं। आत्मार्थी मुमुक्षु साधक की दृष्टि अंशुद्धता की ओर नहीं जाती, उसकी दृष्टि सतत अशुद्धि रहित आत्मभाव को ही देखती है। इस प्रकार पूर्ण शुद्ध आत्मस्वभाव को

---

१. सिद्धसमान सदा पद मेरो।

ही स्वीकार तथा परभावों या विभावों को अस्वीकार करके उसमें स्थिर होकर अनन्त जीव परमात्मरूप हुए हैं।

उष्णजल के मूल शीतलस्वभाव का निर्णय करते समय तत्काल उसकी शीतलता का वेदन हो या न हो, किन्तु आत्मा के शुद्ध स्वभाव का निर्णय करते समय तत्क्षण अन्तर् में उसकी शुद्धता के अंश का आनन्द-सहित वेदन अवश्यमेव होता है। जब तक ऐसा वेदन नहीं होता, तब तक आत्मा के शुद्ध स्वभाव का सम्यक् निर्णय नहीं कहलाता। जैसे—सूई में डोरा पिरोने पर वह कहीं गुम नहीं होती, और तभी वह कपड़ों को भी सी सकती है, जोड़ सकती है। इसी प्रकार आत्म स्वभाव का निश्चित ज्ञान (निर्णय) कर लेने पर वह स्वभाव को छोड़कर इधर-उधर परभावों या विभावों में स्वयं को नहीं खोता, बल्कि वह अपने में आत्मगुणों को जोड़ने का उपक्रम करता है।

स्वभाव के निर्णयकर्ता को पर-पदार्थों की इच्छा नहीं होती

रागादि (पुण्य आदि) विभाव या अन्य सजीव-निर्जीव परपदार्थों की इच्छा स्वभाव का निर्णय करने वाले को नहीं होती। परपदार्थों से कल्याण की, या हिताहित की इच्छा करना भिखारीपन है। परपदार्थों की कामना का जब तक मन में अंश है, कहना चाहिए तब तक वह स्वभाव का सम्यक् निर्णायक नहीं हुआ। कोई भी समझदार व्यक्ति दूसरे के घर की लक्ष्मी को अपनी नहीं मानता और न ही मुफ्त में लेने की इच्छा या लालसा करता है; वैसे ही स्वभावनिष्ठ व्यक्ति परभावरूपी पुण्य-पाप की लक्ष्मी को भी अपनी नहीं मानता। और न ही लेने या स्वीकारने की इच्छा करता है।

सम्यग्दृष्टि आत्मा के मूल स्वरूप को देखता है, विकार या मलिनता को नहीं

वस्तुतः जो भी शुभ या अशुभ परिणाम होता है, वह आत्मा के मूल शुद्ध स्वरूप में नहीं है, परन्तु पर्याय में ऊपर-ऊपर से होने वाले विकारभाव हैं। इसलिए आत्मार्थी सम्यग्दृष्टि ऊपर-ऊपर से होने वाले भावों के कारण आत्मा को विकार भावात्मक (विकारभावों के जितनी) न मानकर अन्तर् के मूलस्वरूप को देखता है। जैसे समुद्र के पानी में कहीं मलिन तरंग दिखाई देती है, परन्तु उससे सारा समुद्र मलिन नहीं हो जाता। क्षणिक मलिन तरंग सारे समुद्र को मलिन करने में समर्थ नहीं है। जैसे—मलिन तरंग के समय भी समुद्र तो निर्मल ही है; इसी प्रकार यह आत्मा चैतन्य समुद्र है, वर्तमान दशा में उसकी जो मलिनता दिखाई देती है, वह

क्षणिक है। समग्र आत्मस्वरूप मलिन नहीं है। आत्मस्वरूप शुद्ध एकरूप है। क्षणिक विकारभाव आता है, वह आत्मा के समग्र शुद्ध स्वरूप को मलिन करने में समर्थ नहीं है। इससे आत्मा को विकारात्मक (विकार जितना ही) जानना-मानना ही अज्ञान है, और आत्मस्वरूप को विकार से भिन्न शुद्ध जानना-मानना सम्यग्ज्ञान है।

मधुर जल से पूर्ण क्षीर समुद्र के मूल स्वरूप को देखें तो वह समुद्र और उसका जल दोनों एकरूप और स्वच्छ है। तरंग की मलिनता तो बाह्य उपाधि है। उसी प्रकार यह आत्मा सहज चैतन्यरूप ज्ञानानन्द-समुद्र है, उसमें वर्तमान में जो विकारभावरूप मलिन तरंग दिखाई देती है, वह उसके मूलस्वरूप में नहीं है। यदि अकेले आत्मद्रव्य को मूलस्वरूप में देखा जाए तो उसके द्रव्य में, गुण में अथवा वर्तमान भाव में भी विकार नहीं है। आत्मा का मूल स्वरूप शुद्ध है, और वही उपादेय है। समुद्र का ऐसा स्वभाव है कि वह अपने में मैल को रहने नहीं देता, उछाल कर बाहर फेंक देता है, इसी प्रकार अनन्तज्ञानादि आत्मगुणरूप जल से परिपूर्ण शुद्ध आत्मसमुद्र में रागादि-विकारभावों का प्रवेश नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा अन्तरंगतत्त्व है और विकार बहिरंगतत्व है। अन्तरंगतत्व में बाह्य-तत्व का प्रवेश नहीं होता। आत्मा द्वारा अपने स्वभाव का भान भूलने से पुण्यादि विकाररूप बहिरंगतत्त्व का प्रवेश हो भी जाए तो शुद्ध आत्मा का स्वभाव विकार को नष्ट करने का है। नयचक्र में इसी तथ्य की ओर इंगित करते हुए कहा गया है—

"जीवो सहावमओ, कहं वि सो चेव जाद-परसमओ।
जुत्तो जइ ससहावे तो परभावं खु मुंचेदि॥"[1]

जीव (आत्मा) स्व-भावमय है, परन्तु किसी कारणवश वह पर-भावमय बन जाता है, उस समय यदि वह सावधान होकर स्व-स्वभाव से युक्त (स्व-भाव में लीन) हो जाता है तो स्वयं परभाव से मुक्त हो जाता है। वह परभाव को छोड़ देता है।

इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा कदाचित् परभाव में चला जाए परन्तु अन्तर् में उसके प्रति उदासीनता हो, अथवा तुरंत जागृत होकर स्वभाव

---

१. नयचक्र ४०२

में लीन हो जाए तो पंचास्तिकाय के अनुसार वह द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनों के बन्ध से छूट जाता है।[1]

शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा में कर्मरज प्रविष्ट नहीं हो सकती

जैसे शुद्ध स्फटिक की मूर्ति पर धूल पड़ी हुई हो तो भी वह ऊपर-ऊपर ही रहती है, वह धूल उस मूर्ति के भीतर प्रविष्ट नहीं हो सकती; स्फटिक निर्मित मूर्ति तो निर्मल ही रहती है; उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा भी स्वभाव से स्फटिक जैसा निर्मल है। उस पर कर्म की धूल पड़ी होने पर भी वह शुद्ध आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो सकती। आत्मा ज्ञानमय स्वभावरूपी चैतन्यमूर्ति निर्मल है, वह कर्म तथा शरीर की धूल से पृथक् रहा हुआ है। यों जानकर दृढ़निश्चय के साथ प्रतीति करे तो ज्ञान आनन्द स्वभावरूप शुद्ध आत्मा की अनुभूति होती है। आशय यह है कि जिस प्रकार स्फटिक निर्मित मूर्ति के चारों ओर धूल होते हुए भी वह धूल स्फटिक में प्रविष्ट नहीं हो सकती, उसी प्रकार शरीर और कर्मसमूहरूपी धूल के बीच में ज्ञानमूर्ति आत्मा विराजमान होते हुए भी आत्मा में वे (शरीर या कर्म) प्रविष्ट नहीं हो सकते। इस प्रकार आत्मा को रागादि विकारों, विकल्पों और परभावों से निर्लिप्त जानकर अन्तर् में उसे शुद्ध रूप में देखने का प्रयत्न करे तो वह दिखाई देती है; इन्द्रियों द्वारा नहीं, किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञानदर्शनरूपी नेत्रों से। इस प्रकार दिव्य अन्तश्चक्षुओं से आत्मा को देखने का अभ्यास करे तो स्वभावनिष्ठा सुदृढ़ हो जाती है।

स्वभावनिष्ठा के लिए परभावों के प्रति सतत उदासीनता आवश्यक

स्वभावनिष्ठा के लिए एक अन्य उपाय यह है कि आत्मा अनन्त-काल से है, परन्तु इस शरीर का सम्बन्ध तो नया हुआ है। अतः आत्मा के स्वभाव में भ्रान्ति रह गई है। शरीरादि निमित्तों को तो खूब जाने, अपने माने, परन्तु उपादानरूप आत्मा के स्वभाव को जाना तथा अपना माना नहीं। पुण्य को आत्मा का स्वरूप माना, आत्मा को भी विकारयुक्त माना, ये सब आत्मस्वभाव सम्बन्धी भ्रान्तियाँ हैं, जो दूर नहीं हुईं। अतः आत्मा (उपादान) के स्वरूप की भ्रान्ति दूर करने तथा आत्मा की अपने शुद्ध स्वभाव में निष्ठा के लिए प्रभावशाली उपाय है—"परभावों तथा विभावों के प्रति निरन्तर उदासीनता का क्रम सेवन करना।" निरन्तर इसलिए कहा गया है कि जरा-सा प्रमाद का झोंका आया कि परभावों या विभावों

---

१. पंचास्तिकाय ३५३ : जइ कुणइ सगसमयं पब्भस्सदि कम्मबंधादो।'

की ओर आत्मा लुढ़क जाएगी, औदासीन्य या वैराग्य का क्रम टूट जाएगा। जैसे किसी भी मन्त्र को सिद्ध करना होता है तो लगातार उसकी आवृत्ति करनी होती है। अगर मन्त्रसाधक बीच में जाप छोड़ देता है तो मन्त्र शक्ति जागृत नहीं होती, फिर से उतना जाप लगातार (गेप किये बिना) करना पड़ता है। बादाम में से तेल निकालना हो तो उसे लगातार घिसना पड़ता है, अगर थोडा-सा घिसकर उसे छोड़ दिया जाए और दूसरे कार्यों में लग जायें तथा घण्टे-दो घण्टे बाद फिर आकर घिसने लगें तो उसमें से तेल नहीं निकलता। जिस प्रकार बीच-बीच में अन्तर देकर बादाम को घिसें तो उसमें से तेल नहीं निकलता, उसी प्रकार परभावों के प्रति निरन्तर उदासीनता या वैराग्य न रखे तो स्वभावनिष्ठा की भूमिका सुदृढ़ नहीं हो सकती। योगदर्शन में इसी तथ्य का समर्थन किया गया है—

"स तु दीर्घतरनैरन्तर्य-सत्कारासेवितो दृढ़भूमिः।"[1]

दीर्घकाल तक सत्कारपूर्वक निरन्तर अभ्यास करने से ही साधना की भूमिका सुदृढ़-परिपक्व होती है।

अतः स्वभाव के प्रति स्थिरता एवं निष्ठा को सुदृढ़ बनाने के लिए परभावों और विभावों के प्रति सतत् उदासीनता एवं विरक्ति जारी रखनी आवश्यक है। परभावों तथा विभावों के प्रति अरुचि, विरक्ति या उदासीनता होगी, उनके प्रति रुचि, अनुरक्ति या आसक्ति घटेगी तभी अन्तरात्मा के स्वभाव की ओर चिन्तन, रुचि एवं उत्साह बढ़ेगा और तभी स्वभावनिष्ठा परिपक्व होगी।

कोई कह सकता है कि निरन्तर अहर्निश परभावों के प्रति उदासीनता या विरक्ति का सेवन कैसे हो सकता है? क्योंकि देहधारी मानव को खाना, पीना, सोना, चलना-फिरना आदि शारीरिक क्रियाएँ भी करनी पड़ती हैं। उन क्रियाओं को करते समय शरीरादि परभावों की ओर मन जाएगा ही, फिर वह उनसे सतत् उदासीन कैसे रह सकेगा? इसका समाधान यह है कि विभावों और परभावों के प्रति रुचि, अनुरक्ति या आसक्ति का सारा दारोमदार मन पर है। यदि मन किसी भी परभाव को देख-सुन-सोचकर उसके प्रति प्रियता-अप्रियता, मनोज्ञता-अमनोज्ञता, शुभाशुभ का भाव नहीं लाता है, तटस्थ निर्लेप रहता है, केवल ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहता है, उसके प्रति रुचि-अरुचि नहीं दिखाता है, इष्टवियोग-अनिष्ट-

१ योगदर्शन।

संयोग का भाव लाकर आर्त्तध्यान नहीं करता है तो वह सभी प्रकार की क्रियाएँ करता हुआ भी सतत् उदासीन रह सकता है, अपने ज्ञानमय स्वभाव में आत्मा को स्थिर रखा जा सकता है। जैसे—धन-लोलुप व्यक्ति खाता-पीता हो, चलता-फिरता हो या सोया हो, तब भी उसके मन में धन-लोलुपता के भाव सतत् बने ही रहते हैं; उसी प्रकार आध्यात्मिक रुचि वाले व्यक्ति भी खाते-पीते हों, चलते-फिरते हो, चाहे जहाँ बैठे हों, सोये हों, फिर भी वे जागरूक रहकर परभावों के प्रति सतत् उदासीन या विरक्त रहते हैं। जैसे कि आचारांग सूत्र में कहा है—

"सुत्ता अमुणी सया मुणिणो सया जागरंति।"[1]

अमुनि (असंयमी अज्ञानीजन) सदा सुप्त रहते हैं, मुनि (ज्ञानी) सदा जाग्रत रहते हैं। भगवद्गीता में भी इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है।[2] आशय यह है कि जो जागरूक, और अप्रमत्त होता है, वह चाहे जैसी स्थिति में भी परभावों से उदासीन एवं विरक्त रहता है। खाना-पीना, सोना आदि क्रियाएँ करता हुआ भी अन्तर् में उनके प्रति अरुचि या उदासीनता से एक क्षण भी हटता नहीं। श्रीमद् राजचन्द्रजी जवाहरात का व्यवसाय करते थे, अपनी दूकान पर बैठते थे, तथा खाते-पीते, सोते, बैठते भी थे, फिर भी वे सदैव आत्मभावों में जाग्रत रहते थे।

आत्मा ज्ञान की भूमिका में ही स्वभावनिष्ठ रह सकता है, संवेदन की भूमिका में नहीं

आचार्य अमितगति के शब्दों में पूर्वोक्त तथ्य का रहस्य यह है कि ज्ञानी ज्ञान के धरातल पर जीता है और अज्ञानी संवेदन के धरातल पर। ज्ञानी मनुष्य घटना के प्रति साक्षी, ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहता है, उससे प्रभावित नहीं होता, न ही उसमें लिप्त होता है। परन्तु अज्ञानी मानव रागादिवश होकर उस घटना से प्रभावित, लिप्त या रागद्वेषविष्ट हो जाता है। वह प्रियता-अप्रियता आदि के रूप में संवेदन करता है। इसके विपरीत ज्ञाता-द्रष्टा एवं जागरूक साधक जो भी घटना घटित होती है, जो भी क्रिया तन, मन, वचन से होती है, उसे जानते-देखते हैं, किन्तु उसका संवेदन नहीं

---

१ आचारांग श्रु. १, अ. ३, उ. १।

२ निशा सर्वभूतानां तस्यां जाग्रति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः॥

—भगवद्गीता अ. २, श्लो. ६९

करते। उनकी कषाय चेतना शान्त होती है, रागादि विकल्प भी नहीं उठते। एकमात्र ज्ञान चेतना ही शेष रहती है। कोई भी परपदार्थ उनको न तो प्रिय होता है, न अप्रिय; न ही कोई इष्ट होता है, न कोई अनिष्ट, न ही कोई अनुकल होता है और न प्रतिकूल। आचारांग सूत्र में भी इसी तथ्य का समर्थन किया है—'अणन्न-परमं नाणी, नो पमाए कयाइ वि।'[1]

जिसे आत्मसाधना के सिवा अन्य कुछ भी परम नहीं, वह ज्ञानी कदापि प्रमाद नहीं करता।

स्वभाव में स्थिर रहने का अर्थ : अपने ज्ञान में स्थिर रहना

आत्मा और ज्ञान दोनों भिन्न नहीं हैं, कहने के लिए दोनों भिन्न हैं, परन्तु ये दोनों अभिन्न हैं। इसी तथ्य को आचारांग सूत्र में स्पष्ट किया गया है—

"जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया।[2]
जेण विजाणति से आया।"

'जो आत्मा है, वह विज्ञाता (ज्ञानमय) है, जो विज्ञाता है, वह आत्मा है, जिससे जाना जाता है, वह आत्मा है।'

किसी भी पदार्थ, परिस्थिति या व्यक्ति के साथ सम्पर्क इन्द्रियों से या मन से हो, तब उसे जानने तक ही सीमित रखना, अपने ज्ञानमय स्व-भाव में स्थित रहना है। इससे आगे बढ़कर कोई संवेदनात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, तब वह स्व-भाव से हटकर विभावात्मक परभाव में बह जाता है। ज्ञान की निर्मल धारा में राग-द्वेष, मोह, अहंत्व-ममत्व का कीचड़ मिल जाता है, मिथ्यात्व और अज्ञान का कालुष्य घुल-मिल जाता है। ऐसी स्थिति में शुद्ध ज्ञान की धारा नहीं रहती, वह संवेदन की धारा बन जाती है। शुद्ध ज्ञान पर अज्ञान, मोह, मिथ्यात्व, रागद्वेष, कषाय आदि छा जाते हैं। अपने स्वभाव में स्थिर रहने का अर्थ है—अपने ज्ञान में स्थिर रहना; क्योंकि आत्मा और ज्ञान दोनों अभिन्न हैं। जैसे—एक साधक के समक्ष एक चौकी पड़ी है। वह चौकी को देखता है। चौकी को वह चौकी जानता है, मानता है, इससे अधिक कुछ नहीं। यही आत्मा का दर्शन

---

१ आचारांग सूत्र ९, अ. ३ उ. ३
२ वही. श्रु. १, अ. ५, उ. ५

है, आत्मस्वभाव में रमण है। चौकी के साथ वह प्रिय-अप्रिय, अहंत्व-ममत्व, राग-द्वेष आदि का कोई संवेदनात्मक सम्बन्ध स्थापित नहीं करता। वह सिर्फ चौकी को जानता है। इसी को आध्यात्मिक भाषा में कहा जाता है—वह ज्ञान को जानता है। ज्ञान और ज्ञानवान (आत्मा) दोनों सर्वथा अभिन्न नहीं हैं, तो सर्वथा भिन्न भी नहीं हैं। निश्चय दृष्टि से दोनों अभिन्न हैं। इसलिए ज्ञान को जानने का अर्थ हुआ— आत्मा को, आत्म स्वभाव को जानना मानना और उसी में रमण करना।

ज्ञान की भूमिका अस्वीकार की है, संवेदन की है स्वीकार की

वस्तुतः प्रत्येक आत्मा के समक्ष दोनों स्थितियाँ हैं—एक अस्वीकार की, दूसरी स्वीकार की। किसी भी परपदार्थ को सिर्फ जानना-देखना; किन्तु उसके प्रति किसी प्रकार का संवेदन न करना अस्वीकार की स्थिति है। कोरा ज्ञान शुद्ध आत्मा का स्वभाव है। जब आत्मा परभाव को अस्वीकार कर देता है, तब स्वभाव में स्थित आत्मा में किसी भी परभाव का प्रभाव, संवेदन, सक्रमण या प्रवेश नहीं हो सकता। संवेदन करना स्वीकार की स्थिति है। संवेदन स्वभावरूपी चन्द्रमा को ढक देता है।

शुद्ध आत्मा के साथ जब रागादि का संवेदन होता है, तब वह आत्मा के शुद्ध ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति को आवृत, स्खलित एवं विकृत कर देता है। जैसे कि श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है—

केवल निज-स्वभावनुं अखण्ड वर्ते ज्ञान।[1]
कहीए केवलज्ञान ते, देह छतां निर्वाण॥

जहाँ मात्र अस्वीकार की भूमिका होती है, वहां एकमात्र निजस्वभाव का ज्ञान अखण्ड रूप से रहता है। यही परमात्मभाव की दशा है, इसमें आत्मा और ज्ञान दोनों अभेद रूप से परिणत हो जाते हैं। जो आत्मा वही ज्ञान और जो ज्ञान वही आत्मा। आत्मा अर्थात्—ज्ञान का पिण्ड। इस प्रकार की ज्ञान की अखण्डता ही केवलज्ञान है, जिसमें सिर्फ अपने स्वभाव का ही ज्ञान होता है, अन्य किसी का नहीं।

जीव की यह दशा बारहवें गुणस्थान पहुँचने पर होती है। जब तक वह बारहवें गुणस्थान तक नहीं पहुँचता, तब तक ज्ञान की अखण्ड अनुभूति

---

१ आत्मसिद्धि गा. ११३

नहीं होती। उसमें उतार-चढ़ाव दोनों होते रहते हैं। लगातार एक-सरीखी स्वभाव दशा की अनुभूति नहीं होती। गुणस्थान के बदलने के साथ ही निजानुभूति में बदलाव आता रहता है। परिणामों की धारा अखण्डरूप से निज-स्वभाव में नहीं रहती। केवलज्ञान न होने तक जीव ने सम्यक् पुरुषार्थ की दिशा में निजस्वभाव का ज्ञान-भान बहुत किया होगा, किन्तु सतत-निरन्तर अखण्ड निजानुभूति नहीं रही। जबकि केवलज्ञान की प्राप्ति रूप तेरहवें गुणस्थान में तथा अयोगी अवस्थारूप चौदहवें गुणस्थान में केवलज्ञान की अनुभूति—स्वभाव की अखण्ड अनुभूति होती है। दोनों गुण स्थानों की परिणाम धारा एकसरीखी होती है। तेरहवें गुणस्थान में केवल ज्ञानी अर्हत्परमात्मा शरीर सहित होते हैं, उनके मन-वचन-काया का योग (प्रवृत्ति) होता है, फिर भी वे वीतराग परमात्मपद को प्राप्त सर्वथा जीवन-मुक्त होते हैं। केवली परमात्मा और सिद्ध परमात्मा की आन्तर दशा में कुछ भी अन्तर नहीं होता।

केवली परमात्मा देह होते हुए भी देहातीत दशा का अनुभव करते हैं, देहाध्यास तो कभी का छूट चुका होता है। इसलिए निजानुभूति के अखण्डज्ञान में उनका शरीर कभी बाधक नहीं बनता।

स्वभाव के अनुभव, लक्ष्य और प्रतीति की त्रिवेणी

परन्तु चतुर्थ (सम्यग्दर्शन के) गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक परिणामों की धारा सतत निज स्वभाव की अनुभूति में नहीं रहती। वह छद्मस्थ संसारी जीव है। अभी समस्त कर्मों से रहित नहीं हुआ है, इसलिए कर्मजन्य उपाधियाँ तो होती हैं। चित्त अन्यान्य कार्यों में प्रवृत्त होता है, फिर भी उसकी चित्तदशा स्वभाव के ज्ञान=अनुभव के रंग से रंगी हुई होती है। ऐसे सम्यग्दृष्टि आत्मा की भिन्न-भिन्न व्यावहारिक अवस्थाओं में आत्मदशा (चित्तदशा) कैसी रहती है? आत्मसिद्धि शास्त्र की निम्नोक्त गाथा में इसका स्पष्ट चित्रण किया गया है—

वर्ते निज स्वभावनो, अनुभव, लक्ष, प्रतीत।
वृत्ति वहे निजभाव मां, परमार्थे समकीत ॥[1]

सर्वप्रथम उस सम्यग्दृष्टि जीव की स्व-स्वभाव की अनुभवधारा का उल्लेख किया गया है। अर्थात्—जब ऐसा सम्यक्त्वी साधक निवृत्ति के

---

१ आत्मसिद्धि गा. १११

क्षणों में होता है, उस समय उसका समग्र लक्ष्य आत्मस्वभाव का अनुभव करने में होता है। वह निज आत्मा में गहरा उतर जाता है, आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख और बल (वीर्य), इन मूल गुणों में ही रमण करने लगता है, उसका मन-मस्तिष्क उस समय अन्यत्र कहीं नहीं जाता। अपने में (आत्मा में) से ही वह स्वयं ज्ञानानन्द लूटता है। उस समय उसकी दशा निजानुभव (स्वभावानुभव) से भिन्न नहीं होती।

सामान्य मानव निवृत्ति (फुरसत) के समय मनोरंजन के साधन खोजता है। वह टाइम पास करने के लिए आलम्बन ढूंढ़ता है, सैर-सपाटे करता है। और कोई आलम्बन या मनोरंजन का साधन न मिले तो भूत-काल की स्मृति और भविष्य की कल्पना के विचारों में खो जाता है अथवा ऊलजलूल आर्त्त-रौद्रध्यान के चिन्तन में घण्टों बिता देता है। परन्तु उन निवृत्ति के क्षणों में आत्मानुभव का आनन्द नहीं लूट सकता, स्वभाव के अनुभव की मस्ती में नहीं रह सकता। इसके विपरीत निजानन्द की अनु-भूति किए हुए सम्यग्दृष्टि साधक की आत्म (चित्त) दशा निवृत्ति के क्षणों में समग्र संसार से, परभावों-विभावों से विरक्त-उदासीन होकर निज आत्मा में—आत्मभाव में ही रमण करती है। जो एक बार निज शुद्ध आत्मा की गहरी अनुभूति का आनन्द ले चुका होता है, उसका आस्वाद लेने की उसकी पुनः पुनः तीव्र उत्सुकता होती है। इस कारण वह संसार से पर होने की निवृत्ति के क्षण प्राप्त करने के लिए उत्कण्ठित होता है। जब भी उसे निवृत्ति मिलती है कि उसकी उपयोगधारा निजस्वभाव के अनुभव में संलग्न हो जाती है। ऐसे मुमुक्षु साधक के चित्त में निवृत्ति के क्षणों में आत्मस्वभाव की 'अनुभवधारा' प्रवाहित होती है।

संसारस्थ जीव को निवृत्ति के क्षण बहुत ही कम मिलते हैं। जिसके साथ देहादि उपाधियाँ लगी हुई हैं, उसे उनकी प्रवृत्ति में भी प्रवृत्त होना पड़ता है जब सम्यग्दृष्टि साधक देहादि की क्रियारूप खाने-पीने, सोने-उठने, चलने-फिरने आदि प्रवृत्तियाँ करता है, तब भी उसका लक्ष्य निज-स्वभाव में संलग्न रहता है। वह स्पष्ट रूप से जानता-मानता है कि देहादि की क्रिया मेरी (आत्मा) क्रिया नहीं है, मेरा कर्तव्य भी नहीं है, मैं स्वरूपतः अशरीरी आत्मा हूँ; इन्द्रियातीत, देहातीत तत्त्व हूँ। आत्मा के निजस्वरूप में ऐसी क्रियाओं को स्थान नहीं है। परन्तु यह आत्मा अभी देहधारी है, इस कारण देह की किया करनी पड़ती है। मेरा लक्ष्य यह नहीं है। मेरा

लक्ष्य तो केवल मेरी आत्मा या आत्मस्वभाव का ज्ञान है। ऐसी दशा शरीरादि के प्रति आसक्ति को क्रमशः मन्द कर डालती है। राग-द्वेष को भी मन्द कर डालती है। संसारी लोगों की स्थूल दृष्टि में वह पाँचों इन्द्रियों के विषयों का उपभोग करता दीखता है, मगर वह सम्यग्दृष्टि जीव अंतर् में उनसे अलिप्त होता है। उसका लक्ष्य आत्मा या स्वभावज्ञान होता है। इस कारण भोगों का उपभोग करने पर भी उसके कर्मबन्ध नहीं होते।

इतना ही नहीं, सम्यग्दृष्टि राजा हो, चक्रवर्ती हो या सत्ताधीश हो, या कोट्याधीश हो,उसे राज्य की धुरा वहन करनी हो, अथवा अपना व्यापार करना हो, यहाँ तक कि राजा को शत्रु राजा के साथ न्याय के लिए युद्ध भी करना पड़े, अथवा धनिक व्यापारी को व्यापार में अत्यन्त घाटे या नफे की परिस्थिति में पड़ना पड़े। ऐसी स्थिति में उक्त सम्यग्दृष्टि राजा के अन्तर् में अनधिकृत राज्यवृद्धि का लोभ नहीं होता तथैव सम्यक्त्वी धनिक व्यापारी के अन्तर् में अनन्तानुबन्धी कषाय नहीं आते। ये दोनों अपनी आत्मा में—स्वभाव के प्रति पूर्ण जागरूक होते हैं। सम्यक्त्वी राजा यह सोचता है कि युद्ध मेरा कार्य नहीं है। अगर प्रतिपक्षी युद्ध करना न चाहे तो वह भी चला कर युद्ध नहीं करता, परस्पर समाधान, और समझौते से सुलह व शान्ति करने का प्रयत्न करता है। इतनी तैयारी रखता है वह। उसे युद्ध करने की रुचि नहीं होती। सिर्फ राजा के कर्तव्य के नाते ही अन्याय-प्रतीकार के लिए ही, उसे युद्ध करना पड़ता है। अन्तर् से वह उससे अलग रहता है। इसी प्रकार की लक्ष्यधारा सम्यग्दृष्टि' व्यापारी की होती है।

त्रिवेणी की तीसरी धारा है—प्रतीतिधारा। सम्यग्दृष्टि के भी आठों ही कर्म उदय में आते हैं। दर्शनावरणीय कर्म के उदय से निद्रा आती है। उसे निद्रा भी लेनी पड़ती है। सम्यग्दृष्टि भी नींद लेता है, पर उसकी निद्रा कुम्भकर्णी नहीं होती। वह अघोरी के समान नींद नहीं लेता। वह निद्राधीन होते हुए भी जागृत होता है। नींद में भी जाग जाए, ऐसी बात नहीं, परन्तु सुषुप्ति में भी उसे निज-स्वभाव की प्रतीति रहती है। भरनीद में से उठाकर कोई पूछे कि 'तू कौन है ?' तो वह कहता है—'मैं आत्मा हूँ।'

जिस प्रकार सामान्य मानव को अपने नाम की प्रतीति रहा करती है। गाढ़ निद्रा में सोया हुआ हो, उस समय कोई उसका नाम लेकर पुकारता है तो वह उठकर जवाब देता है। मनुष्य को अपना नाम कितना प्रिय होता

है ! यद्यपि नाम की स्थिति (कालावधि) बहुत लम्बी नहीं होती, फिर भी उसकी स्पष्ट प्रतीति तो होती ही है। मनुष्य की जितनी आयु होती है, उतनी ही आयु उसके नाम की होती है; उससे अधिक नहीं। फिर भी प्रत्येक जन्म में प्राणी को अपने नाम की प्रतीति अधिक होती है। किन्तु सम्यग्दृष्टि आत्मा को नाम से भी अधिक अपनी आत्मा की प्रतीति होती है; क्योंकि आत्मा की कोई आयु नहीं होती, वह तो अनामी और शाश्वत है, अजन्मा है, प्रत्येक जन्म में साथ ही रहता है, और आत्मा तो वह स्वयं ही है। अपनी प्रतीति स्वयं को होती ही है, होनी ही चाहिए। सामान्य आत्मा तो देहादि की भ्रान्ति में यह भूल जाता है कि ,मैं आत्मा हूँ।'परन्तु सम्यग्दृटि तो इस भ्रान्ति से बाहर निकल चुका है। उसने तो आत्मा की गहरी अनुभूति कर ली है, इसलिए सुषुप्त अवस्था में भी उसे आत्म-स्वभाव की प्रतीति रहती है। आशय यह है कि सम्यग्दृष्टि साधक के सुषप्तदशा में प्रतीतिधारा प्रवाहित होती रहती है।

निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दृष्टि आत्मा जीवन व्यवहार की किसी भी अवस्था में हो; उसे आत्मविस्मृति नहीं होती, वह अनुभव, लक्ष्य और प्रतीति की धारा अन्तर् में बहती रहती है। दूसरे शब्दों में—उसकी अन्तरात्मा में निवृत्तिदशा में अनुभव धारा प्रवृत्तिदशा में लक्ष्य धारा सुषुप्तदशा में प्रतीति धारा बहती है। दशवैकालिक सूत्र में सभी अवस्थाओं में साधक को अनुभूति, लक्ष्य और प्रतीति को इस प्रकार ध्वनित किया गया है—

"....दिआ वा राओ वा, एगओ वा परिसागओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा।"[1]

दिन हो या रात्रि हो, अकेला हो, या परिषद् के मध्य में बैठा हो, सोया हो या जागता हो, सर्वत्र सतत अनुभव, लक्ष्य और प्रतीति रहे।"

आत्मार्थी की निजानुभवयुक्त परमार्थ दशा

आत्मार्थी की वृत्ति आत्म-भाव में, निज अन्तरंग में बहती रहती है। इसी दशा को परमार्थ से सम्यक्त्व दशा कही है। कविवर बनारसीदास जी ने सम्यग्दृष्टि साधक की वृत्ति का सुन्दर शब्दों में चित्रण किया है—

"स्वारथ के साचे, परमार्थ के साचे चित्त;
साचे साचे बैन कहे, साचे जैनमती हैं।

---

१. दशवैकालिक अ० ४

काहू के विरुद्ध नांही, 'पर' जाय बुद्धि नांही;
आतम-गवेषी न गृहस्थ हैं, न जती हैं॥
सिद्धि ऋद्धि वृद्धि दीसै, घट (आत्मा) में प्रगट सदा।
अन्तर् की लच्छी सों अयाची लच्छपती हैं॥
दास भगवन्त के, उदास रहें जगत सों;
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं॥"[1]

ऐसे सम्यक्त्वी आत्मार्थी भले ही देशविरति श्रावक अथवा सर्व-विरति साधु नहीं हैं फिर वे अहर्निश आत्मगवेषणा में तत्पर रहते हैं। उनके अन्तर् में सदैव आत्मप्रतीति की सिद्धि, आत्मगुणों की ऋद्धि और आत्मभावों की वृद्धि प्रगट होती है, इसलिए वे आत्मार्थी साधक अयाचक वृत्ति से आत्म-पुरुषार्थ से लक्ष्यपति (लक्ष्य के स्वामी) बने हुए हैं।

आत्मार्थी आत्मस्वभाव को ही अपना घर समझता है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मार्थी जीव आत्म-स्वभाव को ही अपना घर समझकर उसी में रहता, खाता-पीता, तथा अन्य प्रवृत्तियाँ करता है। वह रागादि विभाव तथा तज्जनित द्रव्यकर्मों से प्राप्त परभाव को अपना घर नहीं समझता। अर्थात्-संसार को अपना घर न मानकर भी धन-सम्पत्ति, घरबार, कुटुम्ब-परिवार आदि के बीच रहता हुआ भी वह इनसे अलिप्त व अनासक्त रहता है एवं इन्हें क्षणिक कर्मजनित सम्पर्क मानता है।

लड़की जब तक कुंआरी रहती है, तब तक वह पिता के घर को अपना घर मानती है, पिता के घर की वस्तुओं को, धन-सम्पत्ति को अपनी कहती है। परन्तु जब उसका विवाह-सम्बन्ध अन्यत्र कर दिया जाता है, तब उसकी वह पूर्वमान्यता इस प्रकार बदल जाती है कि यह घर और यह धन-सम्पत्ति आदि मेरी नहीं है, जहाँ मेरा विवाह-सम्बन्ध हुआ है, वे ही घर, वर और धन आदि मेरे हैं। जिस प्रकार लड़की को पूर्व मान्यता बदलते देर नहीं लगती, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को भी अपनी पूर्वमान्यता बदलते देर नहीं लगती। अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करता हुआ जीव कर्मजनित सांसारिक सजीव-निर्जीव पदार्थों को, विशेषतः पुण्य-पाप और शरीरादि को अपने मानता है, परन्तु जब ज्ञानी पुरुषों से वह सुनता-

---

१. समयसार कलश (कवि बनारसीदासजी)

समझता है कि 'सर्व जीव छे सिद्ध-सम, जे समझे ते थाय';[1] संसार की समस्त आत्माएँ अपने स्वभाव से सिद्ध जैसी हैं, ऐसी रुचि और प्रतीति होती है कि तुरन्त उसकी दृष्टि, रुचि और मान्यता बदल जाती है कि 'यह संसार का पुण्य-पाप अथवा शरीरादि परभाव मेरे नहीं हैं, मैं तो सिद्ध परमात्मा के समान हूँ। सिद्धत्व मेरा स्वरूप है।'

जैसे अन्यत्र विवाह-सम्बन्ध होने के बाद भी लड़की अमुक समय में पिता के घर आती-जाती रहती है, सभी प्रवृत्तियाँ करती हैं, परन्तु उसका लक्ष्य तो श्वसुर-गृह ही होता है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मार्थी को जब से आत्मस्वभाव का भान हुआ, और सिद्धपरमात्मा के साथ उसका सगाई-सम्बन्ध हो गया, तब से वह संसार में रहता है, सभी प्रवृत्तियाँ करता है, परन्तु उसका लक्ष्य संसाररूपी घर नहीं, अपितु शाश्वत सिद्धालय (सिद्ध-परमात्मा का धाम) हो जाता है। उसके पश्चात् वह तीन-चार या सात-आठ भव तक संसार में रहता है, तो भी उसका लक्ष्य बदल जाता है। उसकी दृष्टि बदल जाती है कि 'संसार या परभाव मैं या मेरा नहीं, सिद्ध-परमात्मा के तुल्य मेरा स्वभाव है, सिद्ध-परमात्मस्वभावमय ही हूँ।'

यह सत्य समझने और हृदयंगम करने में सामान्य व्यक्ति को कठिन इसलिए लगता है कि अनादिकाल से आत्मा के शुद्ध स्वभाव को एक क्षण भी लक्ष्य में लिया नहीं, क्योंकि उसकी आत्मा पर अज्ञान, मोह और मिथ्यात्व का अन्धकार छाया हुआ था। वह पुण्य एवं शरीरादि की बाह्य शुभ क्रियाओं में धर्म मानता रहा। आत्मस्वभाव का रुचिपूर्वक अध्ययन करे तो वह आसानी से समझ में आ सकता है। स्वभाव की बात महँगी भी नहीं है। प्रत्येक आत्मा में स्वभाव को समझने की शक्ति और क्षमता है। सूर्य का प्रकाश होते ही जैसे घना से घना अंधेरा मिट जाता है, वैसे स्वभाव के ज्ञान का प्रकाश होते ही परभाव (भावकर्म-द्रव्यकर्मरूप) का अज्ञानादिरूप सघन अन्धकार मिट जाता है। आत्मसिद्धि में इसी तथ्य का उद्घाटन किया गया है—

> कर्मभाव अज्ञान छे, मोक्षभाव निज-वास।
> अन्धकार अज्ञानसम नाशे जान-प्रकाश॥[2]

---

१ आत्मसिद्धि गा. १३५

२ आत्मसिद्धि गा. ९८

परभावों से मुक्ति का उल्लास होना चाहिए

अतः कर्मादि परभावों से अपनी मुक्ति की बात सुनकर अन्तर में उल्लास और अन्धकार से मुक्ति पाकर प्रकाश प्राप्त करने का आल्हाद हो, तो स्वभाव का वस्तुस्वरूप झटपट समझ में आ सकता है। किसान जब बैल को खेत में काम करने के लिए घर से ले जाता है, तब वह अनिच्छा से धीरे-धीरे चलता है, और खेत पर पहुँचने में देर लगाता है ; किन्तु जब वह खेत के काम से छूटकर घर की ओर वापस लौटता है, तब तेजी से दौड़ता-दौड़ता जाता है, क्योंकि वह जानता है कि अब मुझे खेत के बन्धन से छूट-कर घर पहुँचकर चार पहर तक शान्ति से घास खाना है। उसका हौंसला बढ़ जाता है, उसके पैरों में बिजली लग जाती हैं। वह तीव्रगति से चलता है।

जब बैल जैसे अल्पमति प्राणी को भी बन्धन से मुक्त होने पर अपने घर की ओर जाने का अत्यन्त आल्हाद होता है, तब जो आत्मा अनादिकाल से स्वभावरूपी घर से छूटकर संसाररूपी परभावगृह में मोहमाया के नाना बन्धनों में जकड़ा रहता है, उसे परम-उपकारक वीतराग जीवन्मुक्त अर्हत्परमात्मा तथा सद्गुरुदेव स्वभावरूपी घर में लौटने एवं स्वभाव-गृह में स्थिरता से परभाव-बन्धन से मुक्ति एवं परमात्मभाव की प्राप्ति की बात सुनाते हैं, प्रेरणा देते हैं, फिर भी वह संसाररूपी कारागृह में रहने में तथा जन्म-मरणादि के भयंकर कष्ट सहने में भी मोह-ममत्ववश आनन्द मानता है, क्या वह उस मन्दमति बैल से भी गया-बीता नहीं है ? जो आत्महितैषी सुयोग्य सुपात्र जीव होता है, उसे अपने (आत्म) स्वभाव की बात सुनते ही अन्तर में उल्लास प्रगट होता है, उसकी अन्तरात्मा का परिणमन तीव्रगति से स्वभाव के अभिमुख होता है। वस्तुतः जितना काल संसार में परिभ्रमण करने में लगा, उतना काल मोक्ष का—परमात्म प्राप्ति का उपाय करने में नहीं लगता ; क्योंकि विकारभाव (विभाव) की अपेक्षा स्वभाव का वीर्य (आत्म-सामर्थ्य) अनन्त है। इस कारण आत्मार्थी जीव स्वभाव-रत होकर अल्पकाल में ही मोक्ष को—परमात्मभाव को सिद्ध कर लेता है, परन्तु उसका प्रमुख श्रेय अन्तर में यथार्थ उल्लास प्रगट होने को है। आशय यह है कि आत्मा के शुद्ध स्वभाव की बात एक बार भी जिज्ञासा, प्रीति और श्रद्धा के साथ सुने तो उसकी मुक्ति परमात्मभाव-प्राप्ति की साधना शीघ्र ही सफल हुए बिना नहीं रहती।

अनादिकालीन विभाव क्षण भर में दूर हो जाता है।

प्रश्न यह है कि अनादिकालीन विभाव जब तक दूर न हो, तब तक स्वभाव में निष्ठा कैसे हो सकेगी ? श्रीमद् राजचन्द्र ने इसे एक दृष्टान्त द्वारा समझाया है—

'कोटिवर्षनुं स्वप्न पण, जागृत थतां समाय।
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय ॥'[1]

स्वप्न प्रायः अर्धसुषुप्त अवस्था में—तन्द्रा में आया करता है। कारण यह है कि सुषुप्ति-अवस्था में अवचेतन मन जागृत रहता है ? उस समय अन्तर में पड़े हुए संस्कार चलचित्र के समान मानस-पटल पर स्वप्न के रूप में उभरने पर लगते हैं। कभी-कभी वह स्वप्न काफी लम्बे समय तक चलता है। परन्तु कितने ही लम्बे समय का—कुम्भकर्ण की नींद के अनुसार छह महीने का या करोड़ वर्ष का ही स्वप्न क्यों न हो, सुषुप्ति समाप्त होते ही जब मानव जागृत हो जाता है तो वह स्वप्न एकदम गायब हो जाता है। स्वप्न लम्बा हो या छोटा (अल्पकालिक), यह महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। मुद्दे की बात यह है कि जागृत होते ही स्वप्न को समाप्त होने में एक क्षण का भी समय नहीं लगता। हम सबका यह ठोस अनुभव है कि नींद उड़ते ही स्वप्न भी उड़ जाता है—लुप्त हो जाता है। इसी प्रकार यह जीव अनादिकाल से विभाव में पड़ा है। उसका चैतन्य तन्त्र विभाव की उत्पत्ति में निमित्त बनता है। परन्तु आत्मा को अपने असली स्वभाव-स्वरूप का ज्ञान-भान हो जाय, वह जाग्रत हो जाए तो भ्रम टूट जाता है। भ्रमभंग के साथ ही विभाव को भगते एक क्षण भी नहीं लगता। जो विभाव अनादिकाल से भ्रमवश आत्मा में जड़ जमाये बैठा था, उस भ्रम के मिटते ही वह मिट जाता है। अज्ञान मोह और मिथ्यात्व ही भ्रम है। जीव को दो प्रकार के भ्रम होते हैं—एक तो जो सजीव-निर्जीव पदार्थ अपने नहीं हैं, पर हैं, उनमें मेरेपन की बुद्धि। दूसरा भ्रम है—पर-पदार्थों और व्यक्तियों में अपने सुख की कल्पना। ये दोनों प्रमुख भ्रम दूर हो जायँ ज्ञानदृष्टि खुल जाए तो वर्षों से जड़ जमाए हुए विभाव पल भर में दूर हो जाते हैं। आत्मा ज्ञान के प्रकाश में स्व-स्वभाव में परिणत होने लगती है। धीरे-धीरे स्वभावनिष्ठ होते ही आत्मा परमात्मभावनिष्ठ हो जाती है।

---

१ आत्मसिद्धि गा. ११४

१८

आत्म-स्वभाव की चतुर्मुखी गति

आत्मा और परमात्मा का शुद्ध स्वभाव : एक समान

आत्मा जब अपने शुद्धरूप में रहता है, तब उसका स्वभाव चार मौलिक गुणों के रूप में अभिव्यक्त होता है। वे मौलिक गुणात्मक स्वभाव के चार प्रकार ये हैं— अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द (आत्मिक सुख) और अनन्त आत्मिकशक्ति (वीर्य)। आत्मा के इन चार निजी गुणों के रूप में उसके शुद्ध स्वभाव की सिद्ध-परमात्मा में शक्ति और पूर्णतया अभिव्यक्ति दोनों होती हैं, जबकि सांसारिक आत्मा में बस शुद्ध स्वभाव की शक्ति होती है, किन्तु अभिव्यक्ति पूर्णरूप में नहीं होती।

शुद्ध आत्मा : परमात्मा के समान सूर्यातिशायी

शुद्ध आत्मा एक प्रखर सूर्य के समान है। भक्तामर स्तोत्र में इसी तथ्य को अभिव्यक्त करते हुए कहा है—

'सूर्यातिशायी महिमाऽसि मुनीन्द्र ! लोके'[2]

'हे वीतराग मुनीन्द्र अर्हद्देव ! लोक में आपकी महिमा सूर्य से भी बढ़ कर है। अर्हत्परमात्मा या सिद्ध-परमात्मा दोनों [3]आइच्चेसु अहियं पयासयरा' सूर्यों से भी अधिकतर प्रकाशमान हैं। उनमें उसी ज्ञान की रश्मियाँ प्रकट होती हैं, दर्शन की अनन्त किरणें प्रस्फुटित होती हैं, आनन्द का अनंत

---

१ भक्तामरस्तोत्र काव्य १७

२ चतुर्विंशति स्तवपाठ (लोगस्स-पाठ)

विकास लहराता रहता है और अनन्तशक्ति का तेजस्वी अक्षय कोष विद्यमान रहता है। सूर्य की किरणें बादलों से जब आच्छादित हो जाती हैं, तब उसका प्रकाश भी सहसा आच्छादित हो जाता है, उसका असीम आतप भी शीतल हो जाता है, तथा उसकी असीम तेजस्वितापूर्ण शक्ति भी मंद पड़ जाती है। यही बात आत्मा के लिए भी कही जा सकती है। मूल में परमविशुद्ध आत्मा को परमात्मा के समान सूर्य भी अतिशय प्रकाशमान तेजस्वी प्रखर शक्तिमान एवं सर्वांगरूप से विकसित कहा गया है। निश्चयदृष्टि से तो परमात्मा के समान समस्त आत्माएँ भी अनन्तज्ञान से प्रकाशमान, अनन्तदर्शन से तेजस्वी, अनन्तआनन्द से परिपूर्ण विकासमान एवं अनन्त शक्ति से प्रखर शक्तिमान हैं।

संसारी आत्माओं का स्वभाव ससीम है, परमात्मा के समान असीम नहीं

मगर आज अधिकांश प्राणी ही नहीं, अधिकांश मानवों की आत्मायें अपने शुद्ध स्वभाव से बहुत पिछड़ी हुई हैं। उनके शुद्ध स्वभाव की गति आगे बढ़ने की अपेक्षा पीछे हट रही है। आज अनन्तचतुष्टयरूप स्वभाव-सूर्य परभावरूपी राहु और विभावरूप केतु के द्वारा ग्रसित हो रहा है। आज अधिकांश मानवात्माओं का असीम-अनन्त स्वभाव ससीम हो गया है। उनके आत्मस्वभाव की सीमा हो गई। आत्मा के शुद्ध स्वभाव की सीमा इस प्रकार हो गई है—

आत्मा के अनन्तज्ञान पर आवरण आ गया है।
आत्मा का अनन्तदर्शन भी आवृत हो गया है।
आत्मा का अनन्त आनन्द भी विकृत हो गया है, दब गया है।
आत्मा की अनन्तशक्ति भी स्खलित-मूर्च्छित हो गई है।

अब हम आत्मा के इन चार मौलिक गुणात्मक स्वभाव में से प्रत्येक की समीक्षा करेंगे कि कैसे और क्यों ये आवृत तथा विकृत हो गये हैं? इनके अनावृत और अविकृत बनाने के क्या-क्या उपाय हैं?

आत्मा के ज्ञानस्वभाव में चार गुणों का समावेश

ज्ञान आत्मा का मूल गुण है। आत्मा के साथ उसका तादात्म्य है। आत्मा है, वहाँ ज्ञान अवश्य होगा। जहाँ ज्ञान है, वहाँ आत्मा अवश्य होगी। अगर अभेद दृष्टि से देखा जाये तो ज्ञानगुण में ही शेष तीनों मौलिक

गुण गर्भित हो जाते हैं। इसलिए विभिन्न पाश्चात्य विचारकों ने ज्ञान को चार गुणों से युक्त बताते हुए कहा है—

Knowledge is Faith
Knowledge is Happiness
Knowledge is Virtue
Knowledge is Power.

'ज्ञान ही श्रद्धा (विश्वास) रूप है, ज्ञान ही आनन्दमय है, ज्ञान ही आचारात्मक गुण है, और ज्ञान ही शक्ति है।' वास्तव में आत्मा का यथार्थ और निश्चित ज्ञान तभी होता है, जब आत्मा के प्रति रुचि या श्रद्धा हो, अथवा आत्मा के तत्त्वज्ञान (साधक-बाधक तत्त्वों का स्पष्ट दर्शन—दृष्टि) हो। जिसे यह दृढ़श्रद्धा या स्पष्ट दर्शन हो जाता है कि आत्मा अजर-अमर, अविनाशी एवं शाश्वत है, उसे शरीर या अंगोपांगों के छेदन-भेदन या मरण आदि से कोई दुःख अनिष्ट या अप्रियता का संवेदन नहीं होता। उसकी आत्मा एकमात्र अपने ज्ञान रूप, स्वभाव में ही रमण करती है, अपने शरीर पर होने वाले प्रहारों, या वाचिक अपशब्दों से उसका मन-मस्तिष्क जरा भी विचलित नहीं होता। बड़ी से बड़ी विपत्ति, संकट या इष्टवियोग-अनिष्टयोग की दुःखद परिस्थिति आने पर भी अपनी आत्मश्रद्धा से वह डगमगाता नहीं। वह हँसते-हँसते उस उपसर्ग, कष्ट या परीषह को समभाव से धैर्यपूर्वक सह लेता है, क्यों? क्योंकि उसमें यह निश्चित ज्ञान है कि आत्मा का कभी विनाश नहीं होता, वह नित्य-शाश्वत और परमात्मा के समान अजर-अमर है। भक्त प्रह्लाद को परमात्मा पर पूर्ण श्रद्धा थी कि परमात्मा के समान मेरी आत्मा भी सत् है, अविनाशी है, त्रिकाल स्थायी है। उसका कोई बाल भी बांका नहीं कर सकता। आत्मा का तत्त्वज्ञान और दर्शन उसके रोम-रोम में कूट-कूट कर भरा हुआ था। परन्तु उसके पिता हिरण्यकश्यपु को आत्मा, परमात्मा या आत्मधर्म पर कतई विश्वास नहीं था। वह प्रह्लाद को अपना विरोधी और शत्रु मानने लगा। प्रह्लाद को बुलाकर उसने कहा—नादान लड़के! परमात्मा और कोई नहीं, मैं ही हूँ। छोड़ दे, धर्म और आत्मा-परमात्मा के ढोंग को। अन्यथा तेरी मौत ही समझ ले। देखता हूँ, कौन परमात्मा तुझे बचाने आता है?

परन्तु प्रह्लाद ने निश्शंक और निर्भय होकर पिता को उत्तर दिया—पिताजी! मुझे अपने परमात्मा और आत्मा पर, तथा आत्मधर्म पर अटल

विश्वास है। ये तीनों ही अविनाशी, और शाश्वत है। इसलिए मुझे मरने का कोई भी भय नहीं है। इन शाश्वत तत्त्वों का कोई नाश नहीं कर सकता। आपश्री अपना दुराग्रह छोड़ दें।

परन्तु हिरण्यकश्यपु कब मानने वाला था। उसने पुरोहितों को आज्ञा दी—"इस दुष्ट को धधकती अग्नि में झोंककर भस्म कर दो।" पुरोहितों ने प्रह्लाद को धधकते अग्निकुण्ड में डाल दिया। परन्तु प्रह्लाद को परमात्मा के समान आत्मा के अमर अविनाशी स्वभाव पर पूर्ण विश्वास था, उसके मन-मस्तिष्क में आत्मा के अविनाशित्व का तत्त्वज्ञान कूट-कूट-कर भरा था। फलतः प्रह्लाद के आत्मिक सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्-दर्शन (सत् पर विश्वास) पर अखण्ड श्रद्धा के कारण आग उसकी आत्मा का कुछ भी विनाश न कर सकी। न ही वह प्रह्लाद के शरीर को जला सकी।

परमात्मा के सच्चिदानन्द स्वभाव पर उसे पूर्ण विश्वास था। साथ ही वह अपने सच्चिदानन्द के स्वरूप को—परमात्मस्वभाव को अपनी आत्मा में अनुभव करता था। फलतः हिरण्यकश्यपु द्वारा प्रह्लाद को फिर पहाड़ से गिराया गया, शस्त्रों से काटने का उपक्रम किया गया, जहरीले सांपों से डसाया गया, तथा हाथी के पैरों तले रौंदने के लिए डाला गया। मगर उसका बाल भी बांका न हुआ। क्योंकि प्रह्लाद ने आचार्य अमितगति के शब्दों में परमात्मा को निज हृदयस्थ कर लिया था—

"यो दर्शन-ज्ञान-सुख-स्वभावः, समस्त-संसार-विकार-बाह्यः।
समाधिगम्यः परमात्मसंज्ञः स देवदेवो हृदये ममाऽस्ताम् ॥"[1]

जो अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त आत्मिक सुख के स्वभाव से ओतप्रोत हैं। संसार के समस्त विकारों से रहित है, निर्विकल्प समाधि (निश्चल निर्विचार ध्यान) से ही अनुभव में आता है, जिसका परमात्मा नाम है, वह देवाधिदेव मेरे हृदय में विराजमान हों।

आत्मा नित्य है, शाश्वत है, अविनाशी है, ऐसे दृढ़ आत्मज्ञान वाले को मरने का भय नहीं है, विपदाओं को वह हंसते-हंसते समभावपूर्वक

---

१ सामायिक पाठ श्लो. १३।

सहन कर लेता है। यहाँ ज्ञान आत्मा के नित्य अस्तित्व के स्पष्ट दर्शन का, दृढ़ विश्वास का परिचायक हो जाता है।

Knowledge is Virue[1] यह वाक्य सोक्रेटिस कहता था। उपाध्याय यशोविजयजी कहते थे—ज्ञान की तीव्र दशा ही चारित्र है। शरीर पर चाहे जितनी चोटें पड़ें अगर उस समय आत्मा अनात्मा का भेदज्ञान सक्रिय एवं हृदयंगम हो जाए तो समझना चाहिए—ज्ञान की तीव्रदशा है। एक बार जेतवन में तथागत बुद्ध अपने शिष्यों के साथ विराजमान थे। एक लकड़-हारा उसी जेतवन में कुल्हाड़ी से लकड़ी काट रहा था। तथागत बुद्ध ने शिष्यों से पूछा—"इस लकड़हारे की कुल्हाड़ी से लकड़ी पर चोट की वेदना तुम्हें होती है?" सभी शिष्य बोले—'नहीं, भगवन्!' इस पर बुद्ध ने कहा—"इसी प्रकार बस शरीर को भी कुल्हाड़ी आदि से कोई काटे तो वृक्ष की तरह पराया समझो। अर्थात्—कुल्हाड़ी से शरीर पर कोई चोट मारे तो पराये वृक्ष पर होने वाली चोट के समान समझो। क्योंकि पंच-महास्कन्ध से तुम (आत्मा) पृथक् हो। आत्मा-अनात्मा का यह भेद-विज्ञान कर लो।"

वास्तव में, जब देहदशा से निकल कर व्यक्ति देहात्मबुद्धि का त्याग कर देता है तो भेदज्ञान की तीव्र अनुभूति होती है, जो ज्ञान की चारित्र-रूपता को सिद्ध कर देती है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर को एक बार बिच्छू ने काटा। असह्य पीड़ा थी। उन्होंने अपनी पत्नी को लिखा—"वृश्चिकदंश की असह्य पीड़ा होने के बावजूद भी मैं, एक डॉक्टर के रूप में तीसरे तटस्थ व्यक्ति की तरह देह में से अलग निकल कर देखता हूँ।" यह है आत्मज्ञान की तीव्रदशा का रूप।

Knowlede is happiness[2] यह वाक्य अंधी, गूंगी और बहरी हेलन केलर का है। उसकी स्थिति ऐसी थी, मानो वह कोयले की खान में डाल दी गई हो। चारों ओर से अन्धकार भरी दुनिया में वह अकेली मालूम होती थी। किन्तु आत्मज्ञान (मैं कौन हूँ, क्या कर सकती हूँ? इस प्रकार के ज्ञान) का तीव्र प्रकाश मिलने के कारण उसने स्वयं को कभी अन्धकार-पूर्ण स्थिति में महसूस नहीं किया। उसने इसी ज्ञान के प्रताप से स्वाधीन-

---

१. सुकरात द्वारा कथित वाक्य

२. हेलन केलर का उद्गार

सुख का अनुभव किया। प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी के उद्‌गार थे—"मृत्यु के तट पर ला देने वाले बाह्य-आभ्यन्तर विक्षेपों के बीच भी मैं स्वयं को ज्ञान द्वारा इहलौकिक आनन्दलोक में प्रविष्ट हुआ मानता हूँ।" सचमुच ज्ञान में इस सुख को सर्जन करने की, दुःख में से सुख निकालने की अद्‌भुत शक्ति है। यह सुख दुनियादारी के वैषयिक तथा पदार्थनिष्ठ काल्पनिक सुखों से उच्चतर है। कहना होगा—आत्मशक्तियों के ज्ञान से होने वाला सुख आन्तरिक है, स्वतंत्र है, सहज है, वह आत्मा का स्वभाव है। ज्ञान का आनन्द भी अद्‌भुत होता है। सम्यग्ज्ञान से ओतप्रोत व्यक्ति अपने भूख, प्यास, असुविधा, नींद, श्रम आदि के दुःख को बिलकुल भूल जाता है।

उपाध्याय यशोविजयजी और विनयविजयजी दोनों काशी में अनेक कष्टों तथा असुविधाओं की परवाह न करते हुए एक महाविद्वान् पण्डितजी से न्याय, व्याकरण, दर्शन आदि का अध्ययन कर रहे थे। न्यायशास्त्र का एक महामूल्य ग्रन्थ पण्डितजी के पास था। अत्याग्रह करने पर भी वे इन्हें उस ग्रन्थ को पढ़ने देना तो दूर रहा, बताना भी नहीं चाहते थे। परन्तु इन दोनों जिज्ञासुओं की ज्ञानपिपासा तीव्र थी। अतः एक दिन पण्डितजी कहीं दूसरे गाँव गये हुए थे, दूसरे दिन प्रातःकाल आने वाले थे। अतः दोनों ने पण्डितानी से अत्यन्त नम्र भाव से अनुरोध करके रात भर के लिए वह ग्रन्थ पढ़ने को माँग लिया। पण्डितानी ने वह ग्रन्थ इन्हें दे दिया। ग्रन्थ में १२०० श्लोक थे। अतः दोनों ज्ञान पिपासुओं में से यशोविजयजी ने उक्त ग्रन्थ के ७०० और विनय-विनयजी ने ५०० श्लोक एक ही रात में कण्ठस्थ कर लिये।

प्रातःकाल पण्डितजी के आने से पहले ही दोनों मनीषियों ने वह ग्रन्थ ले जाकर पण्डितानी को वापस लौटा दिया। पण्डितानी ने वह ग्रन्थ पेटी में रख दिया। दोपहर को जब वे पण्डितजी के पास पढ़ने को आए तो उन्होंने इस अपराध के लिए क्षमा माँगी। पण्डितजी ने दोनों को ग्रन्थ के श्लोक सुनाने को कहा तो दोनों ने क्रमशः ७०० और ५०० श्लोक सुना दिये। सुनकर पण्डितजी की आँखों में हर्षाश्रु उमड़ पड़े। वास्तव में, उपाध्याय यशोविजयजी और विनयविजयजी को यह ज्ञानरस कितना उत्कृष्ट और सुखरूप लगा कि रात भर में १२०० श्लोक कण्ठस्थ करने में कोई थकान, कष्ट या निद्रा की अनुभूति न हुई। ज्ञान की—विशेषतः आत्मज्ञान की आनन्दरूपता इसी से सिद्ध होती है। 'Knowledge is power' कहने वाला पश्चिम का एक महावैज्ञानिक था।

भौतिक ज्ञान में भी इतनी शक्ति है कि इसके द्वारा वैज्ञानिक यह शक्य बना रहे हैं कि पानी की एक बूंद को ध्वनि तरंग से तोड़कर उसमें ऐसी शक्ति व्याप्त की जाए कि उससे अमेरिका के पूरे न्यूयार्क शहर को वर्ष भर तक विद्युत् का प्रवाह मिल सकता है। इसी प्रकार एक ग्लास पानी में इतनी शक्ति पैदा की जा सकती है कि उससे चार पंखों वाली 'क्वीन मेरी' नाम की पच्चीस हजार टन की स्टीमर छह महीने तक सतत् चालू रह सकती है। यह तो भौतिक ज्ञान की शक्ति का चमत्कार है। आध्यात्मिक ज्ञान की शक्ति का चमत्कार तो इससे कई गुना बढ़कर है। अर्हत्परमात्मा और सिद्ध परमात्मा में तो अनन्त शक्ति है। इस प्रकार ज्ञानस्वभाव में स्वभाव की तीव्रदशा, पूर्णश्रद्धा, आनन्द एवं शक्ति का समावेश हो जाता है।

अनन्त (केवल) ज्ञान में आत्मस्वभाव का ही अखण्ड ज्ञान

परमात्मा का सर्वप्रथम अभिन्न स्वभाव है—अनन्तज्ञान। वही मूल में साधारण आत्मा का स्वभाव है।

सिद्ध परमात्मा में जो अनन्तज्ञान (पूर्ण ज्ञान) विकसित हुआ है, वह पुण्य-पाप के आधार से अथवा किसी सजीव-निर्जीव पर-पदार्थ के अवलम्बन से नहीं, किन्तु आत्मा के अनादि-अनन्त ज्ञान-स्वभाव के आधार से ही विकसित हुआ है। अतः आत्मा में सुषुप्त अनन्तज्ञान को प्रकट करने का आधार भी आत्मा का ज्ञानस्वभाव है। कोई विकार या निमित्त आत्मा के ज्ञानस्वभाव का आधार नहीं है। अगर निमित्त से ज्ञान होता, तब तो सबको एक-सा ज्ञान होना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता। वस्तुतः ज्ञान 'पर' के अवलम्बन से नहीं होता। वह ज्ञान से ही, ज्ञान में रहकर ही होता है। ज्ञान परावलम्बी नहीं है। दर्पण स्वच्छ होता है तो उसमें परवस्तु की जिस रूप में उपस्थिति होती है, वैसी ही स्पष्ट झलकती है, किन्तु उसमें परवस्तु का अवलम्बन नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान में शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इत्यादि ज्ञान होते हैं क्योंकि ज्ञान का स्वभाव-स्व-पर-प्रकाशक है। किन्तु उन्हें जानते समय भी ज्ञान ज्ञेय को सिर्फ जानने रूप में परिणत होता है। वह सतत् ज्ञायकरूप में ही रहता है। ज्ञान ज्ञान में रहकर ही अनेक ज्ञेयों का ध्यान करता है, किन्तु ज्ञान में ज्ञात होने पर भी ज्ञान परज्ञेय-पदार्थरूप नहीं बन जाता, यानी परज्ञेयों को जानने पर भी वे (परज्ञेय) स्वभाव में नहीं आते। आशय यह है कि

ज्ञान में जब ज्ञेय जाना जाता है, तब ज्ञान अखण्ड भिन्न ही रहता है तथा उक्त ज्ञेय पदार्थ भी अपने आप में भिन्नस्वरूप से अखण्ड रहता है। जैसे–ज्ञेयपदार्थ खट्टा हो तो ज्ञान उसे खट्टा जानता है, परन्तु स्वयं (ज्ञान) खट्टा नहीं हो जाता। पच्चीस हाथ का वृक्ष ज्ञान में आने से ज्ञान उतना लम्बा नहीं हो जाता। ज्ञान पुण्य-पाप या रागादि को जानता अवश्य है, मगर वह तद्रूप नहीं हो जाता। आशय यह है कि दर्पण के समान ज्ञान में भी ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं आती। जैसा निमित्त उपस्थित होता है, या जैसा ज्ञेय होता है, ज्ञान उसे वैसा ही जानता है। यदि ऐसा मानें कि सिद्ध परमात्मा में शुभभावों के आधार से अनन्तज्ञान विकसित होता है, तब तो ज्ञानादि से परिपूर्ण होने के पश्चात् वह ज्ञान टिक नहीं सकेगा, क्योंकि सिद्ध परमात्मा में शुभ रागादिभावों का अभाव है। यदि रागादि भावों या इन्द्रियों के आधार से ज्ञान होता है, ऐसा मानें तो परमात्मदशा में रागादि का या इन्द्रियों का सर्वथा अभाव होने से सिद्ध परमात्मा में ज्ञान का भी अभाव हो जाएगा। अतः जो जीव रागादि विकारों या इन्द्रियों के आधार से ज्ञान मानता है, वह परिपूर्ण ज्ञानी सिद्ध परमात्मा को अथवा उनके ज्ञान स्वभाव को समझा ही नहीं है। ऐसा व्यक्ति अपने अनादि-अनन्त ज्ञानादि आत्मस्वभाव की ओर मुड़ नहीं सकता। अतः सिद्ध परमात्मा में या सामान्य आत्मा में परिपूर्ण अनन्त (केवल) ज्ञान प्रकट होता है, वह आत्मा के अनादि-अनन्त ज्ञान स्वभाव के आधार से ही होता है।

केवलज्ञान का आधार भी आत्मा का ज्ञान स्वभाव

श्रीमद् राजचन्द्र ने आत्मा के ज्ञान स्वभाव को केवलज्ञान का आधार बताते हुए कहा है—

केवल निजस्वभावनुं, अखण्ड वर्ते ज्ञान।
कहिये केवलज्ञान ते, देह छतां निर्वाण ॥[1]

जिस दशा में आत्मा और ज्ञान अभेदभाव से परिणत होते हैं; जहाँ आत्मा, वहीं ज्ञान, जहाँ ज्ञान वहीं आत्मा। आत्मा और ज्ञान दोनों अभिन्न हैं। आत्मा का अर्थ है—एकमात्र ज्ञान का पुञ्ज। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। Only Knowlege एकमात्र ज्ञान। आत्मा का स्वभाव ज्ञान है, और उस ज्ञान के ज्ञान की अखण्डता ही केवलज्ञान है। केवलज्ञान में एक-

१. आत्म सिद्धि ११३

मात्र अपने स्वभाव का ज्ञान होता है। समग्र लोक में सिर्फ निज स्वभाव के सिवाय और कुछ नहीं। केवल स्वभाव ही स्वभाव। सारी दुनिया भले ही उसके ज्ञान में दर्पण में वस्तु के झलकने की तरह झलकती हो, किन्तु परिपूर्ण ज्ञानी के अन्तर में तो एकमात्र स्वभाव का ही ज्ञान होता है। ज्ञान के सिवाय कुछ नहीं होता। और ज्ञान भी खण्डित नहीं, अखण्ड, जिसमें भेद नहीं, व्यवधान नहीं, सतत्, सरल और सहज ज्ञान।

केवलज्ञान का प्रचलित अर्थ है—सम्पूर्ण ज्ञान, जिस ज्ञान में तीनों लोक और तीनों काल के सर्व भाव झलकते हैं। सामान्य जनता में यही अर्थ प्रचलित है, केवलज्ञान का। यह अर्थ तो सामान्य मानवों के लिये है, जो केवलज्ञान के गहन भावों और रहस्यों को नहीं समझ पाते। केवल ज्ञान सिर्फ इतनी-सी सीमा में आबद्ध नहीं है। यद्यपि ज्ञान का स्वभाव ज्ञेय पदार्थों को जानना है। इस दृष्टि से केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) परमात्मा समग्र लोक को जानते हैं। परन्तु उन्हें समग्र लोक को जानने की स्पृहा या इच्छा नहीं होती। केवलज्ञान दर्पण के समान है। दर्पण को किसी पदार्थ को देखने-जानने या झलकाने की इच्छा नहीं होती। उसके समक्ष जो भी पदार्थ आते हैं, वे उसी रूप में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। उन पदार्थों का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता। दर्पण का स्वभाव पदार्थ को प्रतिबिम्बित करने का है। इसलिए दर्पण के सामने अग्नि प्रज्वलित हो रही हो, तो वह भी वैसी ही झलक जाती है, परन्तु अग्नि का असर दर्पण पर नहीं पड़ता। इसी प्रकार केवलज्ञान में जगत् के सभी द्रव्य और पर्याय झलकते हैं, परन्तु केवलज्ञानी आत्मा पर उनका कोई असर नहीं होता, न ही उन्हें जानने-देखने या झलकाने की स्पृहा या इच्छा होती है। केवलज्ञानी परमात्मा तो एकमात्र निज आत्म स्वभाव में—ज्ञान के प्रकाश में लीन हैं, उसी में स्थिर रहते हैं।

जैसे कमरे में से एक वस्तु को देखने व लेने के लिए प्रकाश किया जाता है। किन्तु कमरे में पड़ी हुई सैकड़ों वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं। इसी प्रकार शुद्ध आत्मा का अपना पुरुषार्थ तो सिर्फ निज स्वरूप की अनुभूति तथा स्वभाव में लीनता—रमणता के लिए होता है। इसी लक्ष्य की दिशा में पुरुषार्थ से केवलज्ञान की उपलब्धि होती है। परन्तु केवलज्ञान में जैसे—आत्मा झलकती है, वैसे ही सभी पदार्थ झलकते हैं, परन्तु उन पर पदार्थों से केवलज्ञानी को कोई वास्ता नहीं होता।

केवलज्ञान का एक अर्थ होता है—एक ही ज्ञान।[1] जहाँ सिर्फ एक ही ज्ञान होता है, वह केवलज्ञान कहलाता हैं। आगमों में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान यों पाँच ज्ञान बताए हैं। केवलज्ञान में शेष चार ज्ञानों का समावेश हो जाता है ऐसा कुछ चिन्तकों का मत है पर मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय ये चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं जबकि केवलज्ञान क्षायिक है। फिर ये चार ज्ञान पृथक् नहीं रहते। केवलज्ञान सर्वोपरि और सम्पूर्ण ज्ञान है। पहले के शेष चार ज्ञान तो अपूर्ण हैं, इसलिए ये चारों केवलज्ञान से अलग नहीं होते।

'हाथी के पैर में सभी पैर समा जाते हैं'[2] इस कहावत के अनुसार केवलज्ञान में अन्य सभी निम्न कोटि के चार ज्ञान समाविष्ट हो जाते हैं। जैसे—किसी का लड़का एम० ए० पास हो गया। उससे लड़के की शैक्षिक योग्यता के बारे में पूछे जाने पर वह यह नहीं कहता कि मेरा पुत्र मेट्रिक हुआ, फिर बी० ए० हुआ और एम० ए० हुआ है। इसका कारण है—एम० ए० जैसी सर्वोच्च परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ है, यह कहने पर सभी समझ जाते हैं, कि मेट्रिक, बी० ए० पास किये बिना कोई भी एम० ए० नहीं हो सकता।

वर्तमान में केवलज्ञान का सर्व-साधारण में जो प्रचलित अर्थ है, वह व्यावहारिक (स्थूल) दृष्टि से है। उस अर्थ के अनुसार आत्म बाह्य पदार्थों को जानने-देखने में आत्मिक दृष्टि से केवलज्ञानी को क्या लाभ है? जगत् को—आत्म बाह्य पदार्थों को जानने-पूछने की उनकी स्पृहा भी नहीं होती, उन्हें उनसे कुछ मिलता भी नहीं। सामान्य जीव तो बहुधा जगत् को जान देखकर उसमें से मानसिक आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। कुछ सांसारिक लौकिक लाभ भी प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु केवलज्ञानी वीतराग परमात्मा को तो इनमें (आत्म बाह्य पदार्थों में) से कुछ भी ग्राह्य नहीं है अतः केवलज्ञान का श्रीमद् राजचन्द्रजी द्वारा उक्त अर्थ ही यहाँ विशेष उपयुक्त है। केवलज्ञान में आत्मा की अखण्ड ज्ञान दशा ही प्रवर्तित होती है।

---

१ देखिये एक शब्द अनेक अर्थों में—

एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा।
साधारणे सामान्यार्थे संख्यायां च प्रयुज्यते॥

२ सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः

किन्तु जब तक तेरहवें गुणस्थान तक साधक नहीं पहुँचता, तब तक अखण्ड ज्ञान दशा के परिणामों की धारा में उतार-चढ़ाव रहता है; ज्ञान स्वभाव की अखण्डता नहीं रहती। फिर भी अपने ज्ञानस्वभाव में स्थिर रहने वाले छद्मस्थ साधक की द्रव्य दृष्टि—स्वभाव दृष्टि कायम रहती है। पर्याय में अल्पज्ञता और रागद्वेष होने पर भी वह उसका आदर नहीं करता, वह पूर्ण वस्तुस्वभाव के सम्मुख रहता है, वस्तुस्वभाव में परिणमन करता है। वर्तमान में उसके पूण केवलज्ञान पर्याय न होते हुए भी जिन्हें पूर्ण केवलज्ञान दशा प्रकट हुई है, उनके पूर्ण ज्ञानमय स्वभाव को वह स्वीकार करता है। पर-पदार्थों को सामने देखकर उनके आधार से पूर्ण ज्ञान का स्वीकार यथार्थ रूप में नहीं हो सकता। पूर्ण ज्ञान का आधार रूप जो आत्म गुण—आत्मस्वभाव—ज्ञानस्वभाव है, उसके समुख हुए बिना पूर्ण-ज्ञान को स्वीकारा नहीं जा सकेगा। ध्रुव स्वभाव के समुख होकर अंशतः अतीन्द्रिय ज्ञान अपने में प्रकट करने पर ही पूर्ण अतीन्द्रिय केवलज्ञान का स्वीकार होता है, और तभी जीव सिद्ध परमात्मा के स्वभाव समुख हो जाता है, और अल्पकाल में स्वयं सिद्ध परमात्मा बन जाता है।

ज्ञानस्वभाव से आत्मा कब चलित, कब अविचलित ?

ज्ञान स्वभाव से आत्मा तभी भटकती है, जब किसी सजीव-निर्जीव पदार्थ या परिस्थिति के सामने आने पर वह दर्पण की तरह तटस्थ ज्ञाता-द्रष्टा या साक्षी न रहकर मन में रागादि भाव, या प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्व का संवेदन करने लगती है। वस्तु सामने आते ही उसे ज्ञपरिज्ञा से जाने-देखे भले ही, परन्तु उसके सम्बन्ध में राग-द्वेषादि या कषायादि का विकल्प न उठाए, तभी व्यक्ति ज्ञान स्वभाव में स्थित रह सकता है। गीता में स्थित प्रज्ञ के एवं आचारांग में 'स्थितात्मा'[1] के जो लक्षण दिये गए हैं वे ही लक्षण यहां ज्ञान स्वभाव में स्थिर रहने वाले साधक के समझने चाहिए।

ज्ञान स्वभाव में स्थिर रहने वाले स्थितप्रज्ञ के लक्षण गीता[2] में ये हैं--

---

१ देखिये आचारांग में स्थितात्मा के लक्षण—
'एवं से उट्ठिए ठियप्पा, अणिहे अचले चले अवहिलेस्से परिव्वए।
से वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च ! एस तिउट्टे वियाहित त्तिबेमि ॥
—आचारांग सूत्र श्रु. १, अ. ७, उ. ५

२ भगवद्गीता, अ. २, श्लोक ५५-५८, ६१

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ ! मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
दुःखेष्स्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतराग-भय-क्रोधः स्थितधीर्मुनिसच्यते ॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्त शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
यदा संहरते चाऽयं कूर्मोऽगानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

"हे अर्जुन ! जब (आत्मा के ज्ञान स्वभाव में स्थिर) साधक मनोगत समस्त कामनाओं का त्याग कर देता है और आत्मा (आत्म स्वभाव) में ही सन्तुष्ट-तृप्त हो जाता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है । तथा दुःखों के आने पर जिसका मन उद्विग्न नहीं होता और जो सुखों की स्पृहा से रहित होता है, किसी सजीव-निर्जीव परपदार्थ पर राग (मोह, तृष्णादि, भय, क्रोध (रोष-द्वेष घृणादि) नहीं करता वह आत्म तत्त्व का मननशील (मुनि) स्थिरबुद्धि कहलाता है । जो सर्वत्र स्नेह (आसक्ति-मोहादि) से रहित पुरुष उन उन शुभ या अशुभ (इष्ट या अनिष्ट) सजीव निर्जीव वस्तुओं व्यक्तियों या परिस्थितियों को पाकर न तो प्रसन्न होता है और न ही द्वेष करता है, उसकी प्रज्ञा स्थिर है । जैसे कछुआ किसी भी खतरनाक वस्तु के जरा से स्पर्श होते ही अपने अंगों को समेट लेता है, वैसे ही जो आत्मार्थी साधक इन्द्रियों को इन्द्रियों के शुभाशुभ विषयों से समेट लेता है, अर्थात् इष्ट-अनिष्ट विषय प्राप्त होने पर उनके प्रति राग द्वेषादि भाव नहीं लाता, ज्ञाता-द्रष्टा रहता है, उसकी बुद्धि स्थिर है । वह (मन सहित) उन सभी इन्द्रियों को वश में करके स्वभाव में स्थित होकर परमात्मभाव में तत्पर होकर रहता है । उस जितेन्द्रिय पुरुष की बुद्धि ही स्थिर होती है ।"

ज्ञानस्वभाव में स्थिर आत्मार्थी की पहचान

जिसके अन्तर में यथार्थ रूप से आत्मज्ञान या परमात्मा के अनन्त ज्ञान रूप स्वभाव का ज्ञान दृढ़ हो गया है, वह इष्टवियोग या अनिष्ट-संयोग में समभाव से विचलित नहीं होता, अपने ज्ञानस्वभाव से एक इन्च भी नहीं भटकता, कदाचित् अपनी भूमिका के अनुसार रागादि या कषायादि

पर पूर्ण विजय प्राप्त न होने के कारण उसका सजीव-निर्जीव परभावों के साथ सम्पर्क होता है, फिर भी वह उनके प्रति उदासीन भाव या विरक्ति भाव एवं निःस्पृहता रखता है। सांसारिक पदार्थों के प्रति तृष्णा, लोभवृत्ति लोलुपता, आसक्ति या मोहादि वासना उसके हृदय में जागृत नहीं होती। प्रतिकूल परिस्थिति में वह किसी भी निमित्त को दोष नहीं देता, अपने उपादान को टटोलता है, समभावपूर्वक रहता है। उसके मन में ज्ञान का अहंकार, ज्ञान या ज्ञानी जनों की अवहेलना, ईर्ष्या या निन्दा का भाव नहीं आता। सम्यक् ज्ञान एवं ज्ञानी जनों के प्रति उसकी दोषदृष्टि, द्वेषबुद्धि, नीचा दिखाने, अप्रतिष्ठित करने अथवा जिज्ञासु की ज्ञान प्राप्ति में अन्तराय डालने की दुर्वृत्ति नहीं होती। वह सत्य या सम्यग्ज्ञान को आवृत करने के कारणों से सदैव दूर रहता है। सत्य का द्रोह या अपलाप नहीं करता। सभी धर्मों एवं दर्शनों में निहित सत्यों का अनेकान्तवाद की सापेक्ष दृष्टि से ग्रहण एवं प्रतिपादन करता है। निष्कर्ष यह है कि वह वस्तु के वस्तु-स्वरूप का एकमात्र ज्ञाता द्रष्टा रहता है, प्रत्येक ज्ञातव्य वस्तु को जानता-देखता है, परन्तु उनके प्रति रागादि संवेदन नहीं करता। जिससे जीवन में शांति और समता प्राप्त हो, वही सम्यग्ज्ञान है।

भरत चक्रवर्ती अपने ज्ञानस्वभाव में स्थिर रहते थे। जब उनके ९८ सहोदर लघुभ्राताओं ने भ० ऋषभदेव के पास दीक्षा ग्रहण कर ली, उधर बाहुबलि भी आत्मबली बनकर आत्मध्यानस्थ एवं आत्म-स्वभाव में स्थिर हो चुके, तब भरत चक्रवर्ती के मन में मन्थन जागा कि ये सारा राज्यवैभव, ठाठबाट, भोग्यसामग्री आदि समस्त पदार्थ अनित्य हैं, विनश्वर हैं, परभाव हैं। और किसी भी सजीव-निर्जीव परभाव के प्रति रागादि भाव लाना विभाव है। आत्मा ही एकमात्र शाश्वत व अविनाशी है, आत्मस्वभाव ही एकमात्र ग्राह्य है। मुझे उसी में मग्न रहना चाहिए। शरीरादि तथा राज्य, वैभव, रानी, पुत्र, परिवार आदि सजीव-निर्जीव परभाव भले ही मेरे समक्ष रहें, ये मेरे नहीं, और मैं इनका नहीं हूँ। राज्यादि वैभव का उपभोग करते हुए तथा रानी आदि परिवार के प्रति कर्त्तव्य सम्बन्ध निभाते हुए भी तथा प्रजा आदि से सम्पर्क रखते हुए भी मुझे इनका ज्ञाता द्रष्टा तथा साक्षी-मात्र, निर्लिप्त रहना चाहिए। इनके प्रति आसक्ति, माया, राग, द्वेष, मोह, घृणा, हर्ष, शोक, अहंकार, क्रोध, मद, मत्सर, लोभादि कषायभाव नहीं लाना चाहिए। यही कारण है कि भरत चक्रवर्ती राज्यवैभव आदि के परभावों के बीच रहते हुए भी अपने ज्ञानादि स्वभाव में स्थिर रहने का

प्रयत्न करते थे। शीशमहल में खड़े-खड़े आत्मा और शरीर, आभूषण आदि परभावों का भेदविज्ञान जब परिपक्व हो गया, तथा उनकी आत्मा जब ज्ञानादि स्वभाव में स्थिर और निश्चल हो गई, तब मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय एवं अन्तराय कर्म (चार घाती कर्मों) का क्षय होते ही केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रकट हो गया।

ज्ञानस्वभाव में एक बार स्थिर हो जाने पर

इसी प्रकार यदि एक बार भी आत्मा ज्ञानस्वभाव में स्थिर हो जाए अर्थात् यह निश्चय कर ले कि मैं ज्ञानस्वरूप ही हूँ। रागादि मेरे नहीं हैं, न वे मेरे में रहते हैं। पर्याय में रागादि होते हैं, वे मेरे स्वरूप में नहीं है। मेरा ज्ञान रागादि के साथ एकमेक नहीं हो जाता। इस प्रकार रागादि और ज्ञान की भिन्नता को जान-समझकर ज्ञानस्वभाव में स्थिर हो जाए तो पूर्वबद्ध कर्मबन्धन टूटते, मोहादि छूटते एवं ज्ञानादि के आवरण हटते देर नहीं लगती। जब आत्मा में ज्ञानस्वभाव प्रकट हो जाता है, वह रागादि नहीं रहते, और रागादि के फलस्वरूप जो बंध होता है, वह भी रहता नहीं, न ही ज्ञानादि को आवृत करने वाला कोई विकारभाव रहता है। तब ज्ञान फिर सदैव प्रकाशमान रहता है। निष्कर्ष यह है कि एक बार ज्ञान-ज्योति भलीभाँति सुस्थिर और सुसज्ज होकर प्रकट हो जाए तो उसकी अखण्ड-धारा केवलज्ञान तक अवश्य पहुँच जाती है। जैसे नदी एक बार अपने उद्गम से सुसज्ज होकर बहने लगती है तो वह नाना मैदानों को पार करती हुई, समुद्र में मिल ही जाती है, उसी प्रकार एक बार सम्यग्दृष्टि से सुसज्जित होकर आत्मा के ज्ञानमय स्वभाव की ज्योति निकल पड़ती है तो वह अनेक गुणस्थानों को पार करती हुई केवलज्ञानरूपी समुद्र में मिल जाती है। ज्ञानज्योति के सुसज्ज होने का अर्थ है—मेरी आत्मा ज्ञाता द्रष्टा, वीतरागी, स्वभाव से युक्त है, इस प्रकार अपने ज्ञान में दृढ़ प्रतीति करना।

यह जीव अज्ञानभाव से अनंत बार स्वर्ग में गया, नरक में भी अनन्त बार गया, आत्मा के साथ पुण्य-पाप के अभेदभाव की मान्यता के कारण अनंतकाल तक चारों गतियों में भटका किंतु जब यह ज्ञानज्योति प्रगट हुई, तब से वह चारों गतियों के कारण को निर्मूल करने लगी। चारों गतियों में परिभ्रमण रुक गया। आंशिकरूप से मुक्ति की पर्याय प्रकट हुई। इसी विशुद्ध दृष्टि ने ज्ञानान्धकार का नाश किया। एक बार जहाँ ज्ञानज्योति जगी कि फिर उसे रोकने में, बहकाने और भटकाने में जगत् में कोई भी

पदार्थ समर्थ नहीं है। किसी भी पदार्थ की ऐसे गुण की या उसकी पर्याय की शक्ति नहीं है, कि कोई आत्मा ज्ञानस्वभाव में जागृत हो जाए तो उसे तीन काल तथा तीन लोक में उस पर आवरण डाल दे। उसके मार्ग में विघ्न डाल दे।

जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित पंचास्तिकाय या षड्द्रव्यों को जानने का सार भी यही है कि आत्मा के ज्ञानादिमय स्वभाव का निश्चय करना कि मेरी आत्मा विशुद्ध चिदानन्दस्वरूप है। क्योंकि निज तत्त्व के निर्णय के बिना परतत्त्व का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। अतः निजतत्त्व—अपनी आत्मा के ज्ञानादि स्वभाव का निर्णय करके उसमें एकाग्र होना हो जिन प्रवचन का सार है। समयसार[1] में यह तथ्य स्पष्ट किया गया है—

"अधिकांश व्यक्ति, जो आत्मा को ज्ञानगुण से रहित मानते हैं, वे ज्ञानस्वरूप पद (शुद्धआत्मा=परमात्मा) को प्राप्त नहीं कर पाते। अतः हे भव्य! यदि तू कर्म से सर्वथा मुक्त होना चाहता है तो आत्मा के नियत एक रूप ज्ञानस्वभाव को ग्रहण कर, इसी का अवलम्बन ले।"

अतः आत्मा के चतुर्गुणात्मक स्वभाव में से सर्वप्रथम यह अटल निश्चय करना चाहिए कि मैं ज्ञानस्वभाव हूँ। मुझे उसी ज्ञानस्वभाव का आलम्बन लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त लौकिक या भौतिक ज्ञान, अक्षरीय ज्ञान या भाषा ज्ञान न हो, अधिक शिक्षण प्राप्त न हो तो कोई खेद नहीं, और व्यावहारिक या आध्यात्मिक ज्ञान अधिक हो तो उसका अहंकार न हो। वस्तुतः जिसे ज्ञानादि आत्मस्वभाव ज्ञात हो गया, उसे सब ज्ञात हो गया। आचारांग में कहा है—

"जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ।"[2]

जो एकमात्र एक (आत्मा या आत्मस्वभाव) को जान लेता है, वह सब (पदार्थों) का स्वरूप जान जाता है।

---

१. समयसार गा. २०५ का गुजराती पद्यानुवाद
बहु लोक ज्ञानगुणे रहित, आ पद नहीं पामी शके।
रे! ग्रहण कर तुं नियत आ, जो कर्म-मोक्षेच्छा तने॥ २०५॥

२. आचारांग श्रु. १, अ. ३ उ. ४

वस्तुतः जो व्यक्ति मूल में जल के निर्मल स्वभाव से अनभिज्ञ है, वह अज्ञानवश कीचड़ मिले हुए मलिन जल को ही जल समझकर पीता रहता है, वह जल में मिले हुए मैल को दूर करने का पुरुषार्थ नहीं करता; किन्तु जो जल के मूल में निर्मल स्वभाव का ज्ञाता है, वह उस गंदे जल में निर्मली या फिटकरी अपने हाथ से डालकर अपने पुरुषार्थ से निर्मल जल को प्राप्त कर लेता है और उसी का सेवन तथा अनुभव करता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति मिथ्यादृष्टि या अज्ञानी है, वह आत्मा के मूल शुद्ध स्वभाव एवं ज्ञानस्वभाव को न जानकर कर्म-मल से अशुद्ध आत्मा को वास्तविक समझता हैं, और आत्मा को रागी-द्वेषी एवं विकारी मानकर स्वयं राग-द्वेष आदि विकार तथा पुण्य-पाप का कर्त्ता मानता है। इस प्रकार मानने वाले व्यवहारमूढ़ को आत्मा के ज्ञानादि स्वभाव या शुद्ध स्वरूप का बिलकुल पता नहीं होता। किन्तु जो आत्मा के शुद्ध ज्ञानादि स्वभाव का ज्ञाता, आत्मा को मूल रूप में शुद्ध सहज ज्ञानानन्द स्वभाव ज्ञायक-स्वरूप जानता-मानता है, वह स्वयं कर्मों के संयोग से आच्छादित रागादि-मलिन आत्मा को अपने भेदविज्ञानरूपी निर्मली या फिटकरी से पृथक् करके उसके शुद्ध-ज्ञान स्वभाव में रमण करता है।

सच्चा आत्मज्ञान क्या और कैसा ?

ऐसा आत्मज्ञान (आत्म-स्वभाव-ज्ञान) प्रारम्भ में साधक को सत्श्रुत निर्ग्रन्थ-निःस्पृह आत्मज्ञानी साधुओं के समागम से, स्वाध्याय और श्रवण से प्राप्त करना चाहिए, बशर्ते कि वह ज्ञान स्वयं को ज्ञानादि स्वभावदशा में, अथवा स्वभावदशा के अधिकाधिक निकट रहने में सहायक हो अथवा जो परमात्मभाव की ओर ले जाता हो। आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से शास्त्राध्ययन या शास्त्र स्वाध्याय का उद्देश्य केवल तत्वों की जानकारी करना ही नहीं, किन्तु स्वयं को आत्मस्वभाव की ओर ले जाने और श्रद्धा तथा वैराग्य को दृढ़ करना होना चाहिए। जो जानकारी स्वभावदशा में स्थिर रहने में उपयोगी हो, कम से कम, स्वभाव सम्मुखता जगाता हो, उसे ही 'ज्ञानसार' में यथार्थ आत्मज्ञान बताया है।[1]

---

१ स्वभाव-लाभ-संस्कार-कारणं ज्ञानमिष्यते।
ध्यान्ध्यमात्रमतस्त्वन्यत् तथा चोक्तं महात्मना ॥

—ज्ञानसार, ज्ञानाष्टक ५, श्लोक ३.

जगत् के चेतन-अचेतन पदार्थों की जो जानकारी विभावदशा में घसीट ले जाती हो, वह जानकारी अज्ञान है। इसी प्रकार वह जानकारी भी अज्ञान है जो आत्मा को स्व-भाव से दूर ले जाती हो, फिर भले ही वह जानकारी आगम ग्रन्थों की हो। भगवद्गीता में ज्ञान और अज्ञान का विश्लेषण करते हुए कहा गया है—

अध्यात्मज्ञान-नित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थ-दर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥[1]

अध्यात्म-ज्ञान (आत्मा और अनात्मा के विवेकज्ञान) में नित्यस्थिति तथा तत्त्वज्ञान (स्वभावज्ञान) के अर्थ (उद्देश्य) रूप परमात्म-भाव को सदा देखना, यही वास्तविक ज्ञान है। इससे जो विपरीत है, उसे अज्ञान कहा गया है।

अज्ञान का मतलब न जानना नहीं है, किन्तु जानने के साथ राग-द्वेष, मोह, मद, प्रियता-अप्रियता आदि विकारों का जुड़ जाना है। ज्ञानस्वभाव में लीन रहने का अर्थ है, जो वस्तु जैसी है, उसे उस रूप में जानना, वहाँ कोरा ज्ञान—केवल ज्ञान रहे, उसके साथ मिलावट-मिश्रण न होगा। 'योग सार' में इसी तथ्य को अभिव्यक्त किया गया है—

'यथावस्तु परिज्ञानं, ज्ञानं ज्ञानिभिरुच्यते।
राग-द्वेष-मद-क्रोधैः, सहितं वेदनं पुनः ॥'[2]

जो वस्तु जैसी है, वैसा ही उसका परिज्ञान होना—सत्यबोध होना —ज्ञान है। ज्ञान के साथ जब राग, द्वेष, मद, क्रोध आदि जुड़ जाते हैं, तब वह निखालिस ज्ञान न रहकर संवेदन बन जाता है।

ज्ञानस्वभाव में रहने वाला आत्मार्थी पर-वस्तुओं के वस्तुस्वरूप का ज्ञान करता है, किन्तु ज्ञाता, द्रष्टा, साक्षी या तटस्थ बनकर रहता है। घटना घटित हो रही है, उसमें वह अपने आपको लिप्त नहीं करता, प्रियता अप्रियता का भाव नहीं लाता, वह अपने आपको उससे पृथक रखता है।

---

१ भगवद्गीता अ. १३ श्लोक. ११
२ योगसार

ज्ञानसमाधि : प्रक्रिया और स्वरूप

जिसे यह भूमिका प्राप्त हो जाती है, जिसमें वेदन से अपने आपको दूर रखने की क्षमता आ जाती है, वह स्वयं के ज्ञान (वस्तु के ज्ञान) को कोरा ज्ञान रखता है। ऐसा साधक वास्तव में ज्ञानसमाधि प्राप्त कर लेता है। दशवैकालिक सूत्र में इसे श्रुतसमाधि कहा गया है। श्रुतसमाधि कहें या ज्ञानसमाधि बात एक ही है। इसके चार चरण बताये गए हैं—(१)विशुद्ध ज्ञान होना, (२) एकाग्रचित्त होना, (३) स्वयं सत्य (ज्ञानभाव) में प्रतिष्ठित (स्थित) होना और (४) दूसरों को ज्ञानभाव में स्थिर करना।[1] ज्ञान अपने आप में चंचल नहीं होता। रागादि संवेदन ही चंचलता पैदा करते हैं। अतः ज्ञान का प्रथम परिणाम है—चंचलता समाप्त होना, दूसरा है—एकाग्रचित्त होना, तीसरा है—स्थितात्मा होना, अर्थात ज्ञानस्वभाव में स्थित हो जाना, और चौथा परिणाम है—दूसरों को स्थित करना। यही ज्ञानसमाधि है, इसे ही दूसरे शब्दों में, आत्मा के ज्ञानस्वभाव (सत्-चित्-रूप) में सतत स्थिर रहना कहा जाता है। इसी को गीता में ज्ञानयोग कहा गया है। आशय यह है कि जब साधक का उपयोग सतत आत्मा के ज्ञान-स्वभाव में स्थिर रहता है, जब उसमें किसी भी प्रकार के परभावों या विभावों अथवा कर्मोपाधिजन्य परिस्थितियों को ममत्ववश अपने मानकर अपनाने की कामना, स्पृहा, लालसा या वासना जरा भी नहीं रहती, जब वह आत्मतृप्त, आत्म-सन्तुष्ट या आत्मरति बन जाता है, तब वह स्थितात्मा हो जाता है, यही आत्मा के ज्ञान-स्वभाव में स्थिर रहने की कुंजी है।

परमात्मभाव का द्वितीय स्वभाव : अनन्तदर्शन क्या और कैसे ?

परमात्मा का अनन्तदर्शन स्वभाव भी मूलरूप से सामान्य आत्मा में विद्यमान है। किन्तु उसकी अभिव्यक्ति होने में कई बाधक कारण उपस्थित हो जाते हैं। उनमें से मुख्य हैं—आत्मविस्मृति, अजागृति, प्रमाद, असाव-

---

१ चउव्विहा खलु सुयसमाही भवइ :
तं जहा—सुयं मे भविस्सइ त्ति अज्झाइव्वं भवइ।
एगग्ग चित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ।
अप्पाणं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ।
ठिओ परं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ॥

—दशवैकालिक अ. ९ उ. ४

धानी, मन और इन्द्रियों का दुरुपयोग, तथा राग-द्वेष-कषाय आदि। इनके परिणामस्वरूप चक्षु-दर्शन, अचक्षु दर्शन (नेत्रेतर इन्द्रियों द्वारा दर्शन), अवधिदर्शन (आत्मा द्वारा सावधिक दर्शन) तथा केवलदर्शन (एकमात्र आत्मदर्शन) पर आवरण आ जाता है। यों तो दर्शन ज्ञान का ही पूर्वरूप है। ज्ञान साकार उपयोग होता है, जबकि दर्शन निराकार। किसी भी वस्तु को देखते ही प्रथम क्षण में 'यह कुछ है,' इस प्रकार का जो सामान्य ज्ञान होता है, उसे 'दर्शन' कहा जाता है और यह अमुक वस्तु है, अमुक काम की है, या अमुक नाम रूप वाली है, ऐसा विशिष्ट ज्ञान 'ज्ञान' कहलाता है।

दूसरे शब्दों में, दर्शन होता है—अभेदात्मक चेतना से और ज्ञान होता है—भेदात्मक चेतना से। जब व्यक्ति किसी वस्तु या व्यक्ति को देखता है तो अभेद चेतना से ही देखता है। देखते समय उसकी चेतना भेदात्मक नहीं होती। जैसे किसी व्यक्ति को देखते ही सर्वप्रथम बोध होगा कि यह आदमी है। यह है—अभेद चेतना! परन्तु जब उस व्यक्ति के अंगोपांग, परिचय आदि के विषय में विशेष जाना जाता है, तब भेदात्मक चेतना होती है।

परन्तु दर्शन और ज्ञान की कार्यप्रणाली में काफी अन्तर है। ज्ञान का कार्य-क्षेत्र विशाल है। पूर्णज्ञान या अनन्तज्ञान जिसे हो जाता है, उसके लिए किसी भी वस्तु का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश भी अज्ञात नहीं रहता। जब पूर्णज्ञानी के लिए सम्पूर्ण वस्तुओं के सूक्ष्म से सूक्ष्म कण भी अज्ञात नहीं रहते, तब पूर्णदर्शन तो उसमें गतार्थ हो ही जाता है। इसीलिए जैनजगत में 'केवलज्ञानी' या 'केवली' शब्द का प्रयोग ही प्रायः होता है, केवलदर्शनी शब्द क्वचित् ही प्रयोग होता है। वैसे भी जो सम्यग्दृष्टि आत्मार्थी अपूर्णज्ञानी होता है, वह ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय एवं मोहनीय कर्म के उदयवश प्रत्येक घटना, वस्तु या व्यक्ति के विषय में आत्मा के ज्ञानस्वभाव या दर्शनस्वभाव में पूर्णतया स्थिर नहीं रह पाता, वह प्रमाद, अजागृति, एवं विस्मृति में पड़ जाता है। फिर भी वह परभावों एवं कषायादि विभावों को हेय मानता है, परभावों का ज्ञाता-द्रष्टा बने रहने का प्रयत्न करता है, साक्षीभाव रखने के लिए प्रयत्नशील होता है, परभावों से सम्पर्क रखता हुआ भी वह उन्हें अपना नहीं मानता, न ही उनको आसक्तिपूर्वक अपनाने के लिए वह उत्सुक या लोलुप रहता है। वह परपदार्थों के प्रति तटस्थ एवं

उदासीन रहता है। अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों या व्यक्त-अव्यक्त इष्ट-अनिष्ट संयोग विभावों में हर्ष-शोक से दूर रहने का प्रयत्न करता है। वह यह बखूबी जानता है कि परभावों या विभावों में फँसना, आसक्त होना या रागद्वेष से लिप्त होना आत्मा का दर्शन स्वभाव नहीं है। अगर वह अपने दर्शन-स्वभाव पर अटल रहता है, तो परमात्मा के अनन्तदर्शनरूप स्वभाव को प्राप्त कर सकता है, रागादि विकारों से रहित निर्विकार हो सकता है, और ज्ञानसमाधि की तरह दर्शन-समाधि भी प्राप्त कर लेता है।

आत्म-दर्शन की अपेक्षा पर-दर्शन में उलझा हुआ मानव

वैसे तो प्रत्येक आत्मा को दर्शन की शक्ति प्राप्त है। वह ज्ञाता है, द्रष्टा है। जानता और देखता भी है। परन्तु उसे देखना चाहिए आत्मा को, स्वभाव को, आत्मगुणों को; उसकी अपेक्षा देखता है—परभाव को, अन्य व्यक्ति या प्राणी को, अथवा परपदार्थ को, पर-रागादि विभावों को। परभाव के दर्शन में प्रायः उसकी दृष्टि अवरुद्ध हो जाती है। यदि वर्तमान मानव जीवन के अधिकांश काल का हिसाब-किताब किया जाए तो प्रतीत होगा कि उसके जीवन का अधिकांश काल पर-दर्शन या सजीव-निर्जीव परभाव या विभाव के दर्शन में ही व्यतीत होता है। समग्र जीवन का प्रायः ५ प्रतिशत या इससे भी कम समय स्वदर्शन—शुद्ध आत्म-दर्शन (परमात्मदर्शन) में व्यतीत होता है। सजीव-निर्जीव परभावदर्शन से प्रायः ये समस्याएँ पैदा होती हैं—ईर्ष्या, असंतोष, द्वेष, वैरभाव, मोह, अहंकार, ममत्व आदि विकार (विभाव)। नीतिकार का कथन है—

"अधोऽधः पश्यतः कस्य, महिमा नो गरीयसी।
उपर्युपरि पश्यतः सर्व एव दरिद्रति।

आदमी अपने से नीचे-नीचे देखता है तो उसे अपने बड़प्पन का अहंकार घेर लेता है, और अपने से ऊपर-ऊपर देखता है, तो स्वयं दरिद्र जैसा हीन प्रतीत होता है।

परदर्शन से अहंता-ममता या हीनता की भावना

वस्तुतः जिसमें आत्मदर्शन का प्रारम्भ नहीं हुआ है, उसमें पर-दर्शन से या तो गौरवग्रन्थी (अहंकार की भावना) पैदा होगी, अथवा लघुता की ग्रन्थी (हीनता की भावना) पैदा होगी। लोकव्यवहार में एक करोड़पति लखपति को देखकर मन में अहंकार लाता है, एक व्याकरणाचार्य पण्डित व्याकरण मध्यमा उत्तीर्ण को देखकर मद में फूल जाता है।

इसी प्रकार आगमशास्त्रज्ञ शास्त्रों से अनभिज्ञ को, शिक्षित अशिक्षित को, बड़ा व्यापारी छोटे व्यापारी को देखकर घमंड से सिर ताने रहता है। धनवान निर्धन को देखकर उससे बात करना नहीं चाहता। इसी प्रकार क्रियाकाण्डी साधु, महाव्रती चारित्रवान् सरलमति साधु को देखकर अपनी उत्कृष्टता की डींगें हांकता है। अहंकारवश अपने सम्प्रदाय की महत्ता के गुणगान गाने वाला दूसरे सम्प्रदाय या सम्प्रदायनुगामियों की भरपेट निन्दा या निकृष्टता बताकर अपने अहंकार का प्रदर्शन करता है। यह गौरव-ग्रन्थी आध्यात्मिक साधना परायण संस्थाओं या संघों में भी पूर्णतया दृष्टि-गोचर होती है।

परदर्शन से व्यक्ति में तीन प्रकार की गौरवग्रन्थी

जैन शास्त्रों में तीन प्रकार का गौरव[1] (गर्व) बताया गया है—ऋद्धिगौरव, रस गौरव और साता-गौरव। अपनी मानी जाने वाली ऋद्धि फिर वह ऋद्धि धन की हो, अथवा विद्या, तपस्या, लब्धि, उपलब्धि, सिद्धि या शास्त्रज्ञता की हो, अथवा सम्प्रदाय के प्रदर्शन, आडम्बर, या धुंआधार प्रचार-प्रसार की, प्रसिद्धि की हो तथा संघ के साधु साध्वियों या अनुगामियों की संख्या की हो, अथवा विभिन्न अर्थसमृद्ध संस्थाओं की हो, इन और ऐसी ही ऋद्धि (ठाठ-बाट, शानशौकत) का गर्व (गौरव) या अहंकार ममकार परभाव-दर्शन का परिणाम है। इसी प्रकार पांचों इन्द्रिय-विषयों अथवा मनोज्ञ खाद्य-स्वाद्य, अथवा पेय पदार्थों की प्रचुरता के रस (स्वाद, रुचिकरता, तन्मयता) का, अथवा अनुकूल विषयोपभोग-सामग्री की प्रचुरता का गौरव (गर्व) भी परभाव की ओर दृष्टि और स्वभाव-दर्शन के प्रति उपेक्षा का परिणाम है। इसी प्रकार साता को सुख-सुविधाओं को, आराम तलबी को, तथा आरोग्य, शरीर-सौन्दर्य एवं शरीर-सौष्ठव आदि की सुखाकारी का गौरव (गर्व) भी अहंत्व-ममत्व की वृद्धि करने वाला है। ये सब गौरव आत्मदर्शन से विमुख होने के परिणाम हैं। व्यक्ति जब अपने धन, साधन, विद्या, बुद्धि, तप, लाभ, लब्धि, उपलब्धि, मंत्रादि की सिद्धि आदि परभावों की ओर ही दृष्टिपात करता है और उन्हें दूसरे में अपने से बढ़कर देखता है, तो स्वयं को हीन मानने लगता है, ग्लानि का अनुभव

---

१ पडिक्कमामि तिहिं गारवेहिं, तं० इड्ढिगारवेहिं, रसगारवेहिं, सायागारवेहिं।
—आवश्यकसूत्र

करता है। एक छोटा कर्मचारी अपने से बड़े कर्मचारी को, एक अधिकारी अपने से उच्च अधिकारी को देखता है तो स्वयं को नीचा एवं तुच्छ मानने लगता है।

परदर्शन से रागादि नाना विकार आ जाते हैं

कई दफा व्यक्ति की दृष्टि आत्मा को छोड़कर दूसरों की ओर जाती है तो प्रायः वह दूसरों को नीचा दिखाता जाता है, और उनका खण्डन करता जाता है, तथा स्वयं को उत्कृष्ट एवं श्रेष्ठ प्रतिष्ठापित करता जाता है। स्व-दर्शन में निष्ठा जागती है तो व्यक्ति सबको समभाव से देखता है। समत्व के क्षण में जीने वाले को कोई पृथक्-पृथक् नहीं लगता, न ही वह समत्व को खोता है। विषमता पर उसकी दृष्टि उलझती नहीं।

इसी प्रकार आत्म-दर्शन को छोड़कर जब व्यक्ति की दृष्टि पंचेन्द्रिय विषयों को देखने, सुनने, सूंघने, स्पर्श करने, स्वाद लेने अथवा मन से राग-द्वेषात्मक दृष्टि से सोचने की हो जाती है, तो इस परभावदर्शन से नाना प्रकार की विकृतियाँ आती हैं। जिसे आत्मा के अनन्तज्ञान, आनन्द एवं शक्ति की ऋद्धि का, आत्मस्वभाव के आस्वाद का एवं आत्मिक सुख का दर्शन, विश्वास या श्रद्धान नहीं होता, वह आत्मदर्शन में स्थिर नहीं होता। जब तक व्यक्ति की दृष्टि पर-पदार्थ पर-व्यक्ति या परभाव के दर्शन में उलझी रहती है, तब तक अहंता-ममता या हीनता की भावना या ग्रन्थी को रोका या तोड़ा नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त स्व-दर्शन को छोड़कर जब व्यक्ति एकमात्र परदर्शन में उलझा रहता है तो अनुकूल प्रतिकूल परिस्थिति, क्षेत्र, व्यक्ति, संयोग-वियोग तथा मान-अपमान, निन्दा-प्रशंसा आदि विषमताओं के प्रवाह में बहकर रागद्वेष, हर्ष-शोक या रोष-तोष आदि करता है। फलतः उसका जीवन मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और और शुभाशुभ योग से घिरा रहने के कारण वह शुद्ध आत्मा के दर्शन नहीं कर पाता। शुद्ध आत्मा का दर्शन करने वाले के जीवन में आचारांग के ये सूत्र अभ्यस्त हो जाते हैं—

"णो हीणे, णो अइरित्ते, णो पीहए।
" तम्हा पंडिए णो हरिसे णो कुज्झे।"[1]

अर्थात्—आत्मा की दृष्टि से कोई भी व्यक्ति न तो हीन (निकृष्ट)

---

१ आचारांग सूत्र अ. १, अ. २, उ. ३।

है, और न अतिरिक्त (बढ़कर उत्कृष्ट) है। आत्मद्रष्टा व्यक्ति समाज व्यवस्था या जीवनमात्र में भी किसी पर-पदार्थ या व्यक्ति को देखता अवश्य है, किन्तु उसके साथ रागादि विकारों या विषमताओं को नहीं जोड़ता। वह दोनों का सन्तुलन रखकर समभाव में स्थिर रहता है। वह परभावों को भी आत्मदृष्टि से तोलता-नापता व देखता है, आत्मदर्शन को नहीं चूकता।

परमात्मा का तीसरा स्वभाव : अनन्त आनन्द : आत्मा का स्वभाव

परमात्मा का जो तीसरा स्वभाव है—अनन्त आनन्द, वही शुद्ध आत्मा का स्वभाव है। सामान्य आत्मा का भी मूल में यही स्वभाव है। इसे ही जैन पारिभाषिक शब्दों में 'अनन्त अव्याबाध सुख', अथवा आत्मिक सुख कहते हैं। जैसे-जैसे मानव बाह्य इन्द्रिय विषयों, मनोविषयों एवं पर-पदार्थों में कल्पित सांसारिक सुखों को छोड़कर एकमात्र आत्मिक आनन्द में तन्मय हो जाता है, वैसे-वैसे वह परमात्मभाव की ओर बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे आत्मिक आनन्द का अथाह सागर उसके सामने ठाठें मारता हुआ नजर आता है। आवेश, अनुकूलता, विषय-सुखों की स्पृहा, एषणा, पर-पदार्थों में काल्पनिक सुखैषणा आदि विकारों के तूफान शान्त होते जाते हैं। अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में तथा इष्टानिष्ट के संयोग-वियोगों में वह समता की दृढ़भूमि पर स्थिर रहता है। आनन्द के अतल सागर की ऊर्मियाँ उस आत्मा के चरण पखारने लगती हैं, और वह एक दिन पर-मात्मभाव में स्थित हो जाता है।

यद्यपि आत्मा स्वयं सुखधाम है। वह अव्याबाध अनन्तसुख का स्वामी है। सुख आत्मा का स्वभाव ही है। इसी को 'आनन्द' कहा गया है, जिसकी परिभाषा है—

"देश-काल-वस्तु-परिच्छेदशून्यः आत्मा आनन्दः।"[1]

जो देश, काल, वस्तु और व्यक्ति की प्रतिबद्धता से रहित हो, वह अव्याबाध आनन्द ही आत्मा है।

अज्ञानी जन बाह्य विषयों या परपदार्थों में सुख मानते हैं

अज्ञानीजन बाह्य विषयों, धनमिष्टान्नादि पदार्थों या अमुक व्यक्तियों (पुत्रादि प्राप्ति) में सुख मानते हैं। परन्तु यह सुख स्वाधीन सुख नहीं है,

---

१ वेदान्तदर्शन।

वह पदार्थनिष्ठ या व्यक्तिनिष्ठ होने से पराधीन क्षणिक और अकुलता जन्य सुख है, वह सुख नहीं सुखाभास है। इस सुख के साथ राग-द्वेष, हर्ष-शोक, रोष-तोष आदि जुड़े हुए हैं। 'पराधीन सपनेहु सुख नांही',[1] इस कहावत के अनुसार यह पराधीन सुख परिणाम में दुःख रूप है। इस सुख में दुःख का बीज छिपा हुआ है। यदि बाह्य विषयों में या पदार्थों में ही आनन्द या सुख होता तो साधुवर्ग इतने परीषह और कष्ट क्यों सहता? गृहस्थ वर्ग को भी समता, अहिंसा आदि की साधना करने की आवश्यकता क्यों होती? कारण यह है कि वह सुख क्षणिक है, निराबाध नहीं। आत्मिक सुख निराबाध है, शाश्वत है, सदैव आत्माधीन है। पौद्गलिक सुख या वैषयिक सुख साबाध है। उस सुख में बाधा उपस्थित हो जाती है। प्रशंसा से सुख मानने पर निन्दा से बाधा आ जाती है। आत्मिक सुख निन्दा प्रशंसा आदि से ऊपर उठे हुए वीतरागी पुरुषों का सुख है, वही आत्मा का सुख है। इसीलिए कहा है—'एगंतसुही साहू वीयरागी।'[2] आत्मिक सुख ही अतीन्द्रिय, अव्याबाध, एकान्तिक और आत्यन्तिक है। वही परमात्मा का एवं आत्मा का स्वभाव है। इस सुख=आनन्द में किसी भी बाह्य निमित्त या आलम्बन की अपेक्षा नहीं रहती है। वह आत्मा के स्वभाव में से प्रकट हुई आत्मा की शुद्ध परिणाम धारा रूप है। आत्मा से आत्मा में अनुभव किया जाने वाला स्वाधीन सुख है। इन्द्रिय जन्य या मनोजन्य सुख को विषयों की आवश्यकता रहती है।

बाह्य सुख पराधीन, आत्मसुख स्वाधीन : अनुभवसिद्ध

जिन विषयों का उपभोग कर लिया, उनकी स्मृति से जिन विषयों का वर्तमान में उपभोग कर रहा है, उसके अनुभव से तथा भविष्य में जिन विषयों का उपभोग करना है, उनकी सुखद कल्पना से अज्ञानी जीव बाह्य विषयों, परपदार्थों या व्यक्तियों में सुख मानता है, वह सुख सापेक्ष है, आकुलतायुक्त है, क्षणिक है, पराधीन है।

आत्मिक सुख (आनन्द) देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, विषय आदि से निरपेक्ष है, स्वाधीन है, शाश्वत है, परिपूर्ण है, निराबाध है। वह सुख आत्मा में ही पड़ा है, कहीं बाहर से लाना नहीं है। वही निजानन्द है।

---

१ गोस्वामी तुलसीदास।

२ नवि सुही देवता देवलोए, नहि सुही सेट्ठि-सेणावई वि।
नहि सुही राजा रट्ठवई, एगंतसुही साहू वीयरागी॥

जिसने स्वानुभूति की है, उन महान् आत्माओं को इस सुख का अनुभव होता है। तभी वह जान जाता है कि आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में अनंत सुख पड़ा है, असंख्य प्रदेश में भी अनन्त सुख पड़ा है। समग्र आत्मा सर्वथा एकान्त सुख से परिपूर्ण है, इसलिए वह सुखधाम है।

बाह्य विषयों में सुख दुःख रूप ही है

वस्तुतः आत्मा के सिवाय किन्हीं भी बाह्य विषयों में सुख नहीं है, शान्ति और आनन्द नहीं है। आत्म स्वभाव में ही सुख है। इसे कोई भी समझदार आदमी प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। मानलो—एक व्यक्ति कर्ण प्रिय संगीत में आनन्द मानता है। परन्तु १०५ डिग्री बुखार हो, उस समय उसे कोई संगीत सुनाए तो वह उसे प्रिय एवं सुखकर नहीं लगता। मोदक खाने में रुचिकर एवं सुखकर लगता है परन्तु पांच छह मोदक खा लिए, फिर वह अरुचिकर-दुःखकर लगने लगता है। बीमारी में वही मोदक दुःख कर लगता है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में समय, क्षेत्र, परिस्थिति एवं संयोग की अपेक्षा से सुखकर माना जाने वाला पदार्थ, घटना, या संयोगवश दुःखकर बन जाता है। जिस धन में सुख माना जाता है, वही डकैती, हत्या आदि के कारण दुःख का कारण बन जाता है। ममत्व-अहंत्व वश मनुष्य मनोज्ञ वस्तु एवं व्यक्ति को सुख रूप मानता है, वही कालान्तर में दुःखरूप बन जाता है। अतः परपदार्थ में घटना में, संयोग में, पुण्यादि में सुख नहीं है, यदि वह सुख रूप होता तो निरन्तर सुखदायक रहता। शुभ में, पुण्य में ही यदि सुख होना तो उससे दूर हटने का आकुलता पाने का भाव न होता। परभाव में ही सुख हो तो आगे से आगे जाने पर उसे बेचैनी या अरुचि न होती, मगर स्वभाव में सुख है, उसमें व्यक्ति ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, त्यों त्यों सुख (आत्मानन्द) बढ़ता जाता है। अतः स्व-स्वभाव के अवलोकन-अन्तर्मुख प्रेक्षण में ही सुख है, अतीन्द्रिय ज्ञान में ही सुख है।

स्व-स्वभाव में ही सुखशान्ति

यह निश्चय समझ लो कि मानव का आनन्द उसके स्वभाव में है, बाहर में या बाह्य इन्द्रियविषय में में नहीं। वह एकमात्र उसके अन्तर में, अतीन्द्रिय चैतन्य स्वभाव में है। जगत् के बाह्य पदार्थों की अनुकूल या प्रतिकूल परिणति होती है, उसके साथ तुझे कोई लेना-देना नहीं है। तू अपने दुःख में भी अकेला है और सुख-शान्ति में भी। तेरे निकट सर्वज्ञ परमात्मा बैठे हों, तो भी वे तेरी परिणति को सुधार नहीं सकते, तू ही

दुःख में समभाव—स्वभावलीन होकर शान्ति प्राप्त कर सकता है। तथा अनेक शत्रु या विरोधी तुझे घेर लें तो भी वे तेरी आत्मिक सुख-शान्ति को बिगाड़ नहीं सकते। आत्म-स्वभाव के अवलम्बन के बिना बाहर से, दूसरे की ओर से कोई शान्ति नहीं आएगी और न ही स्वभाव के अवलम्बन से अभिव्यक्त शान्ति को दूसरा कोई ध्वस्त या विकृत कर सकता है। अज्ञानी जीव बाहर से शान्ति आने के भ्रम में रहता है। इसी कारण वह इस भ्रम में रहता है कि दूसरा मेरी शान्ति छीन या लूट लेगा। परन्तु आत्मिक सुख-शान्ति स्वभाव है, उसे कोई दूसरा दे नहीं सकता, न ही छीन सकता है। पुण्य-पापजनित सुख-दुःख या बाह्य संयोगों से जनित सुख-दुःख भी आत्मस्वभाव नहीं है।

बाह्य संयोगों से भी सुख नहीं

अज्ञानी जन बाह्य संयोगों को लेकर सुख-दुःख का नाप-तौल करते हैं, परन्तु यह भी भ्रान्ति है। एक व्यक्ति के पास लाखों रुपये हों, शरीर भी स्वस्थ हो; किन्तु परिवार में अनबन रहती हो, अपमान हुआ हो, भाई-भाई में परस्पर कलह हो गया हो, पत्नी-पुत्र आज्ञाकारी न हों तो धनादि का संयोग होते हुए भी मानसिक बेचैनी, व्याकुलता आदि के कारण अन्तर में दुःख की आग हो तो वह दुःखी ही कहलायेगा।

इसीलिए श्रीमद् राजचन्द्र ने स्पष्ट कहा है—

"सुख प्राप्त करतां सुख टले छे, लेश ए लक्ष्ये लहो।"
परवस्तुमां नहि मूंझवुं, एनी दशा मुजने रहो,
ऐ त्यागवा सिद्धान्त के पश्चात् दुःख ते सुख नहीं।[1]

अतः बाह्य संयोगों से सुख-दुःख की कल्पना छोड़कर अपने ज्ञानानन्द (आत्मिक सुख) स्वभाव को देखे तो व्यक्ति बाह्य सुखों से स्वयं को सुखी नहीं मानता, तथैव बाह्य प्रतिकूलताओं के संयोग में भी स्वयं को दुःखी नहीं समझता। वह यह सोचे कि आत्मा में ही सुख है, बाह्य वस्तुओं में नहीं। यह अज्ञानी जनों का ही काम है कि वे बाह्य पदार्थों और संयोगों में, जो कि आत्मा से भिन्न वस्तु (परभाव) हैं, सुख-दुःख की कल्पना करते हैं। जैसे—आत्मस्वभाव से अनभिज्ञ या आत्मस्वभाव में अस्थिर व्यक्ति यह मकान सुखदायक है, स्त्री-पुत्र अच्छे हैं, मान-सम्मान भी अच्छा

---

१ अमूल्य तत्व विचार

है, इत्यादि कल्पना करके परनिमित्त या पुण्यकर्म जनितसुख को सुख मान लेते हैं, किन्तुउन में मोह-ममत्व, रागद्वेष आदि के कारण आगे चलकर जब आकुलता बढ़ती है, तब उन्हें असलियत मालूम होती है।

आत्मस्वभाव में सुख का स्वाद : कब और कब नहीं

आत्मस्वभाव में सुख मानने वाला व्यक्ति विकार के लक्ष्य को तथा उसके स्वामित्व (ममत्व) को छोड़कर आत्मा में ही अनन्त सुख का अनुभव करता है। उसे दृढ़ प्रतीति हो जाती है कि मेरा अनन्त सुख (आनन्द) मुझ में ही है, मुझसे ही है। यद्यपि निचली भूमिका में अभी प्रकट आनन्द अल्प है, किन्तु लक्ष्य में वह पूर्ण है। जैसे—चने में स्वाद भरा है, यह जानकर कोई कच्चे चने को चबाए तो जरा कसैला लगेगा। किन्तु उसी चने को सेके जाने पर उसमें से स्वाद प्रकट होता है और फिर उसे बोने पर वह ऊगता भी नहीं है; इसी प्रकार चैतन्यपिण्ड आत्मा में सुख-स्वभाव (अखण्ड आनन्द) भरा है। अपरिपक्व आत्मा उस सुख (आनन्द) का स्वाद ले नहीं सकता। आत्मा में निहित आनन्द का स्वाद तभी प्रकट होता है, जब वर्तमान अवस्था में चंचलता (भ्रान्ति), मलिनता और अगाढ़तारूपी कच्चापन तथा अशुद्धि निकाल दे और आत्मा के अखण्ड आनन्द स्वभाव पर दृढ़ श्रद्धा, प्रतीति एवं एकाग्रता हो। तभी आत्मा में निहित परिपूर्ण सुख-मोक्ष-सुख प्रकट होता है। ज्ञानी सन्त आत्मा के आनन्दादि स्वभाव को पहचानकर इस दुःखमय संसार सागर को पार कर लेते हैं। वास्तव में संसार के कल्पित सुख से सर्वथा भिन्न जाति के निराकुल अतीन्द्रिय आत्मिक सुख का निरन्तर स्वाद आए; यही आत्मानन्द का यथार्थ अनुभव है। अज्ञ संसारी जीव शुभरागादि विकार में ही सन्तोष मानकर आकुलता का स्वाद लेते हैं, जबकि शुभभाव पर होने से उसमें आत्मानन्द का स्वाद आ नहीं सकता।

यद्यपि छठे-सातवें गुणस्थान में स्थित मुनि को भी केवलज्ञानी के समान पूर्ण आनंद नहीं होता। किन्तु मध्यमदशा का उत्तम आत्मिक आनन्द तो है ही। जो कि चौथा पाँचवें गुणस्थान की भूमिका की अपेक्षा बहुत अधिक होता है। जैसे चने में स्वाद की उत्पत्ति, कच्चेपन का व्यय और उसके मूल स्वरूप की स्थिरतारूप ध्रौव्यत्व विद्यमान है, उसी प्रकार आत्मा में रागद्वेषादि रहित शुद्ध अखण्ड आनन्द है, ऐसी श्रद्धा के अपूर्व स्वाद का

उत्पाद, अज्ञान एवं मिथ्यात्व का व्यय तथा सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा ध्रुवरूप है, ऐसी दृढ़ श्रद्धा-प्रतीत हो तो आत्मा के अखण्ड आनन्दस्वरूप में स्थिरता आ सकती है।

सम्यग्दृष्टि को प्रतिकूल संयोगों में भी सुख : क्यों और कैसे

ऐसी स्थिति में प्रतिकूल संयोग, अनिष्ट परिस्थिति या व्यक्ति का संयोग उपस्थित होने पर भी उक्त सम्यग्दृष्टि आत्मा का दृढ़ निश्चय होता है, ये सब परवस्तुएँ मेरे लिए हानि-लाभ या सुख-दुःख का कारण नहीं है। मैं पर से भिन्न हूँ। पर के साथ मेरा कोई भी तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव पर दृढ़ प्रतीति हो तो वह चाहे जिस क्षेत्र में चला जाए, चाहे जिस काल में, परिस्थिति या संयोग में हो, उसे दुःख नहीं होता। नरक और तिर्यंच गति का भी संयोग उसके लिए दुःखकारक नहीं होता। क्योंकि नरक में भी उसे यह दृढ़ प्रतीति होती है कि आत्मा किसी भी काल और किसी भी क्षेत्र में मूल में अपने अनन्त आनन्द गुण से रहित नहीं है। वह सदा अपने में ही रहता है। भ्रमवश परनिमित्तों को अच्छा-बुरा कहने-मानने की जो बुद्धि है, वही दुःख है, या दुःख बीजरूप बाह्य सुख है। वास्तव में सम्पत्ति नष्ट होने से, अपमान होने, या स्त्री-पुत्र अनुकूल न होने पर जो प्रचुर आकुलता होती है, वह भी जड़ के संयोग-वियोग से नहीं, अपितु अपने अज्ञान और मिथ्यात्व से होती है। यह आत्मा के अनाकुल सुख की विकृति है। इसके विपरीत सम्यग्दर्शन ज्ञान और आत्म-स्वभाव में लीनता से आत्मा में प्रचुर आनन्द की अनुभूति होती है।

पराश्रित सुख मानना भिखारीपन है

जो व्यक्ति परवस्तु में सुख मानकर उस काल्पनिक क्षणिक सुख के लिए पराश्रित बन जाता है, वह एक तरह से भिखारी है। लाखों रूपया मांगने वाला बड़ा भिखारी है, तो थोड़ा-मांगने वाला छोटा भिखारी है।

आत्मार्थी परपदार्थों से सुख नहीं चाहता

आत्मार्थी सम्यग्दृष्टि जीव इस प्रकार की भिखारीवृत्ति से दूर रहता है। वह सोचता है—मैं अखण्ड ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ। मेरी आत्मा अनन्तगुणरत्नों से परिपूर्ण है। मुझे परपदार्थों से सुखादि नहीं चाहिए। मेरा सुख मेरे में है। इस प्रकार आत्मानन्द की मस्ती में जो रहता है, वह शहंशाह है। वह भगवान् से, किसी देवी देव से, या किसी शक्ति से अथवा

किसी धनिक या सत्ताधीश से सुख की याचना नहीं करता। जो परमात्मा अनन्त आत्मिकसुख-सम्पन्न हैं, उन्हीं से वह भक्ति की भाषा में कदाचित् प्रार्थना कर देता है, यह भी आत्मिक सुख में स्थिर रहने की, अपने ज्ञानादि स्वभाव में निश्चल रहने की, क्योंकि परमात्मा उस अनन्त आत्मिक आनन्द की मंजिल प्राप्त कर चुके हैं। जिन्हें उस अनन्त अखण्ड आत्मिक आनन्द का निरन्तर अनुभव होता है, वे ही उस आत्मानन्द की प्रेरणा कर सकते हैं। साधक भी अभ्यास से उस परमानन्द का अनुभव कर सकता है।

एक बात और, जिन्हें आत्मा के ज्ञानानन्द स्वभाव की परमशुद्धदशा प्राप्त हो चुकी है, वे निरन्तर उस परमानन्द की मस्ती में इतने तन्मय हो जाते हैं कि वे उसमें से बाहर निकलते ही नहीं। संसार की प्रचुर भौतिक सम्पत्ति-धारक उस सुख की कल्पना नहीं कर पाता, जिस आत्यन्तिक एवं एकान्तिक सुख में सिद्ध परमात्मा मग्न रहते हैं। भौतिक सम्पत्ति चाहे जितनी हो, मानव उस समग्र सम्पत्ति का उपभोग नहीं कर सकता, उसके लिए समय और शक्ति कम पड़ती है। भले ही समग्र सम्पत्ति को भोगने की उसके मन में तमन्ना हो, परन्तु उसका उपभोग करने की एक सीमा होती है। इसके विपरीत अनन्तआत्मिक स्वभावचतुष्टय सम्पन्नतारूपी ऋद्धि को प्राप्त विशुद्ध आत्मा समस्त आत्मऋद्धि का उपभोग कर सकता है। समय-समय पर वह अपने अनन्त ज्ञानानन्दादि गुणों का अनुभव करता है। निजानन्द की मस्ती को छोड़ कर क्यों वह कर्मजनित क्षणिक सुखों में लिप्त होगा? □

१९

आत्मशक्ति का जागरण : परमात्म-शक्ति तक

आत्मा में परमात्मा के समान अनन्तशक्तियों का अस्तित्व है

आत्मा के स्वभाव का चतुर्थरूप है—अनन्तशक्ति (अनन्तवीर्य)। वही परमात्मा की शक्ति है। प्राणियों में सबसे अधिक विकसित चेतनाशक्ति मनुष्य की है। उसकी आत्मा में अनन्तशक्तियों का सागर लहरा रहा है। परन्तु उसकी वे अनन्तशक्तियाँ सुषुप्त हैं, जाग्रत नहीं हैं, अभिव्यक्त नहीं हैं। जबकि परमात्मा में वे अनन्तशक्तियाँ जाग्रत हैं, अभिव्यक्त हैं। मानव-आत्मा में अनन्तज्ञान की शक्ति है, अनन्तदर्शन की शक्ति है, अनन्तचारित्र अथवा आत्मिकआनन्द (सुख) की शक्ति है और अनन्त आत्मिक वीरता (तपश्चरण) की शक्ति है। ये चार प्रकार की शक्तियाँ समस्त आध्यात्मिक शक्तियों को मूल हैं। इन्हीं चार आध्यात्मिकशक्तियों की अनेक-अनेक धाराएँ मनुष्य के शरीर के विभिन्न अंगोपांगों, इन्द्रियों, दशविध प्राणों तथा हृदय, मन, बुद्धि, चित्त आदि अन्तःकरणों में विद्युत्धाराओं के समान पहुँचती हैं।

आत्मा : समस्त आध्यात्मिक शक्तियों का मूलस्रोत

इन समस्त आध्यात्मिक शक्तियों का स्रोत, मूल उद्गमस्थल या पावरहाउस आत्मा है। आत्मा में से ये शक्तियाँ निकलकर विभिन्न भागों में आवश्यकतानुसार पहुँचती हैं। मस्तिष्क शोध-संस्थान के एक परीक्षण-कर्ता हुए हैं—प्रो. ल्योनिद वासिलियेव। उन्होंने अपने परीक्षणों के आधार पर सिद्ध कर दिया है कि 'मानवमस्तिष्क में शक्ति का अखूट और अनन्त स्रोत है।' वह हजारों मील दूर बैठा हुआ अपनी इस शक्ति से दूसरों को

सम्मोहित और आकर्षित कर सकता है। दूसरों को अपने विचार सम्प्रेषित (निर्यात) कर सकता है, और दूसरों से उनके विचारों का आयात भी कर सकता है। मानवमस्तिष्क में शक्तियों के इस अक्षयकोष का पूरा पता अभी मनोवैज्ञानिकों को भी नहीं लग पाया है। फिर भी इतना निश्चित है कि ये शक्तियाँ चुम्बकीय तरंगें तो नहीं हैं, आन्तरिक विद्युत तरंगें हैं। हमारे पूर्वज आध्यात्मिक महापुरुषों ने अपने अन्तर में छिपी हुई इन गुप्त आध्यात्मिकशक्तियों का पता लगा लिया था, शुक्लध्यान के द्वारा। और वे अपने भीतर सुषुप्त अनन्त आत्मिकशक्तियों का प्रकटीकरण करके आत्मा से अनन्तशक्तिमान परमात्मा बन चुके थे। उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने भी इसी प्रकार अपनी अनन्त आत्मिकशक्तियों को अभिव्यक्त कर लिया था, वे भी अनन्तशक्तिसम्पन्न परमात्मा बन गये थे। अनन्त-अनन्त आत्माएँ इन अनन्त आध्यात्मिक शक्तियों से परिपूर्ण होकर परमात्मा बनी हैं। उन्होंने अपने परीक्षणों और अनुभवों का रहस्य आगमों में अंकित कर दिया है, कहीं धर्मकथानुयोग के माध्यम से, कहीं चरणकरणानुयोग के माध्यम से तो कहीं द्रव्यानुयोग के माध्यम से और कहीं गणितानुयोग के माध्यम से। हम प्रायः उन्हीं पढ़ी-पढ़ाई या सुनी-सुनाई बातों के आधार से जानते हैं कि हमारे अन्तर में अनन्त आत्मिकशक्तियों की निधि छिपी हुई है। अपनी उन भीतरी सुषुप्त शक्तियों को अभिव्यक्त करने के विभिन्न उपाय भी पूर्वजों ने सूत्ररूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत किये हैं और यह भी बताया है कि हमारी उन अनन्तशक्तियों पर कौन-कौन से आवरण, कैसे-कैसे आ जाते हैं, उन आवरणों को दूर करने के लिए हमें क्या-क्या करना चाहिए ?

आत्मिकशक्तियों से अपरिचित; जागृत करने में रुचि नहीं

सच पूछें तो हम यथार्थरूप से नहीं जानते, न ही हमारी दृढ़ श्रद्धा-प्रतीति है कि हमारी आत्मा की गुफा में अनन्त आत्मिकशक्तियों का निवास है। हमारे अन्तर में विराजित उन अनन्तशक्तियों से हम प्रायः अपरिचित रहे हैं और उन्हें प्रकट करने, जागृत करने और आत्मगुणों को प्रकट एवं विकसित करने के लिए उन शक्तियों का प्रयोग करने में हमने अपनी रुचि एवं तत्परता नहीं दिखाई है।

आत्मा में निहित शक्तियों की निधि से अनजान ही दरिद्र और भिखारी

आत्मिकशक्तियों का होना एक बात है और उनको जागृत करना, उन्हें अभिव्यक्त करना दूसरी बात है। पहले तो लोग अपनी आत्मिक-

शक्तियों से प्रायः अनजान हैं, इसलिए प्रायः देखा जाता है, अपने में शक्तियों का गुप्त भण्डार भरा होते हुए भी दूसरों से शक्ति की भीख माँगते हैं। एक धनिक व्यापारी का पुत्र था। लाड़प्यार में पला। उसने अपने पिता के जीतेजी व्यापार पर कोई ध्यान नहीं दिया। आवारा लड़कों की संगति में घूमता रहता और अपना धन, समय और शक्ति बर्बाद करता था। उसका पिता चल बसा। व्यापार संभालने वाला कोई न होने से उसमें घाटा लग गया। सारी पूँजी खत्म हो गई। मुनीम-गुमाश्ते सब एक-एक करके चले गये। फर्म पर ताला लग गया। सेठ का पुत्र निर्धन अवस्था में विवश होकर भीख माँगने लगा। व्यापार करना उसके बस की बात नहीं रही। एक दिन वह भीख मांगता-मांगता अपने पिता के एक मित्र की दुकान पर जा चढ़ा। उसने उस धनिकपुत्र को देखकर कहा—'बेटा! तुम ऐसी हालत में क्यों घूम रहे हो? तुम्हारे पास तो अभी भी काफी धन है।' उसने कहा—'कहाँ है मेरे पास धन? धन होता तो मैं भीख क्यों मांगता? पिता के जीते मैंने कुछ व्यापार करना सीखा नहीं। आवारागर्दी में घूमता रहा। कुसंगति में पड़कर मैंने लाखों रुपये खो दिये। पिताजी के दिवंगत हो जाने के बाद सारा व्यापार चौपट हो गया। सारी पूँजी समाप्त हो गई। इसलिए अब भीख माँगने के सिवाय कोई चारा नहीं रहा।'

पिता के उस मित्र की दृष्टि अचानक उस लड़के के गले में पड़े हुए ताबीज के ऊपर पड़ी। उसने उस ताबीज को खुलवाया तो उसमें से एक चमकीला हीरा निकला। लड़का देखकर दंग हो गया। पिता के मित्र ने कहा—"इस हीरे को बेच आओ, लाखों रुपये प्राप्त होंगे। उससे तुम्हारा व्यापार-धन्धा चमकेगा।"

अपने पास लाखों की सम्पत्ति होते हुए भी उस श्रेष्ठि पुत्र को बिलकुल पता नहीं था। वह हीरा बेचकर उसने लाखों रुपये प्राप्त किये। पिता के मित्र परामर्श के अनुसार व्यापार करके उसने पुनः लाखों की सम्पत्ति अर्जित कर ली।

इसी प्रकार कई लोगों के घर में धन का खजाना गड़ा हुआ पड़ा रहता है, किन्तु उन्हें बिलकुल पता नहीं होता।

कुछ वर्षों पहले समाचार पत्र में पढ़ा था कि एक भिखमंगा भीख माँग-माँग कर अपना निर्वाह करता था। चिथड़े और कागज के टुकड़े

बटोर-बटोर कर वह संग्रह करता था। किन्तु जब वह मरा तो उसके बटोरे हुए चिथड़ों और कागज के पुलिंदों में लगभग ४० हजार की धनराशि निकली। ऐसे भी कई कृपण एवं भिखमंगे होते हैं, जिनके पास धन तो होता है, धन का पता भी उन्हें होता है, परन्तु वे उस धन का कोई उपयोग सदुपयोग नहीं करते। उनका धन ऐसे ही पड़ा रहता है।

आत्मिकशक्तियों के सम्बन्ध में भी यही बात समझिए। बहुत से लोगों को यह पता भी नहीं होता कि उनके पास आत्मशक्तियों का अखूट खजाना है। उन आध्यात्मिकशक्तियों का खजाना, उन्हें इस कारण ज्ञात नहीं होता कि वे बाहर ही बाहर खोजते हैं। भौतिक धन, साधन, और पर-पदार्थों को बटोरने के पीछे वे हाथ धोकर पड़े रहते हैं। कभी अपने आत्मिक धन की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते, जो अन्तर में दबा पड़ा है; क्योंकि अधिकांश मनुष्यों की दृष्टि बाहर ही बाहर दौड़ती है, उन्हें वही सब अभीष्ट, मनोज्ञ और सुखदायी लगता है, जो बाहर है। बाहर में वह अपने तन, मन, प्राण, इन्द्रियाँ, परिवार, समाज, धन, मकान आदि पर-पदार्थों की ओर ही दृष्टि गड़ाये रहता है। अपने भीतर झाँकने और मनो-योगपूर्वक उस आत्मिकनिधि को खोजने का प्रयत्न अधिकांश मानव करते ही नहीं। वे इसे निःसार और नीरस समझते हैं। जबकि सर्वोत्कृष्ट सारभूत वस्तु अन्तर में है। मगर उस धनिकपुत्र की तरह वे अन्तर में छिपी आध्यात्मिकशक्तियों की निधि से अपरिचित हैं, और प्रायः अपरिचित ही रहना चाहते हैं। हमारे अध्यात्मयोगी आत्मज्ञानी आप्त वीतराग पुरुष बार-बार पुकार-पुकार कर कहते हैं।

"णिस्सारं पासिअ णाणी उववायं चवणं णच्चा
अणण्णं चर माहणे।"[1]

"ज्ञानी आत्मा बाह्य पदार्थों को निःसार समझे, क्योंकि बाह्य पदार्थों के प्रति मनोज्ञता—अमनोज्ञता का भाव आ जाने से रागद्वेषादिवश कर्म-बन्ध और उसके फलस्वरूप जन्ममरण का चक्र लगा है, यह जानकर माहन (श्रमण एवं श्रमणोपासक) अनन्य (संयम या आत्मस्वभाव) में विचरण आचरण करे।"

उनके कहने का आशय यह है कि तुम आत्मा हो। तुम्हारी आत्मा

---

१ आचाराग श्रु० १/अ०३/उ०२

में सर्वोत्कृष्ट सारभूत वस्तुएँ हैं—अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द और अनन्तआत्मशक्ति। तुम अपने शरीर को ही सब कुछ समझ रहे हो। शरीर से आगे इन्द्रियाँ, मन, प्राण आदि हैं, और उन सबसे पर (आगे) आत्मा है। परन्तु तुम आत्मा की और आत्मा में निहित निधि की उपेक्षा करके निःसार बाह्य पदार्थों को पाने के लिए भटक रहे हो। परन्तु जिन बाह्य वस्तुओं को पाने के लिए भटक रहे हों, उनमें ज्ञानादि की वह अनन्त निधि कहाँ है? जो आत्मा की असीम निधि को जानने और पाने का प्रयत्न करता है, वह बाहर मे अकिंचन दरिद्र-सा दिखाई देता हुआ भी भीतर से समृद्ध है। जो आत्मनिधि को नहीं जानता-पहचानता, वह बाहर से बहुत से पदार्थों का संग्रह करके भी दरिद्र रहता है। वस्तुतः देख जाए तो कोई भी मनुष्य दरिद्र नहीं है, दरिद्र बनता है, वह अपने ही अज्ञान और मिथ्यात्व के कारण, विपरीत दृष्टि और मिथ्या मान्यता के कारण, और सर्वाधिक दरिद्र बनता है, जानबूझकर भी अपनी आत्मशक्तियों की समृद्धि को उपयोग न करने वाला, अभ्यास के द्वारा उन्हें जागृत न करने वाला। आत्म-विश्वास की कमी ही मनुष्य को शक्तिहीन एवं दरिद्र बनाती है। आन्तरिक विश्वास प्रबल हो तो मनुष्य अपनी आत्मशक्तियों को समझ-बूझकर उन्हें जागृत व समृद्ध कर सकता है।

आत्म शक्तियों से अनभिज्ञ : दो प्रकार के व्यक्ति

आत्मशक्तियों से अनभिज्ञ व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे हैं, जो इस शंका से आक्रान्त रहते हैं कि अपनी आत्मशक्तियों का उपयोग करेंगे तो वे खर्च हो जायेगी संकट के समय पर जरूरत पड़ी तो क्या करेंगे? कहाँ से लायेंगे? इस प्रकार शक्ति के व्यय होने के भय से वे आत्मशक्तियों का उपयोग ही करना नहीं चाहते। वे उस कृपण या भिखारी के समान हैं, जो पास में धन या साधन होते हुए भी न तो उनका व्यय करते हैं, और न ही उपयोग करते हैं। एक ऐसा ही विवेक मूढ़ एवं अदूरदर्शी व्यक्ति था। उसके घर में गाय थी। वह जब दूध कम देने लगी तो उसने सोचा—मेरी पुत्री का विवाह एक मास बाद ही होने वाला है। मैं अगर गाय को प्रति-दिन दुहता जाऊँगा तो दूध कम हो जाएगा। अतः कुछ दिनों तक दूहना बन्द कर दूं तो पुत्री के विवाह के समय एक साथ बहुत-सा दूध मिल जायेगा। यह सोचकर उसने दूसरे दिन से ही गायको दुहना बन्द कर दिया। नतीजा यह हुआ कि दुहना बन्द कर देने से गाय को दूध देने की आदत छूट गई।

एक महीने बाद जब वह गाय को दुहने बैठा तो गाय ने बिलकुल दूध नहीं दिया। क्योंकि गाय का सारा दूध सूख गया था। बेचारा मन मसोस कर रह गया।

इसी प्रकार कई व्यक्ति अपनी अदूरदर्शिता और विवेकमूढ़ता के कारण आत्मशक्तियों का उपयोग नहीं करते। वे समझते हैं कि इस प्रकार आत्मशक्तियों का धड़ल्ले से उपयोग करने लगेंगे तो शक्तियाँ समाप्त हो जाएँगी, परन्तु ऐसे लोगों का सोचने का तरीका गलत है। बल्कि आत्मशक्तियों का उपयोग करते रहने से तो वे शक्तियाँ विकसित और वर्धित होती रहती हैं। आपने देखा होगा कि हाईड्रोइलेक्ट्रिक (जलीय विद्युत्) की उत्पत्ति पानी के बार-बार व्यवस्थित रूप से चक्कर लगाने से होती हैं। जलीय तरंगें ही एक साथ व्यवस्थित रूप से बार-बार घूमकर विद्युत् पैदा करती हैं। किसी भी रसायन को बार-बार घोटा जाता है तभी उसकी शक्ति (पोटेंसिएलिटी) बढ़ती है। मशीनों को जितना-जितना चलाया जाता है, उनकी गति में उतनी-उतनी तीव्रता और चमक-दमक आती रहती है। अगर मशीनों को घिसने के डर से चलाई न जाए तो उनमें जंग लग जाता है, यों तो वे चलती नहीं, ठप्प हो जाती हैं, या फिर वे रगड़ खाकर, कठिनाई से चलती हैं। शरीर के हाथ-पैर आदि अंगोपांगों का भी यही हाल है। अगर शरीर के किसी भी अंग से काम न लिया जाए, उसे इस डर से पड़ा रखा जाए कि इससे काम लेने से इसकी शक्ति कम हो जाएगी, तो इसका विपरीत परिणाम आता है। वह अंग या तो अकड़ जाता है, उससे जो काम लेना चाहिए वह काम नहीं देता, या फिर वह शिथिल होकर दर्द करने लगता है। जिसे लकवा मार जाता है, उसका वह अंग सूख जाता है। शरीर से एवं अंगोपांगों से जितना काम लिया जाता है, उतने ही अधिक वे सशक्त एवं सुदृढ़ बनते हैं, उतने ही अधिक पराक्रमी एवं स्फूर्तिमान बनते हैं। आत्मिकशक्तियों का भी अगर योग्य उपयोग नहीं किया जाता है तो वे भी ठप्प हो जाएँगी, उनका विकास रुक जाएगा, उनकी प्रगति ठप्प हो जाएगी। आत्मशक्तियों का उपयोग न करने वाले अधिकांश लोग उन शक्तियों के स्रोतों को सुखा डालते हैं। शक्तियों को काम में न लिया जाए तो वे धीरे-धीरे सूखती और समाप्त होती चली जाती हैं। मनुष्य के अन्तर् में जितनी शक्तियाँ हैं, उन्हें अधिकांश लोग जानते ही नहीं, थोड़ा जानते हैं तो उनका उप-

योग नहीं करते। शक्तियों का नियमित उपयोग न करने से उनके स्रोत बन्द हो जाते हैं।

बहुत से लोग ऐसा सोचते हैं कि अभी आत्मशक्तियों और आत्म-विकास के उपयोग और प्रयोग करने की क्या आवश्यकता है ? अभी तो जवानी या बचपन है, खाने-पीने और ऐश-आराम के दिन हैं। जब बुढ़ापा आएगा, काम-धाम से निवृत्त हो जाएँगे, तभी आत्मा-परमात्मा की शक्तियों एवं आध्यात्मिक जीवन के विकास एवं उपयोग की बात सोचेंगे। इस प्रकार अदूरदर्शी एवं भौतिक सुखलक्षी लोग आत्मिकशक्तियों के स्रोत सुखा डालते हैं। अपनी आत्मशक्तियों का स्रोत सूख जाने के बाद फिर उनका दोहन या क्रियान्वयन करने का प्रयत्न वैसा ही है, जैसा कि आग में मकान के स्वाहा हो जाने के पश्चात् कुँए को खोदना।

दूसरे प्रकार के व्यक्ति शास्त्रों और ग्रन्थों के द्वारा, आत्मा की शक्तियों को जानते हैं, वे उन शक्तियों पर बारीकी से विश्लेषण और विवेचन भी कर देते हैं। किन्तु जब उन शक्तियों के उपयोग करने और यथाशक्ति उन्हें जागृत और क्रियान्वित करने की बात आती है, तब वे बगलें झांकने लगते हैं, कोई न कोई बहाना बनाने लगते हैं, या उपयोग करने के तरीके और उपायों से अनभिज्ञता प्रकट करते हैं। गाय आंगन में खड़ी है। उसे खूंटे से बाँध दी, इतने से वह अपने आप दूध नहीं दे देगी। वह दूध तभी देगी जब उसे विधिपूर्वक दूहा जाएगा। अपने आप तो वह गोबर या मूत्र ही देती है। प्राचीन काल की वह घटना प्रसिद्ध है कि एक राज्य में गाय को कोई जानता नहीं था। संयोगवश एक दूसरे देश के व्यापारी ने अपने देश से गाय ला कर वहाँ के राजा को भेंट कर दी। इससे पूर्व एक दो बार उस व्यापार ने अपने डेरे से गाय को दुह कर दूध भी राजा को भेंट किया था। व्यापारी चला गया। दूसरे दिन राजा ने अपने सेवकों को आदेश दिया कि—"बर्तन ले जाओ और गाय जो दूध दे वह ले आओ।" सेवक गाय के पास पहुँचे। वे गाय दूहने और उससे दूध पाने की विधि से बिलकुल अनभिज्ञ थे। सेवकों ने गाय के पिछले हिस्से की ओर बर्तन रख दिया। गाय ने मूत्र किया। सेवक लोग मूत्र भरा बर्तन ले कर राजा के पास पहुँचे। राजा ने सूंघा और चखा तो छी-छी करने लगा। दूसरी बार सोने का बर्तन लेकर जाने का आदेश दिया। इस बार गाय ने गोबर से बर्तन भर दिया। राजा ने चखा तो थू-थू करने लगा। कहा—'व्यापारी ने हमें

ठग लिया है।' राजा ने चारों ओर अपने आदमी दौड़ाये, इस व्यापारी को पकड़ने के लिये। व्यापारी एक नगर में पहुँचा ही था कि राजसेवकों ने उसे पकड़ लिया। वे उसे लेकर राजा के पास पहुँचे। राजा ने उसे गाय के बारे में उपालम्भ दिया तो वह बोला—"राजन्! इसमें मेरा दोष नहीं है। दोष आपके कर्मचारियों का है। गाय तो वैसी ही है, दूध देने वाली, परन्तु वह दूध अपने आप नहीं दे देती। इसे विधिपूर्वक दूहने से ही दूध देती है। व्यापारी ने राजा के सामने विधिपूर्वक गाय दूही और गर्म करके शक्कर मिला कर राजा को पिलाया।" राजा ने स्वीकार किया कि गाय से दूध लेने की विधि से हम बिलकुल अनभिज्ञ हैं, इसलिए दूध नहीं प्राप्त हो सकता।

इसी प्रकार कोई व्यक्ति कितने ही शास्त्रों और ग्रन्थों को पढ़ ले, सुन ले, आत्मशक्तियों को जान ले, किन्तु उनका उपयोग न करे, अथवा उनके उपयोग करने की विधि से अनभिज्ञ हो, तथा आत्मशक्तियों का कब, किस देश-काल-परिस्थिति में किस प्रकार उपयोग किया जाए? आत्म-शक्तियों का जागरण कैसे और किस-किस माध्यम से होता है? इससे अनजान हो, इसी प्रकार यह भी जान न ले कि इन आत्मशक्तियों को जाग्रत और विकसित करने में कौन-कौन-से बाधक कारण हैं, कौन-कौन-से परीषह, उपसर्ग और भयस्थल हैं, कौन-कौन-से खतरे एवं संकट उपस्थित होते है? उन संकटों, परीषहों एवं विघ्नों का कैसे-कैसे सामना किया जाए? तभी सुषुप्त आत्मशक्तियों को जाग्रत और समृद्ध किया जा सकता है।

निष्कर्ष यह है कि जो व्यक्ति आत्मशक्तियों के स्वरूप, उपयोग, उपयोग विधि, प्रयोग और इनके विकास और जागरण के मार्ग में आने वाले विघ्नों, संकटों एवं बाधक कारणों से जब तक यथार्थ और सर्वांगीण रूप से जानकारी नहीं हो जायेगी, तब तक वे आत्मा में निहित अनन्त-शक्तियों की निधि को पाने से वंचित और भावदरिद्र ही समझे जायेंगे।

आत्मशक्तियों का अपव्यय, असुरक्षा और अजाग्रति

जो लोग आत्मशक्तियों के पूर्वोक्त सर्वांगीण रूप से अनभिज्ञ हैं, वे अपनी आत्मशक्तियों का अपव्यय करते हैं, बाधक कारणों से आत्मशक्ति की सुरक्षा नहीं कर पाते और न ही वे परभावों-विभावों के आक्रमण के समय सावधान रहते हैं। यही कारण है कि वे रत्नत्रयरूप सद्धर्म-साधना

में आने वाले विविध परीषहों से पराजित हो जाते हैं। आत्मधर्म तथा क्षमादि दशविध उत्तम धर्मों के आग्नेय-पथ पर चलते एवं उनका पालन करते समय अपनी परीक्षा के लिए उपसर्गों (कष्टों एवं संकटों) से घबरा कर वे पीछे हटने लगते हैं। समभावपूर्वक उनका सामना करने में उनके पैर लड़खड़ाने लगते हैं। इन्द्रिय, मन, वाणी, अंगोपांग, बुद्धि, हृदय एवं प्राणों पर संयम करने तथा बाह्याभ्यन्तर तपश्चरणों से आत्मशक्तियों को विकसित करने में उनका अन्तर किनाराकसी करने लगता है। उनकी आत्मशक्तियों पर आक्रमण करने वाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तरायकर्मों से जूझने और भावकर्मों के जनक राग, द्वेष, मोह-कषायादि आक्रमणों से आत्मा को बचाने का कोई पुरुषार्थ नहीं करते। अपनी असावधानी से शुद्ध आत्मा रूपी गृह में घुसकर काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर आदि चोर आत्मशक्तियों के खजाने को लूट रहे हैं। और वे प्रमाद की गहरी निद्रा में सोये हुए हैं। उन्हें पता ही नहीं है कि उनकी आत्मशक्तियों का स्रोत बाहर से भीतर की ओर आने के बदले भीतर से बाहर की ओर जा रहा है। अज्ञान, मोह, मिथ्यात्व, कषाय एवं प्रमाद आदि सबके सब मिलकर उनकी आत्मा में छिपी हुई आत्मशक्तियों की निधि से उन्हें बिलकुल अज्ञात, बेसुध और बेखबर रखते हैं। वे उनकी आत्मशक्तियों को किस प्रकार विकृत और चौपट कर रहे हैं? इससे बिलकुल अज्ञात रहते हैं। इन्हीं रागद्वेषादि के भुलावे में पड़कर अपनी आत्मशक्तियों को भौतिक सुख-सुविधाओं के पाने में, इन्द्रिय-विषयसुखों को चाहने और प्राप्त करने में खो रहे हैं। तथा ईर्ष्या, द्वेष, छल-कपट, मद, मत्सर, मोह, आसक्ति, अहंत्व-ममत्व आदि मन के मनोज्ञ विषयों में बहककर उन्हें बर्बाद कर रहे हैं।

मोहनीयकर्म उनकी श्रद्धा और चारित्र (आचरण) की शक्तियों को प्रकट नहीं होने देता। उनके आत्मिकज्ञान और दर्शन की शक्तियों को ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय आवृत एवं विकृत कर रहे हैं।

अन्तरायकर्म दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य नामक हमारी पाँच आध्यात्मिक शक्तियों के विकास में विघ्न डाल रहे हैं। आत्मा में जो अभयदान, सुपात्रदान (सुयोग्य व्यक्तियों को ज्ञानादि का दान) एवं अनुकंपा दान (आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्बल, पीड़ित व्यक्तियों पर अनुकम्पा करके दुःखनिवारण का उपदेश, प्रेरणा एवं उपाय का दान) की मानव शक्ति

थी, उसमें हिंसा; कषाय, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि से रुकावट आ रही है। आत्मा के अनन्तज्ञान-दर्शन-चारित्र सुखरूप स्वभाव की, तथा आत्मगुणों का लाभ प्राप्त करने की मानव में शक्ति थी, उसे पर-पदार्थों, विषयों के प्रति राग-द्वेषादि एवं कषायादि के वशवर्ती होकर मनुष्य नष्ट कर रहा है। और लाभान्तराय कर्म को प्रोत्साहन दे रहा है। इसी प्रकार आत्मा के स्व-उपयोग, आत्मिक सुख के भोग (एक बार उपभोग) एवं उपभोग (बार-बार उपभोग) की जो शक्ति मानवात्मा में थी, उस शक्ति को वह प्रायः विषयसुखों के उपभोग, विषय-सामग्री को आसक्तिपूर्वक जुटा कर तथा पर-पदार्थों का मोह-ममत्वपूर्वक सुख मान कर उनसे बार-बार उपभोग के फलस्वरूप भोगान्तराय एवं उपभोगान्तराय कर्म का बन्ध करके बर्बाद कर रहा है। जो व्यक्ति मोक्ष-सुख-प्राप्ति में तथा आत्मस्वभाव में रमण करने को अपनी शक्ति लगा रहे हैं, उनके मार्ग में भी ऐसे लोग रोड़ा अटकाकर इन दोनों कर्मों में वृद्धि कर रहे हैं। इसी प्रकार आत्मा में आने वाले नये कर्मों को रोकने (संवर) की तथा पूर्वबद्ध कर्मों का तप, संयम, परीषहजय, महाव्रत, नियम, त्याग आदि से क्षय करने (निर्जरा) की जो आत्मिकशक्ति (आत्मवीर्य) थी, उसे खण्डित-स्खलित एवं दुर्बल कर रहा है—वीर्यान्तरायकर्म। उससे साधक को सावधान रहना चाहिये था, तभी आत्मशक्ति संचित रहती, बढ़ती। किन्तु अधिकांश मानव तप, जप, स्वाध्याय, ध्यान, ज्ञानादि वृद्धि तथा त्याग, व्रत, नियम, संयम आदि करने में तो अपनी शक्ति न होने का, अपनी असमर्थता का बहाना बनायेंगे अपने आपको दुर्बल और अशक्त बतायेंगे। बाह्य तपश्चर्या करने में अपनी असमर्थता प्रकट करेंगे, किन्तु यों किसी लौकिक स्वार्थ की सिद्धि या पूर्ति के लिए, सांसारिक विषयसुखों की प्राप्ति के लिये, भौतिक लाभ के लिये भूखे-प्यासे रह लेंगे, कष्ट भी सह लेंगे, मान-अपमान की भी परवाह नहीं करेंगे, लड़ाई-झगड़ों में, संघर्ष में, चोरी, डकैती, बेईमानी, तस्करी आदि से धन प्राप्त करने में, जानमाल की परवाह न करके भी अपनी शक्ति लगा देंगे, इधर-उधर सैर-सपाटे करने, गपशप करने तथा व्यर्थ गप्पें मारने में अपने समय, तन और धन की शक्ति खर्च कर देंगे, किन्तु धर्म-श्रवण करने में, स्वाध्याय करने, आत्मचिन्तन करने तथा धर्मकार्य करने में समय एवं सामर्थ्य के अभाव का बहाना बनायेंगे, अपने मन को दुर्बल, अशक्त और शंकाशील बना लेंगे।

निष्कर्ष यह है कि अधिकांश मानव अपनी पूर्वोक्त आध्यात्मिक शक्तियों को विकसित एवं जागृत करने के बदले उन्हें बर्बाद करते हैं, दुरुपयोग करते हैं, छिपाते रहते हैं। इस प्रकार वे जाने-अनजाने वीर्यान्तराय कर्म का बन्ध कर लेते हैं। मनुष्य की जो आध्यात्मिकशक्तियाँ आत्मस्वभाव में तथा आत्मगुणों में स्थिर रहकर परमात्मभाव की प्राप्ति में लगानी चाहिए थी, वे प्रायः भौतिक स्वार्थ की सिद्धि में, तथा जन्म मरणरूप संसार चक्र की वृद्धि करने में लग रही हैं।

आज मानव के इन सब कृत्यों को देखकर कविवर बनारसीदासजी का यह सवैया याद आ जाता है—

ज्यों मतिहीन विवेक बिना नर, साजि मतंगज ईंधन ढोवै।
कंचन-भाजन धूल भरे शठ, मूढ़, सुधारस-सों पग धोवै।
बाहिन काग उड़ावन करण, डार महामणि मूरख रोवै।
त्यों यह दुर्लभ देह 'बनारसी', पाप अज्ञान अकारथ खोवै॥

जैसे कोई बुद्धिहीन अविवेकी मनुष्य हाथी को सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित करके उसका उपयोग लकड़ी के बोझे ढुलाने में करता है। सोने के बर्तन में धूल भरता है। किसी को अमृत रस मिल गया, उसको पीने के बदले वह मूढ़ उससे अपने पैर धोता है। एवं कौए को उड़ाने के लिए बहुमूल्य महामणि फेंक कर फिर रुदन करता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव दुर्लभ मनुष्य शरीर पाकर आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करने के बदले भौतिक सुख सामग्री जुटाने, विषयों सुखों का आस्वादन करने में में अपनी शक्तियाँ लगाकर मानव जन्म व्यर्थ खो देता है।

आत्मशक्तियों के उपयोग में विवेक से विकल

अपनी आत्मा में निहित आत्मिकशक्तियाँ कहाँ लगनी चाहिए और वर्तमान में कहाँ लग रही हैं? इसका भान उस विवेकमूढ़ को नहीं रहता। जिस प्रकार एक मतवाला सांड घूरे को बिखेर कर उसको इधर-उधर फैली हुई धूल, राख एवं विष्ठा आदि कूड़े कर्कट को अपने ही मस्तक पर उछाले, और बार-बार उस गन्दगी के ढेर में सिर मारकर डकारे और यह माने कि मैंने कितनी शक्ति लगाकर इस कूड़े के ढेर को तोड़ा-फोड़ा और बिखेर दिया। उसी प्रकार अज्ञानी जीव येन-केन-प्रकारेण धन कमाने, सांसारिक सुख-साधन जुटाने और दूसरों को सताने, दबाने मारने एवं उखाड़-पछाड़ करने में तथा सत्ता प्राप्त करने में एवं उठापटक करने में

अपनी शक्तियाँ लगाता है, और अज्ञानभाव में संसार की विषयवासना की गन्दगी के घूरे को उछालने में अपना पूरा बल लगा देता है। फिर मिथ्या अभिमानवश अपनी डींगें हाँकता है। किन्तु ऐसा करने से आत्मकल्याण का कुछ भी तत्त्व हाथ नहीं आता। दुष्कर्मरूपी धूल, गन्दगी और राग-द्वेषादि का कीचड़ ही अपने सिर पर लगता है। इससे अपनी आत्मा में निहित ज्ञानादि आध्यात्मिक शक्तियों का ह्रास ही होता है, विकास नहीं। अपनी आत्मा के भीतर जो आध्यात्मिक शक्तियों का अखूट खजाना भरा हुआ है, उसे जानता हुआ भी नहीं देखता, अन्दर नहीं झांकता। वह प्रायः आत्मा से बाहर ही बाहर अपनी शक्तियों को लेकर यात्रा करता है, बाहर से भीतर की ओर यात्रा नहीं करता। जबकि सारभूत आध्यात्मिक शक्तियाँ भीतर दबी-छिपी पड़ी हैं। पर वह बाहर ही बाहर इन्द्रियाँ, मन आदि के द्वारा अपनी शक्तियों को परभावों, विभावों और परपदार्थों में नष्ट करता रहता है। परपदार्थों और व्यक्तियों के प्रति रागादि भाव को पुष्ट करने के लिए वह अपनी तन-मन-प्राण-वचन की सभी शक्तियों को झोंक देता है। वह अनेकों मोहजनित कार्यों में पंचेन्द्रिय बलप्राण, मनोबल प्राण, वचनबल प्राण, कायबल प्राण, श्वासोच्छ्वास बल प्राण और आयुष्य-बल प्राण (यानी इन दशों बल प्राणों) को लगा देता है।

आत्मशक्तियाँ कहाँ लगनी चाहिए थी, कहाँ लगा रहे हैं ?

कभी-कभी मोहकर्म वश बड़े-बड़े साधकों को अपनी आत्मशक्तियों का भान नहीं रहता, और वे अहंत्व और ममत्व के, तथा क्रोधादि कषाय के तीव्र नशे में अपनी शक्तियों को बर्बाद कर देते हैं। उन्हें यह विवेक नहीं रहता कि अपनी आत्मशक्तियाँ उन्हें कहाँ लगानी चाहिए थी और कहाँ लगा रहे हैं ?

तीर्थंकर भगवान् महावीर का जीव उस समय ऋषभदेव भगवान् के पौत्र और भरत चक्रवर्ती के पुत्र 'मरीचि' के रूप में त्रिदण्डी संन्यासी बना हुआ था। भगवान् ऋषभदेव द्वारा प्ररूपित मुनिधर्म के प्रति श्रद्धा और निष्ठा थी, परन्तु उतना कठोर चारित्र पालन करने की अक्षमता के कारण ही वह त्रिदण्डी वेष धारण करके भगवान् ऋषभदेव के समवसरण स्थल से बाहर विराजमान रहता था।

एक बार भरत चक्रवर्ती ने भगवान् ऋषभदेव से विनयपूर्वक पूछा—"भगवन् ! आपके समवसरण (धर्मसभा) में कोई ऐसा सुपात्र आत्मा है,

जो भविष्य में तीर्थंकर होने वाला हो ?" प्रभु ने उत्तर दिया—"भरत ! तेरा पुत्र और मेरा गृहस्थ पक्ष का पौत्र—मरीचि, जो अभी समवसरण के बाहर त्रिदण्डी वेष में बैठा है, वह इस चौबीसी में महावीर नाम का अन्तिम तीर्थंकर होगा। पहले वह एक बार वासुदेव होगा, एक बार चक्रवर्ती होगा। यों तीन बड़ी पदवियों का धारक होगा।"

यह सुनते ही भरत चक्रवर्ती के अन्तर में प्रसन्नता हुई। मेरा पुत्र तीर्थंकर आदि तीन उच्च पदों का धारक बनेगा. इस बात का मद या गर्व भरत के मन में नहीं हुआ, किन्तु भावी तीर्थंकर के प्रति आदर और भक्ति-भाव जगा। अतः समवसरण के बाहर जहाँ त्रिदण्डी मरीचि बैठा था, वहाँ भरत चक्रवर्ती आए और विधिवत् उन्हें अभ्यर्थना की। मरीचि आश्चर्य और प्रश्नसूचक दृष्टि से उनकी ओर देखने लगे।

भरतजी उनका आशय समझकर बोले—महात्मन् मरीचि ! मैं आपके वेष को वन्दन नहीं करता, किन्तु भगवान् ऋषभदेव के कथनानुसार भविष्य में आप अन्तिम तीर्थंकर होंगे, इस नाते वन्दना करता हूँ। यद्यपि उनके कथनानुसार आप प्रथम वासुदेव और चक्रवर्ती भी होने वाले हैं, परन्तु मेरा नमन उन पदों को नहीं है, मेरा नमन सिर्फ आपके भावी तीर्थंकरत्व को है।

यह सुनते ही मरीचि के मन में समता, अनासक्ति एवं निश्चय रत्नत्रय के या आत्मस्वभाव के प्रति श्रद्धा-प्रतीति की दृढ़ता आनी चाहिए थी, उसके बदले गर्व उत्पन्न हुआ। आत्मभाव की शक्तियों का नाशक कषायभाव उछला। कषायभाव का निमित्त मिलने पर उसके वशीभूत न होकर अपने आत्मभावों में स्थिर रहना और आत्मशक्ति का संगोपन करना बहुत ही कठिन है। मरीचि भी कषायभाव के निमित्ताधीन होकर कुलमद के आवेश में नाचने-गाने लगे—

'आद्योऽहं वासुदेवानां, पिता मे चक्रवर्तिनाम्।
पितामहो जिनेन्द्राणां, ममाऽहो ! उत्तमं कुलम्॥'

अहो ! मेरा कुल कितना उत्तम है ! मैं प्रथम वासुदेव बनूँगा, फिर मैं चक्रवर्ती और अन्तिम तीर्थंकर भी बनूँगा। इस प्रकार मैं भविष्य में तीन पदों का धारक बनूँगा। मेरे पिता प्रथम चक्रवर्ती हैं, और मेरे पितामह प्रथम तीर्थंकर हैं।

यों कहते-कहते आवेश में आकर नाचने-कूदने से उनके तन-मन-वचन तीनों ही मद के भावों में डूबने-उतराने लगे। बस, वहीं उन्होंने नीच गोत्रकर्म का बन्ध कर लिया।

अभी मरीचि को तीर्थंकर आदि की शक्ति उपलब्ध नहीं हुई थी, फिर भी वे भविष्य में प्राप्त होने वाली उत्कृष्ट शक्तियों से सम्पन्न पदवियों की बात सुनकर ही मद करने लगे। पहले तो मरीचि ने मुनित्व की साधना गुप्त आत्मशक्तियों के विकास के लिए अंगीकार की थी। उन्होंने समझ लिया था कि आत्मशक्तियाँ जब तक सुप्त और प्रच्छन्न रहेंगी, तब तक कोई निष्पत्ति नहीं होगी। आत्मशक्तियाँ जागृत करने की साधना के दौरान तन, मन, वचन और प्राण की जो अनुचित माँगें थीं, विषयों के बीहड़ वन में भटकने वाली सुख-सुविधाओं एवं मनोज्ञ परपदार्थों के प्रति कषायों तथा राग-द्वेषादि के मोहक जाल में फँसाने वाली जो बातें थीं, उनसे स्वयं को बचाकर मात्र आत्मभावों में रमण करना था, उससे वे भटक गए, बहक गए तन-मन-प्राण के चक्कर में। फलतः आत्मशक्तियाँ जागृत होते-होते अवरुद्ध हो गईं। आत्मशक्तियाँ जब जागने लगती हैं, तब बहुधा अघटित घटनाएँ घटने लगती हैं, अप्रत्याशित रूप से मनुष्य में परिवर्तन होने लगता है, कभी-कभी दुर्घटना भी घटित हो जाती है। यही दुर्घटना मरीचि के जीवन में घटित हुई। आत्मशक्ति जागृत करने के प्रथम दौर में ही वे उस सम्यक् मार्ग को छोड़ बैठे। आत्मभावों में शक्ति लगाने के बजाय वे परभावों में अपनी शक्ति का व्यय करने लगे।

ये आत्मशक्तियों को जगाने से कतराते हैं

पहले तो आत्मा में सुषुप्त शक्तियों को जगाना ही कठिन है, बहुत से साधक तो आत्मशक्तियों को जगाने में आने वाले विघ्नों, परीषहों, उपसर्गों तथा कष्टों से घबराकर इन्हें जगाने से ही कतराते हैं। वे कोई सस्ता, सुख-सुविधाजनक नुस्खा खोजते हैं, जिसमें कुछ करना-धरना न पड़े, इन्द्रिय, मन और प्राणों की फरमाइशों को जरा भी आँच न आए। भला, यह कैसे हो सकता है? आत्मशक्तियों को जगाना भी चाहते हैं और उन शक्तियों में अवरोध उत्पन्न करने वाले परपदार्थों, परभावों और विभावों के प्रवाह में भी बहना चाहते हैं, यह कैसे होगा? आत्मस्वभाव में एकाग्र होने के पुरुषार्थ से कतराने वाले लोगों की आत्मशक्तियाँ सुषुप्त रहती हैं। ऐसे व्यक्ति बुझी हुई अग्नि की भाँति निष्क्रिय जीवन जीते हैं। असमंजस में तथा संशय और अनध्यवसाय में पड़कर वे आत्मशक्तियों को

जागृत नहीं कर पाते। इस पर भर्तृहरि का यह कथन पूर्णतया घटित होता है—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः।
प्रारभ्य विघ्ननिहता विरमन्ति मध्याः।

'निम्न कोटि के व्यक्ति किसी भी सत्कार्य को विघ्नों के भय से प्रारम्भ ही नहीं करते, जबकि मध्य कोटि के व्यक्ति किसी सत्कार्य को प्रारम्भ तो कर देते हैं, परन्तु विघ्नों से प्रताड़ित हुए कि वे उस सत्कार्य को छोड़-छोड़ कर बैठ जाते हैं।

आत्मशक्तियों को जागृत करने के लिए पांच अयाम

इसलिए सर्वप्रथम आत्मशक्तियों का स्वरूप, महत्त्व, उपयोग, उपयोग विधि आदि को सर्वांगीणरूप से सभी पहलुओं से जानना आवश्यक है। तत्पश्चात् उन शक्तियों को जगाना, जागृत शक्तियों को संभालना-पचाना भी अनिवार्य है। इसके पश्चात् प्राप्त=उपलब्ध शक्तियों का यथार्थ उपयोग करना, साथ ही उपलब्ध शक्तियों को बाधक कारणों से बचाना, सब प्रकार से उनकी सुरक्षा करना भी जरूरी है। अभिप्राय यह है कि आत्मशक्तियों को जागृत करने की साधना में साधक को इन पांच आयामों से अपनी जीवनयात्रा करनी होगी। अन्यथा, वह शक्ति-जागरण में अन्त तक सफलता प्राप्त नहीं कर सकेगा।

आत्मशक्तियाँ जागृत होने पर सँभालना कठिन

जब आत्मशक्तियाँ जागृत होने लगती हैं, तब यदि वह किसी अनुभवी और आत्मार्थी मार्गदर्शक के अनुशासन में तथा उनके सान्निध्य में नहीं रहता है, तो प्रायः वह न तो अपने आपको सम्भाल पाता है, और न ही प्राप्त शक्तियों को। उस समय उसकी स्थिति भूताविष्ट, पिशाचग्रस्त या आवेशग्रस्त मनुष्य की-सी हो जाती है। यदि कोई यथार्थ पथप्रदर्शक होता है, तो वह शक्ति-प्राप्त साधक की उस डाँवाडोल स्थिति को सम्भाल लेता है। सही मार्गदर्शन करके उसे शक्तिसंवर्धन की दिशा में मोड़ देता है। वह उसे प्राप्त शक्ति को संभालने और उसकी सुरक्षा करने में सक्षम कर देता है। यथासमय उसकी साधना को नया मोड़ दे देता है, जिससे वह आत्मशक्तियों को संजोने में निर्विघ्न निराबाध पुरुषार्थ करता रहे। अभिप्राय यह है, शक्ति के जागृत होने के पश्चात् यदि मार्गदर्शक न रहे तो व्यक्ति आवेशवश, अहंकारग्रस्त या कोपाविष्ट होकर अनर्थ कर

बैठता है। अपनी की—कराई आत्मशक्ति की साधना को चौपट कर देता है। वह आराधक के बदले विराधक बन जाता है।

भगवान् महावीर के जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद १६वें भव की एक घटना है। वे राजगृह नगर के राजा विशाखानंदी के छोटे भाई विशाखाभूति के पुत्र विश्वभूति नामक राजकुमार थे।

यौवन में पदार्पण करते ही अनेक रमणियों के साथ उनका पाणि-ग्रहण हुआ। पिछले बारह भवों में विराधकता के कारण प्रबल विषयासक्ति के संस्कार मिटे नहीं थे। यह और ऐसे ही कुछ कारणों से राजा विशाखा-नन्दी के साथ संघर्ष हुआ। विशाखानन्दी के द्वारा कपटपूर्णषड्यंत्र रचे जाने के कारण विश्वभूति के मन में भी उसके प्रति द्वेष की गाँठ बँध गई। राजा विशाखानन्दी को अपने शारीरिक बल का परिचय देने हेतु उसने उद्यान के द्वारपाल के देखते-देखते बेल के पेड़ को इतने जोर से हिलाया कि उसके सभी फल टप-टप नीचे गिरने लगे। आवेश में आकर विश्वभूति ने द्वारपाल से कहा—देख ले मेरी शक्ति को। मैं चाहूँ तो तुम सबके मस्तक धड़ से नीचे गिरा दूँ। परन्तु मैं अपनी ताकत अपने बुजुर्गों पर अजमाना नहीं चाहता। मैं उनके प्रति पूज्य भाव रखता हूँ। परन्तु मेरे विरोध में उन्होंने जो षड्यन्त्र रचा, उससे मेरे मन में यह पक्का निश्चय हो गया कि इस संसार में सर्वत्र स्वार्थ, अहंकार और राग-द्वेष का साम्राज्य है। मुझे नहीं चाहिए—राज्य, सम्पत्ति एवं संसार के राग-रंग! मुझे अब यहाँ रहना ही नहीं है। यों कहकर विश्वभूति ने किसी से कहे बिना ही वहीं से वन की ओर प्रस्थान कर दिया।

सौभाग्य से उसे वन में संभूतिविजय नामक मुनिवर मिल गए। विश्वभूति उनके चरणों में दीक्षित हो गए। मुनि दीक्षा लेने के पश्चात् उनका मन शान्त हो गया। कषाय अत्यन्त मन्द हो गये। सम्यग्दर्शनपूर्वक चारित्र के प्रबल संस्कार उद्बद्ध हो गए। रत्नत्रय की आराधना के साथ-साथ उग्र तप की आराधना भी वे करने लगे। बेले की तपस्या से लेकर मासखमण तक की उग्र तपश्चर्या आभ्यन्तर तप के साथ-साथ करने से उनकी आत्मशक्ति जागृत हो गई। उनका मनोबल, वचनबल, कायबल और प्राण बल भी सुदृढ़ हो गया। विशिष्ट योग्यता प्राप्त करके विश्व-भूति मुनि विशिष्ट साधना के लिए गुरु-आज्ञा लेकर अकेले विचरण करने लगे।

एक बार विचरण करते हुए एकलविहारी विश्वभूति मुनि मथुरा नगरी में पधारे। आज मासखमण तप का पारणा था, इसलिए वे पारणे के लिए नगरी में घूम रहे थे। तपस्या के कारण उनका शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया था। मथुरा का राजा विशाखानन्दी का श्वसुर था। जिस समय विश्वभूति मुनि राजमहल के निकट से होकर जा रहे थे, कि उसी समय अपने ससुराल में आया हुआ विशाखानन्दी राजमहल के झरोखे में बैठा था। उसके आस-पास बैठे चार-पांच सेवकों की दृष्टि विश्वभूति मुनि पर पड़ी। मुनि को कुछ पता नहीं था, वे तो अपनी नजर नीची किये हुए ईर्यासमितिपूर्वक आगे जा रहे थे। उन सेवकों ने विशाखानन्दी को विश्वभूति मुनि का परिचय दिया। विशाखानन्दी पहचान गए। इतने में ही एक हृष्ट पुष्ट गाय सामने से दौड़ती हुई आई, उसने मुनि को धक्का लगाया। मुनि नीचे गिर पड़े। विशाखानन्दी ने यह देखकर जोर से अट्टहासपूर्वक मुनि का उपहास करते हुए कहा—"कहाँ गई वह शक्ति ? मुट्ठी के प्रहार से बेल के फलों को गिराने वाला आज गाय के धक्के से स्वयं क्यों गिर पड़ा ?"

विश्वभूति मुनि के कान में पड़े इन शब्दों ने अग्नि में घी होमने का काम किया। अपनी शक्ति को चुनौती देने वाले पर अत्यन्त क्रोध भड़क उठा। मुनि के मन में विचार उठे—'यह विशाखानन्दी अभी तक मेरे प्रति वैरभावना रखता है। मेरा इतना तिरस्कार और उपहास ! मेरी शक्ति को चेलेंज ! मैं इसे दिखा दूं कि अभी भी मेरे में कितनी शक्ति है ?" उसने खड़े होकर आगे चली जा रही उस गाय के सींग कसकर पकड़े और तीन-चार बार गोल-गोल घुमाकर गेंद की तरह उछाल दी। गाय के वहीं प्राण-पखेरू उड़ गए।

उग्र तपस्या से कृशकाय मुनि में कहाँ से आ गई इतनी शक्ति ? यह शक्ति आत्मा की नहीं थी, यह शक्ति थी क्रोध और अहंकार की, आवेश और रोष की ? यह तो प्रायः सबका अनुभव है कि रोग से शरीर अत्यन्त दुर्बल और अशक्त हो गया हो, मुँह से आवाज भी न निकलती हो, किन्तु किसी के साथ झगड़े के कारण जब दिमाग पर क्रोध और अहं का भूत सवार हो जाता है तब अभूतपूर्व शक्ति आ जाती है। प्रायः ५० फुट दूर से सुनी जा सके, इतनी जोर की आवाज निकलती है। विश्वभूति मुनि की काया भी तपश्चर्या से क्षीण हो गई थी, किन्तु पूर्वोक्त निमित्त से अहं और

बैठता है। अपनी की—कराई आत्मशक्ति की साधना को चौपट कर देता है। वह आराधक के बदले विराधक बन जाता है।

भगवान् महावीर के जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद १६वें भव की एक घटना है। वे राजगृह नगर के राजा विशाखानंदी के छोटे भाई विशाखाभूति के पुत्र विश्वभूति नामक राजकुमार थे।

यौवन में पदार्पण करते ही अनेक रमणियों के साथ उनका पाणि-ग्रहण हुआ। पिछले बारह भवों में विराधकता के कारण प्रबल विषयासक्ति के संस्कार मिटे नहीं थे। यह और ऐसे ही कुछ कारणों से राजा विशाखा-नन्दी के साथ संघर्ष हुआ। विशाखानन्दी के द्वारा कपटपूर्णषड्यंत्र रचे जाने के कारण विश्वभूति के मन में भी उसके प्रति द्वेष की गाँठ बँध गई। राजा विशाखानन्दी को अपने शारीरिक बल का परिचय देने हेतु उसने उद्यान के द्वारपाल के देखते-देखते बेल के पेड़ को इतने जोर से हिलाया कि उसके सभी फल टप-टप नीचे गिरने लगे। आवेश में आकर विश्वभूति ने द्वारपाल से कहा—देख ले मेरी शक्ति को। मैं चाहूँ तो तुम सबके मस्तक धड़ से नीचे गिरा दूँ। परन्तु मैं अपनी ताकत अपने बुजुर्गों पर अजमाना नहीं चाहता। मैं उनके प्रति पूज्य भाव रखता हूँ। परन्तु मेरे विरोध में उन्होंने जो षड्यन्त्र रचा, उससे मेरे मन में यह पक्का निश्चय हो गया कि इस संसार में सर्वत्र स्वार्थ, अहंकार और राग-द्वेष का साम्राज्य है। मुझे नहीं चाहिए—राज्य, सम्पत्ति एवं संसार के राग-रंग! मुझे अब यहाँ रहना ही नहीं है। यों कहकर विश्वभूति ने किसी से कहे बिना ही वहीं से वन की ओर प्रस्थान कर दिया।

सौभाग्य से उसे वन में संभूतिविजय नामक मुनिवर मिल गए। विश्वभूति उनके चरणों में दीक्षित हो गए। मुनि दीक्षा लेने के पश्चात् उनका मन शान्त हो गया। कषाय अत्यन्त मन्द हो गये। सम्यग्दर्शनपूर्वक चारित्र के प्रबल संस्कार उद्बद्ध हो गए। रत्नत्रय की आराधना के साथ-साथ उग्र तप की आराधना भी वे करने लगे। बेले की तपस्या से लेकर मासखमण तक की उग्र तपश्चर्या आभ्यन्तर तप के साथ-साथ करने से उनकी आत्मशक्ति जागृत हो गई। उनका मनोबल, वचनबल, कायबल और प्राण बल भी सुदृढ़ हो गया। विशिष्ट योग्यता प्राप्त करके विश्व-भूति मुनि विशिष्ट साधना के लिए गुरु-आज्ञा लेकर अकेले विचरण करने लगे।

अनेक लब्धियाँ, सिद्धियाँ, या उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं। उस समय अधिकांश साधक उन्हें पचा नहीं पाते। वे चमत्कार-प्रदर्शन में, तथा अपनी प्रसिद्धि और आडम्बर में पड़कर आत्मशक्ति की साधना को विस्मृत कर देते हैं। गोशालक को तेजोलेश्या की शक्ति प्राप्त हुई थी, परन्तु उसने न तो उस शक्ति को सँभाला, न ही सदुपयोग किया बल्कि भगवान महावीर के सर्वानुभूति और सुनक्षत्र नामक दो मुनियों को भस्म कर दिया था। फिर भगवान् महावीर पर भी उसने तेजोलेश्या का प्रहार किया, परन्तु उनकी आत्मिक शक्ति के आगे गोशालक की आसुरी शक्ति प्रतिहत हो गई, और वापिस उसी पर जा लगी। गोशालक की आसुरी शक्ति ने उसी का सर्वनाश कर डाला।

विशाखानन्दी ने जब मुनि का उपहास किया, तब उन शब्दों को सुनकर कषायभाव न लाते, प्रतिक्रिया मन पर न होती, समभाव से सहन करके आत्मभाव में लीन रहते तो उनकी आत्मशक्ति और बढ़ जाती परन्तु जीवन में जब सर्वनाश के क्षण आते हैं, तब सारा पासा पलट जाता है। जरा-सी शब्दों की असहिष्णुता के कारण वे छठे-सातवें गुण-स्थान से सहसा प्रथम (मिथ्यात्व) गुणस्थान में आ गए। उनकी अनन्त शक्तिमान् आत्मा ने तन-मन प्राणों के भयंकर से भयंकर कष्ट सहे थे, इसी प्रकार इस अवसर पर भी वे यही सोचते कि मैं अनन्त शक्तिमान आत्मा हूँ जड़ शब्द मेरा क्या कर सकते हैं? आत्मशक्तियों का साधक यदि एक बार भी दृढ़ निश्चय करले कि परमात्मा के समान ही अनन्त आत्मशक्ति मेरा स्वभाव है, बाहर की कोई भी शक्ति, फिर वह चाहे सत्ता की हो, सम्पत्ति की हो या अहंकार, क्रोध आदि की आसुरी शक्ति हो, उस पर असर नहीं कर सकती; हावी नहीं हो सकती। सुदर्शन श्रमणोपासक में आत्मशक्ति (परमात्मशक्ति से अनुप्राणित) थी, उस पर अर्जुनमाली की यक्षाविष्ट आसुरीशक्ति बिलकुल हावी नहीं हुई। यह इसका ज्वलन्त प्रयोग है।

आत्मशक्ति की साधना : शक्ति-जागरण के लिए

प्रश्न होता है, शक्ति तो आत्मा में पड़ी ही है, फिर उसकी साधना क्यों की जाए? इसका समाधान यह है कि शक्ति तो एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक, सामान्य गृहस्थ से उच्च साधक तक में है, परन्तु आत्म-शक्ति की जागृति सबमें नहीं होती। शक्तिसम्पन्न होते हुए भी, कुछ ही मानव अपनी शक्तियों को जागृत कर पाते हैं। अधिकांश व्यक्तियों की

शक्ति सोई हुई रहती है। जिसकी शक्ति जागृत हो जाती है, वह प्रज्वलित अग्नि की भाँति देदीप्यमान होकर क्रियाशील और सार्थक जीवन व्यतीत कर पाता है। जिसकी शक्ति जागृत नहीं होती, उसकी शक्ति निकम्मी और निष्फल चली जाती है। अतः आत्मिक शक्ति को जगाने के लिए शक्ति की साधना आवश्यक है।

आत्मा में से ही पूर्ण परमात्मशक्ति जाग्रत होगी

आत्मशक्तियों का जागरण आत्मा को परमात्मशक्ति से परिपूर्ण बनाने के लिए है। वैसे तो प्रत्येक आत्मा में परमात्मशक्ति प्रच्छन्न रूप में पड़ी है। इसलिए परमात्मशक्ति कहीं बाहर से, परपदार्थों से प्राप्त नहीं होगी, न ही वह किसी देव-देवी, शक्ति या भगवान् से माँगने से प्राप्त होगी। वह आत्मा में ही है और आत्मा में से ही प्राप्त होगी। जैसे—पीपल को ६४ पहर तक लगातार घिसने से उसमें से जो तीखापन प्रकट होता है, वह खरल में से या किसी बाहरी पदार्थ से प्रकट नहीं होता, वह पीपल में से ही प्रगट होता है। पीपल में ही चौंसठ पहरी तीखेपन की शक्ति अव्यक्त रूप से विद्यमान थी, वह चौंसठ पहर तक घिसने से प्रकट होती है। इसी प्रकार एक से लेकर तिरसठ पहर तक घिसे हुए पीपल के तीखेपन में से भी चौंसठ पहरी तीखेपन की शक्ति नहीं आती, बल्कि पोपल में अभी तक जो अधूरा तीखापन था, उसका अभाव होकर पीपल में निहित चौंसठ प्रहरी तीखेपन की शक्ति में से पूर्ण तिक्तता की शक्ति प्रकट होती है। खरल को घिसने से, या चूहे की मींगणी घिसने से उनमें से तिक्तता की शक्ति प्रकट नहीं होती, क्योंकि उनमें वैसा स्वभाव ही नहीं है। आत्मा ही परिपूर्ण परमात्मशक्ति से भरा है। आत्मा का ही परमात्म-शक्ति प्रकट करने का स्वभाव है। शरीरादि को घिसने से परमात्मशक्ति प्रकट नहीं होती, क्योंकि उनका वैसा स्वभाव ही नहीं है। परन्तु वर्तमान में जो अपूर्ण परमात्मशक्ति है, उसमें से भी परमात्मशक्ति प्रगट नहीं होगी, वह होगी आत्मा में निहित ज्ञानादि शक्तियों को जाग्रत करने की साधना से। आत्मा में निहित शक्तियों का जागरूकतापूर्वक अभ्यास एवं नियमित रूप से सम्यक् उपयोग करने से ही पूर्ण परमात्मशक्ति का दूसरे शब्दों में कहें तो—अनन्त आत्मिक वीर्य का प्रकटीकरण होगा।

शक्तियों का नियोजन सही दिशा में भी होता है, विपरीत दिशा में भी

शक्तियों का होना कोई बड़ी बात नहीं है। महत्वपूर्ण बात है—उन शक्तियों का यथार्थ दिशा में नियोजन करना। अगर शक्तियों का

नियोजन ठीक दिशा में नहीं होता है तो उनसे अनेक झंझट, समस्याएँ और उलझनें पैदा हो सकती हैं। संसार में जितनी भी हत्याएँ, चोरी, डकैती, लूटपाट, ठगी, तस्करी आदि बुराइयाँ पैदा होती हैं, वे सब शक्तियों के द्वारा ही होती हैं। शक्तियों का नियोजन सही दिशा में होता है तो उनसे समस्याओं का, अनिष्टों का, तथा उलझनों का समाधान एवं निराकरण भी होता है। अर्जुनमाली ने पहले जो शक्ति ध्वंसात्मक एवं संहारात्मक कार्यों में, घोर पापकर्मों के बन्ध में लगायी थी। वही शक्ति जब सही दिशा में नियोजित हुई तो क्षमा, मार्दव आदि उत्तम धर्म के आचरण द्वारा तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप के द्वारा आत्मशक्तियों को जाग्रत करके कर्मों का सर्वथा क्षय करने में लगा दी।

अतः समस्या और समाधान, तीव्र कर्मबन्धन और सर्वथा कर्ममुक्ति तथा ध्वंस और निर्माण दोनों का स्रोत शक्ति है। परभावों और विभावों में भी शक्ति का नियोजन हो सकता है और स्वभाव और स्व-गुणों में भी। अन्तर सिर्फ नियोजन का है।

'कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा' यह कहावत प्रसिद्ध है। इसका आशय यह है, कि जो मानव कर्म बाँधने में शूरवीर है—शक्तिशाली है, वही मानव अपनी शक्तियों का यथार्थ दिशा में नियोजन कर ले, तो शुद्ध आत्म-धर्म के आचरण में शूरवीर होकर पूर्वबद्ध कर्मों से सर्वथा मुक्त हो सकता है। कर्म बाँधने के समय में जैसे आत्मा का अनन्त वीर्य स्फुरायमान होकर प्रचुर कर्मों का बंध कर लेता है, वैसे ही मानव शरीर में निहित विकसित चेतना (आत्मा) का अनन्त वीर्य स्वभाव के पुरुषार्थ में स्फुरायमान हो तो समस्त कर्मों का क्षय कर सकता है। आत्म भाव-विरुद्ध प्रवृत्ति मार्ग में स्फुरायमान वीर्य सातवीं नरक का मेहमान बना देता है, जबकि आत्मस्वभाव में स्थिर रखने वाले निवृत्ति मार्ग में जागृत होने वाला वीर्योल्लास परमात्मपद मोक्ष की मंजिल तक पहुँचा देता है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का ज्वलन्त उदाहरण हमारे सामने है। उन्होंने सिर्फ अन्तर्मुहूर्त्त में दोनों छोर की शक्तियाँ जगा ली थीं। पहले परभावों के प्रवाह में बहती चेतना के आत्मा के असंख्य प्रदेशों में विलसित वीर्य को इतने प्रबल वेग से स्फुरित किया कि वे सप्तम नरक के मेहमान बनने योग्य हो गए थे, किन्तु कुछ ही समय के पश्चात् उन्होंने वीर्य के प्रवाह की राह बदली। परभावों से वृत्ति लौटकर पुनः स्वभाव के लक्ष्य में परिणत होने लगी। उसी आत्मिक वीर्यशक्ति ने विभाव (परभाव) से निवृत्ति ली, और कर्मों का क्रमशः क्षय करते-करते कुछ ही

क्षणों में समस्त घाति कर्मों का क्षय कर लिया, तत्पश्चात् वे अवशिष्ट सर्व कर्मों से मुक्त सिद्ध-बुद्ध परमात्मा बन गए।

निष्कर्ष यह है कि अगर आत्मशक्तिसाधक अपनी शक्तियों का विपरीत दिशा (आस्रव और बंध) में नियोजन न करके, सही दिशा (संवर, निर्जरा और मोक्ष) में नियोजन करे तो परमात्म शक्ति-सम्पन्न बन सकता है।

आत्मशक्तियों का जागरण कैसे, किस माध्यम से ?

आत्मशक्तियों की जागृति सहसा सम्पन्न नहीं हो जाती। सर्वप्रथम तो आत्मशक्ति के स्वरूप और उसकी विविध धाराओं एवं शाखाओं को समझ लेना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए सभी शक्तियों को जागृत कर पाना सम्भव नहीं है। कई साधक उनमें से किन्हीं एक-दो शक्तियों को भी जगाकर विशेष योग्यता प्राप्त कर लेते हैं।

वैसे देखा जाए तो जैसे—चेतन (आत्मा) शक्तिसम्पन्न है, वैसे जड़ अचेतन=पुद्गल भी शक्तिसम्पन्न है। परन्तु दोनों में जब तक वीर्य (वीरत्व=शक्ति) रहता है, तब तक ही उनका उपयोग है। शक्ति समाप्त होते ही सब व्यर्थ हो जाता है। शक्ति को जैनदर्शन में 'वीर्य' कहा गया है। किन्तु आत्मिक वीर्य की यहाँ चर्चा होते हुए भी मशीनों आदि में तथा कई वस्तुओं में भी बहुत शक्ति होती है, तथा शरीर, मन, बुद्धि, प्राण, वचन आदि भी जड़ पदार्थ हैं, इनमें भी अपने-अपने ढंग की, स्व-स्वकार्य करने की बहुत क्षमता होती है, इनकी शक्तियों का संवर्धन और विकास भी किया जा सकता है, इन सबकी शक्तियों को क्या कहा जाए ? सैद्धान्तिक दृष्टि से कहा जाए तो हैं तो ये सब पौद्गलिक वीर्य ही। अमुक-अमुक वस्तुओं के संयोग से यंत्र आदि में अमुक प्रकार की शक्ति पैदा होती है, बढ़ भी जाती है। तथा शरीर आदि की शक्ति भी अमुक उपचार से, अमुक वस्तुओं के संयोग तथा सेवन से, योग, आसन, प्राणायाम, ध्यान, समाधि, स्वाध्याय, आत्मचिन्तन, स्व-संकेत (ऑटो सजेशन), शक्ति आदि से जागृत सवर्धित एवं अभिव्यक्त की जाती है।

परन्तु इन सब पौद्गलिक पदार्थों की शक्ति संयोगज या परप्रेरित है। कोई चेतन उनको परस्पर जोड़ता है, या संयोग करता है, तब जाकर उनमें ऊर्जाशक्ति या विद्युत् आदि की शक्ति अथवा तैजस् शक्ति पैदा होती है।

यद्यपि सप्तधातुओं से शरीर निष्पन्न होता है, उसमें वीर्य अन्तिम धातु है। इससे ही शरीर में ओज और तेज प्रतीत होता है, तथा वीरता, उत्साह, साहस, पराक्रम एवं शौर्य प्रकट होता है। वस्तुस्थिति यह है कि शरीरस्थ वीर्य पौद्गलिक होते हुए भी मूल में आत्मा के वीर्य (शक्ति) गुण से ही प्रगट होता है। उसके निर्माण में आत्मा का वीर्यगुण वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से जितना प्रकट होता है, उतना ही, यानी उतने बल वाला ही पौद्गलिक वीर्य प्रकट हो सकता है। यही कारण है कि हाथी की अपेक्षा शरीर छोटा होते हुए भी सिंह में वीर्य (पराक्रम-शक्ति) अधिक होती है। वस्तुतः शक्ति, पराक्रम, उत्थान, कर्म, बल, पुरुषार्थ, शौर्य, स्थान, साहस, उत्साह, पौरुष आदि रूप में वीर्य मूल में आत्मा की वस्तु है। जैनदर्शन स्पष्ट कहता है कि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक छोटे-बड़े प्राणी सूक्ष्म या स्थूल, स्पन्दन, हलचल, गमनादि क्रिया या प्रवृत्ति करते हैं, उन सबमें आत्मा का वीर्य ही काम आता है। उस वीर्य (शक्ति) के बिना कोई भी प्राणी तन, मन, इन्द्रिय, बुद्धि, प्राण, अंगोपांग आदि से कोई भी क्रिया स्वतः नहीं कर सकते।

प्रश्न यह है कि आत्मा भी, अव्यक्त और अमूर्त होने से इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं है, उसकी आत्मशक्ति भी प्रत्यक्ष नहीं है। इसलिए आत्मशक्तियों की अभिव्यक्ति के माध्यम शरीर, पाँचों इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, वाणी तथा दशविध बलप्राण बनते हैं। उनके माध्यम से आत्मा की अधिकांश शक्तियों की जागृति एवं अभिव्यक्ति होती है। परन्तु आत्मशक्तियों के साक्षात् माध्यम वे तभी बनते हैं, जब आत्मस्वभाव या आत्मगुणों में रमण करने में ये सभी माध्यम बनने वाले उपकरण (करण) साधक एवं सहायक हों। जब ये आत्म-शक्तियों के जागरण में साधक या सहायक न बन कर बाधक बनते हैं, विपरीत दिशा में क्रोधादिवश, अहंकारादि से प्रेरित होकर या हिंसा, असत्य, चोरी, डकैती, हत्या, लूटपाट, आगजनी, वैर विरोध, द्वेष, लोभ, मोह, मद, मत्सर, स्वार्थ, कामभोग, विषयासक्ति आदि के वश भटक जाते हैं तब ये आत्मा की निखालिस शक्ति के रूप में अभिव्यक्त न होकर विकृत एवं पाप कर्मबन्धक शक्ति के रूप में अभिव्यक्त होते हैं।

जैनशास्त्रों में प्राण के दस प्रकार बताये गये हैं और वे भी बल के साथ संयुक्त रूप में। वे दस बल-प्राण इस प्रकार हैं—

(१) श्रोत्रेन्द्रिय बल-प्राण, (२) चक्षुरिन्द्रिय बल-प्राण, (३) घ्राणे-

न्द्रिय बल-प्राण, (४) रसेन्द्रिय बल-प्राण और (५) स्पर्शेन्द्रिय बलप्राण। (६) मनोबलप्राण, (७) वचन-बल-प्राण, (८) काय बल-प्राण, (९) श्वासोच्छ्वास बल-प्राण और (१०) आयुष्य बल-प्राण।

इस दशविध प्राण में मन, वचन और काया की शक्ति की अनेक-अनेक धाराएँ हैं। जैसे–मन की शक्ति के साथ बौद्धिक शक्ति, चित्त की शक्ति, हृदय की शक्ति, संकल्प शक्ति, भावना शक्ति, विचार शक्ति, स्मरण शक्ति, निर्णय शक्ति, निरीक्षण शक्ति, परीक्षण शक्ति, विवेक शक्ति, विश्लेषण शक्ति, मानसिक शक्ति आदि। परन्तु मन की ये सब शक्तियाँ जब आत्म-स्वभाव में या आत्मगुणों में, अथवा आत्मचिन्तन-मनन में, आत्मा के विकास में, आत्मालोचन में, आत्मनिरीक्षण में, आत्मश्रद्धा में, अथवा आत्मविश्वास में अथवा बारह प्रकार की आत्मानुप्रेक्षा में, मैत्री आदि चार भावनाओं में, तथा धर्मध्यान के अन्तर्गत पिण्डस्थ, पदस्थ एवं रूपस्थ ध्यान में अथवा किसी त्याग, प्रत्याख्यान एवं नियम एवं प्रतिज्ञा के दृढ़ संकल्प में लगती हैं, तब आत्मशक्तियों का जागरण प्रारम्भ हो जाता है। मन से सम्बन्धित इन और इनसे सम्बन्धित अन्य शक्तियों का विकास होता है—एकाग्रता से, ध्यान से और एकनिष्ठा से सतत् अभ्यास से तथा मनो-निग्रह से। भारतीय दार्शनिकों ने मन की शक्ति को आत्मशक्तियों के जागरण में सर्वोपरि माना है। जितनी भी धार्मिक क्रियाएँ हैं, जप, तप, परीषह-विजय, कषायोपशमन विषय-विरक्ति आदि तथा क्षमादि दशविध धर्म का या रत्नत्रयरूप धर्म का आचरण है, उन सबको मनोयोगपूर्वक, उपयोगपूर्वक निष्कामभावपूर्वक, संवर निर्जरा की दृष्टि से करने का विधान है। समता, क्षमा, समाधि, अनुकम्पा, दया, सहिष्णुता, अहिंसा, सत्यादि की शक्तियों का विकास करने में एकाग्र और स्थिर मन ही उपयोगी बनता है। औत्पा-तिकी, वैनयिकी, कार्मिकी और पारिणामिकी बुद्धि बौद्धिक शक्ति के विकास का ही परिणाम है; जो मन से ही सम्बन्धित है। सम्यग्दर्शन की शक्ति भी मन के द्वारा विकसित की जाती है। सम्यग्दृष्टि को मोक्ष लक्ष्य की ओर क्रियान्वित करने के लिए मन को ही माध्यम माना गया है। इसीलिए कहा गया है—

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः।'

मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का (घातिकर्मों से मुक्त होने का) कारण मन है। परभावों, विभावों तथा हिंसादि पापकर्मों में मन दौड़ लगाता है

तो सातवीं नरक तक की यात्रा कर लेता है, और दूसरे ही क्षण शुभ भावों में गति प्रगति करता है तो सर्वार्थसिद्ध तक पहुँच जाता है।

मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि अवचेतन मन को सुसंस्कारों की ओर मोड़ने का सतत अभ्यास करने से उसकी क्षमता बहुत अधिक बढ़ जाती है। चेतन मन की अपेक्षा भी अवचेतन मन को जगाने से, उसको क्रियाशील बनाने से आत्मशक्तियाँ अधिकाधिक जागृत, अभिव्यक्त और विकसित बनती हैं। इन्द्रियाँ एवं अंगोपांग अपने आप में कुछ नहीं है, पौद्गलिक हैं, मन ही इनके माध्यम से विभिन्न प्रवृत्तियाँ कराता है। अगर मन को शुभ-ध्यान द्वारा आत्मा के स्वभाव में एकाग्र, निश्चल और स्थिर कर दिया जाए तो उसकी शक्ति अनेक गुनी बढ़ सकती है। बौद्धिक शक्ति, स्मरण शक्ति आदि मानसिक शक्तियों का विकास भी एकमात्र आत्मस्वभाव में एकाग्र कर दिया जाए, अथवा ज्ञाता-द्रष्टा बनने में स्थिर कर दिया जाए तो ये शक्तियाँ आत्म-शक्तियों के जागरण में सहायक निमित्त बन सकती हैं।

दूसरा वचनबल है जो आत्म-शक्तियों को जागरण में निमित्त बनता है। वचनबल को भी वाग्गुप्ति, मौन, भाषा-समिति, आदि के अभ्यास से विकसित किया जा सकता है। क्षीरास्रवलब्धि, पदानुसारिणी लब्धि, वचन सिद्धि आदि भी वचनबल के विकसित रूप हैं। वाणी की शक्ति दीर्घकालीन साधना से जागृत और विकसित होती है। इसी प्रकार शब्दशक्ति, मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र की शक्तियाँ भी अद्भुत हैं। शब्द शक्ति के प्रभाव से हजारों कोस दूर बैठे हुए व्यक्ति को प्रभावित, आकर्षित और आमन्त्रित किया जा सकता है। अपने विचार उसे सम्प्रेषित किये जा सकते हैं। ध्वनि तरंगों से विद्युत् तथा ऊर्जाशक्ति उत्पन्न की जाती है। संगीत से एवं प्रार्थना से रोग-मुक्ति, खेतों में उत्पादन वृद्धि तथा गोदुग्ध वृद्धि आदि के सफल प्रयोग आज भी देश-विदेश में किये जा रहे हैं। उसी शब्द शक्ति के प्रभाव से आत्म-गुणों का तथा आत्म-स्वभाव को जागृत करने का स्वयं संकेतात्मक (ओटो-सजेशन के रूप में) अभ्यास किया जाए तो आत्म-शक्तियाँ संवर्द्धित और विकसित की जा सकती है।

तीसरा है—कायबल। कायबल भी कायगुप्ति, कायक्लेश, प्रति-संलीनता तप एवं उपवास आदि तप से तथा योगासन, व्यायाम आदि से यौगिक क्रियाओं से तथा शयन-जागरण, गमनागमन, कायिक प्रवृत्तियाँ एवं चेष्टाओं में विवेक और यत्नाचार से बढ़ता है। शरीर में तीन प्रमुख शक्ति केन्द्र हैं—गुदा, नाभि और फेफड़े। इन तीनों शक्ति केन्द्रों को जगाने

से आत्मशक्ति संवर्धन में सहायता मिलती है। मनोबल के साथ भी काय-बल का गहरा सम्बन्ध है। कायबल भी आत्मगुणों के संवर्द्धन, आत्मस्व-भावरमण आदि में एकाग्र एवं नियोजित किया जाए, परीषहों एवं उपसर्गों को समभावपूर्वक सहने का, कष्टसहिष्णुता एवं तितिक्षा का एवं पाँचों इन्द्रियों को विषयों की ओर अतिप्रवृत्त होने या निरर्थक प्रवृत्ति करने से, आस्रवों में जाने से रोकने का अभ्यास किया जाए तो आत्मशक्तियाँ अति-शीघ्र जाग्रत हो सकती हैं।

पाँचों इन्द्रियों की शक्ति भी अभ्यास से, योगसाधना से बढ़ सकती है। दूर तक श्रवण करने की, देखने की, शीघ्र पढ़ने की, स्पर्श के द्वारा दूसरी इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान करने की शक्ति भी अभ्यास से संवर्धित हो सकती है। इन्द्रिय संयम, विषयों के प्रति रागद्वेष आदि विभावों के निरोध आदि से इन्द्रियशक्तियाँ बढ़ती हैं। श्वासोच्छ्वास का बल तो सर्व-विदित है। लुहार अपनी धौंकनी से जिस प्रकार अग्नि को अधिकाधिक प्रज्वलित करता है, वैसे ही श्वास-उच्छ्वास की क्रियाओं के माध्यम से व्यक्ति तैजस-शक्ति, ओजस्शक्ति एव प्राणशक्ति को संवर्धित, प्रदीप्त एवं जागृत कर सकता है। प्राणायाम के विविध प्रयोगों से प्राणशक्ति—श्वास-शक्ति को जागृत किया जा सकता है और प्राणशक्ति के माध्यम से आत्मिक शक्तियों का जागरण अनायास ही हो सकता हैं। फेफड़ों से श्वास क्रिया का गहरा सम्बन्ध है। वे जितने खुलते हैं, उतनी ही शक्ति की वृद्धि होती है, जितने अवरुद्ध रहते हैं, उतनी ही शक्ति की कमी रहती है। श्वासक्रिया से कुछेक सेल्स खुलते हैं बाकी के प्रायः ९०-९५ प्रतिशत सेल्स अवरुद्ध रहते हैं।

आयुष्यल भी तन, मन, प्राण, इन्द्रियाँ आदि को स्वस्थ और संतुलित रखने से, मलमूत्रादि शारीरिक वेगों को न रोकने से, ईर्ष्या, द्वेष, रोष चिंता आदि मानसिक वेगों को रोकने से, अतिभोजन, अतिनिद्रा, तामसिक खान-पान, रोग आदि से क्षीण होता है। यदि आयुष्यबल प्रबल हो तो स्वस्थ, सशक्त और समनस्क व्यक्ति अपनी आत्मशक्तियों को रत्नत्रयादिरूप धर्माचरण में, आत्मस्वभावादि में लगाकर जागृत कर सकता है।

आत्मिक शक्तियों के क्रमशः पूर्ण विकास का उपाय

आत्मा असंख्यप्रदेशी है। उसके प्रत्येक प्रदेश में अनन्तवीर्य-अविभाग होते हैं। किंतु प्रत्येक आत्मा में सारे के सारे वीर्यांश (अनन्तवीर्य-अविभाग)

खुले नहीं होते । अर्थात्— प्रत्येक आत्मा में सारी शक्तियाँ प्रगट एवं विकसित नहीं होतीं । एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय प्राणी तक में न्यूनाधिक रूप में वीर्यांश खुले रहते हैं । मनुष्यों में भी अनन्तवीर्यांश के प्रकट होने में तारतम्य रहता है । वीर्यान्तरायकर्म का जितना क्षय, उपशम या क्षयोपशम होता है, उतना वीर्य (शक्ति) प्रकट होता है । बाकी का (कर्मों से) आवृत रहता है । मन-वचन-काया जितने-जितने चंचल होते हैं, उतना-उतना प्रकम्पन अधिक होता है । प्रकम्पन अधिक होने से वीर्य में स्थिरता नहीं होती । मन-वचन-काया के योगों की चंचलता इनकी अधिकाधिक प्रवृत्ति करने से होती है, इनकी प्रवृत्तियों को जितना अधिक रोका जाएगा, ध्यान, धारणा समाधि आदि के द्वारा या ज्ञाताद्रष्टा बनकर रहने से; उतनी ही आत्मशक्ति उत्तरोत्तर जागृत होती जाएगी । और त्यों-त्यों वीर्यान्तराय कर्म का क्षय या क्षयोपशम होता जाएगा, आत्मवीर्य में स्थिरता आती जाएगी । अन्त में, शैलेशीकरण (१४वें गुणस्थान) के समय आत्मा में मन-वचन-काया के योगों की चंचलता बिलकुल नहीं रहती । वीर्यान्तरायकर्म तो पहले ही सर्वथा क्षय हो जाता है । आत्मा में उत्कृष्ट और पूर्णरूप से वीर्य (शक्ति) प्रगट हो जाता है । ऐसी स्थिति में मन-वचन-काया के योगों की प्रवृत्ति आत्मा पर कोई प्रभाव डाल नहीं सकती । योगत्रय छूट जाते हैं । पुद्गल (कर्मादि) और आत्मा दोनों सदा के लिए पृथक् हो जाते हैं । आत्मा परमात्मा के समान पूर्ण अनन्त उत्कृष्ट-वीर्य (शक्ति) वान्, अक्रिय, अयोगी, अलेशी, स्वतन्त्र और कृतकृत्य हो जाती है । उस समय आत्मा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त पूर्ण परमात्मा बनकर पूर्ण वीरता (अनन्त आत्मशक्ति) के साथ अपने शुद्ध स्वभाव का भोक्ता बना रहता है । आत्मशक्ति को परमात्मशक्ति तक जागरण करने की यही श्रेष्ठ प्रक्रिया है ।

२०

परमात्मा बनने में उपादान और निमित्त का योग

आत्मा और परमात्मा स्वरूप और स्वभाव की दृष्टि से एक हैं

'अप्पा सो परमप्पा' इस सिद्धान्तसूत्र के अनुसार आत्मा और परमात्मा दो नहीं हैं। ये दोनों एक ही तत्व की दो अवस्थाएँ हैं। आत्मा वर्तमान में अपूर्ण अवस्थासूचक है और परमात्मा पूर्ण अवस्थासूचक। परन्तु मूल में आत्मा और परमात्मा एक ही हैं। दोनों में स्वरूप और स्वभाव की दृष्टि से किसी प्रकार का द्वैध नहीं है। यदि दोनों में द्वैध होता तो आत्मा कभी परमात्मा नहीं बन सकती थी।

बंद आत्मा आत्मा है, खुली आत्मा परमात्मा

प्रश्न होता है, जब आत्मा और परमात्मा दोनों दो नहीं हैं, एक ही हैं, तब फिर इन दो शब्दों का प्रयोग क्यों होता है? दो शब्दों के प्रयोग के पीछे एक दृष्टि है, अपेक्षा है। जैसे—एक जवाहरात की दूकान है। उसमें हीरे, पन्ने, माणक, मोती आदि मूल्यवान माल भरा है। किन्तु वह सदा बंद रहती है; क्योंकि जिसके लिए वह दूकान कराई गई थी, वह अभी अल्पवयस्क है। इसलिए दूकान खोलकर करे क्या? उसका जो जौहरी पिता था, वह गुजर चुका था। समझदार हो जाने पर उस लड़के ने अपनी दूकान खोली। माल असली था, दूकान खुलते ही बहुत-से ग्राहक आने लगे। जौहरी के लड़के को अपनी खुली दूकान से काफी लाभ हुआ और ग्राहकों को भी शुद्ध माल मिलने का लाभ हुआ। दूकान वही है, जो पहले थी। माल भी वही है जो पहले था। किन्तु पहले दूकान बन्द रहती थी, अब

दूकान खुल गई। खुली दूकान और बन्द दूकान, इस अपेक्षा से दो दूकानें हो गईं। लेकिन पहले थी बन्द दूकान और अब है खुली दूकान। यों दूकानें दो नहीं हैं, एक ही है, किन्तु अवस्थाभेद से दो मानली गईं। इसी दृष्टि से बन्द दूकान साधारण आत्मा है और खुली दूकान परमात्मा है।

बंद आत्मा परमात्मा बन सकती है, उपादान शुद्ध और तैयार होने पर

जैसे—जौहरी के लड़के का उपादान जवाहरात माल से भरी दूकान खोलने और सँभालने के लिए तैयार नहीं था, इसलिए दूकान बन्द रही, किन्तु जब लड़के का उपादान दूकान खोलने और सँभालने के लिए तैयार हो गया, तब उसने बन्द दूकान खोली और अल्प समय में ही वह मालामाल हो गया। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव परमात्मा बनने का है, इसलिए आत्मा में परमात्मा बनने का उपादान है। जब भी परमात्मा बनेगा, तब आत्मा भाव से ही बनेगा अन्य किसी पर-भाव से नहीं। किन्तु आत्मा माल से भरी उस बन्द दूकान की तरह यदि बन्द ही रहेगी, अर्थात्—उस अल्पवयस्क लड़के की तरह उसका उपादान तैयार न होगा, वह अपनी शक्ति का जब तक विकास नहीं कर लेगा, आत्मा से परमात्मा बनने की पूरी तैयारी नहीं कर लेगा, तब तक वह परमात्मा नहीं बन सकेगा। जब तक आत्मा अपने पर आए हुए कर्मों के आवरणों से बन्द है, उसके मूल स्वभावरूप अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द और अनन्त-शक्ति अज्ञान, अदर्शन, मोह, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, अन्तराय, कषाय, शुभाशुभयोगों की चचलता की पर्तों के नीचे दबे हुए हैं। मोहनीय कर्मवश आते हुए नये शुभाशुभकर्मों को रोकने और पूर्वबद्ध कर्मों को क्षय करने का पुरुषार्थ भी नहीं हो रहा है, तब तक समझ लेना चाहिए कि बन्द आत्मा है। जो ज्ञानादि अनन्त आत्मगुणरत्नों से परिपूर्ण, किन्तु बन्द आत्मा को जान लेता है, श्रद्धा-प्रतीति कर लेता है, और दृढ़ निश्चयपूर्वक अनन्तज्ञानादि स्वभाव में स्थिर रहने का पुरुषार्थ करता है, फलतः संवर के द्वारा नये कर्मों का बन्ध नहीं होने देता तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तपरूप निश्चयदृष्टिपूर्वक व्यवहारदृष्टि से मोक्ष प्राप्ति का पुरुषार्थ करता है, वह पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है, अपने उपादान को परमात्मा बनने के लिए तैयार कर लेता है, उपादान जब तैयार हो जाता है, तो सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय या क्षमा, मार्दव आदि धर्म उसे अन्तरंग निमित्त के रूप में मिल जाते हैं और देव, गुरु, धर्म एवं

शास्त्र आदि बाह्य निमित्त भी मिल जाते हैं। जो व्यक्ति अपनी बन्द आत्मा को खोल देता है, अर्थात्—आत्मा पर आये हुए या आते हुए आवरणों को दूर कर देता है, वह परमात्मा बन जाता है।

उपादान होने पर भी निमित्त के बिना परमात्मभाव नहीं

प्रश्न यह है कि 'आत्मा परमात्मा है,' इस प्रकार का सिद्धान्तसूत्र तीर्थंकरों ने हमें दिया, इसका मतलब है—आत्मा को परमात्मा का पद मिल गया। श्रीमद् राजचन्द्र ने भी कहा है—

'सर्व जीव छे सिद्ध-सम'[1]

'जब सभी आत्माएँ सिद्ध-परमात्मा के समान हैं। तब सभी आत्माएँ इसी समय सिद्ध परमात्मा क्यों नहीं बन जातीं ? जैन, वैदिक, बौद्ध आदि सभी धर्मों और आस्तिक दर्शनों ने एक स्वर से यह स्वीकार किया है कि समस्त जीवों में मनुष्य ही एकमात्र मोक्ष पाने का—परमात्मा बनने का अधिकारी है। एकेन्द्रिय जीव से लेकर पंचेन्द्रिय, तिर्यंच, नारक और देव तक मोक्ष या परमात्मत्व प्राप्त नहीं कर सकते, इसका एकमात्र कारण है, उनकी आत्मा में परमात्मा बनने का उपादान होते हुए भी परमात्मा बनने के लिए उपादान की तैयारी न होना, इसी प्रकार जीव को पारिणामिक भावों की अपेक्षा से दो भागों में वर्गीकृत किया गया है—भव्य और अभव्य। इन दोनों का मूलस्वरूप सिद्धपरमात्मा के समान होते हुए भी कहा जाता है—भव्य जीव ही मोक्ष प्राप्त कर पाता है, अर्थात्—अपने परमात्मभाव को प्राप्त कर सकता है; किन्तु अभव्य जीव नहीं। क्योंकि अभव्य को अपने में निहित अभव्यत्व के कारण आत्मा के सर्वोच्च=परिपूर्ण विकास का आन्तरिक सुयोग नहीं मिलता। इस कारण बाह्य शुभाशुभ प्रवृत्तियों (योगों) में ही अटक जाता है, जिससे वह अपना परमात्मभाव जाग्रत नहीं कर सकता। और भव्यों के भी दो प्रकार हैं—आसन्न भव्य और दुर्भव्य। आसन्न भव्य शीघ्र मोक्ष पहुँच जाते हैं—परमात्मभाव पा लेते हैं; जबकि दुर्भव्य प्रभूत अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करने के पश्चात् मोक्ष=परमात्मभाव प्राप्त कर पाता है।

इस तथ्य को जरा विस्तार से समझ लें। खेत में पैदा हुए अनाज के सभी दानों में उगने की योग्यता होते हुए भी उत्पन्न हुए सारे अनाज

---

१. आत्मसिद्धि गाथा १३५

में से सिर्फ थोड़े ही दाने खेत में बोये जाते हैं। जितने दाने बोये जाते हैं, उतने सब उगते नहीं हैं। उनमें से कुछ दाने ऐसे भी होते हैं, जो धरती का संयोग मिलने पर तथा हवा, पानी एवं सूर्य का ताप का निमित्त मिलने पर भी या तो अन्दर ही अन्दर सड़ जाते हैं, अथवा कौए, चिड़िया आदि पक्षी चुग जाते हैं, अथवा बोते समय ठीक ढंग से जमीन में दबाये न गए, इस कारण उग न सके। दूसरी ओर, जो अन्नकण इस वर्ष नहीं बोये गए थे, वे दूसरे, तीसरे और चौथे वर्ष बोये गए, वहाँ तक वे पड़े रहे। अर्थात्—अपने में उगने की शक्ति होने के बावजूद भी, उसका उपयोग देर से किया गया। उन अन्नकणों में से जो शेष रह गए थे, वे गृहस्थ के यहाँ चक्की में पीसे गये, उनका आटा बन गया। उनका भोजन के रूप में उपयोग हो गया। उनमें उगने की योग्यता (उपादान) होते हुए भी उन्हें उगने का निमित्त नहीं मिला। इसलिए वे मूल में उगने का उपादान होते हुए भी उग नहीं सके।

यही बात निकट भव्य, दुर्भव्य और अभव्य जीवों के विषय में समझ लीजिए। आसन्न (निकट) भव्य जीव को अतिशीघ्र सम्यग्दर्शनादि का निमित्त मिलता है, और परमात्मभाव (मोक्ष) तक पहुँचने का सुयोग प्राप्त होता है। दुर्भव्यजीव को यह सुयोग या ये निमित्त अनेक पुद्गल परावर्तन-काल के पश्चात् मिलता है और अन्ततोगत्वा वह भी सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है। किन्तु अभव्य जीवों के मूलभूत स्वरूप में सिद्धत्व=परमात्मभाव प्राप्त करने का उपादान होते हुए भी उनमें अपने सिद्धत्व को प्रगट करने के योग्य उपादान तैयार नहीं होता। इस कारण अभव्य जीव (आत्मा) कदापि परमात्मा नहीं बन सकते। यह तो हुई निमित्त के बिना उपादान के तद्रूप न बन सकने की बात।

उपादान तैयार न हो तो प्रबल निमित्त कुछ नहीं करता

अब जरा उपादान की ओर भी झांक लें। निमित्त चाहे जितने उत्कृष्ट और श्रेष्ठ मिलने पर भी यदि उपादान शुद्ध नहीं है, तैयार नहीं है तो कोई मानव-आत्मा परमात्मा नहीं बन सकता। कोणिक श्रमण भगवान् महावीर का परम भक्त बना हुआ था। यहाँ तक कि जब तक भगवान् महावीर की सुखशांति का समाचार वह नहीं जान लेता था, तब तक मुँह में पानी की बूंद भी नहीं डालता था। उसी कोणिक ने एक हार और हाथी के लिए अपने भ्राता हल-विहल्ल कुमार को यहाँ तक हैरान किया कि माता-

यह चेडा नृप की शरण में जाने पर भी उनके साथ महायुद्ध छेड़ दिया, जिसमें एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्यों का संहार हुआ।[1] भगवान् महावीर जैसे उत्कृष्ट निमित्त होते हुए भी कोणिक युद्ध से विरत न हो सका। इसीलिए श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है—'जे समजे ते थाय।'[2] मंखलीपुत्र गोशालक भगवान् महावीर का शिष्य बनकर छह वर्ष तक उनके साथ रहा। इतने महान् पुरुष का निमित्त मिलने पर भी गोशालक आत्मा से परमात्मा न बन सका, जबकि भगवान् महावीर के पट्टशिष्य इन्द्रभूति गौतम को भी उनका सान्निध्य और निमित्त मिला था और वे आत्मा से परमात्मा बन गए थे।[3] निष्कर्ष यह है कि निमित्त कितना ही प्रबल क्यों न हो, अगर उपादान शुद्ध नहीं है, वह जागृत नहीं है, वह सघन आवरणों से आवृत है तो कोई भी शक्ति, देवी-देव या भगवान् भी उस आत्मा को परमात्मा नहीं बना सकते।

पद या वेष दिया जा सकता है, बनाया नहीं जा सकता

सौराष्ट्र के एक नगर में डाकुओं का बार-बार उपद्रव होता था। लोग अत्यन्त आतंकित थे। नगरनरेश के पास लोग शिकायत लेकर पहुँचे। राजा ने जनता को सुरक्षा का आश्वासन दिया। छोटा जागीरदार होने से राजा के पास थोड़ी-सी सेना थी। वह विशेष सुरक्षा के समय के लिए थी। अतः राजा ने नगर में ढिंढोरा पिटवाया कि जो व्यक्ति डाकुओं का मुकाबला करने के लिए तैयार हों, उन्हें राजा की ओर से भोजन, वस्त्र, धन, शस्त्र-अस्त्र और रहने आदि की सब सुविधाएँ दी जाएँगी। साथ ही उसे योद्धा का पद भी दिया जाएगा। नगर में कुछ हींजड़े निठल्ले बैठे थे। उन्होंने सोचा—'एक पंथ दो काज' की कहावत के अनुसार यह काम अच्छा है। वे राजा के पास आकर अपनी वीरता और निर्भयता की डींग हाँकने लगे, बोले—हमें सेना में रख लीजिए। हम डाकुओं का डटकर मुकाबला करेंगे। राजा ने उन्हें योद्धा की पोशाक दी, शस्त्र-अस्त्र बाँध दिये। दूसरे दिन जिधर से डाकू दल आने वाला था, उधर उन्हें कूच करने की आज्ञा दी। हींजड़ों की टोली ने योद्धा के रूप में शस्त्रास्त्र से सजधज कर डाकू-दल जिस दिशा से आने वाले थे, उसी दिशा में कूच किया। दूर से योद्धा

---

१. देखिये-निरयावलिका सूत्र में कोणिक का वृत्तान्त

२. आत्मसिद्धि गा. १३५ द्वितीय चरण

३. देखिये-कल्पसूत्र बालावबोधिनी टीका

वेष में सुसज्ज सैनिकों को देखा तो सहसा डाकूदल स्तम्भित हो गया। सोचने लगा—"इतने सशस्त्र योद्धाओं के सामने हम मुट्ठी भर डाकू टिक नहीं सकेंगे, चलो, वापस लौट चलें।" परन्तु उन डाकुओं में एक डाकू ऐसा था, जो इन हींजड़ों को पहचानता था। वह बोला—'ये असली योद्धा नहीं हैं, ये हींजड़े हैं। योद्धा का सिर्फ पद और वेष है, इनके पास। बन्दूक का फायर करते ही ये भय से भड़क कर भाग जाएँगे।'ऐसा ही हुआ। ज्यों ही डाकू-दल ने बन्दूक का फायर किया, योद्धावेषी हींजड़ों की टोली उलटे पैरों भाग खड़ी हुई। डाकुओं ने नगर में प्रवेश करके डकैती और लूटपाट की। हींजड़ों की टोली राजा के पास पहुँचकर कहने लगी—"आपने हमें योद्धा का वेष और पद दे दिया। किन्तु योद्धा बनाया नहीं।" राजा ने हँसकर कहा—मैं क्या भगवान् भी तुम्हें योद्धा नहीं बना सकते, जब तक तुम स्वयं योद्धा बनने के लिए पुरुषार्थ न करो। मैं तो सिर्फ योद्धा का वेष और पद दे सकता हूँ, जो तुम्हें मैंने दिया है।"[1]

कितनी मर्मस्पर्शी प्रेरक घटना है यह! किसी को भगवान का पद या वेष दिया जा सकता है, पर भगवान् बनाया नहीं जा सकता। आजकल तो नकली भगवानों की बाढ़ आ गई है। नाटक आदि में लोग किसी को भगवान् का पद व वेष दे देते हैं, मगर किसी को भगवान् बनाना उनके बस की बात नहीं है। कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है, जो किसी को परमात्मा बना सके। आत्मा स्वयं अपने कर्तृत्व से ही, उपादान को जागृत करके ही परमात्मा बन सकता है। यही कारण है कि वीतराग तीर्थंकर महावीर ने आत्मा को परमात्मा कहकर परमात्मा बनने का दायित्व आत्मा पर ही डाला है। परमात्मभाव प्राप्त करने का, पुरुषार्थ करने का और उपादान (निजात्मा) को तैयार करने, जागृत करने और परमात्म-योग्य बनाने का दायित्व आत्मा पर है।

उपादान और निमित्त का लक्षण, अर्थ और महत्व

भारतीय दार्शनिकों ने उपादान और निमित्त दोनों कारणों पर गहराई से विचार किया है। उपादान के बिना निमित्त कारण कुछ नहीं है। इस दृष्टि से उपादान की प्रबलता है। जो कारण अन्ततः स्वयं कार्यरूप में परिणत होता है, उसे उपादान कारण कहा गया है और जो कारण कार्य की सम्पन्नता में अनुकूल (सहयोगी) रहता है और कार्य हो जाने के बाद

१. 'सौराष्ट्रनी रसधार' से संक्षिप्त

अलग हो जाता है, वह निमित्त कारण है। उदाहरणार्थ—घटरूप कार्य का उपादान कारण मिट्टी है, क्योंकि मिट्टी स्वयं अन्त में घटरूप में परिणत होती है। किन्तु घड़ा बनने में कुम्हार, डण्डा, चाक और डोरी आदि निमित्त कारण हैं।

यद्यपि कारण के लक्षण की दृष्टि से कार्य की सम्पन्नता के लिए दोनों कारण आवश्यक हैं, उपादान भी, निमित्त भी। परन्तु उपादान के बिना निमित्त शून्यवत् है, तो निमित्त के बिना उपादान कारण भी अभिव्यक्ति नहीं पाता। उपादान कितना ही प्रबल क्यों न हो, निमित्त के बिना उसकी क्षमता प्रकट नहीं होती। मिट्टी घड़ा बनने में उपादान कारण अवश्य है, किन्तु मिट्टी अपने आप घटरूप नहीं बन जाएगी, न ही वह घटरूप में अभिव्यक्ति पाएगी और न ही घड़े में पानी धारण करने की क्षमता आएगी। जब तक कुम्भकार इसका निमित्त नहीं बनता, तब तक मिट्टी मिट्टी ही रहेगी, घड़ा नहीं बन सकेगी। वट के बीज में वटवृक्ष बनने की योग्यता है। बीज वृक्ष का उपादान कारण है, वह न हो तो कार्य हो नहीं सकता, फिर बीज को हवा, पानी, धूप, मिट्टी आदि उपयुक्त निमित्त न मिलें तो वह वटवृक्ष नहीं हो सकता। अध्यात्मशास्त्र में मुख्यता उपादान की मानी गई है। अध्यात्मदृष्टि से उपादान का अर्थ आगरा के लब्ध प्रतिष्ठ जैन पण्डित भैया भगवतीदास ने स्वरचित उपादान-निमित्त-संवाद में इस प्रकार किया है—

'उपादान निजशक्ति है, जिय को मूल स्वभाव।
है निमित्त पर-योग तैं, बन्यो अनादि बनाव॥'[1]

उपादान आत्मा की अपनी शक्ति का नाम है, वह आत्मा (जीव) का मूल स्वभाव है। परमात्मारूप कार्य आत्मारूप उपादान से ही निष्पन्न होता है। तथा निमित्त पर-संयोग का नाम है। इसके बिना परमात्मारूप कार्य अभिव्यक्ति नहीं पा सकता, परमात्मा बनने की क्षमता नहीं धारण कर सकता। अतः इन दोनों का ही बनाव अनादिकाल से चला आ रहा है।

परमात्मभावप्राप्ति में निमित्त की उपयोगिता

कविवर बनारसीदासजी ने भी उपादान और निमित्त दोनों का महत्व बताते हुए कहा है—"जैसे आदमी दूसरे पैर के बिना चलने में परा-

---

१ उपादान निमित्त संवाद दोहा ४

धीन है, उसी प्रकार गुरु के उपदेश के बिना उपादान भी निर्बल होता है। यद्यपि अकेले उपादान से कार्य हो जाना चाहिए था, किन्तु यह देखा गया है कि पानी में चलने वाला जहाज हवा की सहायता (निमित्त) के बिना गति नहीं कर पाता।"[1]

अधिकांश स्थूलदृष्टि वाले लोग निमित्त को ही जानते-देखते हैं, उपादान का विचार नहीं करते। वे कहते हैं कि जैसा निमित्त होता है, वैसा ही (उपादान) कार्य बन जाता है। चोरों के साथ रहने वाले व्यक्ति का उपादान रूप स्वभाव वैसा ही बन जाता है, और साधु पुरुषों या सज्जनों की संगति करने वाले, उनके उपदेश श्रवण करने वाले का उपादान रूप स्वभाव भी प्रायः अच्छा बन जाता है। "भगवतीसूत्र" में इसी तथ्य को इंगित करते हुए कहा गया है—

सवणे नाणे विन्नाणे, पच्चक्खाणे य संजमे।
अणण्हए तवे चेव, वोदाणे अकिरियासिद्धि ॥[2]

अर्थात्—'सत्संग से धर्मश्रवण, धर्मश्रवण से तत्त्वज्ञान, तत्त्वज्ञान से विज्ञान (विशिष्ट तत्त्व बोध) विज्ञान से प्रत्याख्यान (सांसारिक पदार्थों से विरति), प्रत्याख्यान से काय-वाक्-मनःसंयम, संयम से अहिंसादि संवर (नये कर्म का अनास्रव), अनास्रव से तप, तप से पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय, पूर्वबद्ध कर्मनाश से निष्कर्मता (कर्मरहित स्थिति), और निष्कर्मता से सिद्धि-मुक्ति=परमात्मप्राप्ति होती है।

आशय यह है कि परमात्मभाव की प्राप्ति-रूप कार्य में आत्मा रूप उपादान के लिए महापुरुषों का उपदेश-श्रवण, उनके द्वारा प्राप्त ज्ञान, विज्ञान आदि सिद्धि-मुक्ति=परमात्मभावप्राप्ति में उत्तरोत्तर निमित्त कारण बताए हैं।

---

१ गुरु-उपदेश-निमित्त बिन उपादान बलहीन।
ज्यों नर दूजे पांव बिन चलवे को आधीन ॥ १ ॥
हो जाने था एक ही उपादान सों काज।
थकै सहाई पौन बिन, पानी मांहि जहाज ॥ २ ॥
—पं० प्रवर बनारसीदासजी

२ भगवती (व्याख्या-प्रज्ञप्ति) सूत्र श. २, उ. ५।

उपादान जाग्रत एवं शुद्ध होने पर ही निमित्त का महत्व

राजप्रश्नीय सूत्र के अनुसार राजा प्रदेशी घोर नास्तिक, धर्म के प्रति अश्रद्धालु तथा धार्मिक पुरुषों के प्रति घृणाशील था। आत्मा का अस्तित्व ढूंढ़ने के लिए वह लोगों की निर्मम हत्या करता था। किन्तु जब उसने केशीकुमार श्रमण का सत्संग किया और उनसे मनःसमाधान होते ही वह उनके निमित्त से कठोर से कोमल, नास्तिक से आस्तिक एवं पापात्मा से धर्मात्मा बन गया था। यद्यपि इस आकस्मिक परिवर्तन में केशीकुमार श्रमण एवं चित्त प्रधान निमित्त बने, किन्तु राजा प्रदेशी का सुषुप्त उपादान जाग्रत न होता तो यह परिवर्तन नहीं हो पाता। राजा के उपादान के जाग्रत एवं शुद्ध होने का सबूत यह है कि जब राजा अपनी पौषधशाला में धर्मसाधना एवं आत्मध्यान में संलग्न था, तब उसकी रानी सूरीकान्ता ने उसे धर्म से विचलित करने का, मोहाविष्ट करने का भरसक प्रयत्न किया, मगर राजा जरा भी विचलित न हुआ। अन्त में, रानी ने विष-मिश्रित भोजन खिलाकर उसका प्राणान्त करने का उपक्रम किया, तब भी वह शान्त एवं समाधिस्थ रहा और समभावपूर्वक देहविसर्जन किया। इस समग्र घटनाक्रम में राजा प्रदेशी के शुद्ध एवं जाग्रत उपादान की झांकी स्पष्ट दिखाई देती है।[1]

राजगृह निवासी अर्जुनमालाकार प्रतिदिन ७ व्यक्तियों का हत्यारा और घोर पापी बना हुआ था। राजगृह की जनता और राजा आदि कोई भी उसे इस हिंसाकाण्ड से रोक न सका; यहाँ तक कि श्रमण भगवान् महावीर का उस दौरान राजगृह-पदार्पण भी उस समय उसे बदल नहीं सका, किन्तु भगवान् महावीर के दर्शनार्थ जाते हुए राजगृह के निर्भीक श्रमणोपासक सुदर्शन का निमित्त मिला तो एकदम नम्र, दयालु और कोमल बन गया। उसके पश्चात् भगवान् महावीर के उपदेश श्रवण एवं सत्संग निमित्त से अर्जुन का हृदय-परिवर्तन हो गया। वह अत्यन्त क्षमाशील मुनि बन गया। उसका उपादान इतना जाग्रत एवं शुद्ध हो गया कि उसने समभाव से घोर परीषह सहकर तथा बाह्याभ्यन्तर तप से अपने समस्त कर्मों का क्षय कर डाला एवं सिर्फ ६ महीने में पापात्मा से सिद्ध-बुद्ध-परमात्मा बन गया।[2] इस घटनाचक्र में भी सुदर्शन और भगवान् महावीर का निमित्त

---

१ रायप्पसेणीय सुत्तं।

२ अन्तकृद्दशांग सूत्र।

अवश्य था किन्तु अर्जुनमालाकार का उपादान शुद्ध न हुआ होता तो इससे भी बड़े निमित्त भी क्या करते ?

उपादान जाग्रत एवं शुद्ध हो तो निमित्त स्वतः उपस्थित हो जाता है

स्थूलदृष्टि वाले लोग इन दोनों घटनाओं में निमित्त को महत्व देते हैं, पर सम्यग्दृष्टि आत्मा की मूलदृष्टि उपादान पर केन्द्रित रहती है। यद्यपि वह निमित्त का तिरस्कार या उपेक्षा नहीं करता, तथापि वह निमित्त में उलझ कर नहीं बैठ जाता। यदि उपादान का कार्यरूप में परिणत होने का क्षण आ चुकता है, तो तदनुकूल निमित्त भी उसी क्षण आ मिलता है। उपादान जाग्रत और शुद्ध होने पर निमित्त अवश्य उपस्थित हो जाता है।

भगवान् महावीर का एक व्रतधारी श्रमणोपासक सुबाहुकुमार एक बार अपनी पौषधशाला में पौषधोपवासव्रत धारण करके रात्रि में धर्म-जागरणा कर रहा था। उस दौरान उसके मन में एक शुभ अध्यवसाय श्रेष्ठ भाव जगा कि वे जनपद, देश तथा नगर धन्य हैं, जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विचरण कर रहे हैं और भव्य मुमुक्षु आत्मा प्रभु का उपदेश श्रवण कर तथा वन्दना-नमन-पर्युपासना कर तथा संयम ग्रहण करके संसार-सागर से तिर रहे हैं। मुझे ऐसा सुयोग कब मिलेगा ? यदि वीतराग परमात्मा महावीर यहाँ पधारें तो मैं सर्वसंग-परित्यागी, सर्वविरत बनकर उनके श्रीचरणों में मुनिदीक्षा अंगीकार करूँ।

सुबाहुकुमार श्रमणोपासक की इस तीव्र भावना के फलस्वरूप प्रभु महावीर विचरण करते हुए उसके हस्तिशीर्ष-नगर में पधार गए और सुबाहुकुमार ने उत्कट भावों से मुनिदीक्षा अंगीकार की, स्व-पर-कल्याणकर अध्यात्म-साधना की। परम्परा से मुनि सुबाहुकुमार सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बनेंगे।[1]

इस घटना में भी स्पष्ट है कि सुबाहुकुमार का उपादान जागृत, शुद्ध और प्रबल होते ही भगवान् महावीर निमित्तरूप में उपस्थित हुए। अतः उपादान यदि जागृत एवं शुद्ध होता है तो निमित्त के उपस्थित होने में देर नहीं लगती।

---

१ सुखविपाक सूत्र अ. १।

निमित्त भी तभी कृतकार्य, जब उपादान शुद्ध हो

निष्कर्ष यह है कि वीतराग देवाधिदेव, निर्ग्रन्थ गुरु, सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म तथा सुशास्त्र एवं केवलज्ञानी उत्तम पुरुषों का सान्निध्य-सत्संग, उपदेश श्रवण आदि उत्कृष्ट से उत्कृष्ट निमित्त भी तभी कृतकार्य हो सकते हैं, जब व्यक्ति का उपादान शुद्ध और जागृत हो। यदि उपादान ही शुद्ध और जागृत न हो तो निमित्त कितना ही उत्तम व शुद्ध क्यों न हो, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। वस्तुतः परिवर्तन उपादान में होना चाहिए, निमित्त में नहीं। उपादान के सुधरने पर निमित्त के भी सुधरने का पूरा-पूरा अवकाश है।

आस्रव के निमित्त भी संवर के और संवर के निमित्त भी आस्रव के हो जाते हैं।

'आचारांग सूत्र' (अ. ४ उ. २) में इस सम्बन्ध में सुन्दर कथन है—

"जे आसवा ते परिस्सवा जे परिस्सवा ते आसवा।"

'जो आस्रव (कर्मबन्धन) के निमित्त हैं, वे परिस्रव (संवर या कर्म-मुक्ति) के निमित्त हो सकते हैं और जो संवर के निमित्त हैं, वे आस्रव के निमित्त हो सकते हैं।'

इस कथन का आशय यह है कि वेश्यालय, मदिराघर, जूआघर, जेल, अपराधीगृह, चोरों-डाकुओं का अड्डा, अन्तःपुर आदि जो आस्रव (कर्मों के आगमन और बन्ध) के निमित्त हैं, वहाँ भी यदि कोई शुद्ध और जाग्रत उपादान वाला व्यक्ति जाएगा, तो उसके लिए ये संवर और कर्म-निर्जरा के निमित्त बन सकते हैं। परन्तु यदि किसी व्यक्ति का उपादान शुद्ध और जागृत नहीं है तो चाहे वह संवर या कर्मनिर्जरा निमित्त वाले स्थानों में चला जाए, तो भी वे स्थान उसके लिए आस्रव और कर्मबन्ध के स्थान बन सकते हैं।

मंदिर, धर्मस्थान, उपाश्रय, अर्हत्-भगवान् का समवसरण, धर्मशास्त्र आदि पवित्रस्थान संवर और कर्मनिर्जरा के निमित्त होते हैं, परन्तु वहाँ भी मिथ्यादृष्टि, अजाग्रत, अशुद्ध एवं विपरीत उपादान वाला व्यक्ति जाएगा तो वहाँ भी कलह, क्लेश, साम्प्रदायिक दंगे, लड़ाई-झगड़े, या उत्तेजना पैदा करके वह इन्हें आस्रव एवं कर्मबन्ध के निमित्त बना देगा।

दो मित्र थे। वे देशभ्रमण के लिए साथ-साथ रवाना हुए। एक शहर में पहुँचे। वहाँ सुना कि यहाँ के उपाश्रय में त्यागी निर्ग्रन्थ मुनिवर

विराजमान हैं। दोनों में से एक मित्र ने कहा—चलो, आज हम यहाँ के उपाश्रय में चलें। वहाँ संसारविरक्त त्यागी मुनिवर विराजते हैं, उनका उपदेश सुनेंगे। दूसरे मित्र ने कहा—"नहीं, भैया! मैं तो मुनियों के रूखे-सूखे नीरस उपदेश सुनने नहीं चलूंगा। वहाँ कोई आनन्द नहीं आएगा। मैं तो वेश्या की महफिल में जाऊँगा। वहाँ नाच, गान, देखने-सुनने में आनन्द आएगा।" फलतः वह मित्र वेश्या की महफिल में पहुँचा। उसका मित्र पहुँचा साधु मुनिराज के प्रवचन सुनने। मुनिवर का बहुत सुन्दर, एवं भाववाही प्रेरक प्रवचन हो रहा था। प्रवचन सुनकर इस निमित्त से उसे वैराग्य का आनन्द आना चाहिए था। परन्तु उपादन जागृत न होने से वह मित्र सोचने लगा—'कहाँ आ फँसा? यहाँ तो सब नीरस विषय है। मेरा मित्र वेश्या का नृत्य, गीत एवं वाद्य सुनकर आनन्द में सराबोर हो रहा होगा।' इसके विपरीत जो मित्र वेश्या की महफिल में गया था, उसका उपादान पर्याय जाग्रत हो गया, वह सोचने लगा—मैं व्यर्थ ही यहाँ इस मोहनी के जाल में आ फँसा। इसकी यह आकृति केवल ऊपरी लीपा-पोती है। वस्त्रों, आभूषणों और चमड़ी से ढके हुए अपने मोहक शरीर से चेष्टाएँ करके यह वासना जाल में फँसाती है, पैसा भी लूटती है, और तन, मन और चरित्र भी। इसका पापमय घिनौना शरीर है तो केवल हाड़मांस का ही पुतला! जीवन की बर्बादी के सिवाय और यहाँ क्या है? मेरा मित्र त्यागी मुनिराज की आध्यात्मिक बातों को सुनकर आत्मानन्द में डूब रहा होगा।" यों सोचता हुआ वह मित्र पाप के निमित्त स्थान=वेश्या की महफिल से त्याग वैराग्य की प्रेरणा लेकर रवाना हुआ।

दोनों मित्रों में से एक का उपादान जाग्रत हुआ, इसलिए उसने आस्रव के निमित्त मिलने पर भी संवर की प्रेरणा प्राप्त की और दूसरे मित्र को संवर के निमित्त मिलने पर भी उपादान जाग्रत न होने से उसके मन में आस्रव की प्रेरणा जाग्रत हुई।

उपादान शुद्ध हो तो निमित्त भी सुधर जाता है

निष्कर्ष यह निकला कि मूल व मुख्य वस्तु उपादान है। उसी पर सारा दारोमदार है। वह जाग्रत, शुद्ध, सुधरा हुआ और परिपक्व होगा तो निमित्त का भी सुधार कर सकता है, भले ही वह निकृष्ट हो, प्रतिकूल हो।

स्थूलभद्र मुनि ने अपने पूर्वाश्रम=गृहस्थ जीवन में बारह वर्ष जिस कोशा वेश्या के साथ विलासिता, कामुकता और आमोद-प्रमोद में बिताये

थे, मुनि बनने के बाद उन्होंने अपने उपादान को इतना शुद्ध, जाग्रत और परिपक्व बना लिया कि भोग-वासना की चाहे जितनी आँधियाँ उमड़-घुमड़ कर आएँ, उनके तन-मन-वचन, इन्द्रिय और विशेषतया आत्मा पर कुछ भी प्रभाव न डाल सकें। और सचमुच ही एक दिन उन्होंने अपने गुरुवर्य आचार्य सम्भूतिविजय से उसी कोशा वेश्या की रंगशाला में चातुर्मास व्यतीत करने की आज्ञा मांगी। कुछ क्षण गहन विचार करके गुरुदेव ने मुनि स्थूलभद्र को सहर्ष आज्ञा दे दी। उनका उपादान पूर्ण रूप से तैयार हो चुका था, इसलिए अपनी पूर्वाश्रमीय प्रेमिका कोशा वेश्या की रंगशाला यानी पापास्रव की स्थली में, कोशा वेश्या जैसी वासना की पुतली का मोहक निमित्त मिलने पर भी वे रंचमात्र भी विचलित न हुए। कोशावेश्या ने बहुत हाव-भाव किये, मोहक जाल में फँसाने के लिए नृत्य, गायन-वादन अंगचेष्टा आदि सभी प्रयत्न किये, किन्तु स्थूलभद्र मुनि की उपादान रूप आत्मा अपने अनन्त-ज्ञान-दर्शन-सुख-शक्ति रूप आत्मस्वभाव में तन्मय हो गई। कोशा वेश्या शरीर के और शरीर सम्बद्ध ऊपरी आवरणों (परभावों) तथा उससे सम्बन्धित पदार्थों पर राग-द्वेष-मोह आदि के विभावों (कुविचारों) से बिल्कुल दूर हटकर उन्होंने उसकी शुद्ध-आत्मा को देखा-परखा। इसका प्रतिफल यह हुआ कि विकारों की निमित्तभूत कोशा वेश्या का उपादान सुधर गया। वह स्वयं प्रतिबुद्ध हो गई और वेश्याकर्म से निवृत्त होकर अपना जीवन श्रावकव्रतों से आबद्ध कर लिया।

यह है—उपादान सुधरने के साथ ही निमित्त के सुधारने का ज्वलन्त उदाहरण!

अगर चण्डकौशिक सर्प का उपादान जागृत, शुद्ध और सुधरा न होता तो भगवान् महावीर जैसा उत्कृष्ट निमित्त मिलने पर भी उसका जीवन-परिवर्तन न होता, किन्तु चण्डकौशिक का उपादान जागृत हुआ, भगवान् ने उसे प्रतिबोध दिया—

चंडकोसिया! बुज्झह बुज्झह बुज्झह!

बस, इतना कहते ही वह अपने आपमें प्रबुद्ध हो गया। उसने सर्प के चोले में साधु जैसा क्षमाशील जीवन बना लिया। किसी को काटना तो दूर रहा, फुफकारने, डराने और फटाटोप करने का भी त्याग कर दिया। अपना मुँह बांबी के अन्दर डाल दिया और आजीवन अनशन तप अंगीकार

कर लिया। उसने सर्पयोनि में होते हुए भी आत्मा पर लगे हुए अधिकांश कल्मषों को धो डाला।[1]

इसके विपरीत जिस व्यक्ति का उपादान जाग्रत एवं शुद्ध नहीं होता, उसे चाहे जितने अच्छे-से अच्छे निमित्त मिलें, वह बदलता या सुधरता नहीं। एक बार गणधर गौतमस्वामी एक कृषक को प्रतिबुद्ध करके मुनि दीक्षा देकर उसे अपने साथ भगवान् महावीर के दर्शन कराने लाए। भगवान् महावीर का पवित्र समवसरण (धर्म सभा) लगा हुआ था। भगवान् महावीर जैसे वीतराग परमगुरु शान्त सौम्य मुद्रा में सिंहासन पर विराजमान थे। समवसरण स्थान और भगवान् दोनों ही परम पवित्र निमित्त थे, किन्तु कृषक मुनि ने समवसरण में प्रवेश किया और भगवान् महावीर को देखा तो एकदम भड़क उठा और बोला—"इस पाखण्डी के पास कहां ले आए मुझे ! मैं यहाँ एक क्षण भी नहीं रहूँगा।" यों कहकर वह कृषकमुनि साधु के उपकरण वहीं फेंककर चल दिया।[2]

सभी हक्के-बक्के रह गए। भगवान् तो वस्तुस्थिति से परिचित थे कि इस मुनिवेषी कृषक का उपादान अभी जाग्रत और शुद्ध नहीं हुआ है। इसीलिए उपादान-निमित्त संवाद (दो० ९) में भैया भगवतीदास कहते हैं—

यह निमित्त इस जीव को मिल्यो अनन्ती बार।
उपादान पलट्यो नहीं तो भटक्यो संसार॥

देव, गुरु, सद्धर्म, सुशास्त्र, उपदेश श्रवण आदि के निमित्त तो जीव को अनन्त बार मिले हैं, परन्तु अपना उपादान शुद्ध एवं जाग्रत नहीं हुआ इसलिए आत्मा से परमात्मा बनने के बजाय, साधारण आत्मा रहकर अनन्त काल से संसार-परिभ्रमण करता रहा।

उपादान और निमित्त दोनों का अपना-अपना स्थान

जैनदर्शन में उपादान और निमित्त दोनों का अपना-अपना स्थान है। कई लोग निमित्त की उपेक्षा करके एकान्त उपादान की बात करते हैं। वे कहते हैं कि हमें देव, गुरु, धर्मशास्त्र आदि निमित्तों की क्या आवश्यकता है ? हमारा आत्मा ही हमारा देव है, हमारा ज्ञान ही हमारा गुरु है, और उपयोग ही धर्म है। परन्तु अविकसित दशा में निम्न कोटि के गुणस्थान

---

१ (क) कल्पसूत्र सुबोधिनी, (ख) तीर्थंकर महावीर
२ 'तीर्थंकर महावीर' से

की भूमिका में पड़े हुए जीव के लिए निमित्त की बहुत आवश्यकता है। ऐसे एकान्त निश्चयवादी लोगों को सम्यक् निर्देश करते हुए श्रीमद् राजचन्द्र आत्म सिद्धि में कहते हैं—

उपादाननुं नाम लई, ए जे तजे निमित्त।
पामे नहीं सिद्धत्वने, रहे भ्रान्तिमां स्थित॥

यह सत्य है कि उपादान की तैयारी हो, तभी जीव स्व-पुरुषार्थ के बल से परमात्मभाव (सिद्धत्व) प्राप्त कर सकता है, किन्तु साथ में योग्य निमित्तों की अवगणना न हो, इसका लक्ष्य रखना आवश्यक है। प्रत्येक द्रव्य से होने वाले कार्य में उपादान अपना (आत्मा का) ही होता है, इसी-लिए उपादान का लक्षण है—द्रव्य की जो शक्ति द्रव्य से ही उत्पन्न होती हो; वह तथा अन्य द्रव्य से जो शक्ति पैदा होती है, वह निमित्त कारण होती है।

यह निश्चित है कि मोक्षप्राप्ति या परमात्मभाव प्राप्ति में आत्मा स्वयं ही उपादान कारण है, क्योंकि मोक्ष या परमात्मपद पाने की योग्यता आत्मा में ही है। सर्वथा बन्धनमुक्त होने की शक्ति भी आत्मा में ही है। अतः मोक्ष या परमात्मपद का मुख्य कारण आत्मा ही है। निश्चयनय भी यही कहता है कि आत्मा स्वयं ही स्व-पुरुषार्थ से बन्धनमुक्त परमात्मा होती है। दूसरा कोई भी द्रव्य आत्मा के लिए कुछ कर नहीं देता। फिर भी व्यवहारनय की दृष्टि से निमित्त का होना अनिवार्य है। कविवर बना-रसी दास जी ने इसी तथ्य को अभिव्यक्त किया है—

ज्ञान नैन किरिया चरन, दोऊ शिवमग धार।
उपादान निहचै जहाँ, तहाँ निमित्त व्योहार॥

ज्ञानरूपी नेत्र और क्रियारूपी चरण, ये दोनों हों तभी मोक्षमार्ग में गति-प्रगति हो सकती है। अन्यथा जीव अविकसित दशा मिथ्यात्वतिमिर के कारण संसार में परिभ्रमण करता रहता है। इसलिए यह समझना आव-श्यक है कि उपादान निश्चयरूप है तो निमित्त व्यवहाररूप है।

व्यवहारिक जीवन में यह देखा जाता है कि किसी भी कार्य को करने में उपादान व्यक्ति का अपना होता है, निमित्त दूसरे का। अतः जहाँ उपादान कार्यरूप में परिणत होता है, वहाँ परपदार्थ स्वयमेव निमित्त होता है। इसी तथ्य को कविवर पं० बनारसीदासजी ने अपने उपादान-निमित्त के दोहे में अभिव्यक्त किया है—

उपादान निजगुण जहाँ, तहं निमित्त पर होय।
भेदज्ञान परमाणविधि विरला बूझे कोय॥

परन्तु विपरीतबुद्धि वाले जीव की कैसी कृतघ्नता है कि व्यावहारिक जीवन में कोई कार्य अच्छा बन जाता है, किसी कार्य में सफलता या उन्नति प्राप्त हो जाती है तो उसका श्रेय वह स्वयं लूटता है कि मैंने यह किया, मेरे करने से यह हुआ, इसमें निमित्त ने कुछ भी नहीं किया। और कोई काम बिगड़ जाता है या उलटा हो जाता है अथवा किसी कार्य में अवनति या असफलता प्राप्त होती है तो उसका सारा दोष निमित्त पर डाल देता है। वह यह नहीं समझता कि इस कार्य के बिगड़ने में मेरा अपना भी कुछ हिस्सा है। अकेला निमित्त क्या कर सकता था?

इससे भी आगे बढ़कर जीव की विपरीत मति यह है कि उपादान के साथ जिन भावों का मेल नहीं है, उन काम, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष आदि के निमित्त मिलें तो वह तुरन्त ग्रहण कर लेता है और रत्नत्रयरूप धर्म की, या देव-गुरु-धर्म की अथवा मोक्ष की आराधना-साधना का निमित्त मिले तो उसे 'पर' कहकर ठुकरा देता है। परन्तु यह निश्चित है कि निमित्त की उपस्थिति के बिना उपादान की कार्यक्षमता प्रकट नहीं होती। जैसे—रागादिरूप में परिणमन करने की शक्ति जीव (आत्मा) में है। जीव के सिवाय अन्य द्रव्य रागादिरूप में परिणमन नहीं कर सकता। इसी प्रकार वीतरागभाव में परिणमन करने की शक्ति भी आत्मा में है। जड़ द्रव्यों में राग भी नहीं है तो वीतरागता भी नहीं है। दोनों प्रकार की शक्ति आत्मा की होने पर भी निमित्तरूप परपदार्थ तो होता ही है। जीव को रागादि भाव होता है, उसमें भी कर्म तथा अन्य व्यक्ति, वस्तु एवं वातावरण आदि निमित्त होते हैं और जब जीव वीतरागभाव वाला होता है, तब गुरु का उपदेश, शास्त्रश्रवण आदि तथा मोहनीयकर्मक्षयरूप निमित्त होते हैं। इसी प्रकार निमित्त के बिना आत्मा (जीव) की स्वाभाविक या वैभाविक अवस्था नहीं होती।

शुद्ध उपादान वाला प्रतिकूल निमित्त के प्रति ज्ञाताद्रष्टाभाव रखे

वस्तुतः परमात्मभावप्राप्तिरूप कार्य के लिए उपादानरूप आत्मा जब तक पूर्णतः तैयार एवं शुद्ध न हो, तब तक उपादान के भाव का मेल न खाये, ऐसे निमित्तों को ग्रहण नहीं करना चाहिए। जैसे—पापोत्तेजक कथा, काम कथा, राजनैतिक विद्वेषवर्द्धक कथा या अन्य वैरवर्द्धक बातें अपरिपक्व आत्मारूप उपादान के साथ निमित्तरूप में मेल नहीं खातीं। ये और ऐसे अन्य

रागद्वेषादिवर्धक निमित्तों की दूर से ही उपेक्षा कर देनी चाहिए। कदाचित् किसी अनिष्ट व्यक्ति या परपदार्थ का निमित्त मिल जाये तो साधक को अपना उपादान आत्मस्वभावप्रूफ बना लेना चाहिए या ज्ञाता-द्रष्टा बनने का अभ्यास करना चाहिए, अथवा अन्तर् में भेदविज्ञान जागृत करना चाहिए, जिससे कि उस बुरे निमित्त का आत्मा (उपादान) पर कोई प्रभाव न पड़े।

उपादान प्रशस्त हो तो निमित्त भी कार्यसहायक

सिद्धान्त की आँखों से देखा जाये तो निमित्त अपने-आप में कार्यकारी नहीं होता, उपादान ही कार्यकारी होता है। आत्मा का ही उपयोग हिंसादि पापों में रममाण होता है, इसलिए आत्मा ही पाप कर्मबन्ध के फलस्वरूप नरक में जाता है, और जब उसका उपयोग दानादि पुण्यकर्मों में रममाण होता है, तब आत्मा ही शुभकर्मबन्ध के फलस्वरूप स्वर्ग में जाता है। वास्तव में इन दोनों प्रकार के निमित्तों में रागादि का अंश होने से वहाँ शुद्ध उपादान नहीं होता। यह कहा जाता है कि मनुष्यदेह के निमित्त के बिना मोक्ष=परमात्मभाव प्राप्त नहीं होता, यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है। निश्चयदृष्टि से देखा जाए तो जीव देहरूपी पिंजरे से छूट नहीं जाता, तब तक उसे मुक्ति या परमात्मभावप्राप्ति नहीं होती। आत्मा को जो मुक्ति या परमात्मभाव की प्राप्ति होती है, वह उपादान की शक्ति से होती है, उसमें व्यवहार दृष्टि से मानवदेह कथंचित् निमित्त बन जाता है। यह जो कहा जाता है कि सूर्य, चन्द्रमा, दीपक, मणि या अग्नि आदि के प्रकाश के निमित्त से ही व्यक्ति के नेत्र देख सकते हैं। इसलिए सूर्यादि का प्रकाश निमित्त है, इनके प्रकाश के बिना उपादान (व्यक्ति) अन्धकार में रहता है। यह कथन भी एकान्तिक है। उपादान (व्यक्ति) के नेत्रों में देखने की शक्ति न हो तो सूर्यादि के प्रकाश का निमित्त क्या करेगा? इसलिए उपादान सशक्त एवं जाग्रत हो, तभी निमित्त कार्यसहायक बन सकते हैं।

उपादान और निमित्त दोनों में बलवान् उपादान ही है

वास्तव में उपादान और निमित्त इन दोनों में बलवान् उपादान ही है, क्योंकि उपादान का नाश नहीं होता, वह कार्यसमाप्ति तक, अन्त तक साथ में रहता है, जबकि निमित्त उत्पन्न और विनष्ट होता रहता है। फिर उपादान तो एक ही होता है, जबकि निमित्त तो अनेक हो सकते हैं। अशुभ निमित्त शुभ में भी परिवर्तित हो सकता है, और शुभ अशुभ में भी। उपादान

के होने पर निमित्त तो कोई न कोई अवश्य रहेगा ही। उपादान अगर शुद्ध, जागृत और तैयार होगा तो या तो वह प्रारम्भ में ही अभीष्ट कार्य के लिए अनिष्ट एवं प्रतिकूल निमित्त को नहीं अपनायेगा। कदाचित् अशुभ या अनिष्ट निमित्त बरबस आ पड़े तो वह अपने पर उसका प्रभाव नहीं पड़ने देगा। वह ज्ञाता-द्रष्टा एवं तटस्थ प्रेक्षक के रूप में रहेगा। उपादान और निमित्त की समस्या इतनी जटिल, सूक्ष्म एवं गहन है कि उसे दीर्घकाल के अभ्यास से साधक समझ सकता है। साधारण व्यक्ति तो ऊपर-ऊपर ही तैरता रहता है, वह गहराई में उतरकर अपने उपादान को शुद्ध, जागृत एवं परिपक्व बनाने का अभ्यास एवं विचार भी नहीं करता। फिर भी यदि उपादान को पकड़ लिया जाए तो यह समस्या शीघ्र हल हो सकती है।

उपादान की तैयारी ही कार्यसिद्धि-प्रयोजक : निमित्त की चिन्ता नहीं

वास्तव में उपादान की तैयारी किये बिना तदनुरूप अन्तरंग अवस्था का प्रकाश होना त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है। इसलिए उपादान की तैयारी ही उस अवस्था के प्रकाश का मुख्य कारण है। उपादान की वैसी तैयारी न हो तो उस अवस्था के अनुरूप बाह्य निमित्त भी नहीं मिलते। इसलिए कार्य सिद्धि में मुख्य प्रयोजक उपादान को ही मानना चाहिए। इसलिए सम्यग्दृष्टि उपादान की तैयारी को ही कार्य का प्रयोजक मानकर उसी की साधना में दृढ़तापूर्वक जुट जाता है। वह बाह्य निमित्तों को प्राप्त करने की चिन्ता नहीं करता। और निमित्त तो 'पर' है। साधारणतया छद्मस्थ को यह ज्ञान नहीं होता कि कौन-सा पदार्थ या व्यक्ति किस कार्य के होने में निमित्त बनेगा? कई बार जो पदार्थ लोक में नगण्य या तुच्छ माने जाते हैं, वे भी उत्तम कार्य के होने में निमित्त बन जाते हैं। इसके विपरीत जो पदार्थ लोक में उत्तम कार्य के होने में योग्य एवं उत्कृष्ट निमित्त माने जाते हैं, उनके रहते हुए भी वह कार्य नहीं हो पाता।

इसलिए अमुक निमित्त के रहते अमुक कार्य होगा ही, ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। जबकि उपादान के विषय में ऐसा नहीं है। जिस उपादान से जो कार्य होता है, वह निश्चित है। इसलिए मोक्षप्राप्ति या परमात्मभावप्राप्ति के लिए उत्सुक आत्मार्थियों को बाह्य निमित्तों को जुटाने की फिक्र छोड़कर अपने उपादान को शुद्ध और जाग्रत करने की ओर ध्यान देना चाहिए। उपादान के साथ ही कार्य की

व्याप्ति है, निमित्त के साथ नहीं। कार्यसिद्धि में जैसा उपादान का नियम है, वैसा बाह्य निमित्त का नहीं है। अतः जो जिसका नियामक नहीं, वह उसका साधक नहीं बन सकता। सम्यग्दृष्टि के मन में यह दृढ़ निश्चय हो जाता है, कि परमात्मभाव प्राप्ति रूप कार्य अपने योग्य उपादान से ही होगा। इसलिए वह बाह्य निमित्तों को जुटाने की चिन्ता से मुक्त होकर एकमात्र अपने उपादान की सँभाल करता है, जबकि मिथ्यादृष्टि बाह्य निमित्तों को जुटाने के चक्कर में पड़ा रहता है। फलतः संसार में ही गोते लगाता रहता है।

यही कारण है कि स्वयंबुद्ध और प्रत्येकबुद्ध साधकों को निमित्तों को जुटाने की चिन्ता नहीं होती, ज्योंही उनका आत्मारूप उपादान शुद्ध, जाग्रत और तैयार होता है, उसके अनुरूप कोई न कोई निमित्त मिल ही जाता है। जैसे करकण्डू राजा को बैल देखकर, भरतचक्री को अपने आभूषण देखकर, किसी को वृक्ष, किसी को महिला, किसी को शव तथा किसी को श्वेतकेश, किसी को मेघ और किसी को अपना ही दुर्बल-अशक्त शरीर देखकर प्रतिबोध हो जाता है और वे विरक्त होकर परमात्मभाव (मोक्ष) प्राप्ति की साधना में जुट जाते हैं। इन सबको प्रतिबुद्ध होने के अलग-अलग निमित्त मिले। इन्होंने किसी भी निमित्त को बुद्धिपूर्वक मिलाया नहीं है। किन्तु इन सबका उपादान जाग्रत और तैयार हो गया था, इसलिए अनायास ही जो भी निमित्त मिल गया, उसी से प्रतिबुद्ध होकर संसार से विरक्ति धारण कर ली और अन्त में मोक्ष (परमात्मपद) को प्राप्त हुए।

परमात्मभाव प्राप्ति-हेतु उपादान की तैयारी का उपाय

अतः आत्मारूपी उपादान जब तक तैयार न हो, वह शुद्ध, सम्यग्दर्शनयुक्त एवं जाग्रत न हो, तब तक मोक्षप्राप्ति या परमात्मभावप्राप्ति दुर्लभ है। निमित्त तो एक के बदले दूसरे तथा उत्कृष्ट से उत्कृष्ट मिल सकते हैं, परन्तु उपादान तैयार न हो तो कार्य सिद्ध नहीं होता। उपादान तैयार हो तो योग्य निमित्त मिले बिना नहीं रहता। सम्यग्दृष्टि आत्मा का पुरुषार्थ तो उपादान की तैयारी के लिए होना चाहिए, भले ही उसमें वर्षों लगें या एक-दो जन्म भी लगें। अभीष्ट दिशा में सतत् पुरुषार्थ ही उपादान तैयार होने की गारण्टी है। लौकिक क्षेत्र में भी डॉक्टर, वकील, इन्जीनियर आदि बनने के लिए १७-१८ वर्षों तक निरन्तर परिश्रम करना पड़ता है। कोई विद्यार्थी मेट्रिक पास करने के पश्चात् यों कहे कि मैंने दस वर्ष तक पढ़ाई कर ली है। मुझे विशेष

योग्यता तो प्राप्त करनी है, परन्तु दो-चार वर्ष तक विश्रान्ति लेकर फिर आगे की पढ़ाई करूंगा। ऐसा विद्यार्थी आगे नहीं बढ़ सकता। विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिए तो बीच में विश्राम लिये बिना सतत अभ्यास करना आवश्यक होता है। इसी प्रकार उपादान की तैयारी अर्थात्—आत्मा के मोक्ष-प्राप्ति की विशिष्ट योग्यता के लिए भी वर्षों तक कदाचित् एक-दो भवों तक भी सतत् आत्मगुणों का अभ्यास करना अपेक्षित है।

उपादान को तैयारी के लिए आत्मसिद्धि में कहा है—

'कषायनी उपशान्तता, मात्र मोक्ष-अभिलाष।
भवे खेद अन्तर दया, ते कहीए जिज्ञास॥'

जिसके कषाय उपशान्त हो चुके हैं, जिसे मोक्ष=परमात्मभाव पाने के सिवाय कोई स्पृहा नहीं रही, जिसका अन्तर भावदया से परिपूर्ण है, जिसे संसार (जन्म-मरण चक्ररूप संसार) दुःखरूप प्रतीत होता है। इस प्रकार के गुणों से रंगा हुआ जिज्ञासु मानवात्मा उपादान को तैयार कर चुका है। ऐसे जिज्ञासु आत्मा को सद्गुरु के बोध का निमित्त मिल जाता है, उसकी दृष्टि सम्यक् हो जाती है और वह अन्तरात्मा में छिपे आत्मगुण-रत्नों को टटोलने तथा स्व-परभावों का भेदविज्ञान करने में लग जाता है। उसके पश्चात् उस मुमुक्षु की कैसी अन्तःस्थिति होती है, इसे श्रीमद् राज-चन्द्र के शब्दों में पढ़िए—

मोहभाव क्षय होय ज्यां, अथवा होय प्रशान्त।
ते कहीए ज्ञानी-दशा, बाकी कहीए भ्रान्त॥
सकल जगत् ते ऐंठवत्, अथवा स्वप्न-समान।
.....देह छतां जेनी दशा, वर्ते देहातीत॥

ऐसे जिज्ञासु एवं मुमुक्षु साधक का उपादान जब परिपक्व, शुद्ध, एवं जाग्रत हो जाता है तब या तो उसका मोहभाव क्षय हो जाता है, या फिर वह उपशान्त हो जाता है। जब तक भेदविज्ञान परिपक्व एवं अभ्यस्त नहीं हो जाता है तब तक मोह को जीता नहीं जा सकता। मोह कई रूपों में साधक के समक्ष आता है, स्वत्व मोह, कालमोह, सम्प्रदायादि मोह, गुरुशिष्यादि मोह, प्रसिद्धि-प्रशंसादि मोह आदि ऐसे मोहक जाल हैं, जिनमें बड़े-बड़े धुरन्धर, चारित्रात्मा, समतायोगी साधक भी फँस जाते हैं। आत्मा में जितनी भी अशुद्धियाँ-विकृतियाँ या मलिनताएँ प्रविष्ट होती हैं, वे सब मोह के कारण ही। मोह के दो प्रकार हैं—दर्शनमोह और चारित्रमोह! आत्मा के सम्बन्ध में विपरीत श्रद्धान और वस्तुओं-व्यक्तियों एवं विकृतियों

को अपनी मानने का ममत्व तथा अहंत्व। आत्मा के समस्त विकारी भावों में मोह सर्वोपरि है, उसका क्षय होने से ही आत्मा विशुद्ध बनती है, आत्मा-रूप उपादान परमात्मभाव-योग्य बनता है। मोह का उपशम होने पर भी उपादान जाग्रत हो जाता है। फिर उसे सारा संसार स्वप्नवत् या झूठन के समान प्रतीत होता है। अनन्त-अनन्त बार जन्म लेकर नाना प्रकार के पंचेन्द्रिय विषयों का सुखोपभोग कर लिया, परन्तु इनसे आत्मा को सच्चा आनन्द प्राप्त नहीं हुआ। झूठन के समान संसार के सभी पदार्थ हैं, अनन्त-अनन्त बार उनका उपयोग किया, मगर तृप्ति, शान्ति एवं आनन्द-प्राप्ति नहीं हुई। मोक्षसुख के समक्ष उसे सारे सुख फीके लगते हैं। ऐसे मुमुक्षु ज्ञानी के शरीर रहते हुए भी उसकी मनोदशा देहातीत हो जाती है। एक-मात्र आत्मध्यान में ही वह लीन रहता है, ज्ञाता-द्रष्टा-साक्षी होकर सारा व्यवहार करता है। इस प्रकार की आत्मदशा उपादान की पूर्ण शुद्ध दशा है। ऐसी स्थिति आने पर उस ज्ञानी वीतराग साधक को सभी प्रकार के योग्य निमित्त अवश्य मिल जाते हैं।

निमित्त के प्रकार, स्वरूप और कार्य में साधकत्व

निमित्त के भी तीन प्रकार हैं—(१) प्रेरक निमित्त, (२) सहकारी निमित्त और (३) तटस्थ निमित्त। घड़े के बनने में मिट्टी से घड़ा बनाने वाला कुम्हार प्रेरक निमित्त है, तथा चाक, डंडा, डोरी आदि जो अन्य साधन हैं, वे सहकारी निमित्त हैं। एवं काल, स्वभाव, नियति (भवितव्यता), कर्म और पुरुषार्थ तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और विभिन्न पुद्गल एवं सूर्य आदि तटस्थ निमित्त हैं। तटस्थ निमित्त को समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए—

आकाश में सूर्योदय होता है तो धीरे धीरे जब उसका प्रकाश फैलना प्रारम्भ हो जाता है, तब कमल स्वतः खिलने लगते हैं। सूर्य ने न तो कमल-पुष्पों को खिलाया और न उसने उन मुर्झाए हुए फूलों में कोई सीधा परि-वर्तन ही किया। फूलों का खिलना, फूलों के अपने उपादान के अनुरूप उनकी अपनी क्रिया है। यहाँ सूर्य प्रेरक निमित्त नहीं, तटस्थ निमित्त है।

एक जुलाहा सूत से कपड़ा बनाता है, तब वह इच्छापूर्वक ही बनाता है, अतः वह प्रेरक निमित्त है।

जल में तैरने की क्रिया का उपादान कारण तो स्वयं मछली है, किन्तु मछली की जल-संतरण-क्रिया में धर्मास्तिकाय और जल दोनों ही तटस्थ निमित्त हैं। जल को एक प्रकार से सहकारी निमित्त भी कहा जा

सकता है। आत्मा के परमात्मभाव-प्राप्तिरूप कार्य में देव(अरिहन्तदेवाधिदेव) तथा निर्ग्रन्थ गुरु आदि प्रेरक निमित्त हैं। सम्यग्दर्शन,-ज्ञान-चारित्र-तप ये चारों मोक्षमार्ग रूप सद्धर्म तटस्थ निमित्त हैं। आत्मा के ज्ञानादि निजी गुण सहभावी होने से इन्हें सहकारी उपादान कारण भी कहा जा सकता है। प्रकारान्तर से इन्हें परमात्मभाव-प्राप्ति रूप कार्य के अन्तरंग निमित्त-कारण भी कह सकते हैं। काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ आदि इसमें तटस्थ निमित्त हैं। और भी तटस्थ निमित्त हो सकते हैं।

प्रत्येक कार्य में उभय कारणों का होना आवश्यक

प्रत्येक कार्य में उपादान और निमित्त दोनों कारणों का होना आवश्यक है। न्यायशास्त्र का, एवं व्यावहारिक जीवन का यह अनुभूत सिद्धान्त है कि कारण के बिना कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं होता। कारण का लक्षण भी न्यायशास्त्रियों ने यही किया है—

'कार्याऽव्यवहित पूर्वक्षणवर्तित्वं कारणत्वम्।'[1]

"जो कार्य होने के अव्यवहित पूर्व क्षण में विद्यमान (उपस्थित) हो, उसे कारण कहते हैं।" कारण के इस लक्षण की दृष्टि से कार्य की सम्पन्नता में उपादान कारण का होना तो अवश्यम्भावी है। परन्तु निमित्त कारण भी कोई न कोई अवश्य रहता है।

पंचकारण-समवाय को न मानने वाले लोग

कई ईश्वरकर्तृत्ववादी, अव्यक्तशक्तिवादी, या प्रकृतिवादी लोग इस कारणकार्य के सिद्धान्त को न मानकर यह कह दिया करते हैं कि हमें किसी भी कार्य के लिए या परमात्ममिलन रूप कार्य के लिए कारणों को जुटाने या स्वयं उपादान कारण बनने की कोई आवश्यकता नहीं। अगर ईश्वर चाहेगा, भगवान् की कृपा होगी, अमुक देव या देवी की कृपा होगी, या फलां अदृश्यशक्ति हम पर प्रसन्न होगी, अथवा प्रकृति हमारे अनुकूल होगी तो कार्य अपने आप हो जायेगा। परमात्मा का साक्षात्कार या मिलन होना होगा तो स्वतः हो जाएगा।

एकान्त भक्तिमार्गियों का कहना है—हमें न तो सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय रूप धर्म का आचरण करने या स्वभाव-रमण करने की आवश्यकता है

---

१ देखिए, अष्टसहस्री में कारण और कार्य का लक्षण—
नियत-पूर्वक्षण-वर्तित्वं कारणलक्षणम् नियतोत्तरक्षणवर्तित्वं कार्यलक्षणम्।
—अष्टसहस्री टिप्पण पृ० २११

और न ही किसी प्रकार का त्याग, तप, व्रत, नियम, प्रत्याख्यान आदि करने की जरूरत है। ये सब स्व (आत्म) कर्तृत्ववाद के झंझट हैं। इसे छोड़ो और इसका पालन करो। इन सब चक्करों में न पड़कर मन में एकमात्र ईश्वर पर दृढ़ विश्वास कर लो कि परमात्मा जब चाहेंगे, तब अपने आप उनसे मिलन या साक्षात्कार हो जाएगा।

एकान्त अव्यक्तशक्तिवादियों का मत भी लगभग एकान्त भक्तिमार्गियों जैसा ही है। वे केवल अव्यक्तशक्ति, प्रकृति या किसी देवी को प्रसन्न करने, रिझाने और उससे अपनी कार्यसिद्धि का वरदान माँगते हैं, स्वयं तप, त्याग, सद्धर्माचरण, स्वभावरमण आदि के लिए कोई पुरुषार्थ नहीं करते।

एकान्त निश्चयनयवादियों का कहना है—किसी प्रकार का तप, त्याग, रत्नत्रय रूप धर्माचरण, मानव शरीर आदि सब व्यवहार की बातें हैं, असद्भूत हैं, ये सब शरीर से सम्बन्धित, शुभरागादि की बातें हैं। इनसे परमात्मभाव की प्राप्ति में कोई सहकार नहीं मिलता। केवलज्ञान-पर्याय जब प्रगट होनी होगी, तभी होगी; जब सिद्धि या परमात्मभाव-प्राप्ति होनी होगी, तब होगी, ज्ञानी के ज्ञान में निश्चित हो गया है, उसमें कुछ भी परिवर्तन होने वाला नहीं है। आत्मारूप उपादान भी जब शुद्ध एवं परमात्मभाव (मोक्ष) प्राप्ति के योग्य होना होगा, तब अपने आप हो जाएगा। उपादानरूप आत्मा शुद्ध होगी तो निमित्त कारणों की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। ये और इस प्रकार के अन्य कुविकल्प उठाकर पुरुषार्थहीन हो जाना तथा अमुक निम्नभूमिका में व्यवहार और निमित्त कारणों का यह अपलाप वस्तुतः निश्चयनयाभास को ही सूचित करता है। ऐसे लोग बहुधा क्रमबद्धपर्याय का अवलम्बन लेकर इस बहाने से तप, त्याग, संयम, नियम, स्वभावरमण, आत्मगुण-विकास आदि सब कुछ छोड़छाड़ कर बैठ जाते हैं।

एकान्त नियतिवादी भी काल, स्वभाव, कर्म और पुरुषार्थ, इन चारों कारणों का अपलाप करते हुए तथा आत्मारूपी उपादान कारण को तैयार करने के प्रति उपेक्षा करते हुए कहते हैं—जैसी भवितव्यता होगी, वैसा हो जाएगा। जो होनहार है, वह होकर ही रहेगा, फिर तप, त्याग, व्रत, नियम, संवर, संयम या स्वभाव रमण में पुरुषार्थ करने से क्या होगा? सर्वज्ञ प्रभु ने जो कुछ ज्ञान में देखा है, वैसा ही होगा, हमारे पुरुषार्थ करने से कुछ भी बदल नहीं जाएगा। इस प्रकार जो भाग्यवादी या दैववादी

होते हैं, वे भी कहते हैं—जो भाग्य में लिखा होगा, अथवा विधाता (ब्रह्माजी) या दैव ने जो ललाट में लिखा होगा, वही होगा, हमारे द्वारा पुरुषार्थ करने से वह अन्यथा नहीं हो जाएगा। ऐसा सोचकर जो व्यक्ति परुषार्थहीन हो जाते हैं, वे तत्त्व से अनिभिज्ञ हैं।

एकान्त-परमात्माश्रयवादी भी आलस्य-पोषक-से होते हैं। आलसियों का जीवन सूत्र भी यही है—

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गए, सबके दाता राम॥

स्पष्ट है कि वे सब कार्यों को परमात्मा पर छोड़कर स्वयं हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं। एकान्तकालवादी भी दुषमकाल है, कलियुग है, इसमें आत्मशक्ति कहाँ जग सकती है? मोहनीय कर्म के दलिक इतने हैं कि मेरे से कुछ हो नहीं सकता। यह काल ही ऐसा है कि इसमें मोहनीय कर्म बढ़ाने के ही निमित्त मिलते हैं, कम करने के नहीं। इस काल में सच्चे मार्गदर्शक सद्गुरु भी कहाँ हैं? तीर्थंकर भगवान साक्षात् तो हैं नहीं? किससे मार्गदर्शन लेकर पुरुषार्थ करें? इस पंचम काल में मोक्ष तो है ही नहीं। फिर मोक्षमार्ग की साधना से क्या होगा? सभी प्रतिकूल संयोग हैं। परिस्थिति भी अनुकूल नहीं है। कई एकान्त कालाग्रही व्यक्ति भ्रान्तिवश कहते रहते हैं—समय आएगा, तब अपने आप पुरुषार्थ हो जाएगा, हमारा उपादान तैयार हो जाएगा और मोक्ष (परमात्मपद) प्राप्त कर लेंगे। जितने भव करने लिखे हुए हैं, उतने तो करने ही पड़ेंगे? अपनी भवस्थिति पूर्ण होगी, अर्थात्—संसार में रहने का काल पूरा होगा, काललब्धि पक जाएगी, तब स्वतः उपादान तैयार हो जायेगा, हम परमात्मभाव (मोक्ष) को प्राप्त कर लेंगे।

इसी प्रकार एकान्त पुरुषार्थवादी यह समझता है कि अमुक-अमुक परम्परागत क्रियाकाण्ड कर लेने से ही मोक्ष प्राप्त हो जाएगा, फिर क्या जरूरत है सद्धर्म (रत्नत्रय रूप) को जीवन में अपनाने की, और क्या आवश्यकता है—स्वाध्याय, ध्यान, स्वभाव-रमण में पुरुषार्थ करने की? साम्प्रदायिक क्रियाकाण्ड या सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष करना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

यही हाल एकान्त कर्मवादी, एकान्त स्वभाववादी तथा एकान्त नियतिवादी लोगों का है। वे भी परमात्मभाव (मोक्ष) प्राप्ति रूप कार्य के लिए अपने उपादान (आत्मा) को शुद्ध बनाने व तैयार करने की,

तथा पाँच कारण-समवाय को यथायोग्य मानने की आवश्यकता नहीं समझते।

सभी कारणों में पुरुषार्थ की प्रधानता

यद्यपि जैनदर्शन प्रत्येक कार्य में काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ इन पाँचों निमित्त कारणों के समभाव को मानता है, किसी कार्य में काल, किसी में स्वभाव आदि मुख्य हैं, शेष गौण हैं। परन्तु पुरुषार्थ को तो सभी कारणों में प्रधानता है। जैसे, किसी कार्य में काल की प्रधानता है, परन्तु काल पकने में पुरुषार्थ तो करना ही पड़ेगा। भवस्थिति पूर्ण होने में भी या काललब्धि पकने में पुरुषार्थ तो करना ही होगा। मान लो, ज्ञानी ने ज्ञान में जो देखा होगा, वही होना निश्चित हो, फिर भी कार्य सिद्धि का काल आने तक पुरुषार्थ तो करना ही होगा।

भगवान महावीर का जीव प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के समय मे उनका मरीचि नाम का पौत्र था। उस समय भगवान् ऋषभदेव ने उनके लिए कह दिया था कि यह जीव इस चौबीसी का अन्तिम तीर्थंकर होगा। यह निश्चित होने पर भी भगवान् महावीर को आगामी कई भवों तक कितनी रत्नत्रयरूप धर्म की आराधना एवं मोक्षसाधना करनी पड़ी? इतना ही नहीं, जिस भव में उनका तीर्थंकर नामकर्म उदय में आने वाला है, वे तीर्थंकर होने वाले हैं, वे चरम शरीरी हैं, मोक्षगामी हैं, यह निश्चित ज्ञात हो गया था, फिर भी उन्होंने साढ़े बारह वर्ष तक कठोर तपश्चर्या का पुरुषार्थ क्यों किया? क्यों उन्होंने घोर परीषह और उपसर्ग सहे? 'मेरा मोक्ष निश्चित ही होने वाला है?' यह जानते हुए भी क्यों उन्होंने घरबार छोड़ा? क्यों संयम के आग्नेय पथ पर चले। क्यों कठोर आत्म-साधना की? वे राजपुत्र थे। राज्यसुख भोग में ही पड़े रहते तो क्या उनका मोक्ष न होता? भरतचक्री को साधु हुए बिना ही शीशमहल में केवलज्ञान हो गया, मरुदेवी माता तो कुछ भी साधना किये बिना हाथी के होदे पर बैठे-बैठे केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त हो गया तो भगवान महावीर को केवलज्ञान क्यों नहीं हुआ? उसका कारण यह था कि उनका मोक्ष, केवलज्ञान आदि निश्चित होने पर भी आत्मारूप उपादान इतना तैयार नहीं हुआ था। पुरुषार्थ से जब आत्मा तैयार हुआ, तभी केवलज्ञान, मोक्ष आदि प्राप्त हो गए। भगवान् महावीर की भवितव्यता ही ऐसी थी, इतने कर्म उन्हें भोगने थे। उन कर्मों को क्षय करने का तीव्र पुरुषार्थ भी करना था, इसलिए उन्हें राजमहल में या गृहस्थजीवन में केवलज्ञान नहीं हुआ।

सत्पुरुषार्थ ही परमात्म (मोक्ष) प्राप्ति का मूल कारण

इसीलिए श्रीमद् राजचन्द्र ने बहाना बनाने वाले तथा एकान्त एक कारण वादी लोगों को प्रबल प्रेरणा देते हुए कहा है—

जो इच्छो परमार्थ तो करो सत्यपुरुषार्थ ।
भवस्थिति आदि नाम लई, छेदो नहीं आत्मार्थ ॥[1]

जिसे परमार्थ = मोक्ष = परमात्मभाव प्राप्त करने की प्रबल इच्छा हो उसे योग्य पुरुषार्थ करना चाहिए । 'Where there is will, there is way' अँग्रेजी की इस कहावत के हिन्दी रूपान्तर 'जहाँ चाह, वहाँ राह,' के अनुसार जिसका संकल्पबल अध्यवसाय तीव्रतर होगा, उसे ऐसे बहाने बनाने की आवश्यकता नहीं रहेगी । मोहादि कर्मों का आवरण दूर होना, भवस्थिति पकना, काल प्राप्त होना (अवसर या परिस्थिति होना) पंचमकाल में मोक्ष का न मिलना आदि झूठे आलम्बन लेकर व्यक्ति अपनी पुरुषार्थहीनता का परिचय देकर अपने साध्य प्राप्ति के मार्ग में रोड़े अटकाता है । सम्यक् पुरुषार्थ करे तो मनुष्य कर्मों से मुक्त हो सकता है । आत्मवीर्य उल्लसित हो तो दो घड़ी में अनन्तकाल के कर्मों का नाश हो सकता है । भवितव्यता भी पुरुषार्थ की प्रेरक है । पूर्वकृत सुपुरुषार्थ ही भाग्य बनता है । आत्मा का परमात्मा बनने का स्वभाव है ही । परन्तु परमात्मा बन सकता है, वह स्वभाव-रमण में पुरुषार्थ से ही । पंचमकाल में भरतक्षेत्र से नहीं तो महा-विदेह क्षेत्र से तो मोक्ष हो ही सकता है । कई बार चौथा आरा भी मिल जाय परन्तु स्वयं (आत्मा) पुरुषार्थ न करे तो मोक्ष कहीं से भी नहीं मिल सकता । मोक्ष की यानी परमात्मभाव-प्राप्ति की तथा संवर निर्जरा की साधना करने से एवं कर्मक्षय करने से तो कोई रोकता नहीं । यथाशक्य की हुई मोक्ष साधना से परमात्म-भाव के निकट तो पहुँचा ही जा सकता है । कर्मावरणनाश, भवस्थिति का परिपाक, काललब्धि, मोक्ष प्राप्ति आदि सब कार्य भी आत्मा द्वारा पुरुषार्थ के आधीन है । अपना उपादान प्रबल रूप से तैयार होते ही भवस्थिति पक गई समझो । पाँच कारण मिलें तो जीव मुक्त होता है, किन्तु ये पाँचों कारण पुरुषार्थ में निहित हैं ।

सौ बात की एक बात है— सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा आत्मारूप उपादान प्राप्त होते ही, योग्य निमित्त मिल ही जाते हैं । फिर परमात्मभाव प्राप्त होने में— आत्मा से परमात्मा बनने में देर नहीं लगती । □□

---

१. आत्मसिद्धि गा-१३०